हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली

आलोचना
सूर साहित्य
कबीर

हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली

4



राजकमल प्रकाशन

नयी दिल्ली पटना

मूल्य : रु. 75.00

प्रथम संस्करण : अगस्त, 1981

प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड,
8, नेताजी सुभाष मार्ग, नयी दिल्ली-110002

मुद्रक : रुचिका प्रिण्टर्स, दिल्ली-110032

कलापक्ष : मोहन गुप्त

HAZARIPRASAD DWIVEDI GRANTHAVALI
Price : Rs. 75.00



"काव्य-जैसी सुंकुमार वस्तु की आलोचना के लिए अपने सस्कारों से बहुत ऊपर उठने की जरूरत है; फिर वे संस्कार चाहे देशगत हो या कालगत।"

—विचार-प्रवाह



भूतपूर्व राष्ट्रपति डॉ. राधाकृष्णन् और आचार्य द्विवेदी :
टैगोर पुरस्कार के अवसर पर

"दुर्वार काल-स्रोत सबको बहा देगा। सुनहले अक्षरों में छपी हुई पोथियाँ उस स्रोत के थपेड़ों को बर्दाश्त करने की शक्ति नहीं रखती। वही बचेगा, जिसे मनुष्य के हृदय में आश्रय प्राप्त होगा।"

—अशोक के फूल

सूरदास।

'सूर-साहित्य' की पाण्डुलिपि का एक पृष्ठ

'कबीर' की पाण्डुलिपि का एक पृष्ठ

निवेदन

प्रातः स्मरणीय आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के समग्र साहित्य को एक सूत्र में अनुस्यूत करके हिन्दी-पाठकों को समर्पित करते हुए हमें अत्यधिक आनन्द का अनुभव हो रहा है। स्वर्गीय आचार्यजी के मन में अनेक परिकल्पनाएँ तथा योजनाएँ थी जिन्हें कार्यान्वित करने के लिए वे निरन्तर क्रियाशील थे। परन्तु नियति-निर्णय से उन्हें अधूरी ही छोड़कर वे चले गये हैं। **हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली** की प्रकाशन-योजना उसी सम्पूर्णता की श्रृंखला की पहली कड़ी है।

आचार्यत्व की गरिमा से दीप्त आचार्य द्विवेदी का व्यक्तित्व और उनकी अपार सर्जनात्मक क्षमता किसी भी पाठक को चमत्कृत और अभिभूत करने के लिए पर्याप्त है। मनीषियों की दृष्टि में वे चिन्तन और भावना दोनों ही स्तरों पर महत्त्व-बिन्दु पर भासमान हैं। उनकी रचना-दृष्टि समय के आरपार देखने में समर्थ थी। इतिहास उनकी लेखनी का स्पर्श पाकर अपनी समस्त जड़ता खो बैठा और सतत् प्रवाहित जीवनधारा साहित्य मे हिल्लोलित हो उठी, जो तीनों कालो को जोड़ देती है।

आचार्य द्विवेदी की बहुमुखी जीवन-साधना ने हिन्दी वाङ्मय के एक पूरे और विशाल युग को प्रभावित किया है। वे संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा हिन्दी और बांग्ला साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् थे। साथ ही, अंग्रेजी साहित्य का भी व्यापक धरातल पर उन्होंने परिशीलन किया था और अंग्रेजी भाषा के माध्यम से ग्रीक साहित्य का भी रसास्वादन किया था। अगाध पाण्डित्य में सहजता का मणिकांचन योग उन्हे सामान्य मानव की भूमिका में प्रतिष्ठित कर देने की क्षमता प्रदान कर देता था और वे अनायास ही जनहृदय से स्पन्दित और आन्दोलित हो उठते थे। उनका विद्वान् सरलता से सजग हो उठता था। वे प्रत्येक मन मे विराजमान हो जाने की अपूर्व मेधा के धनी हो जाते थे।

आचार्यजी की इन्हीं अद्वितीय प्रवृत्तियो को स्थायी रूप देने के लिए इस ग्रन्थावली की योजना बनायी गयी है। विषय और विधा दोनों दृष्टिकोणों को साथ रखकर विभिन्न खण्डो का विभाजन किया गया है। कुल मिलाकर ये ग्यारह खण्ड हैं—

1. पहला खण्ड : उपन्यास-1
2. दूसरा खण्ड : उपन्यास-2
3. तीसरा खण्ड : हिन्दी साहित्य का इतिहास
4. चौथा खण्ड : प्रमुख सन्त कवि
5. पाँचवाँ खण्ड : मध्यकालीन साधना
6. छठवाँ खण्ड : मध्यकालीन साहित्य
7. सातवाँ खण्ड : लालित्य तत्त्व एवं साहित्य मर्म
8. आठवाँ खण्ड : कालिदास और रवीन्द्र
9. नवाँ खण्ड : निबन्ध-1
10. दसवाँ खण्ड : निबन्ध-2
11. ग्यारहवाँ खण्ड : विविध साहित्य

ग्रन्थावली को क्रमबद्ध करने में अनेकों समस्याएँ आयी हैं। निबन्धों का विभाजन भी निबन्ध-संग्रह तथा तिथि-क्रम के आधार पर न करके विषय के अनुसार ही किया गया है। निबन्ध के अन्त में मूल निबन्ध-संग्रह का नाम दे दिया गया है। ग्रन्थावली अधिकाधिक उपयोगी हो सके, इस बात को ध्यान में रखकर ऐसा किया गया है। कबीर, सूर और तुलसी के अतिरिक्त कालिदास और रवीन्द्रनाथ ठाकुर से आचार्यप्रवर प्रायः अभिभूत रहे हैं, अतः दोनों महाकवियों से सम्बद्ध सामग्री एक ही खण्ड में दे दी गयी है। अन्तिम खण्ड में विविध प्रकाशित एवं अप्रकाशित सामग्री संकलित है। आचार्य द्विवेदी ने प्रारम्भ में काव्य रचनाएँ भी की थी और अनेक अनुवाद भी। उन्हें यहाँ समाहित कर दिया गया है।

इस विशाल योजना की परिपूर्णता में अनेक लोगों ने अपना अमूल्य सहयोग दिया है जिसके बिना निश्चय ही यह कार्य पूर्ण नहीं हो पाता। उन सबके प्रति हम हार्दिक धन्यवाद व्यक्त करते हैं। पं. राजाराम शास्त्री ने अप्रकाशित ज्योतिःशास्त्र एवं साहित्य-शास्त्र सम्बन्धी रचनाओं के विषय में परामर्श दिया; और श्री महेशनारायण 'भारतीभक्त' ने मुद्रणप्रति तैयार करके हमारे दायित्व को आसान बनाया। हम इन दोनों को साधुवाद अर्पित करते हैं। श्रीमती शीला सन्धू और राजकमल प्रकाशन से सम्बद्ध सभी व्यक्तियों ने जिस तत्परता और रुचि से इस योजना को सम्पूर्ण कराया है, वह प्रशंसनीय है।

इन शब्दों के साथ आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का सम्पूर्ण रचना-संसार ग्रन्थावली के रूप में, हम वृहद् हिन्दी विश्व परिवार को समर्पित करते हैं। इससे ज्ञानधारा एवं रससृष्टि में थोड़ा भी विकास सम्भव हुआ तो हम अपने को कृतकार्य मानेंगे।

जगदीशनारायण द्विवेदी
मुकुन्द द्विवेदी

अनुक्रम

हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली

4

"भक्तों के साहित्य मे जो अपूर्व तन्मयता दिखायी देती है वह किसी महान् अज्ञात के चरणों में अहैतुक आत्मसमर्पण के उल्लास से अनुप्राणित है। जब तक आत्मदान का अद्भुत उल्लास जीवन में नहीं आता, तब तक कोई बड़ा साहित्य नहीं लिखा जा सकता। सूरदास, कबीरदास और तुलसीदास जैसे भक्त कवियों के साहित्य मे जिस प्रकार के माधुर्य, तेजस्विता और मंगल का साक्षात्कार होता है वे उसी महिमामयी दातृत्व-शक्ति की उपज हैं। जो जितना देता है उतना ही पा सकता है। यही जीवन मे सत्य है, यही साहित्य में भी सत्य है, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। पिछले पच्चीस-तीस वर्षों के साहित्यिक जीवन से मैं स्पष्ट अनुभव कर रहा हूँ कि उस दातृत्व-शक्ति के अभाव में हमारा साहित्य दुर्बल होता जा रहा है, मैं निराश होने को बुरा समझता हूँ; गलतियों और कमजोरियों को मनुष्य-जीवन का इतना बड़ा अभिशाप नहीं मानता कि उसकी चिन्ता में व्याकुल हो उठूं, बल्कि कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि त्रुटियाँ और विच्युतियाँ जीवन को शुद्ध और निर्मल बनाने मे सहायक होती हैं, शर्त यह है कि हम इन्हे ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य न बना लें। परन्तु यह सोचकर मैं अवश्य विचलित हो जाता हूँ कि हमारे साहित्य मे देने की लगन के स्थान पर पाने की स्पृहा अधिक बलवती हो उठी है। सूरदास के उत्तराधिकारियों के लिए यह बहुत गौरव की बात नहीं कही जा सकती।

—सूर-साहित्य
ग्रन्थावली-4, पृष्ठ 24.

आया, किन्तु शासन, शोषण, पीड़न और मानन की विधि वही चलती रही।

चीन-चीन में प्राय देखा जाता है कि पुराना स्वामिपरायण व्यक्ति स्वामी के मरते ही और दूसरी स्त्री का पाणिग्रहण करके उसी की तावेदारी में लग जाता है। जो इसका मर्म नहीं समझते वे विस्मित होते हैं। उन्हें समझना चाहिए कि स्त्रैण का स्वभाव ही ऐसा होता है। पत्नी का अर्थ है 'स्वामिनी'। इसीलिए जब एक स्वामिनी चली गयी तो दूसरी को उसी शून्य सिंहासन पर बैठना पड़ता है। इसीलिए इस युग में हमने शास्त्र, गुरु और लोकाचार की दुहाई देना छोड़कर उसके स्थान पर अगर यूरोपियन authority की दुहाई देना शुरू किया है तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है?

लेकिन आश्चर्य सचमुच तब होता है जब देखते हैं कि पुराने स्वामी तो हैं ही, नये स्वामी को भी हमने उन्हीं के बगल में बैठा लिया है। मानते-मानते, मानो कि हमारा मन 'मानना'-परायण हो गया है; जहाँ एक जातीय प्रभु के अधीन थे वहाँ अगर एक और प्रभु की अधीनता स्वीकार कर ही ली तो कोई बात नहीं, उससे कुछ हमारा आता-जाता नहीं। पर दोनों जाति के प्रभुओं को एक ही सिंहासन पर, एक के बगल में दूसरे को, बैठने के लिए कैसे हमने राजी कर लिया, यही आश्चर्य की बात है!

यह सर्ववादि-सम्मत है कि दो राजा का राज्य सुखकर नहीं होता। दो स्त्री के साथ गृहस्थी चलाना भी परम दुर्गति है, यह भी सभी जानते हैं। किन्तु सनातन और नूतन दो प्रभुओं की तावेदारी हम एक ही साथ कैसे चला रहे हैं? प्राचीनतम सनातनी विधि के साथ नूतनतम वैज्ञानिकी अधुनातनी रीति को हमने 'बेमालूम' जोड़ दिया है। वृद्ध के साथ बालिका के विवाह में जैसा गोलमाल होता है वैसा इस क्षेत्र में बिल्कुल नहीं हुआ। इसमें जो एक बेडौल विसदृश व्यापार है, वह किसी को दिखा ही नहीं।

जो हो, बात यह है कि हमने सुदीर्घ काल तक समझने, सोचने और विचार करने का भार पुराने प्रभुओं को दे रखा था। और अब रिवाज हुआ है कि यह भारयूरोपियन प्रभुओं (authority) को देना चाहिए। किसी-किसी सज्जन ने अनुपम कौशल और अचिन्तनीय चातुरी के बल पर इन दोनों का समन्वय करके भावना, चिन्ता और विचार के भार को पुरातन और नूतन दोनों तरह के प्रभुओं के सिर समान भाव से लाद दिया है। सीधी बात यह है कि इस तरह के लोग स्वयं चिरन्तन प्रथा से बड़े आराम से अलस भाव से अपनी बँधी-बँधायी बोलियों को रटते जा रहे हैं।

जब चारों ओर की अवस्था ऐसी है तब श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी की 'सूर-साहित्य' पुस्तक पढ़कर बड़ा विस्मय हुआ। इन्होंने तो पुराने या नये किसी 'कर्त्ता' (मालिक) को बिना विचारे प्रभु नहीं माना, अथच कहीं भी किसी के प्रति असंगत असम्मान भी नहीं दिखाया। उनके प्रत्येक मत को इन्होंने अपने विचार-बुद्धि की कसौटी पर भली-भाँति घिसकर, परखकर, सावधानी के साथ ग्रहण या वर्जन किया

है। हमारे इस 'कर्त्ता-भजा'[1] देश में यह क्या मामूली ढिठाई है? फिर वे स्वयं माल-मसाला इकट्ठा करके भावना, चिन्ता और विचार करने मे स्वयं प्रवृत्त होने को कह रहे है। हमारे इस आराम-प्रिय अलस देश में यह दारुण दुर्लक्षण है। अब अगर ऐसी पुस्तक के बारे में मैं एक अच्छी-सी भारी-भरकम भूमिका लिखूँ तो हमारे देश के जड़ता-विलासी पाठकों को फिर एक बार बैठकर सोचना-विचारना पड़ेगा। इतनी तकलीफ उठाने को सब लोग क्यों राजी होने लगे?

इसीलिए इस ग्रन्थ की भूमिका लिखने के लिए अनुरुद्ध होकर भी मैंने हफ्तों तक कार्य स्थगित रखा। मेरे सकोच का हेतु क्या था, यह बात अब सब लोग समझ सकेंगे।

लेकिन भरोसा यह है कि एक श्रेणी के पाठक ऐसे है जरूर, यद्यपि उनकी संख्या बहुत कम है, जो सत्य के अनुसन्धान के लिए सब तरह के दुःख सहने को तैयार है। वे गतानुगतिक सभी प्रकार की जड़ता और आलस्य का त्याग करने के लिए कृत-संकल्प हैं। द्विवेदीजी ने इन्ही संख्या-विरल पाठकों के लिए अपनी पुस्तक लिखी है। इसीलिए वे राधा-कृष्ण-मतवाद के क्रम-विकास की आलोचना इस तरह प्रगाढ भाव से कर सके है। उन्होने नूतन और पुरातन सब प्रकार के मतामत को चुनौती दी है, साहस के साथ विचार किया है और नाना युक्तियो के साथ अपना सिद्धान्त उपस्थित किया है।

प्रश्न-विचार के क्षेत्र मे प्रधानतः दो तरह की विपत्तियाँ है। एक है अति प्राचीन करने की प्रवृत्ति और दूसरी है अत्यन्त नवीन करने की जिद। ये दोनो ही कोटिवाद (extremism) सत्य-अनुसन्धान के परम शत्रु है।

प्राचीन काल में किसी भी मतवाद को प्रतिष्ठित करने के लिए किसी-न-किसी वैदिक या पौराणिक नाम के साथ उसे युक्त करने की चेष्टा की गयी है। ये मतवाद मानो झोले है, जिन्हे टाँगने के लिए ये वैदिक या पौराणिक नाम खूँटियो के समान है। कभी-कभी झोले को सुरक्षित रखने के लिए एकाधिक नामो की खूँटियाँ तलाश की गयी हैं। इसका फल यह हुआ है कि परवर्त्ती काल में भिन्न-भिन्न जातियों की खूँटियाँ झोलों के गड़बड़-झाले से एक ही जाति की-सी प्रतीत होने लगी हैं। फिर ऐसा भी हुआ है कि एक ही खूँटी पर दो-तीन तरह के झोले लटका रखे गये है, फिर उसी खूँटी की दुहाई देकर भिन्न जाति के झोलों को एक में ही चला दिया गया है।

इसके बाद जब झोलों की पुरानी कहानी का विचार किया जाने लगता है, तो उस झोले की जगह हम उस खूँटी से काल-विचार शुरू करते है जिसमे वह लटकाया गया था। हम प्रायः भूल जाते है कि इन झोलों को अति प्राचीन सिद्ध करने के लिए ही इन खूँटियों की खोज हुई थी। ऐसे विचार का गोलमाल अधिकतर हमी

1. बंगाल मे 'कर्त्ता-भजा' नामक एक सम्प्रदाय है। ये लोग विवेक, शास्त्र, आदि सबके ऊपर कर्त्ता (मालिक, गुरु) की वाणी ही मानते हैं। ये 'कर्त्ता' का ही भजन करते हैं।

लोगों मे होता है।

लेकिन जो लोग बाहर से विचार करने आते है उनकी समस्या दूसरी ही होती है। ये लोग अगर निरपेक्ष होते तो कोई समस्या होती ही नही। पर असल बात यह है कि वे साम्राज्यवाद के चालक हैं और हम चालित। यह बात उनके लिए भूलना बड़ा कठिन है। इसीलिए ज्ञानतः और अज्ञानतः इस देश की महिमा को खर्व करने की ओर उनकी प्रवृत्ति होना स्वाभाविक ही है।

इस देश के धार्मिक आन्दोलन को अगर अर्वाचीन सिद्ध किया जा सके तो सहज ही उसे ईसाई धर्म के निकट ऋणी सिद्ध किया जा सकता है। और ईसाई धर्म का जो कुछ गौरव है उसमे ये बाहरी विचारक समझते हैं कि उनका सम्पूर्ण दावा है। किन्तु वे भूल जाते हैं कि ईसाई धर्म के अनुवर्तियों के दल मे कितने दिनों से उन्हें शरण मिली है! किसी ऐश्वर्यवान् के घर अगर किसी ने दयावश आश्रय पा लिया तो इसका अर्थ यह थोड़े ही है कि वह सारे ऐश्वर्य का दावेदार हो गया? अगर ईसाई धर्म मे कुछ महिमा है तो उस महिमा का दावा हम. लोगों का है, क्योंकि ईसाई धर्म पूर्व का धर्म है, हमारे ही घर की चीज है।

ईसाई धर्म को परवर्ती सिद्ध करने से ही यदि सारे भारतीय धर्म-मत को ईसाई धर्म का ऋणी सिद्ध किया जा सके तो इस एक ही कारण से सारा ईसाई धर्म ही बौद्ध धर्म का ऋणी है। यह ऋण तो अनेकांश में सचमुच सही है। यह बात निरपेक्ष पण्डितगण धीरे-धीरे स्वीकार भी करने लगे हैं।

भारतवर्ष का यह परम अपराध रहा है कि वह पर-मत-सहिष्णु और आश्रित-वत्सल रहा है। दुर्दिन में, दुरवस्था की मार से जब एक दल के ईसाई भारत के दक्षिणी हिस्से में शरणापन्न हुए उस समय शरणागत-वत्सल भारत ने उन्हें बिना विचारे आश्रय दिया। उस दिन उसने सोचा भी नही था कि इन दुर्गत-आश्रितों के समधर्मी इस मामूली से सूत्र से भारतवर्ष के सारे गौरवों का दावा पेश करने लगेंगे! यह दावा प्रतिष्ठित करने के लिए युक्त-अयुक्त सभी उपायों से भारत के सारे भाव-ऐश्वर्य को ठेल-ठालकर उसे आश्रयदान के परवर्ती काल का बना दिया जायगा!

इसीलिए हम देखते है कि भारतीय धर्म-मत के इतिवृत्त की आलोचना की एक विपद् है। एक, सब-कुछ को अति प्राचीन सिद्ध करने की प्रवृत्ति और दूसरी, सबकुछ को अति अर्वाचीन सिद्ध करने की जिद। दोनों तरफ के इन दो पाषाण-संकटों के भीतर तरंग-संकुल खरस्रोत-धारा में से भी द्विवेदीजी जो नैया लेकर घाट पर भिड़ा सके हैं, यह उनके लिए कम प्रशंसा की बात नही है।

किसी एक धर्म का मूल कहाँ है, इस बात के अनुसन्धान मे सबसे बड़ी विपद् क्या है, यही कहकर मैं पाठकों से विदा ग्रहण करूँगा। किसी धर्म या मतवाद का आरम्भ निर्णय करना बड़ा कठिन है। गंगा का आरम्भ कहाँ है, यह बात क्या आज भी निर्णीत हुई है? गंगोत्री को ही गंगा का आदिस्थान क्यों माना जाय, उसके भी कितने ऊपर क्षीण से क्षीणतर स्रोत और धाराएँ पकड़ते-पकड़ते किस एक आदि-

बिन्दु पर उसका मूल मिलेगा, कौन बता सकता है ?

धर्म का वह मूल-बिन्दु बताना और भी कठिन है। हमारे अपने भीतर के ही बहुत-से भाव हमारे अज्ञात चेतन-लोक में कितने दिनों से धीरे-धीरे उपचित होते-होते किसी एक विशेष दिन को प्रत्यक्ष-गोचर होते हैं, इस बात को क्या हमने कभी सोचकर देखा है? जिस दिन उसे हम स्फुट देखते हैं, उसी दिन को उसका जन्म-दिन मान लेते हैं, किन्तु उसके पीछे जो सुदीर्घ इतिहास है वह हमारे अपने भीतर की चीज़ होने पर भी अपने ही निकट अगोचर है। लेकिन धर्म-मत तो एक समूचे देश की ऐसी असंख्य चिन्मय-धाराओं का प्रकाश है। फिर उसके आदि की बात निर्णय करके कौन बता सकता है ? मिट्टी के नीचे असख्य अज्ञात धाराएँ अनेक दिशाओं में बहती रहती हैं, परन्तु तृषार्त्त मनुष्य प्रयोजनवश उनमें से किसी एक का कुएँ की खुदाई के द्वारा आविष्कार करता है। लेकिन वही तो उसका आदि नहीं है, वहाँ तो केवल उसका परिचय पाया गया। यह बात भी बहुत-कुछ इसी तरह की है।

इसी प्रकार मध्ययुग के व्यक्त लिंगाचार तथा अव्यक्त लिंगाचार बहुविध भक्ति-धाराएँ भारतवर्ष में भीतर-ही-भीतर दीर्घकाल से बहती आ रही थीं। बीच-बीच में उनका परिचय बिल्कुल मिलता ही नहीं सो बात नहीं है, फिर भी हमारी शिरा-उपशिराओं के रक्त-प्रवाह की तरह वे हमारे अलक्ष्य में ही बहती रहीं। जो हमारे लिए जीवन का भी जीवन हुआ करता है वही अत्यन्त अगोचर होता है। इसी समय हठात् बाहर से मुसलमान धर्म का आगमन हुआ। इसका अर्थ यह था कि भारत के धर्म और आदर्श के सामने एक नयी चुनौती उपस्थित हुई। इसीलिए रघुनन्दन आदि निबन्धकारों ने स्मृतिशास्त्र से जो सर्वोत्तम था, उसे सबके सामने उपस्थित किया; पूर्णानन्द, सर्वानन्द, कृष्णानन्द आदि तान्त्रिक साधकों का दल नये सिरे से अपनी साधना का महत्त्व प्रमाणित करने लगा और भक्ति तथा भाव के साधकों का दल सगुण-निर्गुण नाना भाव से अपनी-अपनी श्रेष्ठ सम्पद् को सबके सामने उपस्थित करने लगा। अर्थात् इतने दिनों तक जो धाराएँ अन्त सलिला थीं, प्रयोजनवश कुआँ खोदकर उन्हें सबके सामने उपस्थित करना पड़ा।

एक धर्म-मत का इतिहास ढूँढ़ने के लिए यदि हम ग्रन्थ, शिलालेख आदि के लिए कोई स्पष्ट document (दलील) देखकर ही उसका आदिनिर्णय करने लगें तो यह बड़ी भारी भूल होगी। मनुष्य अपने जन्म-दिन को पैदा होता है, फिर क्रमशः बड़ा होता है। इसके बाद अगर किसी दिन कोई वैषयिक प्रयोजन उपस्थित हुआ तो शायद किसी दिन वही दलील पर दस्तखत भी कर देता है। ऐसे भी कितने ही हैं, जिन्होंने इस जीवन में कभी कहीं दस्तखत ही नहीं किये। इसीलिए यह तो नहीं कहा जा सकता कि इन आदमियों का जन्म ही नहीं हुआ या इन्होंने जीवन-यात्रा का निर्वाह ही नहीं किया।

इस देश में ऐसे अनेकानेक मतवाद और साधनाएँ हो चुकी हैं और आज भी हैं जिन्होंने कभी किसी दलील पर दस्तखत नहीं किये। किन्तु आध्यात्मिक गगन-विहारी इन ज्योतिष्क-पिण्डों का परिचय वेधशाला के पण्डितों को नहीं मिला।

इसीलिए इनका अस्तित्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

भारत के साधक नहीं जानते थे कि अपनी सत्ता और महिमा प्रमाणित करने के लिए समाचारपत्र, विज्ञापन और प्रोपेगण्डा प्रभृति का ढोल पीटकर खासी अमेरिकन पद्धति से सारे संसार में 'बूमिंग' (booming) करना होता है। इसीलिए भारतवर्ष के साधकों की प्राणपण चेष्टा अपने-आपको छिपा रखने की थी। अपने को प्रचारित करने की चेष्टा से संसार-भर के लोगों को चकित कर देने की कोशिश उन्होंने कभी की ही नहीं। वृक्ष का जीवनधारी मूल मिट्टी के नीचे रहता है। जीवन का धर्म भी लोक-लोचन के अन्तराल में रहता है। जिसे जीवन की झंझट नहीं रहती उसी को booming करने में हिचक नहीं होती। भारत के साधक-गणों ने हमारी अन्तर-चारिणी धर्म-साधना को सबके सामने जाहिर करने की पाप-चेष्टा की, पतिव्रता कुलवधू को वेश्या बनाने के साथ, तुलना की है। अपने मतामत को ये साधक कहीं भी विपुल करके दिखाना नहीं चाहते थे। वरन् वे बीज और अंकुर की तरह जीवन्त धर्म को स्वल्पायतन देखकर ही उसके प्रति विश्वास रखते थे। इसीलिए उन्होंने कहा है—'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।'

स्थूल विचार से और जड़ दृष्टि से देखने पर ये सब धर्म-मत पैदा ही नहीं हुए, क्योंकि अदालत-ग्राह्य किसी दलील को सर्वसाधारण के सामने दाखिल करने में उन्हें संकोच हुआ था। धर्म का विचार उसके अपने महत्त्व से, उसके अनुवर्तियों के त्याग और साधना से और उसकी अन्तरतम आध्यात्मिक प्राण-शक्ति से होता है।

जिन्होंने भारत की साधना और धर्म-मत की आलोचना की है, उनके मन ने बारम्बार भारतीय धर्म-मत और साधना का यह रहस्य अनुभव किया है। आजकल चारों ओर का वातावरण बहिर्मुखी है जहाँ की भाषा booming की भाषा है। पर ये साधनाएँ हैं शान्त और अन्तर्मुखी। मौन ही इनका जीवन-लक्षण है, इसीलिए आज दिन उसके साथ आधुनिक वातावरण का पद-पद पर विरोध होता है, पद-पद पर आघात होता है। आशा करता हूँ, श्री हजारीप्रसादजी के ग्रन्थ को पढ़ते-पढ़ते पाठक-वर्ग के अन्तर में बार-बार यह वेदना जाग उठेगी।[1]

शान्ति-निकेतन

क्षितिमोहन सेन
शास्त्री, एम. ए.
प्रिंसिपल, विद्याभवन, विश्वभारती

1. श्रद्धेय आचार्य क्षितिमोहन सेन महाशय ने कृपापूर्वक यह भूमिका लिखकर 'सूर-साहित्य' का जो गौरववर्धन किया है, उसके लिए लेखक अपनी आन्तरिक कृतज्ञता ज्ञापन करता है।

निवेदन

'सूर-साहित्य' मेरी पहली रचना है। आज से कोई पच्चीस वर्ष पहले यह पुस्तक लिखी गयी थी। उस समय साहित्य-क्षेत्र में कुछ नया देने की उमंग थी और ऐसा विश्वास था कि जो कुछ लिख रहा हूँ, सब प्रकार से नवीन और ग्राह्य है। इसीलिए भाषा में जहाँ एक प्रकार का आत्मविश्वास का गुण था, वहीं थोड़ा-बहुत आक्रामक भाव भी आ गया था। आज यदि नये सिरे से इसी विषय पर लिखना पड़े, तो इसकी भाषा और शैली में बहुत-कुछ परिवर्त्तन हो जायेगा। और यह पुस्तक कदाचित् उपयोगी तो अधिक हो जायेगी, लेकिन इसमें जो थोड़ी-सी भास्वरता है वह क्षीण हो जायेगी। पुस्तक बहुत दिनों से नहीं मिल रही थी; और कई प्रेमी पाठक इसको फिर से प्रकाशित करने के लिए आग्रह कर रहे थे। मेरा अनुमान है कि इस पुस्तक की भाषा और शैली ही इन पाठकों को अधिक प्रिय है। इसीलिए मैंने पुस्तक को उसी रूप में प्रकाशित करना ही उचित समझा, जिस रूप में यह प्रथम बार प्रकाशित हुई थी। प्रथम संस्करण में जो छापे की गलतियाँ थी, उन्हें सुधारने के अतिरिक्त सिर्फ उन स्थानों को थोड़ा-सा परिवर्तित कर दिया गया है, जिनके बारे में मेरे विचार अब निश्चित रूप से बदल गये हैं। मुझे यह कहने में थोड़ी प्रसन्नता ही होती है कि ऐसे स्थल बहुत ही कम हैं। इस प्रकार यह पुस्तक प्रायः उसी रूप में प्रकाशित हो रही है जिस रूप में प्रथम बार छपी थी।

जिन मित्रों ने बार-बार आग्रह करके इस पुस्तक को फिर से प्रकाशित कराने की प्रेरणा दी है, उनके प्रति मैं हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। मैं सोचता था कि 'सूर-साहित्य' अगर छपना ही है तो उसका बिल्कुल कायाकल्प हो जाना चाहिए; क्योंकि इधर अनेक विद्वानों के परिश्रम के फलस्वरूप अनेक नयी जानकारी प्राप्त हुई है और उनका समावेश किये बिना पुस्तक अधूरी ही मालूम होगी। परन्तु मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि सूर-साहित्य के कई विशेषज्ञ मित्रों ने भी इसे ज्यों-का-त्यों छापने का ही आग्रह किया। मेरा भी इसके मूल रूप पर थोड़ा मोह है; इसलिए सहृदय पाठकों के सम्मुख अपनी इस बाल-कृति को पुनः उपस्थित करने

का साहस कर रहा हूँ।

प्रथम संस्करण की भूमिका श्रद्धेय आचार्य क्षितिमोहन सेन ने लिखी थी। वह भूमिका अपने-आपमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति है, उसमें उनके अगाध पाण्डित्य और सहृदयता का मणि-कांचन योग तो है ही, मेरे प्रति जो स्नेह का भाव है वह भी उन्हीं के योग्य है। एक लम्बी अवधि के बाद जब मैं उस भूमिका को पढ़ता हूँ तो मुझे अद्भुत आनन्द और गौरव का बोध होता है। मैं मन-ही-मन इस बात के लिए लज्जा अनुभव करता हूँ कि दीर्घकाल तक उनके सम्पर्क मे रहकर भी मैं उनके स्नेह का उचित अधिकारी नही सिद्ध हो सका। लेकिन मैं अपने मन को समझा लेता हूँ कि स्नेह का मिलना भी कम सौभाग्य नही है। आज आचार्यपाद अत्यन्त वृद्ध हो गये है, और अस्वस्थ भी है। आज भी उनका स्नेह मुझे उसी तरह प्राप्त है। पुस्तक का पुन मुद्रण देखकर उन्हे जितनी प्रसन्नता होगी, उतनी शायद दूसरे को न हो। इस अवसर पर उनके प्रति मैं अपनी सश्रद्ध प्रणति निवेदन करता हूँ।

प. नाथूरामजी प्रेमी ने पुस्तक को फिर से प्रकाश मे लाने मे सर्वाधिक प्रेरणा दी है। यदि उनका आग्रह न होता तो कदाचित् पुस्तक छपती ही नही। मेरी आरम्भिक रचनाओं को उन्होने ही प्रोत्साहन दिया था, और पुस्तक को भी विस्मृति के गड्ढे में गिरने से उन्होने ही बचा लिया है। पुस्तक की छपाई का वे पूरा ध्यान रखते हैं और मैं निश्चित जानता हूँ कि उनके प्रति कृतज्ञता के दो शब्द लिख भी दूँगा, तो वे अवश्य काट देंगे। इसलिए उनके प्रति कृतज्ञता-व्यंजक कुछ भी न लिखकर चुपचाप अपनी हार्दिक श्रद्धा और प्रीति के भाव निवेदन करता हूँ।

सूरदास भारतीय साहित्य के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रत्नों में है। जिस प्रसंग को उन्होंने उठाया है, उसके बारे में सब-कुछ कह दिया है। अपने वक्तव्य विषय के साथ ऐसी तन्मयता संसार के कुछ थोड़े कवियों में ही मिल सकती है। जिन दिनों मैंने इस पुस्तक को लिखा था उन दिनों इस महान् भक्त की कविता का नशा था। ज्यों-ज्यों अवस्था बढ़ती गयी है त्यों-त्यों अनेक प्रपंचों में उलझता गया हूँ। जीवन मे काव्य-चर्चा के बहाने जिन भक्त-रत्नों की रचनाओं में मन रमा रहता था, उनसे दूर हटता गया हूँ। पुरानी बातों को पढ़ता हूँ तो हृदय में एक प्रकार की पीड़ा का अनुभव करता हूँ। कहाँ से शुरू किया और कहाँ आ गिरा हूँ! जो होना चाहा था, वह नही हो सका; जो सोचा भी नहीं था, उसके चक्कर मे फँस गया हूँ। भक्तों के साहित्य मे जो अपूर्व तन्मयता दिखायी देती है वह किसी महान् अज्ञात के चरणों में अहैतुक आत्म-समर्पण के उल्लास से अनुप्राणित है। जब तक आत्मदान का अद्भुत उल्लास जीवन मे नहीं आता, तब तक कोई बड़ा साहित्य नही लिखा जा सकता। सूरदास, कबीरदास और तुलसीदास जैसे भक्त कवियों के साहित्य में जिस प्रकार के माधुर्य, तेजस्विता और मंगल का साक्षात्कार होता है वे उसी महिमामयी दातृत्व-शक्ति की उपज है। जो जितना देता है उतना ही पा सकता है। यही जीवन में सत्य है, यही साहित्य में भी सत्य है, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। पिछले पच्चीस-तीस वर्षों के साहित्यिक जीवन मे मैं स्पष्ट अनुभव कर रहा हूँ कि उस दातृत्व-शक्ति के

अभाव में हमारा साहित्य दुर्बल होता जा रहा है। मैं निराश होने को बुरा समझता हूँ; गलतियों और कमजोरियों को मनुष्य-जीवन का इतना बड़ा अभिशाप नहीं मानता कि उसकी चिन्ता में व्याकुल हो उठूं, बल्कि कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि त्रुटियाँ और विच्युतियाँ जीवन को शुद्ध और निर्मल बनाने में सहायक होती हैं, शर्त यह है कि हम इन्हें ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य न बना लें। परन्तु यह सोचकर मैं अवश्य विचलित हो जाता हूँ कि हमारे साहित्य में देने की लगन के स्थान पर पाने की स्पृहा अधिक बलवती हो उठी है। सूरदास के उत्तराधिकारियों के लिए यह बहुत गौरव की बात नहीं कही जा सकती। हमारे साहित्य की महिमा सन्तों की अपूर्व दातृत्व-शक्ति में है। इन सन्तों ने अपने-आपको ही दे दिया है। मुझे ऐसा लगता है कि यदि किसी दिन हमारे नये साहित्य में ऐसी तेजस्विता आयेगी जो संसार को प्रकाश दे सके, तो वह इन्हीं सन्तों के आदर्श पर चलनेवाले साहित्यिकों के द्वारा ही सम्भव हो सकेगी। आज भी हमारे नये साहित्य में जहाँ कहीं तेज है, वह आत्मदानी सन्तों के आदर्श पर चलनेवाले साहित्य-सर्जकों के तप का ही फल है।

भक्ति-काल के साहित्यकारों के ज्योतिष्क-मण्डल को देखकर भरोसा होता है कि हम नये युग में भी नयी चेतना को जाग्रत करने योग्य साहित्य अवश्य उत्पन्न कर सकेंगे। अभी यदि उतनी उल्लसित होने योग्य अवस्था नहीं आ सकी है तो यह क्षणस्थायी शैथिल्य ही है। आज अपने-आपको देखकर मेरे चित्त में जो ग्लानि का भाव आया है, यह भी कोई बुरा लक्षण नहीं है, इस पुस्तक के प्रकाशित होने के बहाने आत्म-निरीक्षण का जो अवसर मिल गया वह भी किसी पुराकृत पुण्य का ही फल है। भक्तप्रवर सूरदास के चरणों में अपनी श्रद्धा निवेदन करते समय मुझे इस अवसर के मिलने का सुख भी हो रहा है और कृतज्ञता के भाव भी उदय हो रहे हैं।

आशा करनी चाहिए कि भक्त कवियों का बार-बार स्मरण हमें उचित मार्ग की ओर अग्रसर करेगा।

फाल्गुनी पूर्णिमा; 2012 हजारीप्रसाद द्विवेदी

राधा-कृष्ण का विकास

ईसा से कम-से-कम चार सौ वर्ष पूर्व वासुदेव की पूजा चल पड़ी थी[1]। धीरे-धीरे वासुदेव और नारायण को एक ही समझा जाने लगा था। इतना निश्चित है कि ब्राह्मण-काल के अन्त में नारायण को परम-दैवत माना जाने लगा था (शतपथ ब्राह्मण, 12-3-4)। ऋग्वेद में भी नारायण की प्रधानता का प्रमाण पाया जाता है (ऋ. 12-6-1)। तैत्तिरीय आरण्यक (10-11) में नारायण को परम-दैवत के रूप में माने जाने की बात पायी जाती है। महाभारत और पुराणों में नारायण और विष्णु को अभिन्न समझा गया है। परन्तु आरम्भ में नारायण और विष्णु का कोई सम्बन्ध नहीं दिखायी पड़ता। इसमें सन्देह नहीं कि विष्णु वैदिक युग के एक महत्त्वपूर्ण देवता थे। (ऋ. 1-155-5, 1-154-5 इत्यादि) ब्राह्मण-काल में तो

1. पाणिनि के एक सूत्र (4-1-98) से पता चलता है कि वासुदेव उस समय देवता समझे जाते थे। पाणिनि का काल कुछ निश्चित नहीं है, पर इतना निःसंकोच कहा जा सकता है कि यह काल ईसा से चार सौ वर्ष से कम पुराना नहीं है। परन्तु बौद्ध जातकों (घट-जातक) से यह बात प्रमाणित की जा सकती है कि वासुदेव की पूजा और भी पुरानी है। बुद्धदेव का पूर्वजन्म में वासुदेव होना सिद्ध करता है कि जातक युग में वासुदेव की महिमा प्रतिष्ठित हो चुकी थी। जैन शास्त्रों में भी महावीर स्वामी का पूर्वभव में वासुदेव होना बताया गया है। जैकोबी ने 'एनसाइक्लोपीडिया आफ रेलिजन्स एण्ड एथिक्स' के 'अवतार' शीर्षक लेख में बताया है कि जैनों की सारी वंशावली हिन्दुओं के अनुकरण पर है। वासुदेव के आदर्श पर उन्होंने जो वंशावली कल्पना की है उसमें नौ वासुदेव, नौ वासुदेव, नौ बलदेव और नौ प्रति-वासुदेवों की कल्पना है। इन बातों से सिद्ध होता है कि उस युग में वासुदेव खूब प्रतिष्ठित देवता हो चुके थे। सभी सम्प्रदायों के लोग अपने नेताओं को वासुदेव का अवतार सिद्ध करना चाहते थे। स्वयं द्वारकापति श्रीकृष्ण के युग में ही पुण्ड्र-वंश-शिरोमणि के र पुण्डरीक ने अपने को वासुदेव कहकर पुजवाना शुरू कर दिया था। कृष्ण ने इसे मारकर वासुदेवत्व स्थापित किया था। इन बातों से सिद्ध होता है कि वासुदेव की पूजा ईसा पुरानी है।

यहाँ तक आकर वासुदेव कृष्ण, विष्णु और नारायण एक हो चुके थे। पर गोपाल-कृष्ण का अब तक इनसे कोई सम्बन्ध नहीं था। इस प्रकार के किसी देवता का नाम न तो महाभारत के नारायणीय मत में आता है और न पातंजल महाभाष्य में। नारायणीय मे वासुदेव के अवतार का उल्लेख है। इसमे कंस-वध की भी चर्चा है। पर उसमें गोपाल-कृष्ण का नाम नहीं है। गोपाल-कृष्ण के द्वारा मारे गये राक्षसों का भी कोई उल्लेख नहीं मिलता।

गोपाल-कृष्ण सम्बन्धी कथाओं का वर्णन हरिवंश और वायुपुराण मे उपलब्ध होता है। भागवतपुराण मे कंस-वध, पूतना तथा अन्य राक्षसो का वध आदि कथाओं का विस्तृत वर्णन है। इनमे कसारि कृष्ण और गोपाल-कृष्ण को अभिन्न समझा गया है। इन ग्रन्थों के बनने के समय निश्चय ही गोपाल-कृष्ण की कथा खूब प्रचलित हो गयी होगी। महाभारत के ही सभापर्व (अ. 41) में शिशुपाल के मुँह से ऐसी बातें कहलायी गयी हैं जिनमे कृष्ण की गोकुलवाली कथा का आभास पाया जाता है। भाण्डारकर कहते है कि ये बातें बाद की प्रक्षिप्त होगी क्योंकि शान्ति-पर्व में भीष्म के मुँह से जो कृष्णस्तुति करायी गयी है उसमे इन बातों की चर्चा नही है[1]। गीता मे गोविन्द शब्द आया है। इसे कुछ विद्वान् 'गोपेन्द्र' शब्द का प्राकृत रूप बताते है[2]। पाणिनि (3-1-138) पर वार्तिक लिखकर कात्यायन ने इस शब्द को सिद्ध किया है। भाण्डारकर के मत से इस शब्द का सम्बन्ध ऋग्वेद के 'गोविन्द' (=इन्द्र) से अधिक सम्भव है[3]।

इन सारा बातो का निष्कर्ष निकालकर भाण्डारकर कहना चाहते है कि ईसवी सन् के प्रारम्भ में कृष्ण के बाल्यकाल में गोकुलवास की कथा प्रचलित नहीं होगी। कृष्ण आभीर नामक एक घुमक्कड जाति के बाल-देवता है। इन आभीरों ने मधुपुर से लेकर आनर्त और अनूप तक के प्रदेशों पर अधिकार कर[4] लिया था। इन्हें महाभारत में डाकू और म्लेच्छ कहा गया है। इन्होने अर्जुन पर, जबकि वे वृष्णियों की स्त्रियों को लिये जा रहे थे, आक्रमण किया था। उस समय ये पंचनद के पास रहते थे। विष्णु-पुराण और वराहमिहिर ने इन्हे अपरान्त (कोंकण) और सौराष्ट्र के आसपास रहनेवाले बताया है[5]। वर्त्तमान अहीर इन्हीं आभीरो की सन्तान हैं। केनेडी के मत से[6] श्रीकृष्ण जिस घुमक्कड़ जाति के बालदेवता है उनकी वर्त्तमान सन्तान है जाट और गूजर। काठियावाड में पायी गयी एक लिपि से जाना

1. वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड माइनर रेलिजस सिस्टम्स, पृ 36
2. ग्रियर्सन ने इस शब्द को 'गोपेन्द्र' शब्द से निकला हुआ बताया है। (ज रा. ए. सो, सन् 1907)। कीथ इस विषय मे ग्रियर्सन से सहमत नही थे (ज. रा. ए. सो, सन् 1907)।
3. वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड माइनर रेलिजस सिस्टम्स, पृ 36
4. वही, पृ 36-37
5. ज. रा. ए सो, सन् 1907
6. वही।

जाना है कि शक. 102 में आभीर राज्य करने लगे थे। केनेडी ने बताया है कि पाँचवीं-छठी शताब्दी में आभीरों का राजा होना यह सिद्ध करता है कि वे बहुत पूर्व आ चुके होंगे। पर काठियावाड़ के लेख से पता चलता है कि ईसवी सन् की दूसरी शताब्दी में आभीर उच्च पदाधिकारी और शासक होते थे। निश्चय ही इनका आना बहुत पूर्व हुआ होगा। वायुपुराण में, जो कि बहुत पुराना पुराण माना जाता है, आभीर राजाओं की वंशावली का उल्लेख है। इन सारी बातों को देखकर यह कहा जा सकता है कि आभीर ईसवी सन् के पहले ही इस देश में आकर बस गये होंगे।

आभीरों के बाल-देवता श्रीकृष्ण की कथा का सबसे पुराना उल्लेख हरिवंश में पाया जाता है। भाण्डारकर ने इस ग्रन्थ का काल सन् ईसवी की तीसरी शताब्दी के बाद माना है। क्योंकि उसमें 'दीनार' शब्द (लैटिन—denarious) का उल्लेख है[1]। आधुनिक शोधों से जाना गया है कि 'दीनार' शब्द ईसवी सन् के पूर्व में ही इस देश में पहुँच चुका था। इसलिए कहा जा सकता है कि हरिवंश का काल और भी पुराना मानने में 'दीनार' शब्द बाधक नहीं होगा। यदि ऐसा माना जा सके तो यह भी कहा जा सकता है कि आभीरों के बाल-देवता श्रीकृष्ण की कहानियों का उक्त ग्रन्थ में स्थान पाना निश्चय ही यह सिद्ध करता है कि उनका अस्तित्व सन् ईसवी से पुराना है।

वेबर[2], ग्रियर्सन[3], केनेडी[4], भाण्डारकर[5]—सबका कहना है कि बालकृष्ण की कथा ईसामसीह की कथा का भारतीय रूप है। इस कथा को सीरिया से चलकर आयी हुई घुमक्कड़ आभीर जाति ने भारतवर्ष में परिचित कराया[6]। भाण्डारकर के शब्दों में, "वे (आभीर) ही सम्भवतः बाल-देवता की जन्म-कथा और पूजा तथा उनके प्रख्यात पिता का उनके विषय में यह अज्ञान कि वह उनके पिता हैं, और निरपराधों के वध की कथा अपने साथ ले आये।" अन्तिम दो का सम्बन्ध इन कथाओं से है—1. नन्द का यह न जानना कि वे कृष्ण के पिता हैं; और 2. कंस द्वारा निरपराध बालकों का वध। कृष्ण की बाल-लीला में जैसे धेनुक का, जो गधे के रूप में था, मारना आभीर अपने साथ लाये थे। अन्य कथाएँ उनके भारत आने के बाद विकसित हुईं। यह सम्भव है कि वे अपने साथ क्राइस्ट नाम भी ले आये हों और सम्भवतः यही नाम वासुदेव-कृष्ण के साथ भारतवर्ष में बाल-देवता के एकीकरण का कारण हुआ हो। गोआनीज और बंगाली प्रायः कृष्ण शब्द को

1. वैष्णविज्म शैविज्म., पृ. 37
2. इण्डियन एण्टिक्वेरी, जिल्द 3-4 में 'कृष्ण-जन्माष्टमी' वाला लेख।
3. ज. रा. ए. सो., सन् 1907 ई. में 'हिन्दुओं पर नेस्टोरियन ईसाइयों का ऋण' शीर्षक लेख।
4. ज. रा. ए. सो., सन् 1907 में 'कृष्ण, ईसाइयत और गूजर'।
5. वैष्णविज्म शैविज्म, पृ. 38-39
6. ज. रा. ए. सो., सन् 1907 में कीथ ने बालकृष्ण की कथा को ईसवी सन् से पहले होना सम्भव बताया है।

'क्रिष्ट', 'कृष्ट' या 'क्रिष्टो' के रूप में उच्चारण करते हैं।।"

वेबर ने जिन युक्तियों के बल पर श्रीकृष्ण-जन्म की कथा को ईसामसीह की जन्म-कथा से मिलती हुई सिद्ध किया था, उनकी निस्सारता ऐतिहासिक प्रमाणों से सिद्ध हो चुकी है। वेबर का सारा तर्क कृष्ण-जन्माष्टमी के अनुष्ठानों और अजन्ता के चित्रों के ऊपर निर्भर है। कीथ ने प्रथम अंश को असंगत बताया है। उन्होंने कहा है कि याद रखना चाहिए कि ये अनुष्ठान ख्रिष्ट पूर्व है। केनेडी ने[2] यह तो स्वीकार किया है कि अजन्ता की गुफाओं में ईसाई प्रभाव है, पर वेबर के इस कथन को कि देवकी का वर्जिन रूप में चित्रण मिस्र से होकर आया होगा, उन्होंने ऐतिहासिक भूल माना है। उनका कहना है कि Modona laclans का परिचय मिस्र में पाँचवीं शताब्दी तक अज्ञात था[3]।

यही नहीं, ईसा का वर्जिन का स्तन्य-पान करना तो उन्होंने बारहवीं शताब्दी की कल्पना बतायी[4]। वेबर जिस चित्र पर अधिक जोर देते हैं उसमें स्तन्य-पान की बात ही महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि वेबर के मत से वह ईसा के स्तन्य-पान का अनुकरण है। यदि केनेडी की बात सच है[5] तो ईसा के स्तन्य-पान की घटना अजन्ता-अंकन से कम-से-कम सात सौ वर्ष बाद की ठहरती है। फिर भी पण्डितों का एक दल बाल-कृष्ण को क्राइस्ट का रूपान्तर कहने में जरा भी नहीं हिचकता।

हम ऊपर बता चुके हैं कि आभीरों का ख्रीष्ट-पूर्वकाल में भारतवर्ष में आना एकदम असम्भव नहीं है। मगर यह तो कोई जरूरी बात नहीं है कि बाल-कृष्ण की कथा का पतंजलि या अन्य समकालीन ग्रन्थों और शिलालेखों में न पाया जाना यह भी सिद्ध कर दे कि ये आभीर सीरिया से ही चलकर आये थे। आभीर इसी देश

1. भाण्डारकर का यह अनुमान निःसन्देह असंगत है। जिन्होंने भाषाशास्त्र से कुछ परिचय प्राप्त किया होगा, वे आसानी से इसकी असंगति समझ सकते हैं। भाण्डारकर जैसे पण्डित ने कैसे इस प्रकार का अनुमान किया, यह सोचकर आश्चर्य होता है। पर और भी आश्चर्यजनक है इस पर यूरोपियन पण्डितों का आस्फालन। स्वर्गीय तिलक ने एक जगह 'वेन' शब्द का सम्बन्ध ग्रीक 'वेनस्' से दिखाकर यह सिद्ध करना चाहा था कि वेदों में शुक्र ग्रह की चर्चा है। मैकडोनाल्ड और कीथ ने 'वैदिक इण्डेक्स' में कई जगह इस अनुमान को 'अति असम्भव'(most impossible, most improbable) कहा है तथापि उन्हें सन्तोष नहीं हुआ और एक जगह एक और भी उद्गारपूर्ण टिप्पणी जड़ दी है—Tilak's conjecture that the planetes are referred to here is absurd! (वैदिक इण्डेक्स, दूसरी जिल्द, पृ. 132) परन्तु ये ही यूरोपियन पण्डित भाण्डारकर के इस अनुमान को इतना महत्त्व देते हैं! हम तिलक की बात के समर्थक नहीं हैं, परन्तु पूछना चाहते हैं कि तिलक का अनुमान क्या इससे अधिक absurd है? यूरोपियन पण्डितों से अधिक इस बात को कोई नहीं जानता कि 'Christ' का मूल उच्चारण वही नहीं है जो आज अंग्रेजी में प्रचलित है और उस पर से बंगाली या गोआनीज उच्चारण 'क्रिष्टो' या 'त्रिष्टो' होना एकदम असम्भव है।
2. ज. रा. ए. सो., सन् 1907
3. वही।
4. वही।
5. वही।

की पुरानी जाति हो सकती है। उनके अपने बाल-देवता भी हो सकते हैं। श्री कुमारस्वामी ने कहा है कि आभीर शब्द द्रविड़ भाषा का है जिसका अर्थ होता है 'गो-पाल'। यह कहा जा सकता है और कहा भी गया है कि आभीरों (अहीर, जाट और गूजरों) की मुखाकृति, शरीर-गठन आदि द्राविड़ नहीं बल्कि सीथियन है। केनेडी इन्हें सीथियन मानते भी हैं।[1] पर इससे उक्त अनुमान में कोई बाधा नहीं पड़ती। हो सकता है कि आभीर नाम की कोई द्रविड़ जाति, जिसका धर्म भक्ति-प्रधान और देवता बाल-कृष्ण हों, पहले से ही इस देश में रहती हो; बाद को ये सीथियन जातियाँ आकर इनका धर्म ग्रहण करके अपने को आभीर कहने लगी हों। आभीर शब्द का द्रविड़ होना और देवता का कृष्ण (काला) होना इस अनुमान का सहायक होना बताया जा सकता है। यह बात ऐतिहासिकों के ऊहापोह का विषय बनी हुई है कि बाहर से आयी हुई कितनी ही जातियाँ ब्राह्मण-धर्म में शरण न पा सकी थी।[2]

मगर इस मत पर हमारा आग्रह नहीं है। कारण यह है कि यह सारा-का-सारा अनुमान एकमात्र आभीर शब्द पर अवलम्बित है, जिसे किसी एक विद्वान ने द्रविड़-शब्द बताया है। मगर यह बात न भी हो तो यह कैसे माना जा सकता है कि कृष्ण क्राइस्ट के रूप हैं? यह तो मानी हुई बात है कि ईसा का जन्म एशिया के देश और जाति मे हुआ था। क्या यह बात सम्भव नहीं है कि ईसा की जन्म-कथा इन्ही सीथियन आभीरो के बाल-देवता की जन्म-कथा का अनुकरण हो? क्या संसार की अन्य जातियों की कथाओं का प्रभाव भारतवर्ष की धार्मिक कथाओं पर ही पड़ता है, ईसाइयों पर नही? क्या ईसाइयत के जन्म के पूर्व ये आभीर और इनके बाल-देवता थे ही नही? क्या एक ही सामान्य मूल से ईसा और कृष्ण के पृथक् विकास की बात सोची ही नही जा सकती? यह तो अब सबने स्वीकार कर लिया है कि युसुफ या जोजेफ शब्द 'बोधिसत्त्व' का ही रूपान्तर है।

जिस प्रकार यह कहना अन्याय है कि कृष्ण क्राइस्ट के रूपान्तर हैं, उसी प्रकार यह कहना भी अनुचित है कि क्राइस्ट कृष्ण के रूपान्तर है। वेबर की युक्तियों की निस्सारता को जैकोबी ने सिद्ध कर दिया है।[3] ग्रियर्सन साहब बता चुके हैं कि ईसवी सन् की पहली शताब्दी मे दो ईसाई सन्त भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों मे आ चुके थे।[4] यह भी सिद्ध हो चुका है कि ईसा से बहुत पूर्व आभीरों का आगमन सम्भव है। ईसामसीह की मृत्यु के बाद उनकी जन्म-कथाएँ उनके शिष्य-

1 ज. रा ए सो, सन् 1907

2. आर्यों मे से भी कुछ जो दक्षिण मे जा बसे थे, अपने को 'द्रविड़' कहने लगे थे। द्रविड़ ब्राह्मण ऐसे ही हैं।

3. 'एनसाइक्लोपीडिया आफ रेलिजन एण्ड एथिक्स' के 'अवतार' (Incarnation) शीर्षक लेख में।

4 ज. रा ए सो., सन् 1907

प्रशिप्यों ने लिखी थीं। फिर क्या यह सम्भव नही कि सेंट लूक[1] लिखित सुसमाचारों में आभीरों के बाल-देवता का प्रभाव पड़ा हो जो भारतवर्ष में देवकी-पुत्र कृष्ण के रूप में प्रख्यात हो चुके थे ? यह बात निश्चित रूप से नही कही जा सकती; पर यूरोपियन पण्डितों के आरोप की अपेक्षा इस बात की सम्भावना अधिक है। क्योंकि कृष्ण अगर ईसा के रूपान्तर होते तो राधा और गोपियों की कथा, जो निश्चय ही आभीरों की देन है, उसमें नही आ सकती थी; क्योंकि मथुरा के बाल-कृष्ण से (देवकी-पुत्र कृष्ण, वासुदेव या द्वारका के राजा कृष्ण नही) मनुष्य का कोई सम्बन्ध नही, वे विशुद्ध देवता हैं। दूसरी ओर क्राइस्ट या ईसामसीह मनुष्य और ईश्वर के मिले हुए रूप हैं। देवता में कल्पना की प्रधानता रहती है, मनुष्य में गौणता। कोई जाति जब किसी अन्य जाति के किसी मत या कल्पना को अपनाकर अपने नायक मनुष्य से सम्बन्ध करती है, तो उतना ही अंश ग्रहण करती है जितना उस मनुष्य की जीवन-घटनाओं के साथ अविरुद्ध भाव से घुल-मिल सके। ईसामसीह के लिए अगर कृष्ण की कथाओं को ग्रहण किया गया होगा तो उतना ही अंश जितना उनके ब्रह्मचारी जीवन का अविरोधी हो। पर बाल-कृष्ण के लिए तो यही तक सीमा नही रहेगी। जो हो, ये सारी बातें कुछ महत्त्व नही रखती। असल बात यह है कि ईसा और कृष्ण की कथाएँ भारतवर्ष में आकर बसी हुई आभीर जाति के एक ही भाण्डार से ग्रहण की गयी होंगी।

यह बात सर्वसम्मत है कि कृष्ण का वर्तमान रूप नाना वैदिक-अवैदिक, आर्य-अनार्य धाराओं के मिश्रण से बना है। केनेडी[2] ने इसके तीन खण्ड किये है—1. द्वारका का राजा कृष्ण, जो अपने धूर्त कृत्यों के लिए महाभारत मे बहुत विख्यात है; 2. निचली सिन्धु-उपत्यका का अनार्य वीर जो आधा देवता है, इसने राक्षस-पैशाच आदि निन्द्य विवाह किये थे; और 3. मथुरा का बाल-कृष्ण। जैकोबी[3] ने बताया है कि पाणिनि से पूर्व वासुदेव देवता रूप मे पूजे जाने लगे थे। छान्दोग्योपनिषद् मे घोर आंगिरस के शिष्य देवकी-पुत्र की चर्चा पायी जाती है। इस ऋषि कृष्ण और देव वासुदेव के योग से एक श्रीकृष्ण ब्राह्मण युग के अन्त में प्रतिष्ठित हो चुके थे। इन्ही मे बाद को एक कृष्ण आ मिले—1. मथुरा के बाल-गोपाल, और 2. वृष्णियों के नायक राजपूत कृष्ण। इस प्रकार कृष्ण का विकास हुआ है। साथ ही यह भी समझ रखना चाहिए कि इस कृष्ण में वैदिक देवता विष्णु और नारायण भी मिल गये थे।[4]

ईसवी सन् के पूर्व ही वासुदेव भगवान् या परम-दैवत के रूप मे पूजित होने लगे थे। आर. गार्बे की गीता-सम्बन्धी शोधों के आधार पर डॉ. ग्रियर्सन ने यह

1. इसी सन्त के लिखे ईसा के जीवन-चरित को पण्डितो ने इस प्रसग मे बार-बार उद्धृत किया है।
2. ज. रा. ए. सो., सन् 1907
3. एनसाइक्लोपीडिया आफ रेलिजन एण्ड एथिक्स
4. भाण्डारकर : वैष्णविज्म शैविज्म।

स्वीकार कर लिया था कि गीता का कुछ अंश ख्रष्ट-पूर्व में रचित हो गया था। उससे श्रीकृष्ण का परम-दैवत और भक्ति-उपदेशक होना सिद्ध होता है।[1] पर इस श्रीकृष्ण में आभीरों का बाल-देवता नहीं आ मिला था। वस्तुतः बाल-कृष्ण की कथाएँ ईसा से पूर्व खूब प्रचलित हो गयी थीं। यही नहीं, गोपियों की लीला और राधा के साथ श्रीकृष्ण का सम्बन्ध भी इस युग में प्रचलित होना असम्भव नहीं। हम आगे इस बात की जाँच करेंगे।

हरिवंश के बारे में पहले बताया जा चुका है कि इसका ख्रष्टपूर्व होना असम्भव नहीं है। इसमें श्रीकृष्ण का गोपियों के साथ केलि-क्रीड़ा-वर्णन पाया जाता है। गाथा-सप्तशती में 'राधा' शब्द पाया जाता है। इसी ग्रन्थ के अनुसार इसकी रचना विक्रमादित्य के राज्य में हुई थी। यह मालवा का राजा विक्रमादित्य वही है जिसने विक्रम संवत् चलाया था। यह बात अब ऐतिहासिकों को अमान्य नहीं रह गयी है कि विक्रम-संवत् का प्रवर्त्तक सचमुच एक ऐतिहासिक व्यक्ति था। 'गाथा-सप्तशती' में प्राचीनता के सब लक्षण हैं। उसकी प्राचीनता में सन्देह करने के लिए दो शब्द ही कुल जमा पाये गये हैं—राधिका और मंगलवार[2]। कहा जाता है कि वार-पद्धति का परिचय भारतीयों को पाँचवीं शताब्दी में हुआ था। गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने इस कथन को अयथार्थ बताया है, क्योंकि उन्होंने एक ताम्र-पत्र पाया है जिसके अनुसार शक 52 में बृहस्पतिवार शब्द का उल्लेख है।[3] वस्तुतः वार-गणना का प्रचलन तो ग्रीस में ईसा से बहुत पूर्व हो चुका था। टिबुलस नामक कवि ने ईसा से 26 वर्ष पहले वारों की चर्चा की है।[4] इससे पुराना अस्पष्ट उल्लेख भी मिला है जो ईसा से 96 वर्ष पूर्व का है।[5] इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि ईसा के पहले वारों का प्रचार भारतवर्ष में होना असम्भव नहीं है।[6] अगर यह बात स्वीकार्य है, जो बहुत दुर्बल प्रमाणों पर अवलम्बित है, तो 'गाथा-सप्तशती' में राधा का नाम आना सिद्ध कर सकता है कि बाल-कृष्ण की कथा ईसा से बहुत पूर्व फैल चुकी थी। 'पंचतन्त्र' में भी राधा का नाम आता है। पण्डितों ने इसका समय पाँचवीं शताब्दी में इसलिए भी फेंक दिया है कि इसमें राधा शब्द आता है!

अब तक जिन प्रमाणों की चर्चा की गयी है वे उस समय के पण्डितों की युक्तियों

1. एनसाइक्लोपीडिया आफ रेलिजन एण्ड एथिक्स, जिल्द 2, पृ. 547
2. भारतीय लिपिमाला, पृ. 128 टि में डी. आर भाण्डारकर के मत की आलोचना देखिए।
3. वही।
4. नाटिकल एलमेनक, सन् 1932 में एक्सप्लेनेशन्स का सप्ताह दिन पर विचार।
5. 'एनसाइक्लोपीडिया आफ रेलिजन एण्ड एथिक्स' का 'सण्डे' प्रबन्ध।
6. इस बात में सन्देह होने का एक कारण है। भारतीय ज्योतिष-ग्रन्थों में सर्वत्र वार रविवार से शुरू होते हैं। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि वार-पद्धति भारतवर्ष में उस समय आयी होगी जब रविवार आदि-दिन माना जाने लगा होगा। पहले शनिवार ही सप्ताह का आदि-दिन था। रविवार का आदि-दिन के रूप में सबसे पुराना उल्लेख सन् ई से सत्रह वर्ष बाद का पाया जाता है।

द्वारा समर्थित है जिन्हें भास के नाटकों का ज्ञान न था। सौभाग्यवश श्री गणपति शास्त्री ने हाल ही में भास के तेरह नाटकों का उद्धार किया है। इन नाटकों के उद्धार से बहुत-सी प्राचीन बातों का रूप ही बदल गया है। भास के नाटकों के काल के सम्बन्ध में पण्डितों में बड़ा मतभेद है। इन नाटकों के आविष्कारक श्री गणपति शास्त्री महाशय का मत है कि ये नाटक पाणिनि के भी पूर्ववर्ती है। अन्यान्य विद्वान् इन्हें इतना पुराना तो नहीं मानते, परन्तु श्री के. पी. जायसवाल ने युक्तिपूर्वक सिद्ध करना चाहा है कि इन नाटकों के कर्त्ता भास कण्ववशी राजा नारायण (53-71 ईसवी पूर्व) के सभाकवि थे। स्टेन कोनो इन्हें ईसवी सन् की दूसरी शताब्दी से अधिक अर्वाचीन नहीं समझते और विंटरनित्ज तीसरी शताब्दी के अन्त में या चौथी शताब्दी के शुरू मे इनका लिखा जाना अनुमान करते हैं[1]। इस बात मे सभी एकमत है कि इन नाटकों की भाषा प्राचीन, अनलंकारिक और सादी है। अन्य प्रबलतर युक्तियों के अभाव में हमे विद्वद्वर जायसवाल का मत मान्य जान पड़ता है।

इन नाटकों में से कई श्री कृष्ण की जीवन-सम्बन्धी घटनाओं के आधार पर बने हैं। बाल-चरित, दूत-वाक्य और दूत-घटोत्कच मे सर्वत्र श्रीकृष्ण परम-दैवत नारायण के रूप में अंगीकार किये गये है। इन नाटकों से इतना निश्चित है कि सन् ईसवी के प्रारम्भ मे श्रीकृष्ण की बाललीलाएँ अविकल उसी रूप में वर्तमान थीं, जिस रूप में बाद मे भागवत आदि पुराणों में पायी जाती है। अर्थात् क्राइस्ट के जन्म के बहुत पूर्व इस देश में बाल-गोपाल की लीलाएँ बहुत प्रचलित हो गयी थीं। एक उल्लेख-योग्य बात इस ग्रन्थ में यह भी है कि सारे नाटकों में 'राधा' का नाम कहीं नहीं आता।

'नारदपंचरात्र' नामक पुस्तक में भी बाल-कृष्ण की महिमा गायी गयी है। इस पुस्तक का एक अंश है ज्ञानामृत-सार-संहिता। इसके अनुसार नारद कृष्ण-माहात्म्य सुनने के लिए कैलास पर शिव के पास जाते हैं, वहाँ उनके महल के सात फाटकों पर यमुना, कदम्ब पर श्रीकृष्ण, वस्त्र-हरण, नग्न गोपिकाएँ, आदि लीलाएँ चित्रित थी। इस कथा के अनुसार चित्रित एक स्तम्भ जोधपुर के निकट माण्डोर ग्राम में पाया गया हैं।[2] भाण्डारकर के कथानुसार इसका काल ईसवी सन् की चौथी शताब्दी के पहले नहीं हो सकता।[3] और उक्त संहिता तो उन्हें सोलहवीं शताब्दी की कृति जान पड़ती है;[4] यद्यपि इसके लिए कोई प्रबल प्रमाण नहीं दिया गया। पुस्तक चाहे जब की हो; पर चौथी शताब्दी में गोपियों के साथ कृष्ण की केलि-कथा खूब प्रचलित हो गयी थी, इसमें सन्देह नहीं।

1 देखिए, विंटरनित्ज का 'सम प्राब्लम्स आफ इंडियन लिटरेचर' (कलकत्ता, 1925), पृ. 124

2 'आर्क्यॉलाजिकल सर्वे आफ इंडिया', वार्षिक विवरण 1905-6, पृ 135 और आगे।

3 वैष्णविज्म शैविज्म, पृ. 41-42

4 वही, पृ 42

इस भक्तिवाद को लेकर पण्डितों में वडा विवाद है। सन् 1907 में ग्रियर्सन[1] ने एक विस्तृत विवेचना के बाद यह निष्कर्ष निकाला कि सन् ईसवी की तीसरी शताब्दी में सीरिया के नेस्टोरियन ईसाइयों का एक दल मालाबार के किनारे आ बसा था। सन् 660 ई. तक इनका कोई नियमित मठ न था। चौदहवी शताब्दी में इन्होंने बप्तिस्मा भी छोड़ दिया था। सेंट थामस पर्वत पर इनका जो तीर्थ था उसमें हिन्दू भी सम्मिलित होते थे। रामानुज का जन्म और शिक्षा-दीक्षा इसी पर्वत के समीपस्थ स्थानों पर हुई थी। इसलिए उनके ऊपर ईसाई भक्तिवाद का जबर्दस्त प्रभाव था। रामानन्द तो इस ईसाई प्रभाव के स्रोत को आकण्ठ पान कर चुके थे। इसलिए सारा भक्तिवाद ईसाइयों की देन है। कीथ[2] ने ग्रियर्सन के इस मत को असंगत बताया। केनेडी नामक पण्डित[3] ने इसे सम्भव बताया। यह विवाद बहुत दिनों तक चलता रहा। सन् 1909 में स्वयं ग्रियर्सन को अपनी बात में कुछ सन्देह होने लगा था।[4] एच. जैकोबी ने ग्रियर्सन के आरोप को असंगत बताया है[5] और सुविख्यात पण्डित विंटरनित्ज़[6] ने यह सिद्ध कर दिया है कि भक्ति कही बाहर से नही आयी बल्कि भारतीय मिट्टी में ही उसका बीज था। आर. गार्बे[7] ने यह बात स्मरण रखने की चेतावनी दी है कि गीता में ऐसा कोई विचार नही है (भक्ति भी) जिसे भारतीयों के विपुल विचार-भाण्डार और उनकी विशेष प्रकार की मनोवृत्ति के द्वारा सन्तोषपूर्वक न समझाया जा सके।

ग्रियर्सन ने ईसाई भक्तिवाद और शाण्डिल्य सूत्रों के सिद्धान्तों की तुलना की थी। उनका मत कुछ-कुछ इस प्रकार का जान पड़ता है कि पुराने जमाने में ईसाई प्रभाव की सम्भावना हो या न हो, बाद को उस पर कुछ ईसाई प्रभाव जरूर पड़ा है, और वह प्रभाव कृष्ण-भक्ति के ऊपर उतना नही है जितना राम-भक्ति के ऊपर। भक्तिवादियों में सबसे बड़े ईसाई तुलसीदास है और वृद्ध ज्ञानी कबीर भी इससे खूब प्रभावित है। कबीर का 'शब्द' पर जोर देना ग्रियर्सन साहब को बाइबिल के शब्द-सिद्धान्त की याद दिलाये बिना नही रहता। वैष्णवों का महाप्रसाद-वितरण भी ईसाइयों के 'लव-फीस्ट' का अनुकरण है![8]

1. ज. रा. ए सो, सन् 1907
2. वही।
3. वही।
4. 'एनसाइक्लोपीडिया आफ रेलिजन एण्ड एथिक्स' में 'भक्ति-मार्ग'।
5. वही, 'अवतार' (incarnation) शीर्षक प्रबन्ध।
6. 'हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर', प्रथम भाग।
7. 'एनसाइक्लोपीडिया आफ रेलिजन एण्ड एथिक्स' में 'भगवद्गीता' प्रबन्ध।
8. इन बातों को ज. रा. ए. सो., सन् 1907-8 के विविध वाद-प्रतिवादों से लिया गया है। सन् 1909 में प्रकाशित 'एनसाइक्लोपीडिया आफ रे. एण्ड ए.' के 'भक्ति-मार्ग' शीर्षक प्रबन्ध के अन्त में तत्सम्बन्धी साहित्य की चर्चा करते समय ग्रियर्सन ने लिखा है कि अपने पूर्व-मत पर वे साग्रह चिपटे हुए नही हैं।

कीथ[1] ने ग्रियर्सन की सभी बातों का जवाब दिया है। शब्द के विषय में उन्होंने कहा था कि यह वैदिक सिद्धान्त है और ग्रीस में Logus Doctrine ईसा से सैकड़ों वर्ष पहले से लेकर सैकड़ों वर्ष बाद तक प्रचलित था।

इस प्रकार शताब्दियों की उलट-फेर के बाद प्रेम, ज्ञान, वात्सल्य, दास्य आदि विविध भावों के मधुर आलम्बनपूर्ण ब्रह्म श्रीकृष्ण रचित हुए। सब कुछ उनमें परिपूर्ण रूप में देखने की कोशिश की गयी। माधुर्य के अतिरिक्त उद्रेक से प्रेम और भक्ति का प्याला लबालब भर गया। इसी समय ब्रजभाषा का साहित्य बनना शुरू हुआ।

इस स्थान पर ब्रजभाषा काव्य की युगल-मूर्ति का परिचय अपूर्ण ही रह जायगा यदि हम तन्त्रवाद और सहजवाद[2] का रहस्य न समझ लें। तन्त्र-ग्रन्थों के निष्णात पण्डितों ने बताया है कि तन्त्र में शक्ति का रस ग्रहण शिव या आत्मा करता है। आत्मा देश और काल से परे है—वह सीमाहीन अनन्त है। अनन्त के इसी रूप को देश-काल से सीमित शक्ति प्रकट करती है। सीमा-हीन और ससीम के इसी खेल का नाम जगत् है। शक्ति के रस को हम सम्पूर्ण ग्रहण नहीं कर सकते, पर स्वभावत. आत्मा अपरिसीम है। शक्ति के एक देश के रस से उसे अनन्त रस का ज्ञान हो जाता है—वह अपना स्वरूप पहचानता है। उदाहरण के लिए पृथ्वी को लीजिए। हम पृथ्वी से उत्पन्न होनेवाले सभी फल-फूलों का रस नहीं ग्रहण कर सकते। आम-जामुन का आस्वादन करके हम पृथ्वी के नाना रसों का अनुमान करते हैं। इस ससीम रस के आस्वादन के द्वारा हम अपरिसीम रस को हृदयंगम करते हैं। स्त्री-रूप से हम महाशक्ति के एक रस का साक्षात् करते है, माता-रूप से दूसरे का, भगिनी-रूप से तीसरे का। इस प्रकार कुछ संख्या-परिमित व्यक्तियों से महाशक्ति के अनन्त रस का ज्ञान पाते हैं। 'स्त्री' शब्द से भ्रम नहीं होना चाहिए। लौकिक 'पुरुष' और 'स्त्री' शब्द से इसका मतलब नहीं है। लोक में जिस विशेष शरीर-संगठन को 'स्त्री' कहते है उसमें भी 'पुरुष' या 'शिव' की सत्ता है और जिसे 'पुरुष' कहते है उसमें भी 'स्त्री' या 'शक्ति' की सत्ता है। अत्यन्त हीन कोटि के कुछ तान्त्रिक सम्प्रदायों में कलुष वृत्ति का आ जाना उसकी ऊँची फिलॉसफी को कलंकित नहीं कर सकता।

इस तन्त्र-तत्त्ववाद का प्रवेश वैष्णव-सम्प्रदाय में भी हुआ है। इसके पूर्व ही सहज और शून्यवाद का प्रचार था। भारतीय साधना के इतिहास में इन दो शब्दों से अधिक रहस्यमय शब्द शायद नहीं है। बुद्धदेव से लेकर कबीर, दादू और रज्जब तक इनके अनेक अर्थ हुए हैं। सहज-मत के अनुसार मनुष्य अपने सहज स्वाभाविक रास्ते में ही भगवान् को प्राप्त कर सकता है। युगल-मूर्ति को पूर्णता तक पहुँचाने में इस मतवाद का बड़ा हाथ है। सहज-मत तन्त्रवाद के साथ कहाँ तक अग्रसर

1. ज. रा. ए. सो., सन् 1907
2. सहजवाद से यहाँ हमारा मतलब उत्तरकालीन वैष्णव सहजवाद से है।

हुआ था, इस बात का अनुमान बंगाल के सहजीया वैष्णव सम्प्रदाय की एक शाखा के सिद्धान्तो मे किया जा सकता है। इस मत के अनुसार चौरासी योजन का व्रज-मण्डल और कुछ नही, स्त्री का चौरासी अंगुल (½–हाथ) का शरीर ही है, जिसमें खास व्रज की पंचक्रोशी पंचागुल विस्तृत अंग विशेष है।

किन्तु हम पाठकों को आगाह कर देना चाहते हैं कि इस प्रकार की कुछ बातों से वे सहज-सम्प्रदाय के उच्चतम सिद्धान्तों को समझने में भूल न करें। जो तत्त्व-वाद साधारण लोक-धर्म बन जाता है, उसमें इस प्रकार की अभद्रता आ ही जाती है। सहजवादियों का मतवाद कितना ऊँचा है इस बात का अन्दाजा आप इसी से लगा सकते हैं कि कविकुलगुरु रवीन्द्र ने संसार के विद्वत्समाज के सामने अपने हिवर्ट-लेक्चरों में इन्ही सहजवादियो को आगे किया था। बाउल, जिनके अमर गानों मे बांग्ला वाङ्मय धन्य हो गया है, सहजवादी है। कविवर रवीन्द्रनाथ की कविता और चिन्ताधारा बाउलों से अत्यधिक प्रभावित है। अपने हिवर्ट-लेक्चरों में कवि ने परिशिष्ट-रूप में अध्यापक क्षितिमोहन सेन का बाउल-सम्बन्धी प्रबन्ध भी जोड़ दिया था। कबीर और दादू सहजवादी थे। वल्लभाचार्य और सूरदास में सहज-मतवाद का अस्तित्व है।

कहने का तात्पर्य यह है कि व्रजभाषा-काव्य के प्रारम्भ-काल में राधा और कृष्ण इतिहास या तत्त्ववाद की चीज नही रह गये थे। वे सम्पूर्णतः भाव-जगत् की चीज हो गये थे। भक्ति, प्रेम और माधुर्य की, नाना सम्पदाओ से विचित्र, यह युगल-मूर्त्ति ईश्वर का रूप तो थी; पर उस ईश्वर में वैदिक देवताओ का संभ्रम नही था, ग्रीक अपोलो की भीति नही थी, इस्लामी खुदा की तटस्थता नही थी, दार्शनिक ईश्वर की अद्भुतता तो एकदम नही थी; था एक सहज, सरल, घरेलू सम्बन्ध। तन्त्रवाद के ससीम रस से सीमा-हीन की उपलब्धि के सिद्धान्त ने तात्कालिक जन-समुदाय को, सखा रूप से, प्रिय रूप से, स्वामी रूप से, कृष्ण की उपासना के प्रति अग्रसर कर दिया था। भागवत सम्प्रदाय के देव देवकी-पुत्र वासुदेव कृष्ण इसके उपास्य अंश थे और आभीरो के बालक-देवता इसके प्रेय रूप थे। इन दोनों रूपों में आरोपित सहजवाद, तन्त्रवाद और बौद्ध-विनय (discipline) ने एक इतःपूर्व अननुभूत, अज्ञात भाव-देव की सृष्टि की जो व्रजभाषा-काव्य का उपास्य हुआ। यही पर कुछ रुककर हम एक बार उस युग के मनुष्यों के मनोभावों को पहचानने का यत्न करेंगे ताकि काव्य-धारा का यथार्थ अनुशीलन सरल हो।

स्त्री-पूजा और उसका वैष्णव रूप

भागवत आदि पुराणों में गोपाल-कृष्ण की जो कथा पायी जाती है, उसमें गोपियों के साथ रास-लीला का वर्णन एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इन गोपियों का विवाह अन्य गोपों के साथ हो चुका था। कृष्ण के साथ इनका प्रेम परकीया-प्रेम के रूप में ही हो सकता है। बंगाल के चैतन्य सम्प्रदाय में परकीया-प्रेम को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है[1]। इसे प्रेम की चरम-सीमा बताया गया है। अनेक पण्डितों, मनीषियों और भक्तों ने इस परकीया-प्रेम की फिलॉसफी को बहुत ऊँचा उठा दिया है। हम आगे इस बात पर कुछ विचार करेंगे। यहाँ यह कह रखना उचित होगा कि बल्लभ-सम्प्रदाय में गोपियों को परकीया नहीं समझा गया है[2]। भागवत का एक अद्भुत अर्थ करके यह सिद्ध किया गया है कि गोपियाँ कृष्ण की विवाहिता पत्नियाँ थीं। कथा की संगति इस प्रकार लगायी है—भागवत में यह कथा आती है कि ब्रह्मा ने श्रीकृष्ण की परीक्षा के लिए एक बार सारी गायों और गोपालों को चुराकर छिपा दिया। इस पर श्रीकृष्ण ने उतनी ही गायों और गोपालों का रूप धारण कर लिया। किसी को पता ही नहीं चला कि उनके घर का कोई खो गया है। इसी वर्ष सभी गोपियों का विवाह हुआ। साल-भर के बाद ब्रह्मा ने सभी गोपों और गोपालों को लौटा दिया। इस प्रकार गोपाल फिर अपने-अपने घर आ गये। उन्हें बिल्कुल पता नहीं था कि कोई गोपी उनकी स्त्री है। इस प्रकार गोपियों का वास्तविक विवाह श्रीकृष्ण से ही हुआ।

इस कथा से पता चलता है कि गोपियों को परकीया मानने में जो सामाजिक अड़चन पड़ती थी उसका इस कथा के द्वारा निराकरण किया गया है। वस्तुतः भारतवर्ष में परकीया-प्रेम बहुत पुराने जमाने से एक खास सम्प्रदाय का धर्म-सा

1. मणीन्द्रमोहन बोस : पोस्ट चैतन्य सहजीया कल्ट ('डॉक्ट्रिन ऑफ परकीया लव' अध्याय)। श्री जीव गोस्वामिपाद ने भागवत-सन्दर्भ में स्वकीया भाव की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है, पर चैतन्य-चरितामृत में परकीया-भाव को ही श्रेष्ठ कहा है।
2. सूरदास ने राधिका और कृष्ण का विवाह कराया है :

बाजहिं जे बाजन सकल नभ सुर पुहुप अंजलि बरसहीं।
थकि रहे व्योम विमान मुनिगन जै सबद करि हरसहीं॥
सूरदासहिं भयो आनद पुजी मन की साधा।
श्रीलाल गिरिधर नवल दूलहे दुलहिन श्री राधा॥
× × ×
बाले तोरने बँधाये हरि कीन्हो उछाह।
ब्रज को सब रीति भई बरसाने ब्याह॥
× × ×
दुलहिन वृषभानु सुता अंग-अंग भ्राज।
सूरदास प्रभु दूलह देखो श्री ब्रजराज॥

था। कहा जाता है कि ऋग्वेद (10-129-25) से इस परकीया-प्रेम का समर्थन होता है। अथर्ववेद (9-5-27-28) में इसका स्पष्ट वर्णन पाया जाना बताया गया है। छान्दोग्य उपनिषद् (2-13-1) के 'कांचन परिहरेत्' मन्त्रांश का अर्थ आचार्य शंकर ने इस प्रकार किया है—जो वामदेव सामन् को जानता है उसे मैथुन की विधि का कोई बन्धन नही है। उसका मन्त्र है—"किसी स्त्री को मत छोडो।" अवश्य ही इस मतवाद को वैदिक युग में बहुत अच्छा नही समझा जाता होगा। पर इसमे सन्देह नही कि इस प्रकार का एक सम्प्रदाय था। कहते हैं कि 'कथावत्थु-जातक' (23-2) और 'मज्झिम निकाय' (जिल्द 1, पृ० 155) से भी इस प्रकार की वातें सिद्ध होती हैं। इसमें सन्देह नही कि स्वयं बुद्धदेव के युग मे यह प्रथा खूब प्रचलित थी। उन्हें कई जगह इसकी निन्दा करनी पड़ी है[1]।

सन् ईसवी के आरम्भ मे भारतवर्ष में एक विचित्र धार्मिक स्थिति थी। हिन्दू धर्म सिर उठा रहा था, बौद्ध धर्म गिर रहा था। बाहर से आयी हुई अनेक जातियो के विविध विचार समाज मे प्रविष्ट होकर नाना सम्प्रदायों और मतवादों के उद्भव के कारण हो रहे थे। पतनशील बौद्धधर्म फिर से उठने की चेष्टा मे था। उनके धर्म के प्रति नाना कारणो से लोगों की श्रद्धा उठती जा रही थी। सघ मे भिक्षु-भिक्षुणियों का अवाध व्यभिचार जारी था। अलंकार ग्रन्थो में भिक्षुणियो को दूती-कार्य दिया जाना[2] इस बात का सबूत है कि उस ज़माने में ये भिक्षुणियाँ केवल सघ को ही नष्ट नही कर रही थीं, बल्कि सद्गृहस्थों को भी चौपट कर रही थी। इन कारणो से साधारण जन-समाज इनसे ऊब गया था। अब बुद्धदेव की महीयसी करुणा में वह जादू न था कि लोग उसकी तरफ आकृष्ट हो। फलत इनको तन्त्र-मन्त्र का आश्रय लेकर जनता को वश मे करने की चेष्टा करनी पड़ी।

तन्त्र-शास्त्र एक तरफ जितना ऊँचा है, दूसरी तरफ उतना ही कुत्सित। हम इसके महत्त्वपूर्ण अंग पर आगे विचार करेंगे। यहाँ दिखाना चाहते हैं कि इस मत-वाद के कारण परकीया-प्रेम के आदर्श पर कैसा प्रभाव पड़ा था। यह बात सर्व-विदित है कि तान्त्रिक अनुष्ठान मे स्त्री एक प्रधान उपादान है। कहा गया है कि तन्त्र-मतवाद के उद्भव का कारण है आदर्शभ्रष्ट बौद्ध-सघ। भिक्षु और भिक्षुणियों के अवाध व्यभिचार से जब लोग सघ की ओर से उदासीन हो रहे थे, उस समय इस व्यभिचार को धार्मिक और दार्शनिक रूप दिया गया। वास्तव मे यह बात गलत है। संसार के सभी धर्मों मे किसी-न-किसी रूप में तन्त्रवाद का अस्तित्व है।[3] तन्त्रवाद के मूल सिद्धान्त उतने ही पुराने हैं जितनी स्वय मनुष्य-जाति। यह

1. दि कलकत्ता रिव्यु, जून 1927, पृ. 362-3 और म. मो. बोस : 'पोस्ट चैतन्य सहजीया कल्ट', पृ. 101 और आगे।
2. दूत्य. सखी नटी दासी धात्रेयी प्रतिवेशिनी।
बाला: प्रव्रजिता: कार. शिल्पिन्याद्या: स्वयं तथा ॥ 157 ॥
—'साहित्य-दर्पण', तृतीय परिच्छेद
3. मणीन्द्रमोहन बोस : 'पोस्ट चैतन्य सहजीया कल्ट', पृ. 120 और आगे।

का स्थान ऊँचा है, क्योंकि उसमें प्रेम का वेग अधिक रहता है। चैतन्य देव भावमत्त होकर जब नाच उठते थे तो प्राय. यह श्लोक गाया करते थे :

प्रियः सोऽयं कृष्णः सहचरि कुरुक्षेत्रमिलित-
स्तथाऽहं सा राधा तदिदमुभयोः संगमसुखम् ।
तथाप्यन्तः खेलन्मधुरमुरलीपञ्चमजुषे,
मनो मे कालिन्दी पुलिनविपिनाय स्पृहयति ॥

सूरदास के इस पद के साथ तुलना कीजिए, यह भी कुरुक्षेत्र के प्रसंग का ही है :

हरिजू वै सुख बहुरि कहाँ !
यदपि नैन निरखत वह मूरति फिरि मन जात तहाँ ।
मुख मुरली सिर मोर पखौआ गर घुँघचिन को हार ।
आगे धेनु रेनु तन मण्डित चितवन तिरछी चाल ।
रात दिवस अँग-अँग अपने हित हँसि मिलि खेलत खात ।
सूर देखि वा प्रभुता उनकी कहि नहिं आवै बात ।

ऊपर के श्लोक के सम्बन्ध में चैतन्यचरितामृत में एक कहानी इस प्रकार है। महाप्रभु चैतन्यदेव पुरी गये थे, वहाँ जगन्नाथजी को देखकर उनके मन में आया कि 'प्रभो, अगर व्रज में होते तो क्या ही अच्छा होता !' उसी समय वे भावमत्त होकर शीला भट्टारिका का कहा जानेवाला यह श्लोक गाने लगे—'यः कौमारहरः' इत्यादि[1]। श्री रूपगोस्वामी सदा महाप्रभु के साथ रहा करते थे। वे प्रभु के प्रत्येक भाव को समझते थे। इस बार भी थे। वे संस्कृत के बड़े अच्छे कवि थे। महाप्रभु का भाव समझकर उसी श्लोक के भाव पर इस श्लोक की रचना की। श्लोक देखकर महाप्रभु परम आनन्दित हुए।

चैतन्यदेव स्वयं राधा-भाव से श्रीकृष्ण को प्रेम करते थे। जो लोग उन्हें श्रीकृष्ण का अवतार समझते है, उनका कथन है कि श्रीकृष्ण राधा-प्रेम को स्वयं अनुभव करने के लिए चैतन्य के रूप में अवतीर्ण हुए थे। भावुक भक्त राधा के रूप में जिस विरह का अनुभव करता था वह पत्थर को भी गला सकता है·

→ एक कहानी इस प्रसग मे कही जाती है। एक राजा की लड़की किसी राजपुत्र से प्रेम करने लगी। दोनो नदी किनारे एक कुज मे जाया करते थे। राजा को जब यह बात मालूम हुई तो दोनो की शादी करा दी, परन्तु विवाहित जीवन मे उन्हे वह प्रेम फीका जान पड़ने लगा। कहा जाता है कि काव्य-प्रकाश का एक श्लोक इसी कहानी के आधार पर है। इस कहानी से परकीया-प्रेम की उच्चता सिद्ध की जाती है।

1. यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपास्ते
चोन्मीलित-मालती-सुरभयः प्रौढ़ाः कदम्बानिलाः ।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरत-व्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते ॥

—'पोस्ट चैतन्य सहजीया कल्ट', पृ. 50-51

हो सकता है कि उस युग में बौद्ध-संघों के कारण इस मतवाद का जोर बढ़ गया हो; पर इसके लिए यह नहीं कहा जा सकता कि इसका उद्भव भी उसी से हुआ है।

जो हो, ईसवी सन् के आस-पास पंच मकार का खूब प्रचार पाया जाता है। उस समय जनता पर इसका बड़ा प्रभाव था। शाक्तों का एक सम्प्रदाय, जो अपेक्षाकृत अधिक दार्शनिक था, पराशक्ति की उपासना स्त्रीरूप से करता था। इस सम्प्रदाय का प्रत्येक धार्मिक अनुयायी त्रिपुरसुन्दरी (जो इस पराशक्ति का नाम है) के साथ था। इस प्रकार इस सम्प्रदाय के अनुयायी ईश्वर को पुरुष-रूप में नहीं बल्कि स्त्री-रूप में पूजा करते थे।[1] तन्त्रवाद का यह ऊँचा अंग तात्कालिक पण्डितों का चित्त आकृष्ट कर रहा था। इसका प्रभाव भागवत-सम्प्रदाय पर भी पड़ा। भागवत सम्प्रदाय में बालकृष्ण का प्रवेश हो चुका था। राधा और गोपियों के रूप में तन्त्रशास्त्र का उक्त अंग भी इसमें सुलभ हो गया। यह बात वैष्णव-मतों के विद्यार्थी से छिपी नहीं है कि उत्तर-काल में राधा का स्थान कृष्ण से भी बढ़कर बताया जाने लगा था।[2]

तन्त्रवाद का दार्शनिक और आध्यात्मिक पहलू बहुत ऊँचा था; परन्तु यह मत अपेक्षाकृत असंस्कृत लोगों में बहुत विकृत हो गया था। वैष्णवों ने राधा और कृष्ण के रूप में शक्ति-उपासना को ग्रहण करके उसे एक शुद्ध मर्यादा के भीतर कर दिया। तन्त्र-साधना में स्त्री अनुष्ठान का एक साधन-भर थी, वैष्णव मत में वह परम-पुरुष को पूर्ण करनेवाली समझी जाने लगी। तन्त्र की परकीया एक यान्त्रिक-साधना थी, किन्तु वैष्णव परकीया प्रेम का साधन थी। राधा के बिना कृष्ण अपूर्ण थे। यह एक ऐसी बात है जो तन्त्रवाद से वैष्णव-भाव को पृथक् कर देती है। चैतन्यदेव के वैष्णव-सम्प्रदाय में परकीया-प्रेम को बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है, परन्तु समाज में इसका निषेध किया गया है।[3] भक्त स्वयं अपने को परकीया समझेगा और कृष्ण की प्राप्ति के लिए अपने को उत्सर्ग कर देगा। वह किसी परकीया स्त्री से प्रेम नहीं करेगा बल्कि स्वयं अपने को परकीया कर देगा। स्वकीया से परकीया

1 'वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड माइनर रिलिजस सिस्टम्स', पृ. 146।

2. उत्तर वैष्णव सम्प्रदाय में कृष्ण को राधा की लीला का आश्रय बताया गया है। श्रीकृष्ण का जो अंश सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है वह है आनन्द। अद्वैत मत से जो जीव भी सत्-चित् और आनन्दस्वरूप है, पर द्वैत मत में जीव में अन्तिम गुण नहीं माना गया है। राधा को श्रीकृष्ण की आह्लादिनी शक्ति बताकर जहाँ उनका अभेद प्रतिपादन किया गया है वहीं यह भी बताया गया है कि राधा के बिना कृष्ण अपूर्ण हैं। राधा एक शक्ति (energy) है, कृष्ण उसकी लीला के आश्रय। (देखिए, 'पोस्ट चैतन्य सहजिया कल्ट', पृ. 230-235)।

3 उज्ज्वल नीलमणि, कृष्णवल्लभा 5। इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय के सोलहवें श्लोक पर की टीका में लिखा है—"श्रीराधादि कृष्ण की स्वरूपाह्लादिनी शक्ति हैं, इसलिए वे वस्तुतः स्वकीया ही हैं, परकीया नहीं।" इस तर्क को समझने के लिए यह जान लेना चाहिए कि श्रीकृष्ण सत्-चित्-आनन्दरूप हैं, इसमें राधा आह्लादिनि शक्ति या आनन्द शक्ति हैं। इसलिए वे कृष्ण के आनन्द-अंश की अपनी शक्ति अर्थात् स्वकीया ठहरती हैं। इस प्रकार गौड़ीय वैष्णव-सम्प्रदाय में भी राधा केवल प्रेम के लिए परकीया हैं। परमार्थतः स्वकीया ही हैं। →

का स्थान ऊँचा है, क्योंकि उसमे प्रेम का वेग अधिक रहता है। चैतन्य देव भावमत्त होकर जब नाच उठते थे तो प्रायः यह श्लोक गाया करते थे :

प्रियः सोऽयं कृष्णः सहचरि कुरुक्षेत्रमिलित-
स्तथाऽहं सा राधा तदिदमुभयोः संगमसुखम् ।
तथाप्यन्तः खेलन्मधुरमुरलीपञ्चमजुषे,
मनो मे कालिन्दी पुलिनविपिनाय स्पृहयति ॥

सूरदास के इस पद के साथ तुलना कीजिए, यह भी कुरुक्षेत्र के प्रसंग का ही है :

हरिजू वै सुख वहुरि कहाँ !
यदपि नैन निरखत वह मूरति फिरि मन जात तहाँ ।
मुख मुरली सिर मोर पखौआ गर घुँघचिन को हार ।
आगे धेनु रेनु तन मण्डित चितवन तिरछी चाल ।
रात दिवस अँग-अँग अपने हित हँसि मिलि खेलत खात ।
सूर देखि वा प्रभुता उनकी कहि नहिं आवै बात ।

ऊपर के श्लोक के सम्बन्ध मे चैतन्यचरितामृत में एक कहानी इस प्रकार है। महाप्रभु चैतन्यदेव पुरी गये थे, वहाँ जगन्नाथजी को देखकर उनके मन मे आया कि 'प्रभो, अगर ब्रज मे होते तो क्या ही अच्छा होता !' उसी समय वे भावमत्त होकर शीला भट्टारिका का कहा जानेवाला यह श्लोक गाने लगे—'य कौमारहर.' इत्यादि[1]। श्री रूपगोस्वामी सदा महाप्रभु के साथ रहा करते थे। वे प्रभु के प्रत्येक भाव को समझते थे। इस बार भी थे। वे संस्कृत के बड़े अच्छे कवि थे। महाप्रभु का भाव समझकर उसी श्लोक के भाव पर इस श्लोक की रचना की। श्लोक देखकर महाप्रभु परम आनन्दित हुए।

चैतन्यदेव स्वयं राधा-भाव से श्रीकृष्ण को प्रेम करते थे। जो लोग उन्हें श्रीकृष्ण का अवतार समझते है, उनका कथन है कि श्रीकृष्ण राधा-प्रेम को स्वय अनुभव करने के लिए चैतन्य के रूप में अवतीर्ण हुए थे। भावुक भक्त राधा के रूप में जिस विरह का अनुभव करता था वह पत्थर को भी गला सकता है :

→ ' एक कहानी इस प्रसग मे कही जाती है। एक राजा की लड़की किसी राजपुत्र से प्रेम करने लगी। दोनो नदी किनारे एक कुज मे जाया करते थे। राजा को जब यह बात मालूम हुई तो दोनो की शादी करा दी, परन्तु विवाहित जीवन में उन्हे वह प्रेम फीका जान पड़ने लगा। कहा जाता है कि काव्य-प्रकाश का एक श्लोक इसी कहानी के आधार पर है। इस कहानी से परकीया-प्रेम की उच्चता सिद्ध की जाती है।

1. यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपास्ते
चोन्मीलित-मालती-सुरभयः प्रौढाः कदम्बानिला ।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरत-व्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते ॥

—'पोस्ट चैतन्य सहजीया कल्ट', पृ. 50-51

कहा करों काहाँ पाओं व्रजेन्द्रनन्दन ।
काहाँ मोर प्राननाथ मुरली वदन,
काहारे[1] कहिब केबा जाने मोर दुख,
व्रजेन्द्रनन्दन बिनु फाटे मोर बुक[2] ।
—'चैतन्यचरितामृत', 2-2

ये वा तुमि सखीगन विषादे बाउल[3] मन;
का'रे पूछों के कहे उपाय;
काहा करों काहाँ जाओं काहाँ गेले कृष्णपाओं;
कृष्ण बिनु प्रान मोर जाय ।[4]
—'चैतन्यचरितामृत', 2-17

भक्ति-तत्त्व

यह है चैतन्य महाप्रभु का विरह । भक्ति-शास्त्र को चैतन्यदेव और उनके अनुयायियों ने एक पूर्ण वैज्ञानिक विवेचन का रूप दिया है । बंगाल के इस भक्तिवाद से वल्लभाचार्य के भक्तिवाद का बड़ा मेल है । अन्तर यह है कि वल्लभाचार्य ने अनुष्ठान को प्रधान स्थान दिया है, चैतन्यदेव ने प्रेम को । चैतन्य सम्प्रदाय में वैधी-भक्ति[5] (जो शास्त्रों के विधि-निषेध का अनुसरण करती है), रागानुगा[6] (प्रेम की

1. किसको—किसे कहूँ ।
2. छाती ।
3. बाउला—पागल ।
4. सूरदास के इस पद से तुलना कीजिए :
   हरि बिछुरत फाट्यौ न हियौ ।
   भयौ कठोर बज्र तें भारी रहि कै पापी कहा कियौ ।
   घोटि हलाहल सुनि मेरी सजनी औसर हूँ न पियौ ।
   मन सुधि गई सँभार न तन की मूड़ो दाँव दियौ ।
   अब का कहौं कौन विधि मिलिहौ परबस प्रान लियौ ।
   निसि दिन रटत सूर के प्रभु बिन मरिबे पन लियौ ।
5. यत्र रागानवाप्तत्वात् प्रवृत्तिरुपजायते ।
   शासनेनैव शास्त्रस्य सा वैधी भक्तिरुच्यते ॥—'भक्तिरसामृतसिन्धु', 1-2-5
6. इष्टे स्वारसिकी रागः परमाविष्टता भवेत् ।
   तन्मयी या भवेद्भक्तिः सात्र रागात्मिकोदिता ॥—वही, 1-2-131

अनुयायिनी) भक्ति से नीचे है। वैधी-भक्ति वह धारा है जो अपने दोनों किनारों से बँधी रहती है पर रागानुरगा वह बाढ़ है जो किनारों का बन्धन तो मानती ही नहीं, सामने जो कुछ पड़ जाय उसे भी बहा ले जाती है।[1]

ब्रज के लोगों की प्रीति रागात्मिका थी, वह विधि-निषेध के परे थी। इस कलि-काल में ब्रज के लोगों जैसी भक्ति और उनका-सा प्रेम सम्भव नहीं, इसीलिए रागात्मिका भक्ति भी सम्भव नहीं है। इस भक्ति का रसास्वादन करने के लिए भक्तों ने एक सरल उपाय बताया है। वह उपाय यह है कि उस भक्ति को पाने के लिए उन्हीं ब्रजवासियों का अनुकरण किया जाय।[2] नन्द रूप से, यशोदा रूप से, गोपी-गोपाल रूप से यह भक्ति की जा सकती है।[3]

रागात्मिका भक्ति का अनुकरण होने के कारण इसे रागानुगा भक्ति कहा गया है। पिता-माता, गोपाल-बाल और गोपियाँ सभी श्रीकृष्ण की प्रवाहशील भक्ति में वह गये थे। बंगाल के वैष्णव-सम्प्रदाय में चैतन्यदेव के बाद से यही भक्ति प्रमुख हो गयी थी। भक्ति के इस रूप को उपलब्ध करना कुछ सहज बात नहीं है। नाना सीढ़ियों को पार करता हुआ भक्त इस अन्तिम सीढ़ी पर आता है।[4] प्रत्येक साधक को पहले वैधी भक्ति का आश्रय लेना पडता है। प्रारम्भ में वह तटस्थ या प्रवर्त्त दशा में होता है, फिर साधक और बाद में सिद्ध।

ठीक रागात्मिका भक्ति की ही भाँति रागानुगा भक्ति भी दो प्रकार की है— कामरूपा और सम्बन्धरूपा। विषय-सम्भोग-तृष्णा को 'काम' कहते हैं। इन्द्रियार्थ ही बद्ध जीव का विषय है। इसीलिए पण्डित लोग इसे काम कहा करते हैं। जिस जगह परम तत्त्वरूप भगवान् विषय रूप में वरण किये जाते है, उस जगह विषय-सम्भोग-तृष्णा को 'प्रेम' कहा जाता है। 'काम' और 'प्रेम' में स्वरूपगत भेद नहीं

1. 'चैतन्यचंद्रोदय' के ये श्लोक—
शास्त्रीयः खलु मार्गः पृथगनुरागस्य मार्गोऽन्यः।
प्रथमोऽर्हति सनियमतामनियमतामन्तिमो भेजे॥ 19॥
वन्यासु तरणिभरणिर्जवेन गम्यं नयत्यनियतापि।
न सहज-कुटिलेषु पुनर्नदी प्रवाहेष्वनियतापि॥ 20॥
तृतीय अक

2. रागात्मिकैकनिष्ठा ये ब्रजवासीजनादयः।
तेषां भावाप्तये लुब्धो भवेदत्राधिकारवान्॥
'भक्तिरसतरंगिणी'

3. तत्तद्भावादिमाधुर्ये श्रुते धीर्यदपेक्षते।
नात्र शास्त्रं न युक्तिं च तल्लोभोत्पत्तिलक्षणम्॥

4. सतां प्रसंगान्मम वीर्यसंविदो
भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि
श्रद्धारतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥
'भागवत', 3-20-22

कहा करों काहाँ पाओं ब्रजेन्द्रनन्दन।
काहाँ मोर प्राननाथ मुरली वदन,
काहारे[1] कहिब केशवा जाने मोर दुख,
ब्रजेन्द्रनन्दन विनु फाटे मोर बुक[2]।

—'चैतन्यचरितामृत', 2-2

ये वा तुमि सखीगन विपादे बाउल[3] मन;
का'रे पूछों के कहे उपाय;
काहा करों काहाँ जाँओ काहाँ गेले कृष्णपाओं;
कृष्ण विनु प्रान मोर जाय।[4]

—'चैतन्यचरितामृत', 2-17

भक्ति-तत्त्व

यह है चैतन्य महाप्रभु का विरह। भक्ति-शास्त्र को चैतन्यदेव और उनके अनुयायियों ने एक पूर्ण वैज्ञानिक विवेचन का रूप दिया है। बंगाल के इस भक्तिवाद से वल्लभाचार्य के भक्तिवाद का बड़ा मेल है। अन्तर यह है कि वल्लभाचार्य ने अनुष्ठान को प्रधान स्थान दिया है, चैतन्यदेव ने प्रेम को। चैतन्य सम्प्रदाय में वैधी-भक्ति[5] (*जो शास्त्रों के विधि-निषेध का अनुसरण करती है*), *रागानुगा*[6] (प्रेम की

1 किसरे—किसे कहूँ।
2 छाती।
3 बाउल—पागल।
4 सूरदास के इस पद से तुलना कीजिए :

हरि बिछुरत फाट्यौ न हियो।
भयो कठोर बज्र तें भारी यहाँ रहे अब कहा कियो।
घोरि हलाहल सुनि मेरी सजनी औसर हौं न पियो।
मन सुधि गई सँभार न तन की बूड़ो दाँव दियो।
अब का करौं कौन विधि मिलिहौं परबस प्रान जियो।
निसि दिन रटत सूर के प्रभु बिन मरिबे पन्न जियो।

5. यत्र रागानवाप्तत्वात् प्रवृत्तिरुपजायते।
शासनेनैव शास्त्रस्य सा वैधी भक्तिरुच्यते॥—'भक्तिरसामृतसिन्धु', 1-2-5
6. इष्टे स्वारसिकी रागः परमाविष्टता भवेत्।
तन्मयी या भवेद्भक्तिः सात्र रागात्मिकोदिता॥—वही, 1-2-131

शून्यता, आशाबन्ध, समुत्कण्ठा, सर्वदा नाम-रुचि, कृष्ण-कथा में आसक्ति और व्रजभूमि में प्रेम। भागवत में गोपियों की भावावस्था का वर्णन है--वे कही रोती है, कही हँसती है, कही नाचती है, कही गाती है और कभी चुप हो रहती है।[1]

यही भाव (या रति) जब सान्द्र (गाढ) हो उठता है तब उसे प्रेम कहते है।[2] रति में प्रिय के प्रति ममता उत्पन्न होती है, प्रेम मे वह ममता अनन्यता के रूप में दिखायी देती है। प्रेम की अवस्था मे प्रेमी अहर्निश भगवान् के प्रेम मे मत्त रहता है। श्रीकृष्ण ही उसके सुनने, देखने और चिन्तन करने के विषय हो जाते है।[3] प्रेम भी दो प्रकार का होता है—भावोत्थ प्रेम और प्रसादोत्थ प्रेम। इनके भी अनेक भेदोपभेद बताये गये है। पर वस्तुतः प्रेम का भेद नही किया जा सकता। सूरदास कहते हैं कि प्रेम प्रेम से ही उत्पन्न होता है, प्रेम से ही भवसागर पार किया जा सकता है, प्रेम से ही संसार बँधा हुआ है, प्रेम से ही परमार्थ सम्भव है, एक प्रेम का निश्चय ही जीवन्मुक्तिरूपी रसीला फल है, और तो और प्रेम के द्वारा ही गोपाल को—जो अन्तिम साध्य है—पाया जा सकता है।[4] प्रेमोदय होने पर जीवन सार्थक हो जाता है। नन्ददास कहते है: ऊँचे कर्म से स्वर्ग मिलता है, नीच कर्म से भोग, परन्तु प्रेम के बिना सब लोग विषय-वासना के रोग मे पच-पच के मरते है।[5] ऐसा है यह भगवत्प्रेम। भक्ति-शास्त्रियो ने प्रेमोदय के क्रम का भी निश्चय किया है।

ऐसे मनुष्य बहुत कम है जिनको भगवत्प्रसाद से एकाएक प्रेम की प्राप्ति हो

1. क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचित् हसन्ति नादन्ति वदन्त्यलौकिक ।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यज भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृता ॥
भा 11-3-33

2 भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते।
भ र

3 सुनत न काहू की कही, कहत न अपनी बात।
'नारायन' वा रूप मे, मगन रहत दिन-रात॥
धरत कहूँ पग परत कहुँ, सुरत नही इक ठौर।
'नारायन' प्रीतम बिना, दीखत नहि कछु और॥
लतन तरे ठाढो कबहुँ, कबहूँ जमुनातीर।
'नारायन' नयननि बसी, मूरति स्याम सरीर॥
कल्याण, श्रीकृष्णाक, पृ. 404

4. प्रेम प्रेम सो होय, प्रेम सों पारहि जैये।
प्रेम बँध्यो संसार, प्रेम परमारथ पैये॥
एकै निश्चय प्रेम को, जीवन-मुक्ति रसाल।
साँचो निश्चय प्रेम को, जिहि तें मिलै गोपाल॥
भँवर गीत

5. ऊँच कर्म ते स्वर्ग है, नीच कर्म ते भोग।
प्रेम बिना सब पचि मरै, विषय-वासना-रोग॥
भँवर गीत

है, केवल विषयमात्र का भेद है। नित्य सिद्ध जीव-स्वरूप व्रजगोपियों के प्रेम को ही व्रजतत्त्व मे 'काम' कहा गया है, क्योंकि उनमें विषयान्तर का अभाव है—इनके 'काम' और 'प्रेम' में भेद नही है। गोपियों की रागात्मिका भक्ति काम-रूपा थी। उनकी भक्ति के अनुकरणकारी भक्तों की रागानुगा भक्ति को भी कामरूपा कहते है। कामरूपा रागानुगा भक्ति में कृष्ण-सुख के सिवा अन्य किसी सुख का अन्वेषण या उद्यम नही रहता।

"प्रभु-दास-सम्बन्ध, सखा-सम्बन्ध, पिता-पुत्र-सम्बन्ध और दाम्पत्य-सम्बन्ध, इस तरह चार मुख्य सम्बन्ध-गत रागात्मिका भक्ति 'सम्बन्ध-रूपाभक्ति' कहलाती है। इस प्रकार की सम्बन्ध-रूपा भक्ति के अनुकरण करनेवालों में भी तत्तद्भाव दृष्ट होते है।"

"वैधी भक्ति में शास्त्र और युक्ति-गत विधि ही एकमात्र कारण है। रागानुगा भक्ति मे श्रीकृष्ण और कृष्ण-भक्त की करुणा ही एकमात्र कारण है। कोई-कोई आचार्य वैधी भक्ति को प्रेम-भक्ति का मर्यादास्वरूप समझकर उसे मर्यादा-मार्ग कहते है। रागानुगा भक्ति को प्रेम-भक्ति की पुष्टि-कारिणी समझकर पुष्टि-मार्ग नाम दिया है। (महाप्रभु वल्लभाचार्य के सम्प्रदाय में ये ही शब्द प्रचलित है। वल्लभसम्प्रदाय को पुष्टिमार्ग इसीलिए कहते हैं।) वैधी भक्ति सर्वदा ऐश्वर्य-ज्ञान से युक्त रहती है, रागानुगा सदा उससे रहित।"[1] रामानन्द और तुलसीदास प्रथम मार्ग के यात्री थे, वल्लभ और सूरदास दूसरे के।

वैष्णव-भक्तों ने भक्ति के इतने भेद-उपभेद किये हैं क उनका संक्षेप करना असम्भव है। इस स्थान पर मुख्य प्रेम-रस के भेदों का विवरण दिया जा रहा है। कारण यह है कि यही विषय हमारे आलोच्य विषय से अधिक सम्बद्ध है।

प्रेम-भक्ति की दो अवस्थाएँ होती हैं—भाव और प्रेम। प्रेम अगर सूर्य है तो भाव उसकी किरण।[2] आलंकारिकों के यहाँ देवादि-विषयक रति को ही भाव कहते हैं।[3] पर वैष्णवों का भाव उससे कुछ भिन्न है। जहाँ आलंकारिक कृष्णसम्बन्धी रति को केवल 'भाव' कहेंगे, रस नहीं, वहाँ भक्तिशास्त्री उसे 'रस' भी कह सकते हैं। भाव शुद्ध रति है। आलंकारिकों की रति से यह रति भिन्न प्रकार की है। स्त्री-पुत्रादि के प्रति जो रति है यह बद्धजीव की जड़-विषया रति है; पर श्रीकृष्ण के प्रति भक्त की 'रति' चिद्विषया होती है। यही दोनो मे भेद है।[4]

भावुक के नौ लक्षण बताये गये है—शान्ति, अव्यर्थकालत्व, विरक्ति, मान-

1. 'श्रीश्रीचैतन्यशिक्षामृत', पृ. 205-8
2. शुद्धसत्त्वविशेषात्मा प्रेमा सूर्यांशुसाम्यभाक्।
   रुचिभिश्चित्तमासृण्यकृदसौ भाव उच्यते॥
   भ. र.
3. रतिर्देवादि-विषयो भाव प्रोक्त।
   'काव्यप्रकाश'
4. 'श्रीश्रीचैतन्यशिक्षामृत', पृ. 210-11

शून्यता, आशाबन्ध, समुत्कण्ठा, सर्वदा नाम-रुचि, कृष्ण-कथा मे आसक्ति और व्रजभूमि मे प्रेम। भागवत में गोपियों की भावावस्था का वर्णन है--वे कही रोती है, कही हँसती है, कही नाचती है, कही गाती है और कभी चुप हो रहती है।[1]

यही भाव (या रति) जब सान्द्र (गाढ़) हो उठता है तब उसे प्रेम कहते है।[2] रति मे प्रिय के प्रति ममता उत्पन्न होती है, प्रेम मे वह ममता अनन्यता के रूप में दिखायी देती है। प्रेम की अवस्था मे प्रेमी अहर्निश भगवान् के प्रेम में मत्त रहता है। श्रीकृष्ण ही उसके सुनने, देखने और चिन्तन करने के विषय हो जाते है।[3] प्रेम भी दो प्रकार का होता है—भावोत्थ प्रेम और प्रसादोत्थ प्रेम। इनके भी अनेक भेदोपभेद बताये गये है। पर वस्तुतः प्रेम का भेद नही किया जा सकता। सूरदास कहते हैं कि प्रेम प्रेम से ही उत्पन्न होता है, प्रेम से ही भवसागर पार किया जा सकता है, प्रेम से ही संसार बँधा हुआ है, प्रेम से ही परमार्थ सम्भव है, एक प्रेम का निश्चय ही जीवन्मुक्तिरूपी रसीला फल है, और तो और प्रेम के द्वारा ही गोपाल को—जो अन्तिम साध्य है—पाया जा सकता है।[4] प्रेमोदय होने पर जीवन सार्थक हो जाता है। नन्ददास कहते हैं: ऊँचे कर्म से स्वर्ग मिलता है, नीच कर्म से भोग, परन्तु प्रेम के बिना सब लोग विषय-वासना के रोग मे पच-पच के मरते है।[5] ऐसा है यह भगवत्प्रेम। भक्ति-शास्त्रियों ने प्रेमोदय के क्रम का भी निश्चय किया है।

ऐसे मनुष्य बहुत कम है जिनको भगवत्प्रसाद से एकाएक प्रेम की प्राप्ति हो

1 क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचित् हसन्ति नादन्ति वदन्त्यलौकिकाः।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यज भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृता ॥

भा 11-3-33

2 भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते।

भ र

3 सुनत न काहू की कही, कहत न अपनी बात।
'नारायन' वा रूप मे, मगन रहत दिन-रात ॥
धरत कहूँ पग परत कहूँ, सुरत नही इक ठौर।
'नारायन' प्रीतम बिना, दीखत नहिं कछु और ॥
लतन तरे ठाढो कबहुँ, कबहूँ जमुनातीर।
'नारायन' नयननि बसी, मूरति स्याम सरीर ॥

कल्याण, श्रीकृष्णाक, पृ. 404

4 प्रेम प्रेम सों होय, प्रेम सों पारहि जैये।
प्रेम बँध्यो संसार, प्रेम परमारथ पैये ॥
एकै निश्चय प्रेम को, जीवन-मुक्ति रसाल।
साँचो निश्चय प्रेम को, जिहि तें मिलैं गोपाल ॥

भँवर गीत

5. ऊँच कर्म ते स्वर्ग है, नीच कर्म ते भोग।
प्रेम बिना सब पचि मरैं, विषय-वासना-रोग ॥

भँवर गीत

जाय। साधारणत: प्रेमोदय निम्नलिखित क्रम से होता है :

1. श्रद्धा, 2. साधु-संग, 3 भजन-क्रिया, 4. अनर्थनिवृत्ति, 5. निष्ठा, 6. रुचि, 7. आसक्ति, 8. भाव, 9. प्रेम।

प्रेमारुरुक्षु भक्त इस प्रकार भावुक की दशा से होता हुआ, प्रेमी की दशा में पहुँचता है। यह प्रेम शान्त, दास्य, सख्य और वात्सल्य-रूप से चार प्रकार का होता है। अपने-अपने स्वभाव के अनुसार भक्त को इस चार प्रकार के प्रेम का अधिकार है। अन्तिम और सर्वश्रेष्ठ रस है मधुर। इस रस में राधिका या चन्द्रावली के रूप से भक्त श्रीकृष्ण को प्रेम करता है। इनमें भी भगवान् की आह्लादिनी शक्ति होने के कारण राधिका श्रेष्ठ है। अधिकार-भेद से भक्त राधिका या चन्द्रावली की सखियों के भावानुसार कृष्ण-संग प्राप्त करेगा। ये सखियाँ पाँच प्रकार की होती हैं—सखी, नित्य-सखी, प्राण-सखी, प्रिय-सखी और परमप्रेम सखी[1]। इनके काम राधा या चन्द्रावली का पक्ष-समर्थन, प्रिय-समागम-करण, हास-परिहास आदि हैं।

श्रीकृष्ण शृंगार-रस के सर्वस्व है। श्री राधिका की कृपा के सिवा उस रस में श्रीकृष्ण-प्राप्ति असम्भव है। इस जड़ जगत् में प्रात्याहिक क्रिया के साधन-रूप में जड देह मे वास करता हुआ भी भक्त भावना-दशा में सिद्ध रूप में वास करता है। सखियों के नाम, रूप, वय, वेश, सम्बन्ध, यूथ, आज्ञा, सेवा, पराकाष्ठा, पाल्य-दासी और निवास को अपने मे चिन्ता करते हुए भक्तों के मन में ललिता आदि सखियों का अभिमान पैदा होता है और वे उस रूप की अनुभूति की ओर अग्रसर होते है। आगे चलकर वे विशुद्ध माधुर्य रस के अधिकारी होते हैं।

भक्तों के रस में और काव्य-रस मे भेद यह है कि भक्ति का रस चिन्मुख होता है, आलंकारिकों का रस जड़ोन्मुख भी। भेद की कुछ और भी बातें हैं। इस रस-व्यापार में पाँच भाव होते है :

1. स्थायी भाव, 2. विभाव, 3. अनुभाव, 4. सात्त्विक भाव, 5. संचारी या व्यभिचारी भाव।

इनकी परिभाषाएँ आलंकारिकों जैसी ही हैं। स्थायीभाव-नाम-प्राप्त रति विभाव, अनुभाव और सात्त्विक तथा व्यभिचारी भावों से स्वाद्य होकर भिन्न-भिन्न

1 तत्रापि सर्वथा श्रेष्ठे राधा चन्द्रावलीत्युभे।
तयोरप्युभयोर्मध्ये राधिका सर्वथाऽधिका॥
महाभावस्वरूपेयं गुणैरतिगरीयसी।
ह्लादिनी या महाशक्ति: सर्वशक्तिवरीयसी॥
यस्या: सर्वोत्तमे यूथे सर्वसद्गुणमण्डिता:।
समन्ता माधवाकर्षी विभ्रमा: सन्ति सुभ्रुव॥
तास्तु वृन्दावनेश्वर्या सख्य पञ्चविधा मता:।
सख्यश्च नित्यसख्यश्च प्राणसख्यश्च कश्चन।
प्रियसख्यश्च परमप्रेमसख्यश्च विश्रुता:।

पाँच स्वभावों को ग्रहण करती है :

1. शान्त स्वभाव, 2. दास्य स्वभाव, 3. सख्य स्वभाव, 4. वात्सल्य स्वभाव और 5. मधुर स्वभाव।

इन पाँच स्वभावों के अनुसार ही रति भी पाँच प्रकार की है :

1. शान्ति रति, 2. दास्य या प्रीति रति, 3. सख्य या प्रेय रति, 4. वात्सल्य या अनुकम्पा रति, 5. कान्त या मधुरा रति।

भक्ति-शास्त्रियों ने इस रति को शृंगार और शान्त के अतिरिक्त अन्य सात रसों के अनुसार भी विभक्त किया है। आलम्बन, उद्दीपन आदि विभाव तथा तैंतीस व्यभिचारी भाव आदि बातें बहुत-कुछ वैसी ही हैं जैसी आलंकारिकों की। इसीलिए यहाँ उनका विस्तार नहीं किया है। जब संसार से विरत होकर चित्तवृत्तियाँ भगवान् मुकुन्द के ज्योति-स्वरूप में लीन हो जाती है तो उसे शान्त रस कहते हैं। सनन्दन आदि महात्मा इसी रस के रसिया है। इस रस की अवस्था में वर्तमान भक्त की निष्ठा के सम्बन्ध में 'भक्ति-रसामृत सिन्धु' कहता है—"कब हम पर्वत-कन्दरा के किसी विशाल वृक्ष के कोटर में बैठकर, कौपीन धारण करके, फल-मूल भोजन करके; बारम्बार हृदय में उस मुकुन्द नामक चिदानन्द ज्योति का ध्यान करते हुए रात क्षण-भर की नाईं काट देंगे![1]" ब्रह्म-संहिता में कहा है—"प्रेम के अजन से विच्छुरित (अनुरंजित) भक्ति-नेत्र से जिन अचिन्त्य-गुण-प्रकाश श्यामसुन्दर आदि-पुरुष गोविन्द को सन्त लोग सदा हृदय-देश में देखते है, मैं उन्ही का भजन करता हूँ।"[2]

प्रीति या दास्य रस मे दो भाव रहते है, सम्भ्रम का और गौरव का। इसमें भक्त अपने को सर्वात्मना श्रीकृष्ण का दास समझता है। पर इस अनुभूति मे भगवान् का माधुर्य-रूप ही प्रबल होता है। ऐश्वर्य-रूप उसके द्वारा अभिभूत हो जाता है। भक्ति-शास्त्र मे दास चार प्रकार के बताये गये है—अधिकृत (ब्रह्मा, इन्द्र आदि), आश्रित (कालिय नाग, बहुलाश्व आदि), पारिषद (उद्धव, दारुक आदि), और अनुग (सुचन्द, मण्डन आदि)।

सख्य रस मे भक्त कृष्ण के प्रिय वयस्यों का अभिमानी होकर भजन करता है। श्रीकृष्ण के ये मित्र उनकी नाना भाँति की सहायता करते है; उनका वेश सजा देते है, पुष्प-चयन करते है, विरहावस्था में उनका मन बहलाते हैं, प्रेम-कलह में श्रीकृष्ण का पक्ष लेकर राधिका या चन्द्रावली की सखियो को पराजित करने की चेष्टा करते है। ये भी चार प्रकार के है—सुहृद्, सखा, प्रिय सखा और प्रिय नर्म-

1. कदा गौनद्रोण्यां पृथुलविटपिक्रोडवसतिर्वसान: कौपीनं रचितफलकन्दाशनरुचि:।
हृदि ध्यायं ध्यायं मुहुरिह मुकुन्दाभिधमहः; चिदानन्दं ज्योति: क्षणमिव हि नेष्यामि रजनी।

2 प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन
सन्त: सदैव हृदयेऽपि विलोकयन्ति।
यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणप्रकाश
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

सखा। सुहृद्गण श्रीकृष्ण से बड़े थे। उनके प्रेम में वात्सल्य की मात्रा है। ये अस्त्रादि से राक्षस-वध करते और कृष्ण की रक्षा करते थे। 'सखा' गण में दास्यमिश्रित प्रेम था, ये कृष्ण से उम्र में छोटे थे। प्रिय सखा केलि आदि के द्वारा श्रीकृष्ण का मनोविनोद करते थे। प्रिय नर्मसखा भगवान् के आभ्यन्तरिक रहस्य के साथी हैं, अतएव इनका स्थान सबसे श्रेष्ठ है।

कृष्ण के माता-पिता आदि गुरुजन वत्सल-रूप में उनसे प्रेम करते थे। इस रस के आलम्बन कृष्ण बालरूप, मधुर-भाषी, आज्ञाकारी, सरल मर्यादा-निर्वाहक और चपल हैं। इस भाव से भजन करनेवाले भक्त वत्सल-प्रेमी कहे जाते हैं। सूरदास के भजनों में इस वात्सल्य रस का सबसे सुन्दर परिपाक हुआ है।[1]

मधुर रस भक्ति-शास्त्र का सबसे श्रेष्ठ और अन्तिम रस है। इसी की प्राप्ति के लिए भक्त की सारी साधना है। इस रस के आलम्बन हैं निखिल माधुर्य-स्वरूप श्रीकृष्ण। राधिका और चन्द्रावली दो प्रधान नायिकाएँ है जिनकी सैकड़ों सखियाँ है। इन सखियों के अलग-अलग यूथ है। प्रत्येक यूथ की एक-एक यूथेश्वरी है। विशाखा, ललिता, श्यामा, शैव्या, पद्मा, भद्रिका, तारा, विचित्रा, खंजनाक्षी, मनोरमा, मंगला, विमला, लीला, कृष्णा, सारी, विशारदा, तारावली, चकोराक्षी, शंकरी, कुंकुमा आदि व्रजांगनाएँ एक-एक यूथ की अधीश्वरी हैं। मधुर रस के उपासक भक्त की चरम-साधना है इन्हीं सखियों के यूथ में सम्मिलित होकर परम पुरुष के साथ अनन्त, अविश्रान्त लीला।

राधा और चन्द्रावली सुष्ठुकान्त स्वरूपा है। सोलह शृंगार से ये देदीप्यमान हैं, इनके सुरूप और शोभा के सामने अलंकार फीके है। सुकुंचित केश, चंचल मुख-कमल, दीर्घ नेत्र, विशाल वक्षःस्थल, क्षीण कटि, आयत स्कन्ध-देश, उदर पर त्रिवली, पदनख की ज्योति से दिशाएँ उद्भासित, सुवृत्त बाहु, पल्लवाभ करतल—रूप और श्री का समुद्र।

श्रीराधिका के असंख्य गुण है, जिनमें 25 मुख्य है :

1. वे चारुदर्शना है, 2. वे किशोरी है, 3. उनके अपांग (कटाक्ष) चंचल हैं, 4. वे शुचिस्मिता है, उनकी हँसी पवित्र है, 5. सौभाग्ययुक्ता है, 6. उनकी सुगन्धि माधव को उन्मादित कर देती है, 7. वे अद्भुत संगीतज्ञा हैं, 8. रम्य-वचन बोलती है, 9. नर्म (स्निग्ध परिहास) में पण्डिता है, 10. विनीता, 11. करुणामयी, 12. विदग्धा (रसमयी), 13. चतुरा, 14. लज्जाशीला, 15. सुमर्यादा, 16. धैर्य-शालिनी, 17. गाम्भीर्यशालिनी, 18. सुविलासवती,

1 हरि बिछुरत फाट्यो न हियो।
भयो कठोर बज्र ते भारी रहिके पापी कहा कियो।
घोलि हलाहल सुनि मेरी सजनी तिहि अवसर काहें न पियो।
मन बुधि गई सम्हार न तन की पूरो दाव अक्रूर दियो।
अब का करौं कौन बिधि मिलिहौं परबस प्रान लियो।
निसिदिन रटत सूर के प्रभु बिन कैसे परत जियो।

19. परम उत्कर्षमयी, 20. गोकुल-प्रेम-वसति, 21. जगत् श्रेणी लसदयशा, 22. गुरुओं पर परम स्नेह रखनेवाली, 23. सखियों की प्रणयाधीना, 24. कृष्ण-प्रियाओं में मुख्य और 25. केवल सदा उनकी आज्ञा के वशवर्ती है।

इस प्रकार राधा-भाव से भजन करता हुआ भक्त आनन्दघन एक-रस परब्रह्म श्रीकृष्ण को पाता है। राधा के प्रसाद से ही कृष्ण को महाभाव की अनुभूति होती है। राधा के बिना पूर्ण पुरुष अपूर्ण हैं। इस महाभाव की अनुभूति के लिए—अपने 'रसो वै स' स्वरूप की पूर्णता के लिए भगवान् व्रजसुन्दरी के साथ अनन्त-लीला में व्याप्त रहते हैं। श्रीकृष्ण की प्राप्ति का श्रेष्ठ उपाय है, राधा-भाव से मधुर रस की भक्ति। फिर एक बार यह जान रखना चाहिए कि लौकिक माधुर्य से इस माधुर्य में भेद है। लोक में मधुर रस विपर्यस्त होकर सबके नीचे रहता है। उसके ऊपर है वात्सल्य, उसके ऊपर सख्य, फिर दास्य और अन्त में सबके ऊपर रहता है शान्त रस। पर यहाँ व्रजेश्वर के प्रेम में ठीक उल्टी बात है। चित् जगत् के अत्यन्त निम्न भाग में शान्त-स्वरूप हरधाम या निर्गुण ब्रह्मलोक है, उसके ऊपर दास्य रस या वैकुण्ठ तत्त्व है, उसके ऊपर सख्य या गोलोकस्थ सख्य रस है और सबके ऊपर है मधुर रस, जहाँ परम पुरुष व्रजांगनाओं के साथ क्रीड़ा करते हैं।[1] अद्भुत है यह भागवत रस। व्यासदेवजी कहते हैं :[2]

निगम - कल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।
पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः॥

उस युग की साधना
और तात्कालिक समाज

1. टीका-युग और उसकी प्रधान समस्या

ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में किसी समय सूरदास ने जन्म-ग्रहण किया था और सोलहवीं शताब्दी के मध्यभाग तक ये जीवित रहे। इनका काल ईसा की सोलहवीं शताब्दी रखा जा सकता है। इतिहास की दृष्टि में यह काल भारतीय संस्कृति के पराजय का काल है। विदेशी शक्तियाँ भारतवर्ष के इस कोने से उस

1. 'श्रीचैतन्यचरितामृत', पृ. 428
2. भागवत, 10 1-2

कोने तक अपना आतंक विस्तार कर चुकी थी। युद्ध-विग्रह में, वाणिज्य-व्यवसाय में, भीतरी और बाहरी राज्य-व्यवस्थाओं में—सर्वत्र विदेशियों और विधर्मियों का हाथ था। इस देश के रहनेवालों ने अनिच्छापूर्वक, विवश होकर यह शासन-व्यवस्था स्वीकार कर ली थी। बीच-बीच में सिर उठाने की कोशिश अगर कहीं हुई भी, तो तत्काल ही दर्प चूर्ण कर दिया गया। सचमुच यह युग इस दृष्टि से देखने से अत्यन्त अन्धकारमय दिखायी देता है। भारतवर्ष की असफलता की करुण कहानी से इस युग के इतिहास का अध्याय-का-अध्याय भरा पड़ा है!

परन्तु इन सारी विघ्न-बाधाओं के होते हुए भी भारतवर्ष अपने आत्म-रूप में निस्तेज नहीं हुआ था। "यह बात माननी ही होगी कि राष्ट्रीय साधना भारतवर्ष की साधना नहीं है। एक बार बड़े-बड़े राजा और सम्राट् हमारे देश में दिखायी पड़े थे। किन्तु इनकी महिमा इन्हीं में स्वतन्त्र है। देश के सर्वसाधारण ने उस महिमा की सृष्टि भी नहीं की, वहन या भोग भी नहीं किया। व्यक्ति-विशेष की शक्ति में ही उसका उद्‍भव और विलय हुआ। किन्तु भारतवर्ष की एक अपनी साधना है, वह है उसके अन्तर की चीज़। सब प्रकार के राष्ट्रीय विपर्यय के भीतर से उसकी धारा बहती रही है।"[1] सूरदास के युग में भी यह धारा सूख नहीं गयी थी, बल्कि और भी स्पष्ट होकर दिखायी पड़ी थी। पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी भारतवर्ष की राजनीतिक हार का युग भले ही हो, वर्तमान भारत इन शताब्दियों का ही परिणाम है। इन दो सौ वर्षों को एक बार इतिहास से निकाल दीजिए, फिर देखिये हम कहाँ के रह जाते हैं! वर्तमान भारत जिन महापुरुषों की देन है, वे—रामानन्द, वल्लभ, चैतन्य, कबीर, सूरदास, दादू, मीराबाई, तुलसीदास, नरसी मेहता, तुकाराम—सब-के-सब इन्हीं दो शताब्दियों की उपज हैं। इन दो शताब्दियों को छोड़ दिया जाय तो हिन्दी साहित्य में तो कुछ रह ही नहीं जाता। यह एक अद्‍भुत विरोधाभास है, पर है सच। देखा जाय, यह बात कैसे सम्भव हुई।

हिन्दूधर्म के शास्त्र संस्कृत-भाषा में लिखे गये हैं। पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी को शास्त्रों के भाष्य या टीका का युग कह सकते हैं। मुसलमानों के आगमन के पहले भी सैकड़ों जातियाँ इस देश में आकर हिन्दूधर्म का कवच पहन चुकी थीं। नयी-नयी जातियों के आने से नयी-नयी समस्याएँ खड़ी होती गयीं और हिन्दू शास्त्रकारों ने नयी-नयी स्मृतियाँ और नये-नये पुराण रचकर इन समस्याओं को हल करने की चेष्टा की थी। उस समय तक हिन्दू-जाति के अन्दर एक क्षीण जीवनी-शक्ति वर्तमान थी। इस जीवनी-शक्ति के कारण ही वह नयी व्यवस्थाएँ बना सकी थी, परन्तु मुसलमानों के आने से वह शक्ति स्तम्भित-सी हो गयी। अब तक जो जातियाँ आयी थीं उनकी अपनी कोई जबर्दस्त संस्कृति न थी; पर मुसलमानों की संस्कृति केवल सशक्त और संयत ही नहीं थी, उसमें भारतीय संस्कृति

1. रवीन्द्रनाथ ठाकुर

के विरोधी उपादान भी थे। यही विकट समस्या थी।

हिन्दू-जाति में—जहाँ तक शास्त्रों का सम्बन्ध था—मौलिकता बच नहीं रही थी। पर परम्परा की एकान्तप्रेमी सभ्यता होने के कारण वह शास्त्रों को फेंक भी नहीं सकती थी। उस विकट युग में कुछ शास्त्रकारों ने पुरानी स्मृतियों और पुराने पुराणों के स्तूपीभूत संग्रह से काल-धर्म की उपयोगिनी विधि-व्यवस्थाओं की खोज शुरू की। स्मृतियों पर नयी टीकाएँ लिखी गयी, नये-नये व्यवस्था-शास्त्र रचे गये और नये-नये पुराण ग्रन्थ भी बनाये गये। मनु के टीकाकार मेधातिथि और कुल्लूक भट्ट, मिताक्षरा टीका लिखनेवाले विज्ञानेश्वर, चतुर्वर्ग चिन्तामणिकार हेमाद्रि, बंगाल के रघुनन्दन, काशी के कमलाकर आदि बड़े-बड़े आचार्यों ने इस काम में हाथ लगाया।

केवल स्मृति और पुराण ही तक यह बात सीमित नहीं रही। वेदान्त, न्याय, व्याकरण, मीमांसा, ज्योतिष, वैद्यक आदि सभी शास्त्रों में मौलिकता का कोई चिह्न नहीं मिलता। केवल टीका ही इस युग का कर्त्तव्य कार्य था। वेदों का सर्वोत्तम भाष्य, जिसे सायणाचार्य ने लिखा, इसी युग की उपज है। सारांश यह कि शास्त्रों की दृष्टि से इस युग को टीका-युग कहा जा सकता है।

रघुनन्दन को लीजिए या हेमाद्रि को, निर्णय-सिन्धु को देखिए या मिताक्षरा को, सर्वत्र एक विशाल प्रयत्न दृष्टिगोचर होगा। राशि-राशि स्मृतियों और पुराणों के उद्धरण दे-देकर व्याख्याकारों ने हिन्दू-संस्कृति के वास्तविक रूप को बचा रखने की कोशिश की। इस प्रयत्न को देखकर उस युग की विकट समस्या का अनुमान होता है। सभी विद्वान् मानो हिन्दू-शास्त्रों की सारी शक्ति समेटकर विदेशी शक्ति का सामना करने को तत्पर हैं। सवाल यह है कि वह विकट समस्या क्या थी? और सूरदास के अध्ययन से उस विकट समस्या पर कुछ प्रकाश पड़ता है या नहीं? क्या सूरदास स्वयं एक ऐसी शक्ति थे, जो भारतीय संस्कृति की रक्षा का प्रयत्न कर रहे थे?

इन प्रश्नों का उत्तर जितना ही कठिन है उतना ही सरल भी है। सूरदास शायद ही कहीं ऐसी बात कह गये हों, जो उस युग की तात्कालिक परिस्थिति पर प्रकाश डाले। कारण यह है कि वे किसी युग-विशेष के आदमी नहीं थे। परन्तु सामाजिक परिस्थिति कुछ इस प्रकार जटिल और विषम हो उठी थी कि कहीं-कहीं सूरदास के पदों में उनकी ओर एक अस्पष्ट इंगित मिलता है। इस बात को समझने के लिए उस युग की साधना का एक संक्षिप्त नापजोख आवश्यक है।

इतिहास का विद्यार्थी, हमारे प्रश्नों के उत्तर में, छूटते ही कह उठेगा कि उस विकट समस्या को तो एक वाक्य में ही बताया जा सकता है। मुसलमान बादशाह मन्दिरों और मूर्त्तियों को तोड़ते जा रहे थे और हिन्दू-तीर्थों को बरबाद कर रहे थे, नाना उचित-अनुचित उपायों से भोली-भाली हिन्दू जनता को मुसलमान बनाया जा रहा था, आये-दिन हिन्दू भले-घरों की बहू-बेटियों का सतीत्व नष्ट किया जा रहा था। इससे बढ़कर और विकट समस्या क्या हो सकती है? सचमुच

इतिहास मुसलमानों की इसी ज्यादती को बताकर चुप हो जाता है। परन्तु ये बातें शास्त्रीय समस्या का रूप नहीं धारण कर सकतीं। इससे बढ़कर उपहासास्पद बात और क्या हो सकती है कि मुसलमान तो गदा के आघात से सोमनाथ की मूर्ति को चूर्ण-विचूर्ण करते रहें और हिन्दू इस आक्रमण से रक्षा पाने के लिए 'मिताक्षरा' लिखा करें! नहीं, यह उत्तर हमारे प्रश्न का उचित उत्तर नहीं हुआ। हम यह स्वीकार करते हैं कि मुसलमानों ने कभी-कभी अनुचित शारीरिक बल का प्रदर्शन किया था; पर उसके लिए हिन्दुओं ने शारीरिक बल से ही—भले ही वह अल्प या असहल हो—आत्मरक्षा की चेष्टा की थी। वस्तुतः शास्त्रीय समस्या का कारण कुछ और ही था।

बौद्धधर्म का इसके बहुत पहले लोप हो चुका था। लोप का यह अर्थ नहीं है कि वह एकदम कहीं उड़कर अन्यत्र चला गया था। असल में वह पुनरुज्जीवित हिन्दू धर्म में ही घुलमिल गया था। हिन्दू-सभ्यता अब पुरानी वैदिक सभ्यता नहीं रह गयी थी। उसमें नाना भाँति के अवैदिक उपादान आ मिले थे। बौद्धधर्म का दुःखवाद, वैराग्य, मूर्ति-पूजा इत्यादि बातें हिन्दूधर्म की अपनी चीज़ हो गयी थीं। अध्यापक क्षितिमोहन सेन ने सिद्ध किया है कि बौद्ध धर्म की ये बातें पहले से ही आर्येतर जातियों में विद्यमान थीं। आर्य-सभ्यता का प्रधान केन्द्र था यज्ञभूमि और द्रविड़ सभ्यता का तीर्थ। उत्तरकाल में यज्ञों का स्थान तीर्थों ने ले लिया था। मुसलमानों के आगमन के पहले हिन्दू-सभ्यता प्रधानतः तीर्थों, व्रतों, अनुष्ठानों और विविध प्रतीकों की पूजा पर ही केन्द्रित थी। धर्म आन्तरवस्तु न होकर बाहरी दिखावे का रूप धारण करता जा रहा था। बौद्धों का प्रवर्तित वैराग्य इस युग में अति विकृत रूप में देखा गया। लाख-लाख की संख्या में काज-कर्महीन अलस साधुओं का दल व्यर्थ वैराग्य की आँच से हिन्दू-संस्कृति को झुलसा रहा था। प्रतीक-पूजन का सात्त्विक अंश लुप्त होकर विकृत रूप को स्थान दे चुका था।

इस समय पूर्व और उत्तर भारत में सबसे प्रबल सम्प्रदाय नाथपन्थी योगियों का था। जनता का सारा ध्यान इन अशास्त्रीय योगियों की ओर आकृष्ट था। ये लोग महायान बौद्धधर्म के उत्तराधिकारी थे। इन योगियों के परिवर्तित रूप में तथागत के स्थान पर शिव का अधिकार हो गया था सही, पर मूलतः ये बौद्ध थे। गोरखनाथ, मीननाथ आदि बड़े-बड़े साधकों ने इस साधना को खूब समृद्ध किया। कबीर, नानक, दादू आदि सन्तों की वाणियों पर इनका यथेष्ट प्रभाव है। इसी तरह धर्म और निरंजनमतवाद की छाप भी परवर्ती साधकों पर है[1]। वे लोग निर्गुण ब्रह्म के उपासक थे।

इसी समय एक और धारा पश्चिम से आयी। यह बा-शरा (शास्त्रीय) मुसलमानों की साधना-धारा नहीं थी बल्कि बे-शरा (अशास्त्रीय) सूफियों की साधना थी। शास्त्रीय मुसलमान हिन्दूधर्म के मर्मस्थान [illegible] त नहीं कर सकते

1. अध्यापक क्षितिमोहन सेन कृत 'भ

थे। वे केवल उसके शरीर को नोंच-खसोटकर दुःख-भर पहुँचा सकते थे। पर इन सूफियों ने भारत के हृदय पर प्रभाव जमाया। कारण यह था कि इनका मत भारतीय साधना-पद्धति का अविरोधी था। पर अविरोधी होने से क्या होगा, उसका सामंजस्य आचारप्रधान टीकायुग के धर्म से न हो सका। भारतवर्ष की वह धारा, जो आचारप्रधान वर्णाश्रम धर्म के विधानों के नीचे गुप्त रूप से बह रही थी, एकाएक इस सधर्मी को पाकर विशाल वेग से जाग पड़ी। निरंजन, नाथ आदि मार्गों की साधना पहले से ही निर्गुण ब्रह्म की ओर प्रवृत्त थी। इन दो धाराओं के संयोग से एक अभिनव साधना ने जन्म लिया। कबीर, दादू आदि इसी मार्ग के यात्री हैं।

यह बात स्मरण रखने की है कि न तो सूफी मतवाद और न यह अभिनव निर्गुण उपासना-पद्धति ही उस विपुल वैराग्य के भार को कम कर सकी जो बौद्ध-संघ के अनुकरण पर प्रतिष्ठित था। देश में पहली बार वर्णाश्रम व्यवस्था को इस विकट परिस्थिति का सामना करना पड़ रहा था। अब तक वर्णाश्रम व्यवस्था का कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं था। आचारभ्रष्ट व्यक्ति समाज से अलग कर दिये जाते थे और वे एक नयी जाति की रचना कर लेते थे। इस प्रकार सैकड़ों जातियों, उपजातियों की सृष्टि होते रहने पर भी वर्णाश्रम-व्यवस्था एक तरह पर चलती ही जा रही थी। इसमें अगर कभी विद्रोह हुआ था तो यह वैराग्यप्रधान साधुपन्थों के द्वारा। परन्तु अबकी बार समस्या बडी टेढ़ी हो चली। सामने ही एक विराट् शक्तिशाली प्रतिद्वन्द्वी समाज था, घर में ही वैराग्यप्रधान साधुओं का भारी विद्रोह था; ये दो बातें ही वर्णाश्रम-व्यवस्था को हिला देने के लिए काफी थीं। परन्तु तीसरी शक्ति तो और भी विचित्र और अद्भुत थी। निम्न श्रेणी के साधक अपनी महिमाशालिनी प्रतिभा और साधना के बल पर ब्राह्मण से लेकर शूद्र तक के गुरु बन रहे थे और सो भी न तो समाज से निकलकर और न वैराग्य की धूनी रमाकर। इस विकट परिस्थिति को सँभालना शास्त्र के लिए असम्भव हो उठा था। टीकाकारों ने बहुत प्रयत्न किया, पर व्यर्थ।

इसी समय दक्षिण से एक नयी धारा आयी। यह धारा थी भक्ति की। कबीर आदि सन्तों ने जिस साधना का उपदेश किया था वह भारतवर्ष की अपनी ही चीज थी, सरल और सहज थी, परन्तु तात्कालिक जनसमुदाय अपने पुराने संस्कारों के कारण इसे तत्काल ग्रहण नहीं कर सका। कबीरदास ने स्थान-स्थान पर जन-मत को काफी आघात भी पहुँचाया है, जो उस युग की संस्कारजन्य जड़ता को देखकर उन्हें करना पड़ा था। पर दक्षिण भारत से आयी हुई भक्ति-धारा साधारण जनता के लिए बहुत दूर की चीज नहीं जान पड़ी। इस साधना का केन्द्र-बिन्दु था प्रेम। राम और कृष्ण का आश्रय लेकर इस भक्ति की साधना ने उस युग को एक नया प्रकाश दिया।

विदेशी संस्कृति से आत्मरक्षा के लिए अब प्रधानतः दो शक्तियाँ काम करने लगीं। पहली कबीर आदि की निर्गुण-साधना और दूसरी सूरदास आदि की सगुण-साधना। पहली शक्ति शास्त्रकारों के लिए स्वयं एक समस्या थी। इस धारा ने

सूफी सन्तों के मतवाद को भारतीय रूप में ही प्रकट नहीं किया, उन्हें भारतीय संस्कृति से प्रभावित भी किया। यह हिन्दू प्रभावापन्न मुसलमान साधकों का दल अपने समाज के शास्त्रकारों के निकट ठीक उसी प्रकार उपस्थित हुआ, जिस प्रकार कबीर आदि के समान साधक हिन्दू शास्त्रकारों के निकट हुए थे। किसी-किसी मुसलमान साधक को अपने को शास्त्रसम्मत सिद्ध करने का प्रयत्न करना पड़ा था।

भक्त-साधकों की दूसरी धारा शास्त्र और परिस्थिति का सामंजस्य करती हुई आगे बढ़ी। इन्होंने शास्त्र के उन अंशों को, जो भक्ति-सिद्धान्त के अविरोधी थे, ज्यों-का-त्यों मान लिया परन्तु अन्य अंशों की उपेक्षा की। हमारा यह अध्ययन केवल सूरदास से सम्बन्ध रखता है। अतः हम यहाँ न तो पहली धारा के साधकों की ही चर्चा करेंगे और न दूसरी धारा के अन्य भक्तों की। अपनी बात की जाँच के लिए हम सूरदास और उनके समसामयिक भक्तों के ग्रन्थों से ही यथासाध्य उद्धरण देने का प्रयत्न करेंगे।

सूरदास आदि भक्त-कवियों में कहीं विरोध की ध्वनि नहीं है, वे अगर किसी बात को अनुचित समझेंगे तो अत्यन्त मृदु भाषा में उसकी उपेक्षा पर जोर देंगे। यह उपेक्षा भी वे सीधे नहीं कहेंगे। कहेंगे कवि की भाषा मे, लक्षणा और व्यंजना का आवरण डालकर। इनकी तुलना उपनिषद् के ऋषियों से की जा सकती है, जो यज्ञ-याग के विरोधी नहीं, उपेक्षक थे। सूरदास का 'सूरसागर' प्रेम का काव्य है। इस प्रेम की लीला का वर्णन करते-करते प्रसंगवश वे कहीं-कहीं योग, तीर्थ आदि पर कुछ कह गये हैं। उस छोटे-से कथन से, उस युग की परिस्थिति पर, कभी-कभी एक हल्का-सा प्रकाश पड़ जाता है।

2. सूरदास की दृष्टि में उस युग के साधक

सूरदास के युग में सबसे प्रबल मतवाद था नाथपन्थी योगियों का। गोपियों के मुख से सूरदास ने इस मत के विषय में बहुत-कुछ कहलाया है। 'सूरसागर' पढ़कर इन योगियों के विषय में बहुत-सी बातें जानी जा सकती हैं। ये आसन, ध्यान, आराधना आदि के द्वारा साधना करते थे; मुद्रा, भस्म, विषाण, मृगचर्म आदि धारण करते थे।[1] ये आसन बाँधकर, आँख मूँदकर ध्यान किया करते थे[2] और गोरखनाथ का नाम लेकर अलख जगाया करते थे—इतना उपदेश भी सूरसागर में दिया हुआ है। ये कहा करते थे, भगवान् शून्य, सहज में वास करते हैं।

1 आसन, ध्यान, वायु आराधन, अलि मन चित तुम लाए।
अर्गहि सिंगि मुद्रा गुनच्छन, गुनी जोग मनि माए।
मुद्रा, भस्म, विषान, त्वचा-मृग, ब्रज जुवतिनि नहिं भाएँ॥
—सूरसागर, 4123

2 आये हैं ब्रज के हित ऊधौ, जुवतिनि कौ लै जोग।
आसन, ध्यान, नैन मूँदि गगि, कैसै कटै वियोग॥
—सूरसागर, 4208

इंगला, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियों में होता हुआ जीवात्मा ब्रह्मसायुज्य को पाता है।[1] ये सर्वजगत् को ब्रह्ममय देखने का उपदेश करते थे। ब्रह्म अलख है, निरंजन है। इनकी साधना में पद्मासन जमाकर, आँख मूँदकर ध्यान देने पर जोर दिया जाता था। ऐसा करने पर इन लोगों के कथनानुसार अन्तर्ज्योति का साक्षात्कार होता था। यही अन्तर्ज्योति अच्युत, अविगत और अविनाशी है।

महायान बौद्धधर्म में धीरे-धीरे सहजयान की प्रधानता स्थापित हो गयी थी। कहते हैं, यही सहजयान योग से मिलकर नाथपन्थ के रूप में आविर्भूत हुआ। इन मतों में सहज, शून्य, निरंजन आदि बातें ज्यों-की-त्यों रह गयीं। परिस्थिति के अनुसार इनके अर्थों में हेर-फेर जरूर होता रहा, पर इनकी धारा नहीं टूटी। सहजयान की साधना-प्रणाली—जैसे चित्त स्थिर करना, प्राणायाम, बिन्दुधारण प्रभृति बातें—ज्यों-की-त्यों रह गयीं। कबीरदास आदि सन्तों ने इन शब्दों को ग्रहण किया था। सूरदास इन सारी योग-क्रियाओं और कृच्छ्र साधनाओं को अनावश्यक समझते हैं। प्रेम के सामने ये कोई चीज नहीं। यद्यपि ये इनको विमार्ग में ले जाने का साधन नहीं समझते, उल्टे इसे बहुत ऊँचा और साधारण जनों के लिए अगम्य समझते हैं[2], परन्तु उनका यह मत मानना पड़ता है कि भक्तिरूपी सहज पन्थ के रहते यह योग का मार्ग, सब तरह से उच्च होते हुए भी, व्यर्थ का भार है।[3]

इसके बाद निर्गुण-उपासना की बातें है। निर्गुण-उपासना से सूरदास का मतलब शायद कबीरदास आदि की साधना से है। सूरदास इसको भी सगुण-उपासना के सामने फीका समझते हैं। इस निर्गुण-उपासना के साधकों का कहना था कि त्रिगुणात्मक भेष त्याग करके पूर्ण ब्रह्म का ध्यान करो। भगवान् का न तो नाम है, न रूप। उनका कुल भी नहीं, वर्ण भी नहीं। न कोई पिता-माता है, न कोई स्त्री है। वे त्रिगुणातीत हैं। यह संसार मिथ्या है। ईश्वर को सुख भी नहीं

1 सूरसागर, 4712

2 मधुकर, हम अजान मति भोरी।
यह मत जाइ तहाँ उपदेसौ, नागरि नवल किसोरी।
कंचन कौ मृग कौनैं देख्यौ, किन बाँध्यौ गहि डोरी।
कहि धौं मधुप बारि तैं माखन, कौनैं भरी कमोरी।
बिनुही भीत चित्र किन कीन्हौ, किन नभ पाल्यौ झोरी।
कहौ कौन पै कढ़त कनूका, जिन हठि भूसी पछोरी।
निरगुन ज्ञान तुम्हारौ ऊधौ, हम अबला मति थोरी।
चाहति सूर स्याम मुख चन्दहि, अँखियाँ तृषित चकोरी॥

—सूरसागर, 4171

3 ऊधौ हमहिं न जोग सिखैयै।
जिहिं उपदेस मिलैं हरि हमकौं, सो ब्रतनेम बतैयै॥

—सूरसागर

पर इस बात का मतलब यह नही कि सूरदास स्मार्त पन्थ के विरोधी है। वे भक्ति को सर्वोपरि समझते हैं। अगर भक्ति है तो तीर्थ-व्रत की जरूरत नहीं, अगर भक्ति नही है तो तीर्थ-व्रत से कुछ बड़ी चीज की प्राप्ति नही होगी।

भगवान् की दृष्टि में जाति-पाँति, कुल-शील आदि कोई चीज नही है।[1] योगी और अयोगी उनकी दृष्टि में समान है। केवल प्रेम चाहिए, प्रेम से ही वे मिलते है।[2] इस प्रेम के अभाव में संसार का प्राणी व्यर्थ ही माया के चक्र में पड़कर चौरासी लाख योनियों में भ्रमा करता है। यही सूरदास का अपना मत है।

3. मध्य युग के ईसाई मरमी और सूरदास

डाक्टर ग्रियर्सन ने एकाधिक बार सूरदास, नन्ददास, मीराबाई, तुलसीदास आदि भक्त कवियों पर ईसाई प्रभाव की चर्चा की है। उन्होने इन्हे मध्य युग के ईसाई मरमियों Bernerd of Clairvaux, Thomas-a-Kempis, Ekhert और St. Therisa) आदि के समान बताया है। अतएव सूरदास के विद्यार्थी को एक बार मध्य युग के ईसाई मरमी सन्तों की खोज करना आवश्यक हो गया है। हम यहां इन दो-दो श्रेणी के मरमी भक्तों के दृष्टिकोणों को, जिन्हें एक श्रेणी का मान लिया गया है, स्पष्ट करना चाहते है।

ईसवी सन् की बारहवी शताब्दी के बाद फ्रांस के ईसाई मरमी सन्तो की साधना मे विश्वात्मबोध का प्राबल्य दिखायी पडा। उस समय "चर्च को इस समस्या का सामना करना पड़ा था कि इन मरमियों के विश्वास (faith) और गम्भीर प्रेम (warm love) की भावना को कैसे उत्तेजित किया जाय।" क्योंकि भक्ति के लिए त्रैत भावना—ईश्वर, ईश्वर का पुत्र और जीव—नितान्त आवश्यक थी। इसी समय सेण्ट बर्नर्ड, ह्यूगो और रिचार्ड जैसे महिमाशाली सन्तो का आविर्भाव हुआ, जिन्होंने शास्त्र-परम्परा के साथ मर्म-भाव का सामजस्य किया। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि आत्मज्ञान ही परमात्म-बोध का साधन है और आत्म-पवित्रीकरण (self purification) तत्त्व-ज्ञान से कहीं ऊँचा है। तेरहवी शताब्दी में यूरोपियन चर्च में प्रधानत. दो धाराएँ हो गयी थीं। एक श्रेणी के सन्तों की घोषणा थी कि "आत्मा किसी नियम की पाबन्द नहीं है। इन लोगो ने खुल्लमखुल्ला स्रष्टा और सृष्ट के भेद को मिटा देना चाहा।" इसी नाजुक परिस्थिति में प्रभाव-सम्पन्न मरमी सन्त एखर्ट का आविर्भाव हुआ।

1. राम भक्तवत्सल निज बानौं।
जाति, गोत, कुल, नाम, गनत नहि, रंक होय कै रानौं॥

—सूरसागर, 12

2. प्रेम प्रेम सो होई प्रेम सो पारहि जैये।
प्रेम बँध्यो संसार प्रेम परमारथ पैये॥
एकै निश्चय प्रेम को जीवन्मुक्ति रसान।
साँचो निश्चय प्रेम को जिहि तैं मिलै गुपाल॥

होता और दुःख भी नही।[1] आत्मा ही ब्रह्म है, वह घट-घट व्यापक है। भगवान् अविगत् है, अविनाशी हैं, पूर्ण हैं—इस निर्गुण-ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं मिलती।[2]

इस मत से सगुण-उपासना की सरलता और उसका उत्कर्ष भी सूरसागर में अनेक स्थानो पर कहा गया है।[3] भगवान् के सगुण रूप के होते हुए निर्गुण-उपासना का आश्रय सूरदास को पसन्द नही।

ये दो मतवाद ही उस समय जोरो पर थे। स्वयं सूरदास इनसे प्रभावित हुए थे। योग-मार्ग में कृच्छ्र साधना पर अधिक जोर दिया जाता था और निर्गुण-मार्ग मे ज्ञान पर। और भी कितने ही पन्थ उस समय वर्तमान थे। पर उन सभी पन्थों को दो श्रेणियो में विभक्त किया जा सकता है: कृच्छ्र-साधना-प्रधान और ज्ञान-प्रधान। कृच्छ्र-साधना और ज्ञान-मार्ग की चर्चा करते समय सूरदास उन सभी मतो की आलोचना कर जाते हैं जो उस समय प्रचलित थे। जहाँ-तहाँ अन्य सम्प्रदायों के नाम भी सूरसागर में मिल जाते है, जैसे मुड़िया या मुण्डित संन्यासी।[4] ये भी ज्ञान-प्रधान साधक थे। सूरदास इनकी साधना को भी प्रेम के समकक्ष नही रखना चाहते।

जनसाधारण में उस समय व्रत, पूजा, उपवास, तीर्थ आदि की महिमा खूब प्रतिष्ठित थी। सूरदास इन सारी बातो को व्यर्थ समझते थे।[5] इस बात में वे निर्गुण ज्ञान-मार्गियों से प्रभावित हुए जान पड़ते है। योग, यज्ञ आदि अनुष्ठान भी उन्हें पसन्द नही।[6]

1 गोपी सुनहु हरि सदेस।
कह्यौ पूरन ब्रह्म ध्यावहु, त्रिगुन मिथ्या भेष॥

× × ×

ज्ञान बिनु नर मुक्ति नाहिं, यह विषय संसार।
रूप रेख, न नाम जल थल बरन अबरन सार॥
मातु पितु कोउ नाहिं नारी, जगत मिथ्या लाइ।
सूर सुख दुख नाहिं जाकैं, भजौ ताकौं जाइ॥ —सूरसागर, 4303

2 सूरसागर, 4713

3 (ऊधौ) प्रेम भक्ति रहित निरस जोग कहा लायो।
निरगुन अविनासी मत, कहा आनि भाख्यौ।
सूरदास जीवन धन कान्ह, कहाँ राख्यौ॥ —सूरसागर, 4215

4 ऊधौ, तुम हौ निकट के वासी।
यह निरगुन लै तिनहिं सुनावहु, जे मुँड़िया बसैं कासी॥ —सूरसागर, 4286

5 गनिका किये कौन व्रत संजम, सुक-हित नाम पढ़ावै।
मनसा करि सुमिर्‌यौ गज बपुरै ग्राह प्रथम गति पावै॥ —सूरसागर, 122

6. काहे को अस्वमेध जग कीजै गया-श्राद्ध कासी केदार।
रामकृष्ण अभिधाम न पटतर जो तन गरै हेम हतवार॥
प्राग कलप माथे करवत दै, चन्दा तरनि ग्रहन लछवार।
सूरदास भगवन्त भजन बिनु, यम कै दूत कौन टारै मार॥

पर इस बात का मतलब यह नही कि सूरदास स्मार्त्त पन्थ के विरोधी है। वे भक्ति को सर्वोपरि समझते हैं। अगर भक्ति है तो तीर्थ-व्रत की जरूरत नही, अगर भक्ति नही है तो तीर्थ-व्रत से कुछ बड़ी चीज की प्राप्ति नही होगी।

भगवान् की दृष्टि में जाति-पाँति, कुल-शील आदि कोई चीज नही है।[1] योगी और अयोगी उनकी दृष्टि में समान है। केवल प्रेम चाहिए, प्रेम से ही वे मिलते है।[2] इस प्रेम के अभाव में संसार का प्राणी व्यर्थ ही माया के चक्र में पड़कर चौरासी लाख योनियो मे भ्रमा करता है। यही सूरदास का अपना मत है।

3. मध्य युग के ईसाई मरमी और सूरदास

डाक्टर ग्रियर्सन ने एकाधिक बार सूरदास, नन्ददास, मीराबाई, तुलसीदास आदि भक्त कवियो पर ईसाई प्रभाव की चर्चा की है। उन्होने इन्हे मध्य युग के ईसाई मरमियों Bernerd of Clairvaux, Thomas-a-Kempis, Ekhert और St. Therisa) आदि के समान बताया है। अतएव सूरदास के विद्यार्थी को एक बार मध्य युग के ईसाई मरमी सन्तों की खोज करना आवश्यक हो गया है। हम यहाँ इन दो-दो श्रेणी के मरमी भक्तों के दृष्टिकोणो को, जिन्हे एक श्रेणी का मान लिया गया है, स्पष्ट करना चाहते है।

ईसवी सन् की बारहवी शताब्दी के बाद फ्रांस के ईसाई मरमी सन्तो की साधना मे विश्वात्मबोध का प्राबल्य दिखायी पड़ा। उस समय "चर्च को इस समस्या का सामना करना पड़ा था कि इन मरमियों के विश्वास (faith) और गम्भीर प्रेम (warm love) की भावना को कैसे उत्तेजित किया जाय।" क्योंकि भक्ति के लिए त्रैत भावना—ईश्वर, ईश्वर का पुत्र और जीव—नितान्त आवश्यक थी। इसी समय सेण्ट बर्नर्ड, ह्यूगो और रिचार्ड जैसे महिमाशाली सन्तों का आविर्भाव हुआ, जिन्होंने शास्त्र-परम्परा के साथ मर्म-भाव का सामजस्य किया। उन्होने इस बात पर जोर दिया कि आत्मज्ञान ही परमात्म-बोध का साधन है और आत्म-पवित्रीकरण (self purification) तत्त्व-ज्ञान से कहीं ऊँचा है। तेरहवी शताब्दी मे यूरोपियन चर्च में प्रधानत. दो धाराएँ हो गयी थी। एक श्रेणी के सन्तों की घोषणा थी कि "आत्मा किसी नियम की पाबन्द नहीं है। इन लोगों ने खुल्लमखुल्ला स्रष्टा और सृष्ट के भेद को मिटा देना चाहा।" इसी नाजुक परिस्थिति मे प्रभाव-सम्पन्न मरमी सन्त एखर्ट का आविर्भाव हुआ।

1. राम भक्तवत्सल निज बानौं।
जाति, गोत, कुल, नाम, गनत नहि, रंक होय कै रानौं॥

—सूरसागर, 12

2. प्रेम प्रेम सो होई प्रेम सो पारहि जैये।
प्रेम बँध्यो संसार प्रेम परमारथ पैये॥
एकै निश्चय प्रेम को जीवन्मुक्ति रसाल।
साँचो निश्चय प्रेम को जिहि तैं मिलै गुपाल॥

इन्होंने बड़ी जोरदार भाषा में बाइबिल के 'Devine spark at the apex of the soul' की व्याख्या करके परमात्मा को इतने निकट बताया कि आत्मा सदा सर्वदा ईश्वर के साथ है।

इन तथा अन्य ईसाई सन्तो की साधना को थोड़े मे इस प्रकार कहा जा सकता है—1. आत्मसमर्पण (self surrender), 2. अपने में प्रभु के जीवन की अनुभूति (The feeling of Lord's life within us), 3. तीन दिशाएँ : पवित्रीकरण, उज्ज्वलीकरण और योग या एकात्म भाव, 4. प्रतीक भावना, 5. अन्तर्दृष्टि और पाप-बोध की कोमलता।

पहली बात है conversion अर्थात् चैतन्य का अकस्मात् उदय और धर्म-जीवन के लिए व्याकुलता।[1] इसके बाद आता है pergative stage अर्थात् ससार से वैराग्य, पाप-बोध, दीनता और आत्म-त्याग।[2] इन दो दशाओं को पार

1 तुलना कीजिए—
जनम सिरानो ऐसे ऐसे।
कै घर-घर भरमत जदुपति बिन कै सोवत कै बैसे॥
कै कहुँ खान-पान-रमनादिक कै कहुँ बाद अनैसे।
कै कहुं रक कहूँ ईश्वरता नट-बाजीगर जैसे॥
चेत्यो नाहि गयो टरि अवसर मीन बिना जल जैसे।
यह गति भई सूर की ऐसी स्याम मिलै धौ कैसे॥
× × ×
अब हौं नाच्यो बहुत गुपाल।
काम क्रोध को पहिरि चोलना कण्ठ विषय की माल।
महा मोह के नूपुर बाजत निन्दा शब्द रसाल।
× × ×
कोटिक कला काछि दिखराई जल थल सुधि नहि काल।
सूरदास की सबै अविद्या दूरि करहु नँदलाल।

2. वैराग्य—
सबनि सनेहो छाँड़ि दयो।
हा जदुनाथ जरा तन ग्रास्यो प्रतिभौ उतरि गयो।
× × ×
सोइ धन धाम नाम सोई कुल यह बपु जिहि बिढयो।
अब सबही को बदन स्वान लो चितवत दूरि भयो।
दारा सुत हित बिन मज्जन सब काहु न सोचि लयो।
संमुनि दोष बिचारि सूर धनि जे हरि सरन गयो।
पापबोध—
प्रभु, हौं सब पतितन को टीको।
और पतित सब द्यौस चारिके हौं तो जनमत ही को।
बधिक अजामिल गनिका तारी और पूतना ही को।
मोहि छाँड़ि तुम और उधारे मिटै शूल किम जी को।
कोऊ न समरथ सेव करन को खैंचि कहत हौं लीको।
मरियत लाज सूर पतितन में कहत सबन में नीको। →

चरननि चित्त निरन्तर अनुरत रसना-चरित रसाल ॥
लोचन सजल प्रेम-पुलकित तन कर कंजनि दल माल ॥
ऐसो रहत लिखत छन-छन जम अपने भायो भाल।
सूर सुजस रागी न डरत मन सुनि यातना कराल ॥

तो पाप की कराल यातना से उद्धार पाने के लिए नहीं। अगर उनका मन अनुरागी हो जायगा तो उन्हें यमराज के लेखों और दण्डों की बिलकुल परवा नहीं। पर ईसाई भक्त ईश्वर की ओर इसलिए झुका है कि वह पापमय है और ख्रीष्ट का क्रूश उसे पाप से मुक्त कर देगा। दूसरा अन्तर जो इन दोनों भावनाओं मे है वह यह है कि सूरदास आदि भक्त-कवियों का पाप वाह्य या आगन्तुक वस्तु है, परन्तु ईसाई भक्तों का पाप आन्तर और स्वाभाविक वस्तु है। तीसरा अन्तर यह है कि सूरदास या तुलसीदास की पाप-भावना वैयक्तिक है और ईसाई भक्तिवाद इस वैयक्तिता के एकदम विरुद्ध है।

ईसाई मर्म-भावना के साधकों में से कुछ ऐसे अवश्य है जिनके साथ इन भक्त-कवियों की तुलना की जा सके। ईसाई धर्म के ईश्वर के दो रूपों, ससीम और असीम को लेकर इन्होंने ठीक वैसी ही सृष्टि की है जैसी वैष्णव कवियों ने। ईश्वर, इनके अनुसार, शक्ति में अनन्त है, किन्तु प्रेम में सान्त। इस प्रकार के भक्तों में Jaccub Bohme आदि का नाम लिया जा सकता है।

आगे चलकर यह स्पष्ट होगा कि व्रजभाषा के कवि नितान्त प्रत्यक्ष, ठोस रूप के उपासक हैं।[1] मगर व्रजभाषा की कविता भगवान् के असीम अरूप की कल्पना को पूर्व से ही स्वीकार कर अग्रसर होती है। एक बार वह स्वीकार कर लेती है कि श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं—अनादि, अनन्त, अखण्ड, अछेद, अभेद; और राधिका उनकी ह्लादिनी चिन्मयी शक्ति हैं—आश्रित, आसक्त, सापेक्ष[2]। इसी सापेक्ष और निरपेक्ष के द्वन्द्व को व्रज का कवि अपनी कला से अभिव्यक्त करने जा रहा है। इतना स्वीकार कर लेने के बाद वह लेखनी उठाता है और फिर भूल जाता है कि उसने किस पूर्व-स्वीकृत रूपक की नीव पर अपना भक्ति और प्रेम का प्रासाद खडा किया था। ईसाई मरमी कभी इस बात को नहीं भूलता। इसीलिए ईसाई साधक भक्त के सिंहासन पर आकर रुक जाता है और वैष्णव भक्त और भी ऊपर उठकर कवि के आसन पर बैठ जाता है। वहां वह समर्थ और सुन्दर के भेद-भाव एकदम भूल जाता है।

4. उस युग का समाज और सूरदास की साधना

सूरसागर के पढ़ने से उस युग के समाज का एक चित्र, जो सर्वांगपूर्ण तो नही कहा जा सकता पर पर्याप्त जरूर है, आँखों के सामने खिच आता है। देखा जाय सूरदास की साधना से उसका क्या सम्बन्ध था। यह कह रखना उचित होगा कि

1. परिशिष्ट क
2. भूमिका

हमारा मतलब यहाँ साधना के आलम्बन, या तद्द्वारा प्रभावित समाज से ही है। वैसे सूरदास के विद्यार्थी को यह पता लगाना भी बहुत मुश्किल नहीं है कि उस जमाने के परचूनी की दूकान पर क्या-क्या चीजें सुलभ थीं[1] या उस युग की स्त्रियाँ किस तरह बाल सँवारती थीं, कौन-कौन-से गहने पहनती थी। हम यह मानते हैं कि इन चीज़ों का भी ऐतिहासिक मूल्य है, परन्तु हमारे अध्ययन का साधना से अधिक सम्बन्ध है। अवसर मिलने पर इन विषयों की चर्चा भी की जायगी, पर यहाँ नहीं।

यह ध्यान देने की बात है कि दक्षिण से जो भक्ति की धारा उत्तर भारत में आयी थी, वह सर्वत्र एक ही समान नहीं बनी रही। बंगाल में उसने एक रूप धारण किया, गुजरात में दूसरा और युक्तप्रान्त में तीसरा। इसका कारण यह है कि मूल धारा जिस प्रदेश में पहुँची, वहाँ की सामाजिक परिस्थिति के अनुसार विशेष रूप में परिवर्तित हो गयी। इस प्रकार सूरदास में वह धारा एक रूप में दृष्ट हुई, तुकाराम में दूसरे में। इसी समय पश्चिम के सूफ़ी-मत की एक साधना-पद्धति भी इसी देश में आयी थी और वह इस देश के कबीर आदि में एक स्वतन्त्र रूप धारण कर गयी। कबीर और सूरदास आदि का साधना-प्रदेश करीब-करीब एक ही था। इन दोनों सन्तों ने दो मार्ग लिये, परन्तु दोनों का ही आधार एक ही प्रकार की सामाजिक परिस्थिति थी। इसलिए इन दोनों सन्तों में जो बातें एक ही-सी हैं, उनसे उस युग के समाज का चित्र स्पष्ट हो सकता है।

ऊपर के कथन को समझने में भूल हो सकती है। कहा जा सकता है कि सूरदास या कबीरदास की साधना का विशिष्ट रूप किसी सामाजिक परिस्थिति का परिणाम नहीं है, वह व्यक्तिगत चीज है और व्यक्ति-विशेष की शिक्षा का फल है। समाज से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। परन्तु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि ये लोग अपने आस-पास की परिस्थिति से प्रभावित हुए थे। सूरदास का भक्ति-सिद्धान्त

1 पाठकों के कुतूहल-निवारण के लिए यहाँ हम बता देना चाहते हैं कि उस युग में बनिया लोग 'लौंग, नारियल, दाख, सुपारी', 'हींग, मिरच, पीपर, अजवाइन', 'कूट, काइफर, सोंठि, चिरैता, कटजीरा', 'आल, मजीठ, लाख, सेंदुर', 'वाइबिरंग, बहेरा, हर्रें' इत्यादि चीजें बेचा करते थे।

कहो कान्ह कहा गयहैं हमसों।
जा कारन जुवती सब अटकीं सो बूझत हैं तुम सों।
लौंग नारियल दाख सुपारी कहा लादे हम आवें।
हींग मिरच पीपर अजवाइन ये सब बनिज कहावें।
कूट काइफर सोंठ चिरैता कटजीरा कहुँ देखन।
आल मजीठ लाख सेंदुर कहुँ ऐसे हि विधि अवरेखन।
बाइबिरंग बहेरा हर्रें कहुँ बेल गोंद ब्यापारी।
सूर स्याम लरिकाई भूली जोबन भयें मुरारी॥

इतिहास के विद्वान् पता लगायें कि सूरदास यूरोपियन व्यापारियों द्वारा आनीत मसालों से परिचित थे या नहीं!

वल्लभाचार्य का उपदेश-सम्भूत माना जा सकता है; पर यह भी क्या सत्य नहीं है कि एक विशेष परिस्थिति ने उन्हें वल्लभाचार्य की ओर प्रवृत्त किया था ? इस दृष्टि से देखने पर जान पड़ता है कि उस युग के भारतीय समाज के सामने कोई बहुत ऊँचा आदर्श नहीं था। लोग खाते-पीते थे, रोगी या निरोग होते थे, सोते-जागते थे और चार दिन तक हँसकर या रोकर मर जाते थे। जो धार्मिक प्रवृत्ति के थे, वे दस-बीस मन्दिर बनवा देते थे; यज्ञ-याग करके हजार-पाँच सौ ब्राह्मणों और साधुओं को भोजन खिला देते थे। ऊँचे वर्ग के लोग अपनी झूठी शान में मत्त रहते थे। इनका प्रधान कर्त्तव्य था,—जो उस युग में धनी आदमी की शोभा समझा जाता था—विलासिता। कवि लोग इस विलासिता की प्रशंसा करते थे, भाट लोग उनका यही यश गाते थे और समाज की निचली श्रेणी के आदमी अपने रक्त तथा मांस को गलाकर इनकी विलासिता की आग को सदा प्रज्वलित रखने के लिए ईंधन एकत्र कर देते थे। प्रत्येक गृह कलह का अखाड़ा था, क्योंकि सम्मिलित परिवार-प्रथा तब भी चल रही थी। उस समय जो जब तक कमा सकता था, चैन करता था। वृद्ध और शिथिलेन्द्रिय होने पर उसी के लड़के-वाले उनका निरादर करने लगते थे।

ऊपर हमने जो बातें कही हैं, वे अनुमान से ही कही गयी हैं। इस अनुमान के लिए सूरदास और कबीरदास में बहुत काफी मसाला है। हम उनके कथनों को ज्यों-का-त्यों नहीं स्वीकार करना चाहते। कारण यह है कि वे समाज की स्थिति स्पष्ट करने के लिए कुछ नहीं कहते। उनके कहने का प्रधान लक्ष्य या तो उसकी अस्थिरता दिखाकर वैराग्य-भावना को उत्तेजित करना है या सुधार की प्रवृत्ति को जगाना। दोनों ही उद्देश्यों को सामने रखकर समाज के केवल असत् अंश पर ही जोर दिया जा सकता है। भक्त और सन्त कवियों ने वस्तुतः वैसा ही किया है।

सूरदास ने एक पद में तात्कालिक मनुष्य-जीवन का एक पूरा चित्र खींचा है। है यह तो केवल उसकी विलासमय दशा का, परन्तु अगर सूरदास की मनोभावना का परिचय रखते हुए इसका उपयोग किया जाय तो उस समाज का कुछ अनुमान किया भी जा सकता है। इस पद में माता के गर्भ में आने से लेकर मृत्यु तक का जो वर्णन किया गया है, वह जीवन की विफलता की एक मनोरंजक कहानी है। नीचे वह पद दिया गया है :

> चौपरि जगत मड़े जुग बीते।
> गुन पाँसे, क्रम अंक, चारि गति सारि, न कबहूँ जीते॥
> चारि पसार दिसानि, मनोरथ घर, फिरि फिरि गिनि आनैं।
> काम-क्रोध-मद-संग मूढ़ मन, खेलत हार न मानैं॥
>
> मातु गर्भ थिति पाइ पिला दस मास उदर से डारै।
> जनम छठी छक और बधाई दुई छक दुई पुनि पारैं॥
> मुण्डन करनवेध व्रत-बन्ध विवाह गवन गृहवासी।
> आलिंगन चुंबन परिरंभन नखछत चारु परसपर हासी॥

केतिकी करुना बेलि चमेली सुमन सुगन्ध सिचाये।
रचहिं तल्प निशि-भोग चतुर सम बहुत एकादस पाये॥
उर-परसत सब अंग विलोकत क्रीड़त सुख-सुख जीके।
चोली चीर अलक भूषण फिरि साजत पिय भव नीके॥

नख-सिख साजि सिंगार सकल त्रिय सुन्दर वदन निहारत।
विविध विलास सकल कौतुक रस छ दस अंक भरि डारत॥
जोबन-मद जन-मद मादक मद धन-मद विध-मद भारी।
काम-विवस पर-नारि भजत दुइ पंचसरहि फिरि मारी॥

पौरि पगारि महल मंदिर रचि राजत रंग अटारी।
भीतर भवन विचित्र विराजत पंच दुवादस द्वारी॥
कृषी वणिज व्यवहार ग्रामपति हय बाँधत दर हाथी।
करि अभिमान हरीसों बेमुख संग नहीं कोउ साथी॥

रतन रजत कंचन मुकुता मनि मानिक संचित कसि-कसि।
छह सुनि गुनत छहो रस विलसत कहत अठारह हँसि हँसि॥
परिवा तो पंचमी दसमि कहुँ पोत टका नित कीन्हा।
पंचा तीनि परे नीकी विधि विप्रनि भोजन दीन्हा॥

स्वजन समधि परिवार दास-दासी जन सब हितकारी।
दाव घाव गति देखि करत रति पंजा पारत न्यारी॥
संध्या तिमिर इन्दु दुविधा दुई ठोक निगम-पथ चालत।
स्रवन पुरान सिला तुलसीदल पूजित दुखितहिं पालत॥

पंच बरप दस बरप और जुग छक खेलहु खिलवारी।
सिसु गइ जीति किसोर काल हति मन काँची करि डारि॥
पुनि पौछक औरो छक पंजा साजि सारि संख फोर्यो।
तितने दाउँ बहुरि फिरि खेलौ तरुण विरघ जुग जोर्यो॥
आमावस पूनो संक्रान्ति ग्रहन द्विज कर भव मेलत।
एकादसी द्वादसी संजम कछू देत छक खेलत॥

मंगल बुध गुरु सुक्र भान ससि सान्ति करत ग्रह नीके।
राहु केतु चन्द्रमा सुसंयत छतन परत हित जीके॥
सैन उठान अमदे बिना जन उपवासन तन साधे।
दुई चौदसी जनम निशा सिव पाँच चारि मन बाँधे॥

द्वारावती गोमती पुष्कर तीर्थ प्रयाग अन्हाये।
गई न मन की कठिन मलिनता कहा भयो भ्रमि आये॥
बारह वन ब्रज के परिदक्षिण पंच द्वादसै पैलत।
जप-तप संजम नेम धरम व्रत करि-करि कष्ट सकेलत॥

सुधि-बुधि सुमति सुरजि गई दसनिधि जूरा जुग विधि बाँधे,
धरत चरन निरलरत लकुट लै चलन नवल कइ काँपत।
कास सफह कर तन गिरिधर धुक तदा बिछूरत भाखत॥
सुत वनिता हित पाँचों नेहू नातो सब ही टूटे।
दाव कुदाव परे दुइ पंचत जोरा दुइ जुग फूटे॥
बाल, किसोर तरुन जर जुग सो सुपक सारि ढिग ढारी।
सूर एक पौ नाम बिना नर फिरि-फिरि बाजी हारी॥

सूरदास ने मनुष्य की इस विफलता का कारण भजन का अभाव बताया है। अगर भजन हो तो यह सारी विफलता, एक महती सफलता के रूप में परिवर्तित हो जाय। सूरदास ने वस्तुत: अपने काल की सारी विलासिता का सुन्दर उपयोग किया है और कोई भी सहृदय इस बात को अस्वीकार नहीं करेगा कि सचमुच उन्होंने भजन के पारस-पत्थर से स्पर्श कराके विलासिता-रूप कुधातु को सोना बना दिया है। उस युग के मनुष्य की विफलता की प्रथम सीढ़ी है—"आलिंगन-चुंबन परिरंभन, नख-छत चारु परस्पर हाँसी।" और सूरदास से अधिक किस कवि ने इनका सफल वर्णन किया है?

अब हम टीका-युग की प्रधान समस्या के साथ सूरदास का सम्बन्ध समझ सकते हैं। टीका-युग के पण्डित मनुष्य की दुर्बलता को दबाने के लिए कठोर-से-कठोर विधि-व्यवस्था का आयोजन कर रहे थे; उन्होंने देखा, वे असफल रहे। टीका-युग के पण्डितों में एक बड़ी विशेषता यह थी कि वे हिन्दू-जाति की रक्षा के लिए कोई नया पन्थ नहीं चलाना चाहते थे। शास्त्रों की आड़ में वे अपना मत-प्रचार करना नहीं जानते थे। सूरदास ने भी ऐसा नहीं किया। सूरदास चाहते तो आसानी से कोई सम्प्रदाय खड़ा कर सकते थे। उनसे कहीं कम प्रभावशाली महात्माओं ने अलग-अलग सम्प्रदाय निकाले। परन्तु सूरदास ने ऐसा नहीं किया। महापुरुषों की विशेषता यह है कि वे मनुष्य की दुर्बलताओं को पहचानते हैं और इन्हीं दुर्बलताओं को, उसकी रक्षा के लिए, [illegible] हैं। सूरदास ऐसे ही महापुरुष थे। वे अपने प्रयत्न में सफल हुए।

ये दुर्बलताएँ हैं क्या चीज? [illegible] मानव-जाति के कल्याणमार्ग [illegible] कर दी हैं। परन्तु जिस प्रकार [illegible] प्रकृति भी बन्धन [illegible]

पड़ती है—भयानक वेग से। यह दूसरी ओर निकली हुई प्रवृत्तियाँ मनुष्य की दुर्बलताएँ है। जिन दिनों टीका-युग के विद्वान् 'तथा हि' और 'अपि च' की धुंआ-धार वर्षा के साथ शास्त्रों का आदेश मानव-समाज पर लाद रहे थे, उन्हीं दिनों :

जोवन-मद जन-मद मादक-मद धन-मद विध-मद भारी।
काम-विवस पर-नारि भजत दुइ पंचसरहिं फिरि मारी॥

सूरदास आदि सन्त कवियों ने इसी विरुद्धगामी प्रवृत्ति को भगवान् की ओर फेर देने की चेष्टा की और आश्चर्यजनक सफलता पायी। प्रमाण चाहते हों तो सूरदास यहाँ हैं, तुलसीदास यहाँ है, रसखानि यहाँ है, घनआनन्द यहाँ हैं, कितना गिनावें!

कवि-कुलगुरु रवीन्द्रनाथ ने 'सूरदासेर प्रार्थना' नामक एक लम्बी कविता लिखी है। दृश्य उस समय का है जब एक रमणी पर आसक्त हो चुकने के बाद सूरदास को आत्म-ज्ञान हुआ था। हाथ में छुरी लेकर वे उस रमणी से अपनी आँखों को फोड़ देने का अनुरोध कर रहे है। उसकी अन्तिम पंक्तियों में वे कहते हैं :

"तो फिर वही हो देवि, विमुख न होओ; इसमें दोष ही क्या है? हृदयाकाश में जगी रहने दो न, अपनी देह-हीन ज्योति! वासना-मलिन आँखों का कलंक उस पर छाया नहीं डालेगा, अन्ध-हृदय चिर दिन तक नील-उत्पल पाता रहेगा।

"तुम में देखूँगा अपने देवता को, देखूँगा अपने हरि को, तुम्हारे आलोक में जगा रहूँगा इस अनन्त विभावरी (रात्रि) में।"

सचमुच सूरदास की सहज साधना ने अपने लौकिक प्रेम में भगवान् की मूर्ति देखी है—शुद्ध, निर्मल, निष्कलंक। धन्य हो सूरदास, धन्य है तुम्हारी साधना। रवीन्द्रनाथ के साथ ही हम भी पूछते हैं :

सत्य करे कहो मोरे हे वैष्णव कवि,
कोथा तुमि पेये छिले एइ प्रेमच्छवि?
कोथा तुमि शिखेछिले एइ प्रेम-गान
विरहतापित हेरि काहार नयान
राधिकार अश्रु आँखि पड़े छिलो मने?
विजन वसन्त राते मिलन-शयने
के तोमारे बेँधे छिल दुठि बाहु डोरे,
आपनार हृदयेर अगाध सागरे
रेखेछिल मग्न करि? एतो प्रेम-कथा,
राधिकार चित्त दीर्ण तीव्र व्याकुलता
चुरि करि लइयाछ कार मुख, कार
आँखि हते? आज तार नाहि अधिकार
से संगीते? तारि नारि हृदय संचित
तार भाषा हते तारे करिबे वंचित
चिर दिन?

[सच बताओ हे वैष्णव कवि, तुमने यह प्रेम-चित्र कहाँ पाया था ? यह विरह-तप्त गान तुमने कहाँ सीखा था ? किसकी आँखें देखकर राधिका की आँसू-भरी आँखें याद आ गयी थीं ? निर्जन वसन्त-रात्रि की मिलन-शैया पर किसने तुम्हें भुज-पाशों से बाँध रखा था; और अपने हृदय के अगाध समुद्र में मग्न कर रखा था ? इतनी प्रेम-कथा, राधिका की चित्त विदीर्ण कर देनेवाली तीव्र व्याकुलता तुमने किसके मुँह और किसकी आँखों से चुरा ली थी ? आज क्या इस संगीत पर उसका (कुछ भी) अधिकार नहीं है ? क्या तुम उसी के नारी-हृदय की संचित भाषा से उसी को सदा के लिए वंचित कर दोगे ?]

सूरदास आदि भक्त-कवियों ने अपने लौकिक प्रेम का सर्वस्व भगवान् को समर्पित किया। जो लोग इस रहस्य को नहीं जानते कि "हम जो चीज देवता को दे सकते हैं वही अपने प्रिय को देते हैं—और जो प्रियजन को दे सकते हैं वही देवता को देते हैं ! और हम पायेंगे कहाँ ? देवता को हम प्रिय कर देते हैं, प्रिय को देवता !"—

देवतारे[1] याहा दिते पारि, दिइ ताइ
प्रिय जने, प्रिय जने याहा दिते पाइ
ताइ दिइ देवतारे, आर पावो कोथा ?
देवतारे प्रिय करि, प्रियेरे देवता !

वे सूरदास की कविताओं से नाक-भौं सिकोड़ते हैं। उपाय क्या है ?

5. हिन्दी साहित्य और वैष्णव धर्म

मध्ययुग में भक्ति की एक नयी धारा भारतीय महाद्वीप के इस छोर से उस छोर तक बह गयी और देखते-देखते इस विशाल देश को इस नये रूप में बदल दिया। भाषाशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित डॉक्टर ग्रियर्सन मध्ययुग के इस आन्दोलन के सम्बन्ध में कहते हैं : "बिजली की चमक के समान अचानक इस समस्त (अर्थात् पुराने धार्मिक मतों के) अन्धकार के ऊपर एक नयी बात दिखायी दी। कोई हिन्दू नहीं जानता कि यह बात कहाँ से आयी, कोई भी इसके प्रादुर्भाव का काल निश्चित नहीं कर सकता; किन्तु ये सभी शास्त्रीय ग्रन्थ जो इस (भक्ति) के सम्बन्ध में लिखे गये हैं, और जिनका काल निश्चयपूर्वक बताया जा सकता है, ईसाई सन् के बहुत बाद लिखे गये हैं।" इसीलिए डॉक्टर साहब इस नयी बात का अनुभव कर गये हैं। आपका कहना है कि यह बात मद्रास प्रान्त में आकर बस गये नेस्टोरियन सम्प्रदाय के ईसाइयों से ग्रहण की गयी है।[1]

यही विद्वान् एक दूसरी जगह लिखते हैं—'कोई भी मनुष्य, जिसे पन्द्रहवीं

और बाद की शताब्दियों का भारतीय साहित्य पढ़ने का अवसर मिला है, उस भारी व्यवधान (gap) को लक्ष्य किये बिना नहीं रह सकता जो प्राचीन और नयी (धार्मिक भावनाओं) में विद्यमान है। हम अपने को एक ऐसे धार्मिक आन्दोलन के सामने पाते है, जो उन सब आन्दोलनों से कहीं अधिक विशाल है, जिन्हें भारतवर्ष ने कभी देखा है—यहाँ तक कि वह बौद्ध धर्म के आन्दोलन से भी अधिक विशाल है, क्योंकि इसका प्रभाव आज भी वर्त्तमान है। धर्म ज्ञान का विषय नहीं, 'रस' (emotion) का विषय हो गया था। इस समय से हम साधना और प्रेमोल्लास (mysticism and rapture) के देश में आते हैं और ऐसी आत्माओं का साक्षात्कार करते है जो काशी के दिग्गज पण्डितों की जाति की नहीं हैं, बल्कि जिनका सम्बन्ध मध्ययुग के यूरोपियन मरमी (mystic), बर्नर्ड ऑफ क्लेयरवॉक्स (Bernerd of Clairvaux), थामस-ए-केम्पिस (Thomas-a-Kempis), एखर्ट (Ekhert) और सेंट थेरिसा (St. Therisa) से है।"[1] डॉक्टर ग्रियर्सन के इन दो उद्धरणों से यह स्पष्ट ही प्रकट हो जाता है कि भारतीय मध्ययुग का भक्ति-आन्दोलन संसार के इतिहास में बेजोड़ है। जैसा कि डॉक्टर साहब ने बताया है, इस युग का धर्म, ज्ञान का विषय नहीं, रस का विषय है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि इस युग के धर्म और कला को अलग-अलग रखकर विचार नहीं किया जा सकता। क्या वास्तु-शिल्प, क्या चित्रकला, क्या काव्य, क्या नृत्य और क्या संगीत—सर्वत्र एक ही बात दिखायी देती है; और वह यह कि समस्त भारतीय अन्तरीप एक सिरे से दूसरे सिरे तक भक्ति—विशेषकर वैष्णव-भक्ति—की शक्तिशाली तरंग से आक्रान्त हो उठा था। इस बात का महत्त्व तब और भी बढ़ जाता है जब हम देखते हैं कि इसी युग में भारतवर्ष विदेशी धर्म और विजातीय संस्कृति का करुणाजनक शिकार बना हुआ था।

ग्रियर्सन ही को नहीं, उनके पूर्ववर्ती अनेक पण्डितों को भी यह सन्देह हो चुका है कि भक्ति-आन्दोलन ईसायत की देन है। वेबर और लासेन ने भी यह सन्देह किया था। डॉक्टर साहब की शंकाओं का समाधान हमने इसी पुस्तक में अन्यत्र किया है। ग्रियर्सन साहब के सामने ही संस्कृत-भाषा के प्रकाण्ड पण्डित श्रीयुत (अब डॉक्टर) कीथ ने उनकी प्रायः समस्त युक्तियों का खण्डन कर दिया था।[2] परन्तु जब हम मध्ययुग के उस रहस्यमय युग में एकाएक भक्ति-आन्दोलन के प्रबल स्रोत का अनुमान करते है, तो इन विदेशी पण्डितों के इस विश्वास को आश्चर्यजनक नहीं कह सकते कि भारतीय साधना में भक्ति बाहरी उपादान है। उनका यह

[1 ग्रियर्सन : भक्तिमार्ग, एन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स, वॉ. 2, 1909

2. इन सब बातों की विस्तृत आलोचना के लिए निम्नलिखित कई प्रबन्ध द्रष्टव्य हैं—
   (1) Modern Hinduism and its debt to the Nestorians. (Grierson)
   (2) The Child Krishna, Christianity and the Gujars... (J. R. A. S. 1907).
   (3) उक्त नाम का प्रबन्ध, A. B. Keith, J. R. A. S. 1890

भ्रम स्वाभाविक है। असल बात यह है कि जिस प्रकार मनुष्य के दुर्बल और रोगाक्रान्त होने पर उसकी जीवनी-शक्ति एकाएक प्रबल वेग से जाग पड़ती है, ठीक उसी प्रकार भारतीय संस्कृति के रोगाक्रान्त होने पर उसकी जीवनी-शक्ति, अर्थात् भक्ति-साधना, वेग के साथ जाग पड़ी थी। हम इस प्रश्न के ऊपर फिर विस्तृत विवेचन करेंगे।

हिन्दी-साहित्य पर वैष्णव प्रभाव का अध्ययन एक विशाल कार्य है। मध्ययुग का हिन्दी-साहित्य कुछ थोड़े से अपवादों को छोड़कर समस्त वैष्णव-साहित्य ही है। मिश्रबन्धुओं ने जिन नौ महाकवियों को हिन्दी का 'नवरत्न' माना है, जिनकी संख्या बाद में दस करनी पड़ी है, उनमें से सात तो नख से सिख तक वैष्णव हैं। तीन—चन्द, कबीर और भूषण—और चाहे कुछ भी हो, अ-वैष्णव नहीं है। 'मिश्रबन्धु-विनोद' के प्रथम दो भागों में जिन कवियों की चर्चा है, उनमें पचासी फीसदी पूरे वैष्णव है।[1] शेष में बहुत ही कम अवैष्णव है। साहित्य की धर्म के साथ इस प्रकार की अद्भुत एकात्मता संसार के इतिहास मे विरल नहीं है। परन्तु कुछ ऐसी बातें है जिनके कारण वैष्णव-साहित्य और वैष्णव-साधना की एकता संसार के इतिहास मे एक नयी बात है। वह बात क्या है, यह समझने के लिए हमे इस युग तक के साहित्यिक और धार्मिक विकास की एक साधारण जानकारी आवश्यक है।

भारतीय नाट्यशास्त्र के आरम्भ में ही एक ऐसी कथा आती है जो विद्वानों को चक्कर में डाल देती है। इस कथा के अनुसार देवताओं की प्रार्थना पर ब्रह्मा ने 'नाट्यवेद' नामक पाँचवें वेद की रचना की थी। साधारणतया हिन्दू आचार्य किसी नये शास्त्र की नीव डालते समय उसका सम्बन्ध किसी-न-किसी प्रकार वेदो से जरूर स्थापित करते है। नाट्यशास्त्र की रचना के समय भी यह बात अवश्य प्रस्तुत हुई होगी। परन्तु जब कोई सीधा सम्बन्ध मिलना असम्भव हो गया होगा तब उक्त कथा के बल पर एक पाँचवे वेद की कल्पना आवश्यक समझी गयी होगी। मामला पेचीदा इसलिए हो जाता है कि वस्तुतः वेदो में ऐसे कथोपकथनों की कमी नहीं है जिन्हें आसानी के साथ नाटकों का मूल रूप कह सकते थे; फिर नाट्य-वेद की कल्पना शास्त्रकार ने क्यो की? प्रभावशाली विचार के लगभग सभी यूरोपियन पण्डितों ने इस पर अपनी-अपनी रायें दी हैं।[2] फलतः 'मुण्डे-मुण्डे

1. यह वर्गीकरण इस प्रकार है—

वैष्णव कवि 84.79, सन्त (अर्थात् शास्त्र की परवा किये बिना भक्ति करनेवाले) 3 59, मुसलमान 2.75, जैन 2 74, अन्यान्य 6 13 प्रतिशत।

यह सूची अपूर्ण हो सकती है, क्योंकि कितने ही कवियों के विषय मे ठीक-ठीक नहीं जाना जा सका कि उनकी कविता का विषय क्या है। यह ध्यान देने की बात है कि मुसलमान कवियों मे से अधिकांश वैष्णवभावापन्न हैं और जैनों मे भी कुछ वैष्णव ढंग के कवि हैं।

2. इन मतों के लिए ए. बी. कीथ का 'इंडियन ड्रामा' देखिए।

मतिभिन्ना' तो हो गयी, परन्तु कोई उचित समाधान नहीं हो पाया।

हमारी समझ में इस मामले का इतना पेचीदा हो जाना एक कल्पित किन्तु भ्रमात्मक सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने पर निर्भर है। यूरोपियन पण्डित यह मानकर ही कलम उठाते हैं कि भारतवर्ष में जो कुछ है वह वेदो से ही शुरू होता है। हमें श्री मनमोहन घोष[1] का यह मत ठीक जान पड़ता है कि नाटक इस देश में आर्यों के आगमन के पूर्व ही वर्तमान थे। परन्तु उनमे पात्रो की वातचीत नहीं रहा करती थी, वे अभिनय-प्रधान हुआ करते थे। इन अभिनयों का काम था 'रस' का उद्रेक। आर्य-संसर्ग के बाद अभिनय के साथ-साथ कथोपकथन भी मिल गया। परन्तु नाटक का प्रधान उपकरण अभिनय रहता था और लक्ष्य 'रसनिष्पत्ति'। प्राचीन संस्कृत-नाटको में 'लज्जा नाटयति', 'वृक्षसेचनं नाटयति' आदि प्रयोग इस अनुमान की पुष्टि करते हैं। कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल के प्रसिद्ध टीकाकार राघवभट्ट ने वृक्षसेचन, भ्रमर-बाधा-निवारण आदि अभिनयों की भंगी का भी निर्देश किया है।[2]

रस नाटक का ही विषय था, इस वात का और भी स्पष्ट प्रमाण है आलंकारिकों की रस-सूत्र की व्याख्या। वस्तुतः मम्मट[3] ने जिन आलंकारिकों का मत भारतीय नाट्यसूत्र के सिलसिले में उद्धृत किया है, वे सभी—लोल्लट, शंकुक, भट्ट-नायक और अभिनवगुप्त—नाट्यशास्त्र के ही व्याख्याता है और दर्शक के मन मे रसोद्रेक की वात ही कहते आये है। नाटक में रस की भाँति ही अलंकार स्फुट काव्य का विषय समझा जाता था। यह ध्यान देने योग्य बात है कि अलंकार-सम्प्रदाय के प्राचीनतम आचार्यों—दण्डी और भामह—ने अलंकार को ही प्रधान माना है। रस की चर्चा तो बहुत गौण है। उनकी पुस्तकों से यह अनुमान करना बिल्कुल कठिन नहीं है कि वे रस को काव्य—अर्थात् स्फुट श्लोक—का विषय ही नहीं समझते।[4]

आठवीं शताब्दी के आस-पास अलंकार-शास्त्र में ध्वनिसम्प्रदाय जोर पकड़ता दिखायी देता है।[5] ध्वनि या व्यंग्य को काव्य की आत्मा मानकर और ध्वनि मे भी

1 'अभिनय-दर्पण' की प्रस्तावना XXIII-XXVI
2 देखिए, अभिज्ञान शाकुन्तलम्, राघवभट्ट की टीका (निर्णयसागर)—वृक्षसेचन (पृ. 27), भ्रमरबाधा (पृ. 34), शृंगारलज्जा (पृ. 40), विषाद (पृ. 49), मुखोन्नयनपरिहार (पृ. 109), कुसुमावचय (पृ. 115), प्रसाधन (पृ. 129, 132), गतिभंग (पृ. 139), अवतरण (पृ. 189), रथाधिरोहण (पृ. 222)।
3 'काव्यप्रकाश', चतुर्थ उल्लास।
4 इसीलिए रुय्यक 'अलंकार सर्वस्व', पृ. 7, मे कहते हैं—"तदेवं अलंकार एव काव्ये प्रधान-मिति प्राच्यानां मतम्।"
5 शब्द की तीन शक्तियाँ होती हैं—(1) ... कोश ... का सांकेतिक अर्थ बतानेवाली शक्ति, (2) ... से ... -अर्थ को बतानेवाली शक्ति, और (3) व्यंजना ... सम्बद्ध या असम्बद्ध अन्य अर्थों को व्यंग्य

रस-ध्वनि को सर्वोत्तम स्थान देकर इस सम्प्रदाय ने अलंकारशास्त्र को अभिनव जीवन दिया और एक बड़ा कार्य यह किया कि रस और अलंकार दोनों को नाटक और स्फुट काव्य में समान रूप से उपयोगी बताया। ध्वनि-सम्प्रदाय ने अलंकार-प्रधान काव्य को 'अवर' या अश्रेष्ठ कोटि में रखा। यद्यपि साहित्य-दर्पणकार ने रस को काव्य की आत्मा बताया, परन्तु असल में वे ध्वनि को ही काव्यात्मा समझते रहे। मुख्य बात तो यह है कि पन्द्रहवीं शताब्दी तक ध्वनि-सम्प्रदाय का ही बोल-बाला रहा। 'साहित्य-दर्पण' में शायद सबसे प्रथम इस शास्त्र में नायिका-भेद का प्रवेश हुआ। यद्यपि ध्वनि-सम्प्रदाय के आचार्यों ने 'रस' को काव्य का सर्वश्रेष्ठ उपादान मान लिया था, परन्तु रस को इतना अधिक स्थान नहीं दिया गया कि उसमें नायिका-भेद भी मिला दिया जाय। 'रस' रूपक-विवेचना का प्रधान विषय समझा जाता था और उसी में नायिकाओं का वर्गीकरण भी सम्मिलित रहता था। यह ध्यान देने की बात है कि पन्द्रहवीं शताब्दी में ही नायिका-भेद और अलंकार एक साथ विविक्त हुए। यह शताब्दी वस्तुतः देशी भाषाओं के साहित्य की उन्नति की शताब्दी है।

'साहित्य-दर्पण' के बाद एक ऐसे मत का प्रादुर्भाव दिखायी देता है जो रस के अतिरिक्त अन्य किसी बात को काव्य-विवेचना का विषय समझता ही नहीं, या समझकर भी उसे गौण स्थान देता है। इसी तरह एक दूसरा सम्प्रदाय ऐसा दिखायी देता है जो अलंकार के अतिरिक्त अन्य किसी विषय की परवा नहीं करता। कभी-कभी ऐसा होता है कि एक ही आचार्य इन दोनों विषयों पर अलग-अलग ग्रन्थ लिखता है। परन्तु इस बात का अच्छा अध्ययन करना हो तो संस्कृत को छोड़कर देशी भाषाओं के उदीयमान साहित्य की ओर देखना होगा। यहाँ वह अद्भुत बात दिखायी देती है जो हज़ारों वर्ष के भारतीय इतिहास में बेजोड़ कही जा सकती है। संसार की बात तो हम नहीं जानते,—वह बहुत बड़ा है—पर हमारी जानी हुई दुनिया में यह बात अद्वितीय है। यहाँ हम देखते हैं कि रस—विशेषकर रसों के राजा शृंगार—के आलम्बनों और उद्दीपनों का वर्गीकरण हो रहा है और उनके उदाहरणों के बहाने भगवान् की लीला गायी जा रही है। "आगे के सुकवि रीझिहैं तौ कविताई न तौ राधिका-गुविन्द सुमिरन कौ बहानो है।" अर्थात् कविता करने के बहाने परम-आराध्य का भजन या परम-आराध्य-भजन के बहाने कविता!

→'ध्वन्यालोक' में व्यंग्य अर्थ (ध्वनि) की प्रधानता की युक्तिपूर्वक प्रतिष्ठा की गयी है। ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन इस मत को वैयाकरणों के स्फोटवाद से उद्भूत बताते हैं। परन्तु 'स्फोट' से इसका सम्बन्ध केवल इसलिए बताया गया है कि इस मत को नवीन कह-कर उड़ा न दिया जा सके। जो हो, इसमें कोई सन्देह नहीं कि ध्वनि का जो मर्यादापूर्ण विवेचन इस ग्रन्थ में किया गया है वह इस बात का प्रमाण है कि इसके बहुत पूर्व ही इस मत का अस्तित्व था। स्वयं आनन्दवर्धन ही कहते हैं :

"काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः"

—'ध्वन्यालोक', 1-1

ललित कला के सुकुमार प्राण 'रस' के साथ धार्मिक और दार्शनिक साधना के परम लक्ष्य का इस प्रकार एकीकरण अन्यत्र दुर्लभ है। इस युग की देशी भाषाओं के साहित्य का संसार की साहित्यिक साधना में यही महान् दान (contribution) है।

बंगाल में सर्वप्रथम रूपगोस्वामी ने 'उज्ज्वल नीलमणि' नामक संस्कृत-ग्रन्थ में इस प्रकार से रस का विवेचन किया। रूपगोस्वामी चैतन्य महाप्रभु के भक्तों में से थे। इनका समय पन्द्रहवीं शताब्दी का अन्त और सोलहवीं शताब्दी का प्रारम्भ था। यही पुस्तक संस्कृत में प्रथम बार भक्ति और अलंकार-शास्त्र को एक रूप देकर लिखी गयी। इसके बहुत पहले जयदेव, विद्यापति और चण्डीदास ने क्रमशः संस्कृत, मैथिली और बंगला में राधा-कृष्ण की लीलाओं का गान किया। परन्तु रसशास्त्र के नाम पर नायक-नायिकाओं का प्रथम वर्गीकरण यही था, जिसमें उदाहरण के लिए राधा-माधव की लीलाओं का वर्णन रखा गया। इस ग्रन्थ में उज्ज्वल या मधुररस को, जिसे ग्रन्थकार भक्ति-रस भी कहता है (मधुराख्यो भक्तिरसः 1-3), मनुष्य का परम प्राप्तव्य बताया गया है। मधुर रस के आलम्बन श्रीकृष्ण ही हो सकते हैं, दूसरा नहीं। गौड़ीय वैष्णवों के मत में पाँच रस होते हैं—शान्त, दास्य या प्रीति, सख्य या प्रेम, वात्सल्य और माधुर्य। इसी माधुर्य को उज्ज्वल रस कहते हैं। इसे ग्रन्थकार 'भक्ति-रस-राट्' या भक्ति-रसों का राजा बताता है। इसके बाद बंगाल में नायिकाओं और नायकों के वर्गीकरण के अनुसार पद लिखने की चाल-सी चल पड़ी। परन्तु इस प्रकार की रस-व्याख्या से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि इस सम्प्रदाय का मुख्य विषय कविता नहीं, भक्ति था। हिन्दी में जो रस-ग्रन्थ लिखे गये उनमें भक्ति और कवित्व समान भाव से गुँथे हुए थे। कहीं-कहीं तो कवित्व ही प्रधान है, भक्ति गौण। हम यहाँ सूरदास, तुलसीदास जैसे कवियों की बात नहीं कर रहे हैं; केशव, मतिराम और देव जैसे रस-ग्रन्थकारों की बात कर रहे हैं।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि जिन दिनों उज्ज्वल नीलमणि की रचना हुई उसके कुछ पहले ही हिन्दी में इस प्रकार के ग्रन्थ उपलब्ध थे। उज्ज्वल नीलमणि ने भक्ति-रस की जो सर्वांगपूर्ण व्याख्या की है—वह सर्वांश में नहीं, तो अधिकांश में नवीन है। ऐसा एकाएक नहीं हो सकता। इसके पूर्व इसकी पर्याप्त चर्चा रही होगी। इसी तरह हिन्दी के जिस ग्रन्थ की हम चर्चा करने जा रहे हैं, वह पहला प्रयत्न नहीं जान पड़ता। साधारण धारणा यह है कि केशवदास ही हिन्दी के प्रथम रसाचार्य हैं। परन्तु बात असल में यह नहीं है। कृपाराम नामक एक अन्य कवि ने सन् 1541 ई. में ही रस पर एक सुन्दर ग्रन्थ लिखा था।[1] इस ग्रन्थ का नाम 'हिततरंगिणी' है। "इसमें रसों का विषय बहुत ही विस्तारपूर्वक और मनोहर

1. बरनत कवि सिंगार रस, छन्द बड़े बिस्तार।
मैं बरन्यो दोहानि बिच, याते सुघर बिचार।

छन्दों द्वारा कहा गया है। इस कवि की भाषा कुछ पुरानी है। इन्होंने लिखा है कि अन्य कवि बड़े छन्दों में शृंगार रस का वर्णन करते हैं, परन्तु मैंने दोहों में इसलिए लिखा है कि इनमें थोड़े ही अक्षरों में बहुत अर्थ आ जाता है।[1] इस कथन से प्रकट होता है कि उस समय बहुत-से कवि थे, परन्तु दुर्भाग्यवश उनके ग्रन्थ अब नहीं मिलते।"[2] इसी ग्रन्थ में पहले-पहल राधा-कृष्ण की प्रेम-लीला को उदाहरण-रूप में लिखते पाया जाता है:

जाहु चकोरे ह्वौ गई, नन्दलाल हित लाल।
कुमुद कुमुदिनी के भटू, निरखे औरै हाल॥

यहाँ यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं कि हिन्दी में राधा-माधव की प्रेम-गाथाओं का प्रचार भक्त कवियों के कण्ठ से इसके बहुत पहले हो चुका था। इस श्रेणी के कवि भक्ति के आवेश में ही कविता (गान कहना अधिक ठीक होगा) लिखा करते थे, परन्तु कृपाराम की श्रेणी के आचार्य कविता करने बैठते थे और उस पर भक्ति का पुट डाल देते थे। यह बात ध्यान देने की है कि इस श्रेणी के आचार्यों का वर्गीकरण गौड़ीय वैष्णव की श्रेणी का नहीं है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि यह प्रभाव गौड़ीय वैष्णवों का है। फिर यह बात हिन्दी में आयी कहाँ से ? एक बात ध्यान देने की है, वह यह कि पन्द्रहवी शताब्दी के पहले यह धारा हिन्दी-साहित्य में एकदम अपरिचित है। रसाचार्यों की बात छोड़ भी दी जाय तो भी भक्त-कवियों के गान भी पन्द्रहवी शताब्दी के पहले दृष्टिगोचर नहीं होते।

एक ओर तो इन कवियों और रसाचार्यों पर गौड़ीय प्रभाव का कोई चिह्न नहीं दिखायी देता, दूसरी ओर इस प्रकार के प्रेम-गानों के सभी पुराने रचयिता—जयदेव, विद्यापति, चण्डीदास हिन्दी के किसी भी वैष्णव कवि से पूर्ववर्ती और पूर्वी प्रदेश के ठहरते हैं। राधा-कृष्ण की शृंगार-लीला का अगर कोई सीधा सम्बन्ध कहीं से मिलता है तो इन्हीं पूर्ववर्ती भक्तों से। महाप्रभु चैतन्यदेव—जो जयदेव, विद्यापति और चण्डीदास इन तीनों कवियों के काव्य-रसिक थे—वृन्दावन आये थे और उन्होंने ही उसे नया रूप दिया था। उनके अनेक शिष्य वहाँ आजीवन के लिए रह गये थे और उस सम्प्रदाय के कितने ही भक्त परवर्ती हिन्दी-साहित्य के प्रसिद्ध कवि भी हुए। इस प्रकार पूर्वी प्रदेशों से इस धारा का साक्षात् सम्बन्ध भी दिखायी देता है। इन दो परस्पर-विरोधी बातों का समाधान क्या है ?

यूरोपियन पण्डितों का रास्ता सीधा है। वैष्णव भक्त भी भगवान् को 'पतित-पावन' कहते हैं, 'करुणासिन्धु' कहते हैं, और ईसाई भक्त भी ऐसा ही कहते हैं।

1. मिश्रबन्धु विनोद, पृ. 276 (तृतीय संस्करण, लखनऊ, 1986 वि.)
2. कृपाराम के अतिरिक्त गोप (1615), बलभद्र, और मोहनलाल मिश्र भी [illegible] थे। ये तीनों ही केशवदास के पूर्ववर्ती थे (देखें पं. रामचन्द्र शुक्ल की [illegible] की भूमिका, पृ. 121-22), परन्तु हम नहीं जानते कि इन्होंने भी [illegible] में लीलाओं को उद्धृत किया है या नहीं।

इसीलिए भक्ति ईसाइयत की देन है ! कुछ कहते हैं, यह मद्रास में बसे हुए नेस्टोरियन ईसाइयों की देन है।[1] कुछ कहते हैं, बैक्ट्रिया या इतिकुल हद से आयी है[2] और कुछ कहते हैं यह सूफियों[3] की मध्यस्थता से आयी है। ऐसे लोगों की दृष्टि में संसार में जो कुछ अच्छा है वह यूरोप और ईसाई धर्म में ही है, इसलिए हिन्दुओं ने भक्ति को भी निश्चय ही वहीं से उधार लिया होगा ! "खुल जाओ सुमसुम" और लो, वह दरवाजा खुल गया !

इस स्थान पर यह कह देना उचित होगा कि हिन्दी-साहित्य में भक्तिधारा को बहाने का श्रेय निश्चय ही दो प्रसिद्ध आचार्यों को प्राप्त है। रामभक्ति की धारा के प्रवर्तक आचार्य रामानन्द हैं। इस धारा को दो भागों में विभक्त पाया जाता है। प्रथम में वे सन्त हैं जो शास्त्रों और रूढ़ियों के कायल नहीं हैं। इन्हें निर्गुणवादी भक्त भी कह सकते हैं। कबीर, दादू, नानक, रैदास आदि भक्त इसी श्रेणी के हैं। दूसरी श्रेणी में तुलसीदास-जैसे महात्मा हैं जो भक्तिवाद और शास्त्रों के सामंजस्य के अनुसार साधन-मार्ग का निर्देश करते हैं। कृष्ण-भक्ति की धारा के प्रधान प्रवर्तक महाप्रभु वल्लभाचार्य हैं। परन्तु केवल इतना कह देने से हम सन्तुष्ट नहीं हो सकते। कोई भी मतवाद जब किसी नवीन भूमि में प्रवेश करता है तो वहाँ की रीति-नीति, आचार-विचार से मिलकर एक नया रूप धारण करता है। महाराष्ट्र की भक्ति दूसरी चीज है, उत्तर प्रदेश की दूसरी और बंगाल की कुछ और। इनके मूल सिद्धान्त एक ही हो सकते हैं, परन्तु इनके आचार-प्रकार सर्वथा अलग हैं। रामानन्द-प्रवर्तित रामधारा कबीर में एक रूप धारण करती है और तुलसीदास में दूसरा। जब व्यक्ति-विशेष के कारण साधना का रूप बदल सकता है, तो देश-विशेष के साथ क्यों नहीं बदलेगा ? जो लोग कुछ दाक्षिणात्य आचार्यों के दार्शनिक और धार्मिक मतों का अध्ययन करके ही तुलसीदास और सूरदास के रहस्यों का उद्घाटन करते हैं, वे लोकमत के साथ अविचार करते हैं। जिस भक्ति-साधना ने देव, मतिराम और पद्माकर को पैदा किया, वह किसी आचार्य की ही साधना नहीं थी। आचार्य-विशेष की दीक्षा तो उस पर केवल रंग चढ़ा गयी, मूल कंकाल कुछ और ही था।

हमारा विश्वास है कि ग्यारहवीं से पन्द्रहवीं शताब्दी तक उत्तर-भारत के जन-साधारण में एक साधना विकसित होती जा रही थी। पन्द्रहवीं शताब्दी में वह एकाएक फूट उठी। ग्रियर्सन साहब का यह कहना बिलकुल ठीक है कि "अचानक बिजली के समान यह बात भारतीय अन्तरीप के इस छोर से उस छोर तक चमक गयी।" परन्तु इसके लिए चार सौ वर्ष से मेघ पुंजीभूत हो रहे थे। और केवल बिजली ही नहीं चमकी, पन्द्रहवीं शताब्दी में भक्ति की जो वर्षा आरम्भ हुई, वह चार सौ वर्ष तक बरसती ही रही—जरा भी नहीं रुकी।

1. Modern Hinduism and its debt to the Nestorians (J. R. A. S., 1907)
2. Krishna, Christianity and Gujars. (J. R. A. S., 1907)
3. वही।

इन चार शताब्दियों में जन-साधारण क्या सोच रहा था, यह जानने के पहले भक्ति-आन्दोलन की कुछ मुख्य बातों को ध्यान में रखना होगा। ये बातें इस प्रकार हैं :

1. प्रेम ही परम पुरुषार्थ है, मोक्ष नहीं—प्रेमा पुमर्थो महान् ।
2. भगवान् के प्रति प्रेम कौलीन्य से बड़ी चीज है।
3. भक्त भगवान् से भी बड़ा है।
4. भक्ति के बिना शास्त्र-ज्ञान और पाण्डित्य व्यर्थ है।
5. नाम रूप से भी बढ़कर है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि यह मत ब्राह्मण-धर्म का विरोधी तो नहीं था, परन्तु उसका सम्पूर्ण अनुगामी भी नहीं था। महायान-मत से इसका अन्तर यही था कि वह ब्राह्मण-धर्म का पूर्ण विरोधी था और यह उसका अंग होकर भी स्वाधीन था।

इन चार शताब्दियों मे भारतीय धर्म-मत की क्या अवस्था थी, यह बात हिन्दू धर्म के संस्कृत-ग्रन्थो से बहुत कम समझ पड़ती है। जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, संस्कृत-ग्रन्थों की दृष्टि से यह युग टीकायुग कहा जा सकता है। कोई अच्छा ग्रन्थ अगर इस जमाने मे लिखा गया तो वह टीकाएँ ही थी। धर्मशास्त्रों में व्यवस्था-मूलक अनेक ग्रन्थ लिखे गये जो निश्चय ही टीका श्रेणी मे आते है। इन टीकाओं और निबन्धों से उस युग की भयानक सतर्कता का अनुमान सहज ही किया जा सकता है। जान पड़ता है शास्त्रीय आदेशो के पालन में ज्यों-ज्यों शिथिलता आती जा रही थी त्यों-त्यों ब्राह्मण आचार्य अधिक सतर्क भाव ग्रहण करते जा रहे थे। इन अनुपस्थिति-मूलक (negative) प्रमाणों के बल पर यही अनुमान होता है कि शास्त्रो की व्यवस्थाओं से लोकमत बेपरवा होता जा रहा था। उस युग के ग्राम-गीत और प्रवाद यदि उपलब्ध होते तो हम यह आसानी से जान सकते कि जन-साधारण का मत उस समय क्या था। परन्तु अभी तक, दुर्भाग्यवश, इस दिशा मे कुछ सन्तोषजनक कार्य नही हुआ है।

जो हो, हिन्दी-साहित्य की शैशवावस्था मे ही हमे एक महात्मा के दर्शन होते हैं जो एक विशेष धर्ममत के अन्यतम प्रतिष्ठाता है। ये है गोरखनाथ। आप नाथ सम्प्रदाय के आचार्य थे। यह सम्प्रदाय महायान बौद्धधर्म का उत्तराधिकारी था। तन्त्र और योग की क्रियाएँ इस मत के प्रधान अंग है। कबीरदास पर गोरखनाथ की निर्गुण साधना का प्रभाव स्पष्ट ही लक्षित होता है। हिन्दी-साहित्य के निर्गुण अंग पर इस सम्प्रदाय का पर्याप्त प्रभाव है। परन्तु हम आज उस दिशा की ओर अग्रसर होना नही चाहते। गोरखनाथ का उल्लेख हमने इसलिए किया कि उनका हिन्दी के शैशव-काल में दिखायी देना एक विशेष अर्थ रखता है। नाथ सम्प्रदाय का सीधा सम्बन्ध महायान बौद्धधर्म से है। यह सम्प्रदाय बंगाल से लेकर उत्तरप्रदेश तक बहुत प्रभावशाली हो गया था। हिन्दी-साहित्य के गोरखनाथ, एक ओर उस युग की हिन्दीभाषी जनता का सम्बन्ध महायान बौद्धों से जोड़

है और दूसरी ओर बंगाल से भी सीधा सम्बन्ध स्थापित करते है। यहाँ हम उस युग के समाज का सम्बन्ध देश और काल से स्थापित होते देखते है। सच पूछिए तो उत्तर-कालीन वैष्णव धर्म-मत पर महायान बौद्धधर्म का प्रभाव बहुत अधिक है। जिस प्रकार पुत्र का सम्बन्ध पिता की अपेक्षा माता से अधिक रहता है और जिस प्रकार माता के रक्त-मांस का अधिक भागधेय होकर भी पुत्र पिता के नाम से ही प्रसिद्ध होता है, वैसे ही हिन्दी-वैष्णव-धर्म का सम्बन्ध महायान से अधिक होते हुए भी वह वल्लभाचार्य के नाम से ही पुकारा गया।

महायान बौद्ध धर्म की शाखा आचार्यों की दृष्टि में कितनी भी शून्यवादी क्यों न रही हो, उस धर्म के अनुयायी अधिकांश जन-साधारण में सैकड़ों देव-देवियों की पूजा चल पड़ी थी। उनके देव-देवियों--प्रज्ञापारमिता, अवलोकितेश्वर, मंजुश्री--की मूर्तियाँ बहुत कुछ वासुदेव और लक्ष्मी की मूर्तियों के समान हैं।[1] प्रसिद्ध डॉक्टर कर्न ने बताया है कि वैष्णव भक्तिवाद इन महायानों की भक्ति का ही विकसित रूप है।[2] यहाँ तक कि नाम-संकीर्त्तन भी जिसे ग्रियर्सन साहब[3] ईसाई धर्म का प्रभाव बताते हैं, महायान धर्मवालों की चीज है। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने चीन और भारत के संकीर्त्तनों का साम्य देखकर यह निष्कर्ष निकाला है कि महायान-मत ही संकीर्त्तन-प्रथा का मूल उत्स है। बंगाल के इतिहास से यह बात अलग नहीं की जा सकती कि बौद्ध धर्म के ह्रास होते ही महायान-मत के नाना पन्थ वैष्णवों में शामिल हो गये। इस प्रकार आउल-बाउल आदि अनेक सहजिया पन्थ जिनकी साधना प्रेम-मूलक थी और जो परकीया प्रेम को सहज-साधना का प्रधान उपाय समझते थे, सोलहवीं शताब्दी में नित्यानन्द के वैष्णव झण्डे के नीचे एकत्र हुए। इन्हीं नित्यानन्द को महाप्रभु चैतन्य ने अपने सम्प्रदाय में निमन्त्रित किया और यहीं से गौडीय वैष्णव धर्म ने अभिनव रूप धारण किया।[4] यह धर्ममत समस्त बंगाल और उड़ीसा में तथा अशतः असम में पहुँचा। उड़ीसा के धर्माचार्यों में चैतन्य और नागार्जुन दोनों के मतों के समन्वय से एक विशाल वैष्णव-बौद्ध साहित्य निर्मित हुआ।

नित्यानन्द के साथ जो शक्ति चैतन्य सम्प्रदाय में प्रविष्ट हुई वह नयी नहीं थी। उसके पीछे भी तीन-चार सौ वर्ष का इतिहास था। सौभाग्यवश बंगाल और उड़ीसा में इस प्रकार की कुछ पुस्तकें और लोकगीत उपलब्ध हुए हैं जिनसे उस अन्धतिमिरावृत युग की धार्मिक साधना पर प्रकाश पड़ता है। श्री दिनेशचन्द्र सेन महाशय की धारणा है कि बारहवीं से चौदहवीं शताब्दी तक बंगाल और उड़ीसा में एक अत्यन्त शोचनीय नैतिक दुर्गति का आविर्भाव हुआ था। उस युग के ताम्रशासनों पर हर-पार्वती की वन्दना में उनका हाव-भाव तथा परस्पर आलिंगन आदि का

1. D. C. Sen, Bengali Language and Literature, p. 401 ff.
2. Kern, Manual of Buddhism, p. 124
3. Grierson, Modern Hinduism and its debt to the Nestorians (J. R. A. S., 1907)
4. D. C. Sen; Bengali Language and Literature, p. 403.

रुचि-गर्हित वर्णन माना जाता है। पुरी और कोणार्क के मन्दिरों पर अश्लील चित्र अंकित हैं। बंगीय साहित्य-परिषद् में उस युग की बनी हर-पार्वती की एक बीभत्स प्रस्तर-मूर्ति रखी है। इन प्रमाणों के बल पर यह समझना कठिन नहीं है कि उस युग की रुचि किस ओर थी।। वैष्णव भक्तों में जयदेव ने सर्वप्रथम पुरी के मन्दिर में उस रुचि-गर्हित विलास-प्रथा को आधार मानकर प्रेम-गान लिखे। ये गान विशुद्ध प्रेम के आवेश में ही लिखे गये थे, परन्तु कवि अपने युग की सामाजिक रुचि से बँधा था। परम्परा से तो जयदेव परकीया-भाव के साधक ही समझे जाते है, परन्तु 'गीत गोविन्द' में इसका कोई प्रमाण नहीं है। हम आगे चलकर देखेंगे कि ब्रजभाषा के कवियों पर जयदेव का प्रभाव था।

एक दूसरा और नया प्रमाण आविष्कृत हुआ है जिससे वैष्णव कवियों की प्रेम-साधना का रहस्य प्रकट होता है। रंगपुर, दिनाजपुर आदि उत्तर-बंग के जिलों में, जो हिमालय की तलहटी में बसे हुए है, बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी के कुछ प्रचलित गीत पाये गये हैं। ये गान दो तरह के होते है, अमल धमाली और युगल धमाली। अमल धमाली गान इतने अश्लील होते है कि ये गाँवों के बाहर ही गाये जाते हैं। इन्हे कृष्ण-धमाली भी कह सकते है। "यह कृष्ण-धमाली गाने ही किसी समय बंग देश के जनसाधारण की राधा-कृष्ण की प्रेम-कथा सुनने की तृष्णा मिटाते थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्राचीन राजवंशी जाति और कोची जाति के लोग बहुत काल तक बंगाल के नाना स्थानों में इसकी मन्त्रपूर्वक पूजा करते आये हैं।" कृष्ण-धमाली को संशोधन करने के लिए सुप्रसिद्ध वैष्णव-कवि [illegible] ने 'कृष्ण-कीर्तन' नामक ग्रन्थ लिखा था। यह संशोधित [illegible] भी कम अश्लील नहीं है, इसी से दीनेश बाबू अनुमान करना चाहते हैं कि यह कृष्ण-धमाली कितनी [illegible] रही होगी। इस पुस्तक के अनुसन्धान से हमें यह अनुमान करना सहज हो जाता है, कि किन परिस्थिति में वैष्णव-प्रेम का [illegible] हुआ था।

गोरखनाथ के प्रसंग में हम उस युग के बौद्ध [illegible] का उल्लेख कर चुके हैं। यह [illegible] प्रेम-गानों का प्रभाव ब्रजभाषा के [illegible] गुरु नानक ने जयदेव का नाम लिया है, [illegible] जयदेव के पदों का अनुवाद भी है। [illegible]

किसी चली आती हुई गीत-काव्य-परम्परा का, चाहे वह मौखिक ही रही हो, पूर्ण विकास-सा प्रतीत होता है।" अर्थात् सूरदास के बहुत पहले ही (और इसलिए वल्लभाचार्य के भी बहुत पहले) वैष्णव प्रेम-धारा ने इस प्रदेश में अपनी जड़ जमा ली थी। यहाँ यह बात ध्यान मे रखने योग्य है कि बारहवी से लेकर पन्द्रहवी शताब्दी तक जिस प्रकार का बौद्ध तन्त्रवाद बंगाल और उड़ीसा के पूर्वी प्रान्तों मे प्रबल रहा, वैसा इस प्रदेश मे नही था। मध्य-युग में बंगाल का प्रान्त तन्त्र का अखाडा समझा जाता था। परन्तु वैष्णव प्रेमवाद में कुछ ऐसा रस था जो अवैष्णवों को भी आकृष्ट करता रहा। इसके सबसे ज्वलन्त उदाहरण है विद्यापति। आप स्वयं शैव थे परन्तु प्रेम-साधन की ओर इतने आकृष्ट हुए कि शायद ही कोई वैष्णव कवि बंगाल मे इतने दिनों तक इतना समादृत रहा हो।

बंगाल के बाहर का प्रान्त इस प्रेम से प्रभावित तो हुआ था, पर वह प्रभाव केवल आइडिया का प्रभाव था।[1] वास्तव में बंगाल की भूमि मे परकीया-भाव को ऊँचा रूप देने का उपकरण पहले से ही वर्त्तमान था, ब्रजभाषा-प्रान्तों में यह बात नहीं थी। अर्थात् राधा और कृष्ण-सम्बन्धी प्रेम के गान तो इस प्रदेश में चल पड़े, परन्तु राधा कृष्ण की रानी ही समझी गयी। सूरदास ने राधा और कृष्ण का

→ गगन घहराइ जुरी घटा कारी।
पौन झकझोर चपला चमकि चहूँ ओर
सुवन तन चितै नँद डरत भारी॥
कह्यौ वृषभानु की कुँवरि सो बोलि कै
राधिका कान्ह घर लिये जा री॥
दोउ घर जाहु संग नभ भयो स्याम रँग
कुँवर कर गह्यौ वृषभानु बारी।
गये वन ओर नवल नंदकिसोर
नवल राधा नये कुंज भारी।
अंग पुलकित भये मदन तिन तन जये
सूर प्रभु स्याम स्यामा बिहारी॥

—सूरसागर 1302

1 यह सन्देह करने करने की बात नही है कि मध्ययुग मे यह बात फैलकर कैसे इतनी दूर तक आ सकी थी। जायसी के 'पद्मावत' की रचना के सौ वर्ष के भीतर ही उसका बंगला मे अनुवाद हो गया था। यह अनुवाद आराकान के एक मुसलमान बादशाह ने करवाया था। दादू के जीवन-काल मे ही उनका प्रभाव बंगाल मे फैल गया था। श्री क्षितिमोहन सेन ने बंगाल के बाउलों के गान सुनकर ही पहले-पहल समझा कि दादू जन्म के मुसलमान थे और उनका नाम दाऊद था। चैतन्यदेव के अनन्तर ही गौड़ीय वैष्णव धर्म राजस्थान तक फैल गया। मीराबाई के जीवन-काल मे ही उनके गान पूर्वीय प्रान्तो में गाये जाने लगे थे। बंगाल के गोपीचन्द का गान सौ वर्ष के भीतर-ही-भीतर सुदूर पंजाब तक गाया जाने लगा था और अब भी गाया जाता है। इन बातो के लिए श्री क्षितिमोहन सेन का 'मध्ययुग में राजस्थान और बंगाल का आध्यात्मिक सम्बन्ध' (गौ. ही ओझा अभिनन्दन ग्रन्थ) देखिए।

विवाह बड़ी धूमधाम से कराया है। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने इस आन्दोलन को और जोर दे दिया।

अब हम अलंकार-सम्प्रदाय की बातों पर विचार करेंगे। बंगाल में चैतन्य-युग के बाद ही वैष्णव आलंकारिकों का विकास हुआ है। हम अन्यत्र लिख चुके हैं कि इन आलंकारिकों का कोई भी प्रभाव हिन्दी-आलंकारिकों पर नहीं पड़ा। सच पूछा जाय तो 'रस-ग्रन्थों' की रचना हिन्दी में पहले ही होने लगी थी। व्रजभाषा में गोपियों और कृष्ण की नाना लीलाओं का वर्णन पहले से ही होता आ रहा था। हिन्दी-रसाचार्यों ने उदाहरण के लिए इन लीलाओं को ठीक उसी तरह उद्धृत किया जिस प्रकार मम्मट आदि ने कालिदास के शिव-पार्वती-परिणय सम्बन्धी श्लोकों को उद्धृत किया था। एक नवीनता यह आ गयी कि मम्मट आदि अन्य कवियों की रचना उद्धृत करते थे, पर ये अपनी ही रचना उद्धृत करने लगे। विश्वनाथ कुछ दूर तक इस प्रथा के लिए उत्तरदायी हो सकते हैं। बाद में वर्गीकरण करके कविता करना एक सरल उपाय समझा गया और हिन्दी में रस-ग्रन्थों की बाढ़ आ गयी। हमारा खयाल है कि पण्डितराज जगन्नाथ इस बात में व्रजभाषावालों से प्रभावित हुए थे।

ऊपर हमने जो कुछ कहा है, उसका सारांश यह है कि वैष्णव-धर्म शास्त्रीय धर्म की अपेक्षा लोक-धर्म अधिक है। हिन्दी-साहित्य के लोक-गीतों में इसका प्रवेश वल्लभाचार्य के बहुत पहले हो गया था। इन्हीं गीतों का विकसित और सुसंस्कृत रूप सूरसागर के अन्तर्गत विद्यमान है। अन्य सभी अशास्त्रीय या लोकधर्मो,—बौद्ध, जैन—यहाँ तक कि उपनिषदों के धर्म, की भाँति इसकी जन्मभूमि भी बिहार, बंगाल और उड़ीसा के प्रान्त हैं। वल्लभाचार्य या चैतन्यदेव प्रभृति ने इस लोक-धर्म को शास्त्र-सम्मत रूप दिया। ज्योंही उसने एक बार शास्त्र का सहारा पाया त्योंही विद्युत् की भाँति इस छोर से उस छोर तक फैल गया, क्योंकि असल में उसके लिए क्षेत्र बहुत पहले से ही तैयार था। जब शास्त्र-सम्मत होकर इसने अपना पूरा प्रभाव विस्तार किया तो आलंकारिकों और रसाचार्यों ने भी उसको अपने शास्त्र का आलम्बन बनाया। असल में यह कहीं बाहर से आयी हुई चीज नहीं है। भारतीय साधना की जीवन-शक्ति के रूप में यह धारा नाना रूपों में प्रकट हुई थी। मध्ययुग के वैष्णव-धर्म ने इसे जो रूप दिया वह महायान-भक्ति का विकसित और मार्जित रूप था। इस भक्ति-साहित्य ने संसार के साहित्य में एक नयी वस्तु दान की और वह यह कि आध्यात्मिक तथा कला-सम्बन्धी सभी साधनाओं का लक्ष्य विचित्र रूप से एक है; जो ज्ञान का विषय है, वही भक्ति का और वही रस का।

प्रेम-तत्त्व

1. जयदेव, विद्यापति और चण्डीदास की राधा

सूरदास की कविता का मर्म समझने के लिए उनके पूर्ववर्त्ती तीन कवियों की रचनाओं से तुलना करेंगे। इस तुलना का लक्ष्य किसी कवि का उत्कर्ष-अपकर्ष दिखाना नही है; केवल सूरदास का विशेष दृष्टिकोण स्पष्ट करने-भर से ही यहाँ मतलब है। जिन तीन कवियो की चर्चा की जायगी, वे हैं—जयदेव, विद्यापति और चण्डीदास। ये तीनो ही राधा-कृष्ण के प्रेम में मत्त मधुर रस के उपासक थे। तीनों ही परकीया-भाव से राधा की वर्णना करते है, तीनों ने ही जिस भाषा का आश्रय लेकर कविता की है उस भाषा के साहित्य को धन्य कर दिया है। संस्कृत-वाङ्मय को जयदेव पर अभिमान है, मैथिली को विद्यापति पर नाज़ है और बंगला-साहित्य चण्डीदास पर लट्टू है। चैतन्यदेव इन तीनों कवियों की कविताओं को सुनकर प्रेम-गद्‌गद हो उठते थे। इसलिए इन सुकवियों की कविता के साथ हिन्दी के भक्तिरस की तुलना अनुचित नही होगी।

सबसे पहले इन कवियों की वर्णित राधा को लिया जाय। परम्परा के अनुसार जयदेव राधा की परकीया-भाव से उपासना करते थे, पर उनकी पुस्तक 'गीत-गोविन्द' में इस बात का पोषक प्रमाण नहीं पाया जाता। यहाँ हम देखते हैं कि प्रेम का अबाध वेग है, जिसमें लोक-लाज का कोई स्थान नही है। वसन्त-काल में वासन्ती कुसुमसम सुकुमार अवयवों से सुसज्जिता होकर प्रेम-विह्वला राधिका कृष्ण को पागल की भाँति खोजती फिरती हैं। सखियों से कृष्ण के मिला देने का अनुरोध करते समय वे एक बार कह जरूर जाती है कि 'मुझे उस कृष्ण से मिला दो जो प्रथम समागम से लज्जिता मुझको शत-शत चाटु वाक्यों से प्रसन्न करेंगे—प्रथमसमागमलज्जितया पटु चाटुशतैरनुकूलम्',—पर इस प्रथम समागम की लज्जा में नवोढ़ा की लज्जा नही है। जयदेव की राधा शुरू मे ही कुछ प्रगल्भा-सी जान पड़ती हैं। वह जानती है कि श्रीकृष्ण बहु-वल्लभ है, स्वच्छन्द भाव से अन्यान्य व्रज-सुन्दरियो के साथ रमण कर रहे हैं, तथापि उन्हे कृष्ण चाहिए ही, बिना कृष्ण के जीना असम्भव है। उस 'प्रचुर-पुरन्दर-धनुरनुरंजित-मेदुर-मदिर-सुवेशम्' के बिना विश्वब्रह्माण्ड फीका है; भले ही वह शठ हों, भले ही वह 'गोप-कदम्बनितम्बवती-मुख-चुम्बनलम्भित-लोभ' हों—पर वह मिलें जरूर।

पर विद्यापति की राधा विलास-कलामयी हैं, किशोरी हैं। यौवन का ईषद् उद्‌भेद हुआ है, रूप-लावण्य की दीप्ति से दीप्त हैं। वयःसन्धि की अवस्था है, शैशव और यौवन दोनों मिल गये हैं, आँखों ने कान का रास्ता ले लिया है, वचन मे चातुरी आ गयी है, हँसी की रेखा अधरों पर खेलने लगी है—पृथ्वी पर आसमान का चाँद प्रकाशित हो उठा है:

दौसव यौवन दुहुँ मिलि गेल,
श्रवन क पथ दुहुँ लोचन लेल।
वचन क चातुरी लहु-लहु हास,
धरनीए चाँद करत प्रकाश !

अपूर्व है वह रूप-माधुरी !

छने छने नयन-कोन अनुसरइ।
छने छने वसन धूलि तनु भरइ।
छने छने दसन-छटाछुट हास।
छने छने अधर आगे करु वास ॥

यही नहीं :

जाहाँ जाहाँ पदयुग धरइ,
ताहीं ताहीं सरोरुह भरइ।
जाहाँ जाहाँ झलकत अंग,
ताहाँ ताहाँ बिजुरी तरंग।

किस विधाता ने रचना की है इस बाला की :

सुधामुखि के बिहि निरमिल बाला।
अपरुप रूप मनोभव-मंगल
त्रिभुवन-विजयी माला।
सुन्दर वदन चारु अरु लोचन
काजरे रंजित भेला।
कनक कमल माझे काल भुजंगिनि
शिरियुत खंजन खेला।

सचमुच विद्यापति की राधा एक अपूर्व सृष्टि है ! विधाता ने केवल रूप ही नहीं दिया है, इस रूप के अनुरूप ही हृदय है। वैसी लीला, वैसा ही विभ्रम ! कृष्ण उस रूप-माधुरी को निहारते ही रह जाते है, आशा नहीं पूजती ! आधा आँचल खिसका है, आधे मुँह तक हँसी आकर रुक गयी है, आधी आँखो तक आनन्द-तरग आकर रुद्ध हो गयी है, अर्द्धोद्भिन्न उरोज पर दृष्टि बँध गयी है, आधा ही आँचल भरा हुआ है, फिर प्रेम की ज्वाला से प्रेमी क्यों न दग्ध हो जाय ? मोतियों की भाँति झलकती हुई दसन-पंक्ति पर प्रवाल-अधर मिल गये है और इस रूप और विभ्रम की अवतार किशोरी मृदु भाषा मे बातें कर रही है–इसे देखकर श्रीकृष्ण की आशा कैसे पूजे ?—

आध आँचर खसि आध वदन हाँसि आध हि नयन तरंग।
आध उरज हेरि आध आँचर भरि तन धरि दगधे अनंग।
दसन मुकुता पाति अधर मिलायत मृदु-मृदु कहत हि भाषा।
विद्यापति कह अतए से दुख रह हेरि-हेरि ना पुरल आशा।

विद्यापति की यह राधा नवीन प्रेमोल्लास में विह्वल है—कृष्ण इस रूप पर

मुग्ध हैं। राधा और कृष्ण के संयोग-चित्र को विद्यापति ने बहुत ही सुन्दर अंकित किया है। राधिका का विरह भी हृदय-स्पर्शी है, पर विरह के बाद का मिलन तो अपूर्व है। राधिका का सारा हृदय-सौन्दर्य उसमें फूट पड़ा है :

कि कहब रे सखि आनन्द ओर,
चिर दिने माधव मन्दिर मोर!

बहुत दिनों पर माधव राधिका के मन्दिर में आये हैं। आह, उस आनन्द को राधिका कैसे बतावें! —

दारुन बसन्त जत दुख देल,
हरिमुख हेरइते सब दुख गेल,
पाप सुधाकर जत दुख देल,
पिया मुख दरसने तत सुख भेल।
यतहुँ आछिल मोर हृदयक साध,
से सब पूरल हरि परसाद।
रभस आलिंगने पुलकित भेल,
अधरक पाने विरह दूर गेल॥

महाप्रभु चैतन्य इस पद को पढ़-पढ़कर व्याकुल हो उठते थे :

व्याकुल होइया प्रभु भूमि ते पड़िला!

चण्डीदास की राधा ऐसी नहीं है। उनका हृदय प्रेम से पूर्ण है। श्याम का नाम सुनते ही वे पागल हो जाती हैं। यह मधुर नाम कान में प्रवेश करके उनके मर्म को स्पर्श करता है, नाम जपते-जपते वह कृष्ण को पाने के लिए व्याकुल हो जाती हैं :

सइ, केवा शुनाइल श्याम नाम
कानेर भितर दिया मरमे पशिल गो
आकुल करिल मोर प्रान।
ना जानि कतेक मधु श्याम नामे आछे गो
वदन छाड़िते नाहि पारे।
जपिते-जपिते नाम अवश करिल गो
केमने पाइब सइ तारे।

चण्डीदास की राधा का प्रेम अनुपम है, स्वर्गीय है, इस राधा में जयदेव की प्रगल्भा विलासवती राधा की छाया भी नहीं है, विद्यापति की रूप-मधुरा किशोरी का निशान भी नहीं है; यह विशुद्ध प्रेम की मूर्ति है। चण्डीदास कहते हैं कि हमने ऐसी प्रीति न कहीं देखी है, न सुनी है। दोनों के प्राण प्राणों से बँधे हैं, विच्छेद की भावना से दोनों ही रो रहे हैं, क्षण-भर न देखने से मरण हो जाता है :

एमन पिरीति कभू देखि नाइ शुनि,
पराने परान बाँधा आपनि आपनि।

दुहुँ कोडे दुहुँ कांदे विच्छेद भाविया
तिल आध ना देखिले जाय जे मरिया[1]।

राधा ने कृष्ण को संकेत किया है—मिलने का। अनेक पुण्यफलों का उदय हुआ, प्रीतम मिलने के लिए संकेत-स्थल पर आ गया। इस समय घोर अन्धकार था, भयानक मेघ-वर्षण हो रहा था, फिर भी न जाने कैसे बन्धु (मित्र) आ ही गया। पर हाय, राधा स्वाधीन तो नही है, घर मे गुरुजन है, दारुण ननद है, प्रिय से कैसे मिलन हो! आँगन में बन्धु (प्रिय) भीग रहा है, देखकर छाती फटी जाती है, पर बाहर कैसे आवे? हाय-हाय! संकेत करके प्रिय को कितनी यातनाएँ दी हैं। राधिका बन्धु की प्रीति और उसका दुःख देखकर व्याकुल होकर कहती हैं—ऐसा मन में आता है कि सिर पर कलंक की डाली लेकर घर मे आग लगा दूँ। वह हमारा प्रेमी अपने दुःख को सुख समझता है, केवल हमारे दुःख से दुःखी है :

सई, कि आर वलिव तोरे।
अनेक पुन्यफले, से हेन बंधुया, आसिया मिलल मोरे।
ए घोर रजनी, मेघ घटा बंधू केमने आइल बाटे,
आँगिनार माझे, बंधुया तितिछे, देखिया परान फाटे।
घरे गुरुजन ननदी दारुन, विलम्बे बाहिर होइ नु,
आहा मरि-मरि, संकेत करि, कत ना यातना दिनु।
वंधूर पिरीति आरति देखिया मोर मन हेन करे,
कलंकेर डालि माथाय करिया, आनल भेजाई घरे।
आपनार दुख सुख करि माने आमार दुखे ते दुखी
चण्डीदास कहे, कानुर पिरीत शुनिया जगत् सुखी।

नाना विघ्न-बाधाओं के भीतर से चण्डीदास की प्रेमोन्मादिनी राधा चमक पड़ी हैं। वे विलास की प्रतिमा नहीं है, भक्ति की मूर्त्ति है। कृष्ण की रूप-माधुरी के ध्यान में उनका दिन कट जाता है। मेघों मे प्रियतम का रंग देखकर वे व्याकुल हो जाती है, कोकिल में प्रिय का स्वर-साम्य देखकर वे अपने को भूल जाती हैं। विरह हो या मिलन, सर्वत्र उनमे आत्म-दान की व्याकुलता दिखायी देती है :

सती वा असती, तोमाते विदित भालो मन्द नाहि जानि।
कहे चण्दीदास, पाप-पुन्य सम तोमार चरन खानि।

राधिका की एक ही कामना है, एक ही साध—हे मेरे बन्धु, और मैं क्या कहूँ, जन्म हो या मरण, जन्म-जन्म में तुम्हीं मेरे प्राणनाथ हो। तुम्हारे चरणों ने

1. रीझे परसपर बर नारि।
कंठ भुज भुज धरे दोऊ, सकत नही निवारि।
गौर स्याम कपोल सुललित अधर अम्रित सार।
परसपर दोऊ पिय ह प्यारी रीझि लेत उगार।
प्रान इक द्वै देह कीन्हे भक्ति-प्रीति-प्रकास।
सूर-स्वामी स्वामिनी मिलि करत रंग विलास॥

मेरे प्राणों में प्रेम की फाँस बाँध दी है, सब समर्पण करके एकचित्त होकर मैं तुम्हारी दासी हो गयी हूँ :

> बंधू कि आर बलिव आमि।
> मरने-जीवने, जनमे-जनमे, प्राणनाथ हइओ तुमि।
> तोमार चरने आमार पराने बाँधिल प्रेमेर फाँसि।
> सब समर्पिया एक मन हइया निश्चय हइलाम दासी।

हे मेरे बन्धु, तुम मेरे प्राण हो। देह, मन आदि; कुल, शील, जाति मान—सर्वस्व तुम्हें सौंप दिया है। हे काले, तुम अखिलेश्वर हो, तुम योगियों के आराध्य धन हो। हम गोप-ग्वालिनी तुम्हारा भजन-पूजन क्या जानें! प्रीति-रस में तन-मन ढालकर तुम्हारे चरणों में अर्पण कर दिया है—तुम्ही मेरे पति हो, तुम्ही मेरी गति हो, मेरे मन को और कुछ नहीं भाता। मुझे लोग कलंकिनी कहते हैं, इसका मुझे ज़रा भी दुःख नहीं है। तुम्हारे लिए गले में कलंक का हार पहनने में भी सुख है। सती हूँ या असती, तुमसे कुछ छिपा नहीं है। मुझे भले-बुरे का ज्ञान नहीं; जानती हूँ केवल तुम्हारा चरण। वहाँ पाप-पुण्य समान है :

> बधू तुमि से आमार प्रान।
> देह, मन आदि, तोमारो सँपेछि, कुल शील जाति मान।
> अखिलेर नाथ तुमि हे कालिया, योगीर आराध्य धन।
> गोप गोयालिनी हाम अति हीना, ना जानि भजन पूजन।
> पिरीति रसे ते, ढालि तनु मन, दियाछि तोमार पाय।
> तुमि मोर पति, तुमि मोर गति, मन नाहि आन भाय।
> कलंकी बलिया डाके सब लोके ताहाते नाहिक दुख।
> तोमार लागिया, कलंकेर हार गलाय परिते सुख।
> सती वा असती, तोमाते विदित, भालो मन्द नाहि जानि।
> कहे चण्डीदास पाप-पुन्य सम, तोहारि चरण खानि।

केवल राधा ही नहीं, कृष्ण भी प्रेम की मूर्ति है। प्रिय के संकेत पर वे आग में कूद सकते हैं, समुद्र में झाँप दे सकते हैं। भयानक काल-रात्रि और निविड़ मेघ-वर्षण उस प्रेममयी के सामने कुछ भी नहीं है। जहाँ इस प्रकार का प्रेम हो वहाँ मान कैसा? कृष्ण के लिए संसार राधामय है। घर में, वन में, शयन में, भोजन में—जहाँ देखो तहाँ राधा ही राधा :

> गृह माझे राधा, काननें ते राधा, सकले राधारे देखि।
> शयने भोजने गमने राधिका, राधिका सद्‍‍ ।

राधा के लिए भी :

> श्याम सुन्दर श्‍ श्या
> श्याम से ज
> श्याम धन-बल,
> श्याम हेन धन अ

सचमुच भाग्य से ऐसा धन मिलता है। ऐसे प्रियतम के ऊपर अभिमान कैसे हो? मान करके राधा अगर बैठ भी गयीं तो कृष्ण का आकर फिर जाना असह्य हो उठता है। हाय, वह नयनों का तारा हमारी ही गलती से चला गया! मैंने अपना सिर अपने हाथों काट दिया। हाय-हाय, मैंने मान क्यों किया था! हे सखि, भला वह (निराश) नटवर नागर किधर चला गया? जिस कान्ह के लिए तप और व्रत करती रहती हूँ वही मेरा अमूल्य धन मेरे पैरों पर लोट रहा था, पर हाय, मैंने पैरों से ठेल दिया! —

आपन शिर हम आपन हाते काटिनू काहे करिनू हेन मान।
श्याम सुनागर नटवर शेखर काहाँ सखि करिल पयान।
तप वरत कत करि दिन यामिनी जो कानूको नही पाय।
हेन अमूल्य धन मझू पदे गड़ायल कोपे मुजि ठेलिनु पाय।

अपूर्व तन्मयता है इस राधिका में! कृष्ण के विरह में वह योगिनी हो जाती है। हाय, कैसी है यह व्यथा! एकान्त में बैठी रहती है, किसी की बात नहीं सुनती, सदा मेघों की ओर टकटकी लगाये रहती है, खाना-पीना छोड़ दिया है—एकदम योगिनी हो गयी है:

आलो राधार कि हलो अन्तरे व्यथा।
वसिया विरले थाकइ एकले ना शुने काहारो कथा।
सदाइ छ्याने चाहे मेघ पाने ना चले नयनेर तारा।
विरति आहारे रांगावास परे येन योगिनीर पारा[1]।

विद्यापति और चण्डीदास की राधिका की तुलना कवि-कुल-गुरु रवीन्द्रनाथ ने इस प्रकार की है—"विद्यापति की राधिका में प्रेम की अपेक्षा विलास अधिक है, इसमें गम्भीरता का अटल स्थैर्य नहीं है। है केवल नवानुराग की उद्‌भ्रान्त लीला और चांचल्य। विद्यापति की राधा नवीना हैं, नवस्फुटा है। हृदय की सारी नवीन वासनाएँ पंख फैलाकर उड़ना चाहती है, पर अभी रास्ता नहीं मालूम।

1. तुलनीय—

क्यो राधा नहिं बोलति है!
काहे धरनि परी व्याकुल ह्वै, काहे नैन न खोलति है?
कनक-बेलि-सी क्यों मुरझानी क्यों बनमांहि अकेली है?
कहाँ गये मनमोहन तजि कै काहे बिरह दहेली है?
स्याम-नाम स्रवननि धुनि सुनि कै सखियन कंठ लगावति है।
'सूर'-स्याम आये यह कहि-कहि ऐसे मन हरषावति हैं।

और—

राधे कत निकुंज ठाढ़ी रोवति।
दूइ जोति मुखारबिन्द की चकित चहूँ दिसि जोवति।
द्रुम साखा अवलम्ब बेलि गहि नख सों भूमि खनोरति।
मुकुलित कच तन धन की ओट ह्वै अँगुरनि चीर निचोवति।
सूरदास प्रभु तजो गर्व ते भये प्रेम गति रोवति।

कुतूहल और अनभिज्ञतावश वह जरा अग्रसर होती हैं, फिर सिकुड़े आँचल की ओट मे अपने एकान्त कोमल घोसले में फिर आती है। कुछ व्याकुल भी हैं, कुछ आशा-निराशा का आन्दोलन भी है, किन्तु चण्डीदास की राधा मे जैसे 'नयन चकोर मोर पिते करे उतरोल, निमिखे निमिख नाहि सय' है, विद्यापति में उस प्रकार का उतरोल (उतरल = चंचल) भाव नही है, कुछ-कुछ उतावलापन अवश्य है। नवीना का नया प्रेम जिस प्रकार मुग्ध, मिश्रित, विचित्र कौतुक-कुतूहल-पूर्ण हुआ करता है, उससे इसमे कुछ भी कमी नही है। चण्डीदास गम्भीर और व्याकुल हैं, विद्यापति नवीन और मधुर।" दीनेश बाबू कहते है कि "विद्यापति-वर्णित राधिका कई चित्रपटो की समष्टि है। जयदेव की राधा की भाँति इसमें शरीर का भाग अधिक है, हृदय का कम। किन्तु विरह में पहुँचकर कवि ने भक्ति और विरह का गान गाया है। उसके फ़ेम मे बँधी हुई विलास-कलामयी राधा का चित्रपट सहसा सजीव हो उठा है···विद्यापति की राधिका बड़ी सरला है, बड़ी अनभिज्ञा।···चण्डीदास की राधिका—प्रथम ही उन्मादिनी वेश में आती हैं; प्रेम के मलय-समीर मे उनका विकास हुआ है। इसके बाद प्रेम की विह्वलता, कितना कातर अश्रु-सम्पात, कितना दुःख-निवेदन, कितनी कातरोक्ति! प्रेम के दुःख का परिशोध है अभिमान, किन्तु वह तो केवल आत्मवंचना है। चण्डीदास की राधा मे मान करने की क्षमता भी नही है। दसों इन्द्रिय तो मुग्ध है, मन मान करे कैसे? यह अपूर्व तन्मयता है।" धन्य हो चण्डीदास! तुम्हारी कविता धन्य है, तुम्हारी राधा धन्य हैं, तुम्हारे कृष्ण धन्य है और धन्य हैं हम लोग जो तुम्हारे साहित्य-पीयूष का पान कर सकते हैं।

2. सूरदास की राधा

जयदेव कहते है कि "यदि हरि-स्मरण में मन सरस हो, यदि विलास-कला में कुतूहल हो, तो जयदेव की मधुर, कोमल, कान्त पदावली को सुनो":

> यदि हरिस्मरणे सरसं मनो यदि विलासकलासु कुतूहलम्।
> मधुरकोमलकान्तपदावली शृणु तदा जयदेवसरस्वतीम्।

और कोई भी रसिक जिसने इस सरस्वती का रसास्वादन किया है, जयदेव की बात में रत्ती-भर भी सन्देह नही करेगा। जयदेव की राधा विलास-कला के कुतूहल को निःसन्देह दूर कर सकती हैं। विद्यापति की नवीन प्रेम-भरी कविता भी आपके इस कुतूहल को दूर कर सकती है। उसके गज-गमन से, उसके अपांग-वीक्षण से, उसके इन्द्रजाली पुष्पवाणों से, उसके चम्पे के फूलों की रस्सी जैसे बाहु-पाश से, उसके सुमधुर बैन से, उसके शरद्‌चन्द्राभ मुख-मण्डल से, जगत्पति का मनोमयूर नाच उठता है। उस अकाम की कामना पूरी हो जाती है:

> गेलि कामिनी गजहु गामिनी बिहसि पलटि निहारि।
> इन्द्रजालक कुसुम सायक कुहक भेलि वर नारि।

जोरि भुज जुग मोरि वेढल ततहि वयन सुछन्द।
दाम चम्पके काम पूजल जैसे शारद चन्द।

पर चण्डीदास की राधा में ये सब बातें बहुत कम है। उस मक्खन की पुतली को गलते देर नहीं। कान्ह ही उसके प्राण है, कान्ह ही जाति, कान्ह ही जीवन। कान्ह उसकी दोनों आँखों की तारा है। वह प्राण से भी अधिक हृदय की पुतली हैं जिसके खो जाने की आशंका उन्हें क्षण-क्षण पर व्याकुल कर देती है :

कानू से जीवन जाति प्रान धन, ए दुटि आँखिर तारा।
परान अधिक हियार पुतली निमिखे-निमिखे हारा।

विद्यापति की राधा ईषदुद्भिन्नयौवना है, जयदेव की पूर्ण विलासवती, प्रगल्भा और चण्डीदास की राधा उन्मादमयी, मोम की पुतली। ते तीनों ही धन्य हैं; पर और भी धन्य है वह बाल-किशोरी, वह 'लाल की बतरस लालच से मुरली लुका' धरनेवाली, वह 'आँख-मिचौनी मे बड़री अँखियान के कारण बदनाम' बरसाने की छबीली वृषभानु-लली। वह बालिका है, वह किशोरी है, वह ग्वालिनी है, वह व्रजरानी है। शोभा उस पर सौ जान से निसार है, शृंगार उसका गुलाम है, त्रैलोक्यनाथ उसकी आँखों की कोर के मुहताज हैं, फिर भी वह तद्गत-प्राणा है। विरह में वह करुणा की मूर्ति है, मिलन में लीला का अवतार। प्रेमी के सामने वह सरल है; गाती है, नाचती है, हिण्डोले पर झूलती है—अपने को एकदम भूल जाती है। प्रेम की गम्भीरता आनन्द-कल्लोल से भर जाती है, पर विरह मे वह गम्भीर है और गोपियो की तरह उसमें उतावलापन नही रहता। वह सच्ची प्रेमिका है। सूरदास की राधा तीन लोक से न्यारी सृष्टि है—अपूर्व, अद्भुत, विचित्र। सुनिए, उसकी सौन्दर्य-कथा :

सुनि मोहन, तेरी प्राण पिया को वरणौं नन्दकुमार।
जो तुम आदि अन्त मेरो गुन मानहु यह उपकार।
चंद्रमुखी भौहें कलंक बिच चन्दन तिलक लिलार।
मनु बेनी भुवंगिनी परसत स्रवत सुधा की धार।
नैन मीन सरवर आनन में चंचल करत बिहार।
मानो कर्नफूल चारा कौं रवकत वारंवार।
बेसरि वनी सुभग नासा पर मुक्ता परम सुढार।
मनु तिल-फूल अधर बिंबाधर दुहुँ बिच बूँद तुपार।
सुठि सुठान ठोढ़ी अति सुंदर सुंदरता को सार।
चितवत चुअत सुधा-रस मानो रहि गइ बूँद मँझार।
कंठसिरी उर पदिक विराजत गज-मोतिन के हार।
दहिनावर्त देत मनु ध्रुव को मिलि नक्षत्र की मार।
कुच-युग कुंभ सुढि रोमावलि नाभि सु हृद आकार।
जनि जल सोरि लयो सो सविता जोवन गज मतवार।
रतन-जटित गजरा बाजूबंद सोभा भुजनि अपार।

लिए तुम्हारे साथ रहने को जी चाहता है—'सूधी निपट देखियत तुमको तातें करियत साथ।' मगर ऐ सूरदास, इनको निपट सीधा न जानना, ये केवल बनवारी नही है, श्याम और श्यामा दोनो ही नागर और नागरी है, सुनते रहो इनकी मिलन कथा—'सूर श्याम नागर उत राधा नागरि दोउ मिलि गाथ।'

फिर धीरे-धीरे यह प्रेम गाढ़ से गाढ़तर हो जाता है। आँखो को विश्राम नही, सैन पर सैन चलते है, तिल-मात्र का वियोग भी असह्य हो उठता है। श्याम के प्रथम इशारे के मादक दर्शन से राधिका के कनक-कपोल व्रीडा के आवेग से रक्तिम हो उठते हैं। यह प्रथम संकोच का उदय हुआ है। इसके पहले बहुत-से गुडियो के खेल खेले जा चुके है; परन्तु यह रक्तिमा तो आज ही की है। कितनी स्वर्गीय है यह :

कनक बदन सुढार सुन्दरी सकुचि मुख मुसकाइ।
स्याम प्यारी नैन राचे अति बिसाल चलाइ।
सूर प्रभु के बचन सुनि सुनि रही कुँवरि लजाइ।

घर मे अब अच्छा नही लगता, चित्त सब समय गोष्ठ मे ही आबद्ध है, खान-पान भूल गया है, कभी हँसती है, कभी रोती है, माँ-बाप का भय भी लगा है, अब दोहनी लेकर गोष्ठ में जाने की बड़ी उत्कण्ठा है :

नागरि मन गई अरुझाइ।
अति विरह तनु भई ब्याकुल घर न नेकु सुहाइ।
स्याम सुंदर मदनमोहन मोहिनी-सी लाइ।
चित्त चचल कुँवरि राधा खान-पान भुलाइ।
कबहुँ बिलपति कबहुँ बिहँसति सकुचि रहति लजाइ।
मातु पितु को त्रास मानति मन बिना भइ बाइ।
जननि सों दोहनी माँगति बेगि दै री माइ।
सूर प्रभु को खरिक मिलिहौ गये मोहिं बुलाइ।

इधर श्याम भी दोहनी के लिए व्याकुल है। श्याम और श्यामा दोनों हो खरिक मे दोहनी लिये पहुँच गये। नन्द ने कहा—दोनों यही खेलो, दूर न जाना। फिर क्या था, 'जो रोगी को भावे, सो बैदा बतावे।' राधिका ने कहा, 'सुनी तुमने नंद बाबा की बात? खबरदार, मुझे छोड़के जाना मत, जरा भी हटे कि पकड़ लाऊँगी। अच्छा हुआ जो हमको सौप गये। अब तुम्हे मैं छोड़ने की नही। तुम्हारी बाँह पकड़के तुम्हारी रखवाली करूँगी, नही तो अम्मा खीझेंगी।' श्याम ने कहा—'राधा, मेरी बाँह छोड़ दे!' यह बाल-केलि है। दोनो को पता नही कि वे किस ओर बहे जा रहे हैं। परन्तु, सूरदास से यह बात छिपी नही है कि यह भी प्रेम की घातें हैं—प्रेम, जो भविष्य मे सान्द्र माधुर्य मे परिणत होगा :

नन्द बबा की बात सुनो हरि।
मोहिं छाँड़िकैं कबहुँ जाहुगे ल्याऊँगी तुमको धरि।
भली भई तुम्हे सौंपि गये मोहि जान न दैहौ तुमको।
बाँह तुम्हारी नेक न छाड़िहौ महरि खीझि है हमको।

फूँदा सुभग फूल फूले मनु मदन विटप की डार।
छीन लक कटि किंकिनि की धुनि बाजत अति झनकार।
मौर बाँधि बैठ्यो जनु दूलह मन्मथ आसन तार।
जुगल जंघ जेहरि जराव की राजति परम उदार।
राजहंस गति चलति कृसोदरि अति नितम्ब के भार।
छिटकि रह्यो लहँगा रँग तनसुख सारी तन सुकुमार।
सूर सुअग सुगन्ध समूहनि भँवर करति गुंजार।

सूरदास की राधा केवल विलासिनी नहीं हैं। श्रीकृष्ण के साथ उनका केवल युवाकाल का सम्बन्ध नहीं है, वे परकीया नायिका भी नहीं हैं। बहुत छोटी उम्र से वे श्रीकृष्ण के साथ गुड़ियों के खेल खेल चुकी हैं, घण्टों अपने घर न जाकर नन्द बाबा के घर मे आँख-मिचौनी खेलकर समय काट चुकी हैं। उस बारी वय में ही एक गाढ़ प्रेम का आभास पाया जाता है जो खेल में, हँसी में, मान मे, अपमान मे, रोदन मे विचित्र भाव से विकसित हो उठा है। पहले ही दिन जब बालक कृष्ण खेलने के लिए ब्रज की गलियों मे निकलते हैं, इस अल्पवयस्का सखी को देखकर रीझ जाते हैं, नैन नैनों से मिल जाते है, ठगौरी पड़ जाती है—वह स्वर्गीय प्रेम है, वासना से रहित, निर्मल, विशुद्ध :

खेलन हरि निकसे ब्रज खोरी।
कटि कछनी पीताबर ओढ़े हाथ लिये भौंरा चक डोरी।
मोर मुकुट कुंडल स्रवनन वर दसन दमक दामिनि छबि थोरी।
गये स्याम रवि-तनया के तट अंग लसति चन्दन की खोरी।
औचक ही देखी तहँ राधा नयन बिसाल भाल दिये रोरी।
नील बसन फरिया कटि पहिरे बेनी पीठ रुलति झकझोरी।
संग लरिकनी चलि इत आवति दिन थोरी अति छबि तन गोरी।
सूर स्याम देखत ही रीझे नैन नैन मिलि परी ठगोरी।

यह पहला दर्शन था। श्याम ने श्यामा को देखा। कैसा सुन्दर था वह रूप! गोरा शरीर, नीला वस्त्र और पीठ पर वेणी। अल्पवयस, आँखें विशाल और माथे पर रोरी। श्याम की आँखें श्यामा की आँखों में अटक गयी। यह उलझन युवा-अवस्था की नहीं थी जिसमे वाक्य रुद्ध हो जाते है; यह बाल्यकाल की स्वर्गीय उलझन थी, जिसमें न झिझक है, न संकोच। श्याम ने कहा—क्योंजी, तुम हमारे साथ खेलने क्यो नहीं चलती, हम तुम्हारा कुछ चुरा लेंगे?—'तुम्हरो कहा चोरि हम लैहैं खेलन चलौ संग मिलि जोरी।' और फिर :

प्रथम सनेह दुहुँन मन जान्यौ।
सैन सैन कीनी सब बातें गुप्त प्रीति सिसुता प्रगटान्यौ।

श्याम ने कहा—सखी, हमारे घर आकर मुझे खेलने को बुला लेना। तुम्हें वृषभानु बाबा की सौगन्ध, सुबह-शाम एक बार जरूर आना—'तुमहि सौंह वृषभानु बबा की प्रात-साँझ एक फेर।' हाँ जी, तुम बड़ी सीधी जान पड़ती हो, इस-

लिए तुम्हारे साथ रहने को जी चाहता है—'सूधी निपट देखियत तुमको तातैं करियत साथ।' मगर ऐ सूरदास, इनको निपट सीधा न जानना, ये केवल वनवारी नही है, श्याम और श्यामा दोनों ही नागर और नागरी है, सुनते रहो इनकी मिलन कथा—'सूर स्याम नागर उत राधा नागरि दोउ मिलि गाथ।'

फिर धीरे-धीरे यह प्रेम गाढ़ से गाढतर हो जाता है। आंखो को विश्राम नही, सैन पर सैन चलते हैं, तिल-मात्र का वियोग भी असह्य हो उठता है। श्याम के प्रथम इशारे के मादक दर्शन से राधिका के कनक-कपोल व्रीड़ा के आवेग से रक्तिम हो उठते हैं। यह प्रथम संकोच का उदय हुआ है। इसके पहले बहुत-से गुड़ियों के खेल खेले जा चुके हैं; परन्तु यह रक्तिमा तो आज ही की है। कितनी स्वर्गीय है यह :

कनक वदन सुढार सुन्दरी सकुचि मुख मुसकाइ।
स्याम प्यारी नैन राचे अति विसाल चलाइ।
सूर प्रभु के वचन सुनि सुनि रही कुँवरि लजाइ।

घर में अब अच्छा नही लगता, चित्त सब समय गोष्ठ मे ही आवद्ध है, खान-पान भूल गया है, कभी हँसती है, कभी रोती है, माँ-बाप का भय भी लगा है, अब दोहनी लेकर गोष्ठ में जाने की वड़ी उत्कण्ठा है :

नागरि मन गई अरुझाइ।
अति विरह तनु भई ब्याकुल घर न नेकु सुहाइ।
स्याम सुंदर मदनमोहन मोहिनी-सी लाइ।
चित्त चंचल कुँवरि राधा खान-पान भुलाइ।
कबहुँ विलपति कबहुँ विहँसति सकुचि रहति लजाइ।
मातु पितु को त्रास मानति मन विना भइ बाइ।
जननि सों दोहनी माँगति वेगि दै री माइ।
सूर प्रभु कों खरिक मिलिहौं गये मोहिं बुलाइ।

इधर श्याम भी दोहनी के लिए व्याकुल है। श्याम और श्यामा दोनो ही खरिक मे दोहनी लिये पहुँच गये। नन्द ने कहा—दोनो यही खेलो, दूर न जाना। फिर क्या था, 'जो रोगी को भावे, सो वैंदा बतावे।' राधिका ने कहा, 'सुनी तुमने नंद बाबा की बात ? खबरदार, मुझे छोड़के जाना मत, जरा भी हटे कि पकड़ लाऊँगी। अच्छा हुआ जो हमको सौप गये। अब तुम्हे मैं छोड़ने की नहीं। तुम्हारी बाँह पकड़के तुम्हारी रखवाली करूँगी, नही तो अम्मा खीझेंगी।' श्याम ने कहा —'राधा, मेरी बाँह छोड़ दे!' यह बाल-केलि है। दोनों को पता नही कि वे किस ओर बहे जा रहे है। परन्तु, सूरदास से यह बात छिपी नही है कि यह भी प्रेम की घातें हैं—प्रेम, जो भविष्य मे सान्द्र माधुर्य मे परिणत होगा :

नन्द बबा की बात सुनौ हरि।
मोहिं छाँड़िकै कबहुँ जाहुगे ल्याऊँगी तुमको धरि।
भली भई तुम्हे सौंपि गये मोहि जान न दैहौ तुमको।
बाँह तुम्हारी नेक न छाड़िहौ महरि खीझि है हमको।

मेरी बाँहि छाँड़ि दै राधा करन उपरफट बातें।
सूर स्याम नागर नागरि सों करत प्रेम की घातें।

धन्य हो सूरदास ! तुम्हारी भविष्यद्वाणी सच निकली। उस मेघ-मेदुर सन्ध्या को नन्द ने राधिका से कहा—बेटी, स्याम को घर ले जा। दोनों ने सघन कुंज का रास्ता लिया :

गगन घहराइ जुरी घटा कारी।
पौन झकझोर, चपला चमकि चहूँ ओर, भुवन तन चितै नन्द डरत भारी।
कह्यो वृषभानु की कुँवरि सों बोलिकै राधिका कान्ह घर लिए जा री।
दोऊ घर जाहु संग गगन भयो स्याम रंग कुँवर कर गह्यो वृषभानु बारी।
गये वन घन ओर नवल नन्दकिशोर नवल राधा नये कुंज भारी।
अंग पुलकित भये मदन तिन तन जए सूर प्रभु स्याम स्यामा बिहारी[1] ॥

इस प्रकार 'नवल गुपाल नवेली राधा नये प्रेम-रस पागे' और इस नये प्रेम की धारा-सार वर्षा से सूरसागर उद्वेलित हो उठा है :

कबहुँक बैठि अंस भुज धरिकै पीक कपोलनि दागे।
अति रस-रासि लुटावत लूटत लालच लगे सभागे॥

× × ×

अपनी भुजा स्याम भुज ऊपरि स्याम भुजा अपने उर धरिया।
यों लपटाइ रहे उर-उर ज्यों मरकत मणि कंचन में जरिया॥

× × ×

चूमत अंग परसपर जनु जुग चंद करत हित बार।
रसन दसन भरि चापि चतुर अति करत रंग विस्तार॥

यही सूरदास विद्यापति और चण्डीदास की समान भूमि पर आते हैं। विद्यापति की राधा और चण्डीदास की राधा इसके पहले नहीं दिखायी देतीं। बाल-केलि की वर्णना में सूरदास अकेले हैं—unique। पर इस समान भूमि पर भी सूरदास की अपनी विशेषता है। राधा और कृष्ण का मिलन एकदम अनूठा है। इसमें चिन्ता नहीं, आशंका नहीं, भीति नहीं। चण्डीदास की राधा मिलन में भी विरह के त्रास से भीत हो उठती है, पद-पद पर विरह का भय, कलंक का भय, जुदाई की जलन ! यही भय बराबर मन में लगा रहता है कि न जाने कान्ह का प्रेम कब तिल-भर के लिए भी छूट जायगा :

एइ भय उठे मने एइ भय उठे।
ना जानि कानूर प्रेम तिले जानि छुटे॥

प्रेमी को देखकर अभी-अभी हृदय जुड़ा जाता है, पर दूसरे ही क्षण काँप उठता

1. तुलनीय…

मेघैर्मेदुरमम्बरं वनभुवः श्यामास्तमालद्रुमैर्नक्तं
भीरुरयं त्वमेव तदिमं राधे गृहं प्रापय।
इत्थं नन्दनिदेशतश्चलितयोः प्रत्यध्वकुंजद्रुमं
राधा-माधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहः केलयः॥ —जयदेव

है उसकी अमंगल की आशंका से। ऐ सखियो, श्याम अंग के शीतल पवन-स्पर्श से मेरा हृदय शीतल हो गया, तुम लोग यमुना-जल मे स्नान करो ताकि उस पुण्य-फल से मेरे प्यारे का सारा अमंगल दूर हो जाय'

सई जुड़ाइल मोर हिया,
श्याम अंगेर शीतल पवन ताहार परश पाइया।
तोरा सखिगन करह सिनान आनि यमुना नीरे।
आमार बन्धुर यत अमंगल सकल याउक दूरे।

उधर विद्यापति की राधा प्रिय-मिलन का वर्णन करते-करते आनन्द-गद्गद हो उठती हैं, वह पिया की पिरीति कह भी नही सकती। अफसोस, ब्रह्मा ने उन्हें लाखो मुँह नही दिये। कैसी है वह प्रीति? "पिया ने मुझे हाथ पकड़कर गोद में बैठाया और मेरे शरीर में सुगन्ध और चन्दन का लेप किया। अपने हृदय की मालती-माला उतारकर यत्नपूर्वक मेरे कण्ठ मे पहना दी। अनुपम रूप से मेरे लम्बे केश बाँध दिये, उसमे चम्पे के फूलों की रस्सी लपेट दी। मधुर-मधुर दृष्टि से मुँह निहारने लगा, आनन्द-वाष्प से उसकी आँखें भर आयी।" विद्यापति कहते है कि यह प्रसंग चलाते समय राधिका रात के रस-रंग मे भूल गयी:

पियाक पिरीति हम कहइ नइ पार,
लाख बयान विहि ना देह्य हमार।
करे धरि पिया मोर वइठावल कोर,
सुगन्धि चन्दने तनु लेपक मोर।
आपन मालति माला हियासे उतारि,
कंठे पहिरावल यतने हमारि।
फूयल कबरी बान्धई अनुपाम,
ताहे वेढ़यल चम्पक दाम।
मधुर-मधुर दिठि हेरय बयान,
आनन्द जले परिपूरल नयान।
भनय विद्यापति इह परसंग,
धनि मूलल कह इते रजनी क रंग॥

मगर समग्र सूर-साहित्य में एक स्थान पर भी शायद राधिका का इस प्रकार का उच्छ्वसित रूप नही मिलेगा। प्रेम की उस आकण्ठपूर्ण कलशी मे कभी भी छलक नहीं आयी। क्षण-भर के लिए विद्यापति की समान भूमि पर आकर सूरदास फिर अपने स्वाभाविक मार्ग पर आ जाते हैं। वही दिन-भर कृष्ण के साथ हास-विलास, मुरली की चोरी, माखन की बँटाई और आँखो की लड़ाई। यशोदा राधिका का वेश सँवार देती हैं, कृष्ण के साथ खेलने की आज्ञा देती हैं, युगल-मूर्त्ति का सारा दिन हँसी-खुशी में कट जाता है। न अमंगल की आशंका है, न प्रेम का उच्छ्वास, यह सृष्टि अद्भुत है। राधिका देर से घर पहुँचती हैं, माता को नये प्रेम का सन्देह होता है; माता डाँटती है:

ताहि कह्यो सुख दै चलि हरि को हौ आवति हौं पाछे।

और फिर वह श्रृंगार किया—जिसका नाम !

रत्न-जटित गजरा बाजूबंद शोभा भुजन अपार
फूंदा सुभग फूल फूले मनों मदन विटप की डार।
छिटकि रह्यो लहँगा रँग ता सँग तन सुखवत सुकुमार
सूर सुअंग सुगंध समूहनि भँवर करत गुजार।

मगर इस मान की सारी दृढता इस विश्वास पर निर्भर है कि कृष्ण उनके और उन्ही के है। यही मानिनी कृष्ण के मथुरा-गमन के बाद :

आजु रैनि नहिं नीद परी।
जागत गनत गगन के तारे रसना रटत गोविंद हरी।
वह चितवन वह रथ की बैठन जब अक्रूर की बाँह गही।
चितवत रही ठगी-सी ठाढ़ी कहि न सकति कछु काम-दही।
इतनो मन व्याकुल भयो सजनी आरज पंथहु ते बिडरी।
सूरदास प्रभु जहाँ सिधारे कितिक दूर मथुरा नगरी।

सूरदास की राधा का हृदय-सौन्दर्य देखना हो तो उद्धव का प्रसंग देखिए। गोपियों ने क्या-क्या नही कहा ? कृष्ण को भी कहा, उद्धव को भी कहा। बेचारे भौरे की तो दुर्गति ही कर डाली। पर हाय, राधिका ने क्या कहा ? उस बरसाने की चोरटी ने कुछ भी नही कहा—कुछ भी नही। उद्धव के रथ को देखकर गोपियों ने समझा था, श्यामसुन्दर आ गये। एक दौड़ी-दौड़ी राधिका के पास भी पहुँची। राधा ने सुना पर दौड़ी नही गयीं—चुप-सी रह गयी। उद्धव जब लौटकर मथुरा गये तो उन्होने समाचार कहते समय कह दिया कि मेरा रथ देखकर गोपियां दौड़ी; सबके आगे थी राधा :

एक सखी उनमें जो राधा जब हौ इहँ ते गयौ।
तब व्रजराज, सहित गोपी गन आगे ह्वै जो लयौ।

पर यह उनकी भूल थी। बाद में उन्होंने कहा कि राधिका दरवाजे पर खड़ी थी। जो मानिनी अपने मान में इतनी दृढ रही वह दो कदम भी आगे न बढ़ सकी। हाय :

चलत चरन गहि रही गई गिरि, स्वेद सलिल भयभीनी
छूटी बट भुज फूटी वलया टूटी लर फटी कंचुक झीनी।

और :

जब सँदेसा कहन सुंदरि गवन मो तन कीन।
खसी मुद्रा चरन अरुझी गिरी भुवि बलहीन।
कंठ बचन न बोलि आवै हृदय परिहस भीन।
नैन जल भरि रोइ दीनो ग्रसित आपद दीन।
उठी बहुरि सँभारि भट ज्यों परम साहस कीन।
सूर, प्रभु कल्याण ऐसे जिवहि आसा लीन।

काहे को तुम जहँ तँह डोलति हमको अतिहिं लजावति।
अपने कुल की खबरि करो धौं सकुच नहीं जिय आवति।

मगर प्रेम गाढ से गाढतर होता जाता है। पनघट पर ठठोली होती है, रास्ते मे छेड़छाड़, पर कहीं भी यह प्रेम उच्छ्वास के रूप में फूट नहीं पड़ता। मानो इन सारी लीलाओ में कोई विचित्रता नहीं, मानो ये इतनी स्वाभाविक बातें हैं कि कभी किसी से कहने की कोई आवश्यकता नहीं। बिना किसी हिचकिचाहट के जोर देकर कहा जा सकता है कि इस प्रकार का अपने-आपमें भरपूर प्रेम सूरदास की ही लेखनी की करामात है। प्रेम के सवा लाख गानों का समुद्र एक बार भी उद्वेलित नहीं हुआ, कहीं भी निर्मर्याद नहीं हुआ! चाँद के संयोग में वह उफन उठता है, पर उद्वेलित नहीं होता, विरह में वह तरंग-लोल हो जाता है, पर मर्यादा नहीं त्यागता। विरह के दो-चार पदों को देकर हम इस बात की यथार्थता की जाँच करेंगे।

'सूरसागर' पर एक सरसरी निगाह दौड़ाने पर भी यह स्पष्ट हो जायगा कि सूरदास की राधिका न तो विलासिनी हैं और न ग्वालिन। इन दोनों रूपों का एक विचित्र सामंजस्य ही मानो सूरदास का अभीष्ट प्रतिपाद्य है। राधा जब कृष्ण के साथ खेलती है, हँसती हैं, रोती है, छेड़छाड़ करती है तो एक शुद्ध प्रेममयी के रूप में दिखायी देती है। यद्यपि सूरदास इस बाल-लीला के भावी रूप की ओर इशारा कर देने में कभी नहीं चूकते। कृष्ण माता से कहते है—"माँ, राधिका बड़ी चोर हैं, हमारी मुरली चुरा ले जायगी, इसे सम्हालके रख।" यशोदा कह उठती है—"मेरे लाल के प्राण खिलौना ऐसो को ले जैहै री।" इसी तरह राधिका अपनी माँ से कहती है—"माँ, भारी दुष्ट है वह कान्ह, सारा दही ढरका देता है, मैं उस रास्ते नहीं जाऊँगी।" माँ बोल उठती है—"क्या हुआ, दही की क्या कमी है, तू उदास न हो।" पर सूरदास दोनों ही जगह अपने पाठकों को आगाह कर देते हैं कि इनकी बात सुनते रहो, ये दोनो ही नागर है! राधा मान करती है। हजार मनाने पर नहीं मानतीं। दूतियाँ थक जाती है, कृष्ण मूच्छित हो जाते हैं, पर यह मान उनके मान का नहीं रहता। चण्डीदास की राधिका इसके बहुत पहले पानी-पानी हो गयी होती—कह उठती, छि-छि, इस दारुण मान के लिए मैंने प्यारे को खो दिया था, श्यामसुन्दर के मनोहर रूप को देखकर जी में जी आया!

छि छि दारुण मानेर लागिया बंधूने हाराये छिलाम
श्यामसुन्दर रूप मनोहर देखिया परान पेलाम।

विद्यापति की राधा कृष्ण को देखते ही गद्गद हो उठती :

दुहु मुँह हेरइत दुहु भेल धन्य।

परन्तु सूरदास की राधा मानिनी है—दारुण मानिनी। इस मानिनी ने ज्यों ही सुना कि कृष्ण दरवाजे पर से लौटे जा रहे है, बस सारा मान भंग हो गया। परन्तु मान भंग होते ही दौड़के मिल नहीं गयी। प्रिय को प्रसन्न करना ही है तो जरा अच्छी तरह सजकर क्यों न चला जाय। इतनी देर तक उन्होंने प्रतीक्षा की है, जरा और कर लेंगे। राधिका शृंगार करने लगती है और सखी से सन्देशा कह देती है :

ताहि कह्यो सुख दै चलि हरि को हौ आवति हौ पाछे।

और फिर वह श्रृंगार किया—जिसका नाम !

रत्न-जटित गजरा बाजूबंद शोभा भुजन अपार
फूंदा सुभग फूल फूले मनों मदन विटप की डार।
छिटकि रह्यो लहँगा रँग ता सँग तन सुखवत सुकुमार
सूर सुअंग सुगंध समूहनि भँवर करत गुजार।

मगर इस मान की सारी दृढ़ता इस विश्वास पर निर्भर है कि कृष्ण उनके ! और उन्ही के है। यही मानिनी कृष्ण के मथुरा-गमन के बाद :

आजु रैनि नहि नीद परी।
जागत गनत गगन के तारे रसना रटत गोविंद हरी।
वह चितवन वह रथ की बैठन जब अक्रूर की बाँह गही।
चितवत रही ठगी-सी ठाढी कहि न सकति कछु काम-दही।
इतनो मन व्याकुल भयो सजनी आरज पंथहु ते बिछरी।
सूरदास प्रभु जहाँ सिधारे कितिक दूर मथुरा नगरी।

सूरदास की राधा का हृदय-सौन्दर्य देखना हो तो उद्धव का प्रसंग देखिए। गोपियों ने क्या-क्या नही कहा ? कृष्ण को भी कहा, उद्धव को भी कहा। बेचारे भौरे की तो दुर्गति ही कर डाली। पर हाय, राधिका ने क्या कहा ? उस बरसाने की चोरटी ने कुछ भी नही कहा—कुछ भी नही। उद्धव के रथ को देखकर गोपियो ने समझा था, श्यामसुन्दर आ गये। एक दौड़ी-दौड़ी राधिका के पास भी पहुँची। राधा ने सुना पर दौड़ी नहीं गयीं—चुप-सी रह गयी। उद्धव जब लौटकर मथुरा गये तो उन्होने समाचार कहते समय कह दिया कि मेरा रथ देखकर गोपियाँ दौड़ीं; सबके आगे थी राधा :

एक सखी उनमें जो राधा जब हौ इहँ ते गयौ।
तब ब्रजराज, सहित गोपी गन आगे ह्वै जो लयौ।

पर यह उनकी भूल थी। बाद मे उन्होने कहा कि राधिका दरवाजे पर खड़ी थी। जो मानिनी अपने मान मे इतनी दृढ रही वह दो कदम भी आगे न बढ़ सकी। हाय :

चलत चरन गहि रही गई गिरि, स्वेद सलिल भयभीनी
छूटी बट भुज फूटी बलया टूटी लर फटी कंचुक झीनी।

और :

जब सँदेसा कहन सुदरि गवन मो तन कीन।
खसी मुद्रा चरन अरुझी गिरी भुवि बलहीन।
कंठ वचन न बोलि आवै हृदय परिहस भीन।
नैन जल भरि रोइ दीनो ग्रसित आपद दीन।
उठी बहुरि सँभारि भट ज्यों परम साहस कीन।
सूर, प्रभु कल्याण ऐसे जियहि आसा लीन।

यह है वह प्रेम-सागर जिसमें कभी चंचलता नहीं आयी। जिन आँखों को देखकर कितनी ही बार नट-नागर मूर्च्छित हो पड़े थे—'कहुँ मुरली कहुँ लकुट पर्‌यौ अरु कहुँ पट कहुँ चन्द्रिका गौर।' जिस दशा को देखकर चकित सूर ने पूछा था—'राधे तेरे नैन किधौं री बान?" उन्हीं आँखों को उद्धव ने किस रूप में देखा?—

'देखी मैं लोचन चुअत अचेत।'
'उमँगि चले दोऊ नैन बिसाल:'
'नैन घट घटत न एक घरी।'
'नैननि होड़ बदी बरसा सों।'

और:

तुम्हरे बिरह ब्रजनाथ राधिका नैनिन नदी बढ़ी।
लीने जात निमेष कूद दोउ एते मान चढ़ी।

परन्तु इस व्याकुल विरहिणी का कोई भी सन्देशा उद्धव न कह सके। प्रियतम के मित्र से आखिर राधा क्या कहती! यह बात नहीं है कि राधिका के पास कोई सन्देशा नहीं था। उद्धव की जगह अगर अन्य कोई पथिक होता तो वे सन्देशा दे सकती थीं:

सुरति करि ह्वाँ की रोइ दियौ।
पंथी एक देखि मारग में राधा बोलि लियौ।

परन्तु सन्देशा कहते समय:

गद्‌गद कंठ हियो भरि आयौ बचन कह्यौ न दियौ।

यह पंथी उद्धव नहीं था। सम्भालकर राधा ने जो सन्देशा दिया, उससे:

अपि ग्रावा रोदित्यपि गलति वज्रस्य हृदयम्!

क्या था वह सन्देशा? यही कि,

इतनी बिनती सुनहु हमारी बारक हू पतिया लिखि दीजै।
चरन-कमल दरसन तव नौका करुना-सिंधु जगत जस लीजै।

यह केलि-कलावती का सन्देशा नहीं है, यह विलासिनी का अनुरोध नहीं है, यह एकान्त आश्रित भक्त की करुण पुकार है। हाय, इस सन्देशे में कितनी करुणा है, कितनी विवशता है!

सूरदास प्रभु आस मिलन की एक बार आवन ब्रज कीजै।

पर उद्धव तो प्रिय के अपने मित्र थे। कालिदास ने कहा है कि स्वजन के सामने दुःख दरवाजा तोड़के निकल पड़ता है:

स्वजनस्य हि दुःखमग्रतो विवृतद्वारमिवोपजायते।

फिर ऐसी अवस्था में सन्देश क्या?

गोपियों ने कृष्ण को दोष देना शुरू किया। प्रेम की साक्षात् मूर्ति वह ब्रज-सुन्दरी बोल उठी:

सखी री, हरिहिं दोष जनि देहु।
ताते मन इतनो दुख पावत मेरोइ कपट सनेहु।

प्रेमी समझ सकता था और समझ सकता था 'सूर' जैसा सम्यग्दृष्टिसम्पन्न पारखी।

अन्त मे महाराज श्रीकृष्ण रथ से उतरे । राधिका के भाग्य जगे । बहुत दिनों का खोया रत्न मिला । मगर बाधा नही गयी :

सूर देखि वा प्रभुता उनकी कहि नहिं आवै बात ।

श्रीकृष्ण ने इसे समझा, रुक्मिणी ने इसका अनुभव किया । पतिपरायण पट्ट-महिषी राधिका की बगल मे बैठ गयीं—रानी की तरह नही, बहन की तरह । फिर अपने घर लिवा गयी, नाना भाँति का आतिथ्य किया । अब सूरदास के प्रभु उस महल में पधारे जहाँ दोनो ठकुरानियाँ बैठी थी :

रुकमिनि राधा ऐसे भेंटी ।
जैसे बहुत दिनन की बिछुरी एक बाप की बेटी ।
एक सुभाउ एक बय दोऊ दोऊ हरि कौ प्यारी ।
एक प्रान मन एक दुहुँन को तन करि दीसत न्यारी ।
निज मन्दिर लै गई रुकमिनी पहुनाई-बिधि ठानी ।
सूरदास प्रभु तहँ पग धारे जहँ दोऊ ठकुरानी ।

और फिर :

राधा माधव भेंट भई ।

दोनो एक-दूसरे की चिन्ता में तन्मय हो गये, तद्रूप हो गये । जैसे भ्रमरी की अनवरत चिन्ता करनेवाला कीट भी भ्रमरी हो जाता है । राधा माधव बन गयी और माधव राधा । माधव राधा के रंग मे रँग गये, राधा माधव के और हँसकर माधव बोले—हममें तुममें अन्तर क्या है ?

राधा माधव भेंट भई ।
राधा माधव माधव राधा कीट-भृंग-गति ह्वै जु गई ।
माधव राधा के रंग राँचे राधा माधव रंग रई ।
माधो राधा प्रीति निरन्तर रसना करि सो कहि न गई ।
बिहँसि कह्यौ हम तुम नहिं अन्तर यह कहि कै उन ब्रज पठई ।
सूरदास प्रभु राधा-माधव ब्रज बिहार नित नई-नई ।[1]

भगवान् तो बोले; पर, हाय, राधा ने क्या कहा ? बरसाने की उस मुखर बाला के मुँह मे शब्द नही थे । प्रियतम के जाने पर पछताकर रह गयीं :

1. तुलनीय—

अनेक बरष परे बंधुआ मिलल घरे राधिकार अन्तरे उल्लास ।
हारानिधि पाइनु बलि, लइया हृदये तुलि, राखिते ना सहे अवकाश ।
× × ×
मिलल दुहुँ तनु कि या आनन्द ।
चकोर पाइल चाँद, पाँतिया पिरीति फाँद, कमलिनी पायल मधुप ।
रस भरे दुहु तनु, थर-थर काँपइ, झाँपइ दुहुँ दोहा आवेशे भोर ।
दुहुँ मिलने थाकि, निभायल अनल, पायल विरहक ओर ॥ —चण्डीदास

करत कछु नाहीं आजु बनी।
हरि आए हौ रही ठगी-सी जैसे चित्र धनी॥
आसन हरषि हृदय नहिं दीन्हो कमल कुटी अपनी।
न्योछावर उर अरध न नैननि जल-धारा जु बनी॥
कंचुकि तें कुच-कलस प्रकटि ह्वै टूटि न तरक तनी।
अब उपजी अति लाज मनहिं मन समुझत निज करनी॥
मुख देखत न्यारी-सी रहि गई बिनु बुधि मति सजनी।
तदपि सूर मेरी यह जड़ता मंगल माहिं गनी॥

यह हैं सूरदास की राधा! भारतवर्ष के किसी कवि ने राधा का वर्णन इस पूर्णता के साथ नहीं किया। बाल-प्रेम की चंचल लीलाओं की इस प्रकार की परिणति सचमुच आश्चर्यजनक है। संयोग की रस-वर्षा के समय जिस तरल प्रेम की नदी बह रही थी, वियोग की आँच से वही प्रेम सान्द्र-गाढ़ हो उठा। सूरदास की यह सृष्टि अद्वितीय है। विश्वसाहित्य में ऐसी प्रेमिका नहीं है—नहीं है।

3. सूरदास की यशोदा

'सूरसागर' की तुलना महाभारत से की जा सकती है। महाभारत कहानियों, घटनाओं, व्याख्यानों और उपदेशों का विशाल समुद्र है। ग्रन्थकार को किसी भी बात को कहने के लिए कोई जल्दी नहीं है। एक ही बात अगर दस बार भी कह दी गयी तो उसे क्षोभ नहीं होता। उसे बिल्कुल परवा नहीं है कि मूल कथा का सूत्र कहाँ छिन्न होता है और फिर कहाँ युक्त होता है। पर इन सारी कहानियों, घटनाओं आदि के कारण महाभारत इतना सजीव काव्य हो गया है कि उसका सामान्य से सामान्य कोटि का पाठक विभिन्न चरित्रों की विशेषताओं को बता सकता है। एक बालक भी एक घटना का आभास पाकर कह सकता है कि इस विषय पर भीम, भीष्म, युधिष्ठिर, अर्जुन, दुर्योधन, शकुनि और द्रौपदी आदि के क्या मत होंगे। चरित्रों की इस विपिनस्थली का एक भी चरित्र दूसरे के साथ एक-रूप नहीं दीखता—coincide नहीं करता। ठीक यही बात 'सूरसागर' के सम्बन्ध में कही जा सकती है। सूरदास को समय की कमी नहीं है, वे एक की जगह दस पद गा सकते हैं, उन्हें कुछ भी त्वरा नहीं और कुछ भी हिचक नहीं। फल यह हुआ है कि उनकी राधा, उनके कृष्ण, उनकी यशोदा, उनके नन्द और उनके उद्धव अपना-अपना विचित्र व्यक्तित्व रखते हैं। गोपियों के अलग-अलग नाम लेकर उन्होंने नहीं कहा, पर अगर परिश्रम किया जाय तो 'सूरसागर' के पदों का इस प्रकार वर्गीकरण किया जा सकता है कि इन गोपियों में दस-बीस प्रकृति की गोपियाँ मिल सकती हैं। ऐसा जान पड़ता है कि ग्रन्थकार ने अपने मन में अलग-अलग व्यक्तित्व की गोपियाँ कल्पित की हैं; पर जान-बूझकर उनका अलग-अलग नाम नहीं दिया।

'सूरसागर' में गोपियों का इतना विस्तृत वर्णन है कि उसे स्त्री-चरित्र का

यह लालसा होति जिय मेरे बैठी देखत रैहौ,
गाइ चरावन्ह कान्ह कुँवर सों कबहूँ भूलि न कैहौ।
करत अन्याव न वरजौं कबहूँ अरु माखन की चोरी,
अपने जियत नैन भरि देखौ हरि हलधर की जोरी।
दिवस चारि मिलि जाहु साँवरे कहियौ यहै सँदेसौ,
अब की बेर आनि सुख दीजै, सूर मिटाय अँदेसौ।

—इत्यादि।

इन छन्दों को चुनकर नहीं लिखा गया है। 'सूरसागर' इस प्रकार के रत्नों से आपाद-मस्तक लदा है। यशोदा के बहाने सूरदास ने मातृ-हृदय का ऐसा स्वाभाविक, सरल और हृदयग्राही चित्र खींचा है कि आश्चर्य होता है। 'माता' संसार का एक ऐसा पवित्र रहस्य है जिसे कवि के अतिरिक्त और किसी को व्याख्या करने का अधिकार नहीं। सूरदास जहाँ पुत्रवती-जननी के प्रेम-पेलव हृदय को छूने में समर्थ हुए हैं वहाँ वियोगिनी माता के करुण-विगलित हृदय को भी उसी सलफंता से छू सके है। पुत्र-वियोगिनी यशोदा वह माता है जो प्रेम की असीम उपलब्धि से परिपूर्ण है, वह प्रेम वियोग के रूप में परिवर्तित होकर कभी पूर्णता के किसी अंश को क्षुण्ण नहीं कर सका है।

हमने ऊपर जो कुछ कहा है, वह शायद स्पष्ट नहीं हुआ। कुछ उदाहरण देकर उसे स्पष्ट किया जाय।

यह संसार ससीम और असीम की लीलाभूमि है। हम अनन्त प्रवाह में बहते आ रहे हैं—युग-युगान्तर से, कहीं विराम नहीं, कहीं थकान नहीं। कितने प्रेमी हृदयों को हम छोड़ आये हैं, कितने को छोड़ जायेंगे, इसकी इयत्ता नहीं। इस वियोग की विराट् धारा का स्रोत वियुक्त प्रेमी के प्रति एकदम उदासीन है। वैष्णव कवियों ने इस सत्य की उपलब्धि की है श्रीकृष्ण की लीला में। श्रीकृष्ण परिपूर्ण है, अनन्त हैं, उदासीन है। यशोदा और राधिका, इस अनन्त वियोगरूपी दीर्घवृत्त के दो नाभि-केन्द्र है। ये सान्त हैं, अपूर्ण है और आसक्त है। वैष्णव मरमी कवि (mystic) अत्यन्त सहज भाव से इस अपरिपूर्णता की अनुभूति को प्रेम से भरता है। यही वैष्णव प्रेम का माहात्म्य है। सफल मरमी कलाकार वह है जिसने अपरिपूर्ण को प्रेम के द्वारा परिपूर्ण किया है और पूर्ण को उसके अभाव का अनुभवी। यशोदा का चित्रण करते समय सूरदास ने इस सहज परिपूर्णता को कभी क्षुण्ण होने नहीं दिया। यशोदा श्रीकृष्ण की उपस्थिति में परिपूर्ण प्रेममयी है। वे उन माताओं में नहीं हैं जो सन्तान की मंगल-आशा से सदा अश्रुपूर्ण आँखों से आकाश की ओर ताका करती हैं, 'हे देवगण, जिसे पाया है उसे कहीं खो न दूं।' यह प्रेम-पूर्ण चित्र ठीक राधिका के समान ही उतरा है। सूरदास की राधिका, चण्डीदास की राधिका की भाँति, मिलन में वियोग की कल्पना से कहीं भी सिहर नहीं उठती। यशोदा भी ठीक उसी तरह स्नेह-पात्र की उपस्थिति में उसकी वृथा अमंगल आशंका से उद्विग्न नहीं हो उठतीं। सूरदास की राधिका और यशोदा दोनों ही मिलन के साथ सोलह आना प्रेयसी

छबीले, मुरली नैंकु बजाउ।
बलि-बलि जात सखा यह कहि-कहि अधर सुधा-रस प्याउ।
दुर्लभ जनम लहब वृन्दावन दुर्लभ प्रेमतरंग।
ना जानिये बहुरि कब ह्वै है स्याम तिहारो संग।

इस गान में ग्वाल-बालों को उपलक्षण भर करके सूरदास की आत्मा अपनी व्याकुलता प्रकट कर रही है। पनघट पर सखियों ने मुरली के विषय में जो कुछ कहा है, वह चाहे निन्दा हो या स्तुति, ईर्ष्या हो या प्रेम—सर्वत्र उसके पीछे एक अव्यक्त ध्वनि निकला करती है—'छबीले, मुरली नैंकु बजाउ'। मुरली के प्रति गोपियों की ईर्ष्या वैष्णव-साहित्य की एक अति परिचित घटना है, पर सूरदास ने इस ईर्ष्या के पीछे अपना व्याकुल व्यक्तित्व इस प्रकार बैठा दिया है जो बार-बार निकल पड़ता है; सखियाँ जब कहती है :

बाँसुरी बिधिहू ते परवीन।
कहिये काहि आहिको ऐसो कियो जगत आधीन।
चारि बदन उपदेस बिधाता थापी थिर चिर नीति।
आठ बदन गरजति गरबीली क्यों चलि है यह रीति।
बिपुल बिभूति लही चतुरानन एक कमल करि थान।
हरिकर कमल जुगल पर बैठी बाढ़्यो यह अभिमान।
× × ×
अधर सुधा पी कुल-व्रत टार्‌यो नही सिखा नहिं ताग।
तदपि सूर या नंद-सुवन को याही सो अनुराग।

तो इन सारी बातों के पीछे से एक व्याकुल उत्सुकता चीत्कार कर उठती है—'छबीले, मुरली नैंकु बजाउ'। राधिका के बतरस मे, गोपियो की तनातनी मे, पनघट की छेड़छाड़ में, दानलीला के सवाल-जवाब मे, एक अति झीनी झनकार उठा करती है—'छबीले, मुरली नैंकु बजाउ'। रास-लीला की वह आनन्द-केलि, जिसकी तुलना संसार में नही है, केवल एक मेरु-दण्ड के चारों ओर चक्कर लगा रही है—'छबीले, मुरली नैंकु बजाउ'।

व्रजभाषा का कवि, तत्रापि सूरदास, ठोस रूप का उपासक है, इस रूपावरण के पीछे कही भी तुरीय-अरूप-सत्ता की ओर इशारा नही किया गया है, तथापि भक्त-कवि की व्याकुलता उसके पीछे किसी-न-किसी रूप मे रह गयी है। ईसाई मरमियों के साथ सूरदास की तुलना करते समय हमने इस बात पर प्रकाश डालने की चेष्टा की है। इस स्थान पर हम यही कहना चाहते है कि अपने समस्त मिलन और वियोग के गानों मे सूरदास की व्याकुलता छिपी पड़ी है। राधिका के अति निकटवर्ती श्रीकृष्ण कभी भी वृन्दावन मे घरेलू आदमी से ऊपर नही गये। राधिका के साथ वे सर्वदा समान-भूमि पर ही क्रीड़ा कौतुक में मग्न रहे, परन्तु फिर भी भक्त-कवि ने इस सामीप्य में एक सुदूर का सुर भर दिया है। यह बात शायद अनजान में हो गयी है, पर जो बात अनजान मे हो जाती है, वही निश्चित रूप से

मन से उसी के स्पर्श पाने का प्रयासी हूँ। हे सुदूर, हे विपुल सुदूर, तुम तो व्याकुल वंशी बजाया करते हो, मेरे पंख नहीं हैं, एक जगह पड़ा हुआ हूँ, यह बात तो मैं भूल जाता हूँ।"

सूरदास की आत्मा सचमुच इन गानों के भीतर से, रह-रहकर, अत्यन्त व्याकुल भाव से कह उठती है—'छबीले, मुरली नैंकु बजाउ'। 'सूरसागर' की आनन्द-केलि का केन्द्र-स्थल है—रास-लीला। गोपियो के पहुँचने पर श्रीकृष्ण उन्हें लौट जाने का उपदेश करते है :

भली यह तुम करी नाही अजहुँ घर फिरि जाहु
सूर प्रभु क्यों निडरि आई नहीं तुम्हरे नाहु।

यह सुनते ही गोपियों के बहाने सारा 'सूरसागर' अत्यन्त कातर व्याकुलता से चिल्ला उठता है :

छबीले, मुरली नैंकु बजाउ।

बड़ा ही मर्मस्पर्शी है यह दृश्य, जहाँ गोपियों का 'रुदन जल नदी सम बहि चल्यौ उरज बिच मनों गिरि फोरि सरिता पनारी'। गोपियो की विवश व्याकुलता का अनुमान करना भी कठिन है। हाय, 'सूर सैन दै सरबस लूट्यौ मुरली लै-लै नाम बुलावत'। एक ही प्रार्थना है :

प्रीति वचन नौका करि राखौ अंकम भरि बैठावहु।
सूर स्याम तुम बिन गति नाही युवतिन पार लगावहु।

और इसके बाद की सारी प्रार्थनाओं को एक वाक्य में प्रतिफलित किया जा सकता है :

छबीले, मुरली नैंकु बजाउ।

× × ×

अगर हमसे कोई पूछे कि 'सूरसागर' का केन्द्रीय वक्तव्य (central theme) क्या है तो बिना किसी हिचकिचाहट के चिल्ला उठेंगे :

छबीले, मुरली नैंकु बजाउ।

क्योंकि हमारा विश्वास है कि यह व्याकुल सुर इतने रंगों में अनुरंजित होकर जो 'सूरसागर' में आया है, वह आकस्मिक नहीं है। उसमें कवि का आवरण परिधान करके बैठा हुआ भक्त गायक अपनी मर्मवेदना गा रहा है :

दुर्लभ जनम दुर्लभ वृन्दावन दुर्लभ प्रेमतरंग।
ना जानिये बहुरि कब ह्वै है स्याम तिहारो संग।

अतएव :

छबीले, मुरली नैंकु बजाउ।

5. सूरदास और नन्ददास की गोपियाँ

वैष्णव कवियों, विशेषकर भक्तों की कविता की आलोचना करना आग से खिलवाड़ करना है। सूरदास या नन्ददास कविता नहीं करते थे, भजन गाते थे।

वे साहित्य की सृष्टि करने के उद्देश्य से नहीं गाते थे; गाते थे साधना के लिए। साधना भी व्रजतत्त्व की, जहाँ लौकिक रस बिल्कुल विपर्यस्त हो जाते हैं। व्रजतत्त्व में जो काम है, वही प्रेम है (भक्ति-प्रकरण देखिए); जो प्रेम है, वही राग है; जो राग है वही भक्ति है। इस व्रजतत्त्व की आलोचना करने का अधिकार सबको नहीं है। हम लोग दुनियावी प्रेम और काम के समुद्र में आजीवन निमज्जित रहते हैं और मौके-बेमौके इन वैष्णव कवियों की प्रेम-लीला का गान सुनकर उन पर बरस पड़ते है। आज इस बीसवीं शताब्दी के विक्षेप-युग में, जब कि कोई भी साधना स्थायी रूप से अग्रसर नहीं हो पाती (परिशिष्ट देखिए), हमने काम और प्रेम की परिभाषा की है और बड़े-बड़े तत्त्व खोज निकाले हैं! व्रजतत्त्व का मर्मज्ञ भक्त विश्वास करता है कि वहाँ काम और प्रेम दो चीज नहीं हैं। इस युग के साहित्य-शूर इसे सच समझें या झूठ, वह यही समझकर भजन करता है। उसी प्रेम-तत्त्व की आलोचना में प्रवृत्त होते समय हम गोलोकवासी वैष्णव भक्त से प्रार्थना करते हैं कि 'हे वैष्णव कवि, तुम्हारी प्रेम-लीला का वास्तविक रहस्य न समझते हुए भी इतना हम जानते हैं कि वह हमारी काम और प्रेम की कल्पनाओं से परे है। उस मूल प्रेम-तत्त्व के सम्बन्ध में हम एकदम मौन रहेंगे। देखेंगे केवल उस प्रेम की दिशा—वह किधर से आया था। किधर गया था, यह प्रश्न हमारी आलोचना की अपेक्षा नहीं रखता। वह निश्चय ही राधिका-रानी और व्रजराज की ओर चला गया था।'

सूरदास और नन्ददास, दोनों ही एक ही सम्प्रदाय के साधक थे, दोनों ने ही भक्तजनों के हृदय पर आसन पाया है और दोनों का समय करीब-करीब एक ही है। इन दोनों महात्माओं ने भ्रमर-गीत तथा उद्धव और गोपियों के संवाद लिखे हैं। इन संवादों में ज्ञान की अपेक्षा प्रेम का मार्ग सहज और महान् बताया गया है। योग और निर्गुण उपासना की जगह सगुण उपासना की महिमा प्रतिष्ठित की गयी है। दोनों संवादों के पात्र, कथा, विषय और प्रणाली एक ही है। दोनों संवादों का उद्देश्य भी एक ही है। अतः, यह देखना शायद अनुचित न होगा कि इन संवादों के वर्णित प्रेम-मार्गों में कुछ विशेषता है या नहीं।

नन्ददास की गोपियाँ सूरदास की गोपियों से अधिक तार्किक हैं। निर्गुण उपासना का प्रसंग हो या योग का, वे उद्धव की युक्तियों का इस खूबी से खण्डन कर देती हैं कि सिखाये-पढ़ाये उद्धव निरुपाय होकर दूसरा विषय छेड़ देते हैं। उद्धव कहते हैं :

जो उनके गुन होंय वेद क्यों नेत बखानें।
निर्गुन सगुन आतमा रचि ऊपर सुख सानें।
वेद पुराननि खोजि कैं पायौ किनहुँ न एक।
गुन ही के जो होहिं गुन कहो अकास किहि टेक।
सुनो व्रजनागरी।

गोपियाँ जवाब देती हैं :

जो उनके गुन नाहिं और गुन भये कहाँ ते ?
बीज बिना तरु जमैं मोहिं तुम कहौ कहाँ ते ?
वा गुन की पट-छाँहरी माया दर्पन बीच।
गुन ते गुन न्यारे भये अमल वारि जल कीच।
सखा सुनु स्याम के :

उद्धव रास्ता न देखकर दूसरा तर्क उठाते हैं :

माया के गुन और और हरि के गुन जानौ।
उन गुन को इन माँहि आनि काहे को सानौ।
जाके गुन अरु रूप को जान न पायौ भेद।
तातें निर्गुन रूप को बदत उपनिषद वेद।

उद्धव पहले कह गये थे कि उनके तो गुण ही नहीं हैं, अगर होते तो वेद नेति-नेति क्यों कहते ? अब कहते है हरि के गुण कुछ और है, माया के और। माया के गुणों को हरि में आरोप करना अच्छा नहीं। असल में हरि के गुण-रूप का भेद समझकर ही वेद-उपनिषद् उन्हें निर्गुण कहते हैं।

गोपियों ने इसका भी जवाब दिया :

वेदहु हरि के रूप स्वाँस मुख से जो निसरै।
कर्मक्रिया आसक्त सबै पिछली सुधि बिसरै।
कर्म मध्य ढूंढै सबै किनहुँ न पायौ देख।
कर्मरहित हो पाइये तातें प्रेम विसेख।
सखा सुनु स्याम के।

इस प्रकार तर्क में नन्ददास की गोपियाँ सदा उद्धव से बीस रहती है। परन्तु सूरदास की गोपियाँ तर्क जानती ही नहीं। वे स्वीकार कर लेती है कि योग और निर्गुण मार्ग बहुत अच्छा है, पर अबला ग्वालिनें, योग कैसे करेंगी ? नन्दनन्दन के साथ जिन्होने प्रत्यक्ष केलि की है उन्हें निर्गुण मानने की जरूरत क्या है ? तर्क वे बिल्कुल नहीं जानती :

ऊधोजी हमहिं न जोग सिखैये।
जेहि उपदेस मिलै हरि हमकों सो ब्रत नेम बतैये।
मुक्ति रहौ घर बैठि आपने निर्गुण सुनि दुख पैये।
जिहि सिर केस कुसुम भरि गूंदे कैसें भस्म चढ़ैये।
जानि-जानि सब मगन भये है आपुन आपु लखैये।
सूरदास प्रभु सुनहु नवौं विधि बहुरि कि इहिं ब्रज ऐये।

× × ×

ऊधौ मन न भए दस-बीस।
एक हुतौ सो गयौ स्याम सँग को अवराधै ईस ?
इंद्री सिथिल भईं केसौ बिनु ज्यौं देहो बिन सीस।

आसा लागि रहत तनु स्वासा जीवहिं कोटि बरीस।
तुम तौ सखा स्यामसुंदर के सकल जोग के ईस।
सूर हमारे नंद-नँदन बिनु और नहीं जगदीस।

× × ×

राखो सब यह जोग अटपटो ऊधौ पाइँ परौं।
कहाँ रस रीति कहाँ तन सोधन सुनि-सुनि लाज मरौ।

सूरदास की गोपियों का एक ही तर्क है—ऊधौ, योग की बात न सिखाओ। कुछ ऐसी बात बताओ जिससे प्यारे मिलें! इस सादगी के सामने बड़े-बड़े तर्क-चूडामणि मौन हो जा सकते हैं, उद्धव तो फिर भी भक्त थे! स्वयं प्रेम की महिमा के कायल थे! उद्धव जहाँ कुछ ज्ञान-कथा शुरू करते हैं, वहीं सरल प्रेम का ऐसा महासागर उमड़ पड़ता है कि जो कुछ कहा वह न जाने कहाँ बह जाता है। नाना रूप में एक ही बात सुनायी पड़ती है—योग और निर्गुण की बात मत कहो, श्याम से मिला दो! नन्ददास के उद्धव को तर्क में परास्त होना पड़ता है, सूरदास के उद्धव अपना तर्क समझा ही नहीं पाते, उन्हें विजयी होने का मौका ही नहीं मिलता। नन्ददास की गोपियाँ युक्ति से प्रेम की महिमा स्थापित करती हैं, सूरदास की गोपियों के पास विरह का ऐसा खजाना है कि उसी को बाँटने से फुरसत नहीं मिलती, युक्ति और तर्क कौन करे?

इस प्रसंग में कुब्जा के प्रति उपालम्भ भी ध्यान देने योग्य है। नन्ददास की गोपियाँ कुब्जा की खूब खबर लेती हैं। सूरदास की गोपियाँ भी निःश्वास फेंककर एक बार कुब्जा का नाम लेती हैं और भाग्य को दोष देकर रह जाती हैं। नन्ददास की गोपियाँ कुब्जा का नाम स्मरण करते ही आपे से बाहर हो जाती हैं:

कोउ कहै रे मधुप तुम्हें लज्जा नहिं आवै।
सखा तुम्हारो स्याम कूबरी-नाथ कहावै।
यह नीची पदवी हुती गोपीनाथ कहाय।
अब जदुकुल पावन भयो दासी जूठन खाय।
मरत कह बोल के।

× × ×

कोउ कहै हो मधुप स्याम जोगी तुम चेला।
कुबजा तीरथ जाय कियौ इंद्रिन को मेला।
मधुबन सुधि बिसराय कै आये गोकुल माहिं।
इहाँ सबै प्रेमी बसै तुमरो गाहक नाहिं।
पधारो रावरे।

× × ×

कोउ कहै रे मधुप होइ तुम सो जो संगी।
क्यों न होय तन स्याम सकल बातन चौरंगी।

गोकुल में जोरी कोऊ पाई नाहि तुम्हारि।
मदन त्रिभंगी आपु ही करी त्रिभंगी नारि।
रूप गुन सील को।

और इतना कह चुकने के बाद :

ता पाछे इक बार ही रुदित सकल व्रजनारि।
हा करुनामय नाथ हा केसव कृष्ण मुरारि !
फाटि हियरौ चल्यौ !

नन्ददास की ये गोपियां दुनिया को जानती है। वे प्रत्येक बात की छानबीन कर सकती हैं। कितनी करुणाजनक कल्पना है यह ! प्रेम-मूर्त्ति गोपियों को छोड़कर करुणा-निधान भगवान् कुब्जा से प्रेम करने लगे ! यह सोचना भी भयानक है—फाटि हियरौ चल्यौ ! उद्धव ने ठीक ही समझा .

ये सब प्रेमासक्त हैं कुल-लज्जा करि लोप।
धन्य ए गोपिका।

परन्तु सूरदास की गोपियाँ इतना सोच नहीं सकती। अपनी व्यथा के अपार समुद्र में आप ही डूबती-उतराती ये व्रजबालाएँ दूर तक की बात सोचने की फ़ुरसत नहीं पाती। कहीं कुब्जा याद आ गयी तो उसका नाम लेकर एक बार लम्बी साँस छोड़कर फिर अपना ही चर्चा शुरू कर दिया—हाय ऊधो, नन्दनन्दन को भूलने की बात कह रहे हो ? तुम्हारी बात समझ में नहीं आती :

ऊधो, कहा हमारी चूक।
वे गुन ये औगुन सुनि हरि के, हृदय उठत है हूक।
बिन ही काज छाँड़ि गए मधुबन, हम घटि कहा करी।
तन-मन-धन आतमा निवेदन, सोउ न चितहिं धरी।
रीझे जाइ सुन्दरी कुबिजहि इहि दुख आवत हाँसी।
जद्यपि कूर कुरूप कुदरसन तद्यपि हम व्रजवासी।
एते ऊपर प्रान रहत घट कहौ कान सों कहिए।
पूरब कर्म लिखे विधि अच्छर सूर सबै सो सहिए।

× × ×

मधुप बिराने लोग बटाऊ।
दिन दस रहे आपने स्वारथ तजि फिरि मिले न काऊ।
प्रीतम हरि हमको सिधि पठई आयौ जोग अगाऊ।
हम कौं जोग भोग कुबिजा कौ उहिं कुल यहै सुभाऊ।
जान्यौ प्रेम नन्द-नन्दन को कीजै कौन उपाऊ।
सूर स्याम कौं सरबस दीन्हौ प्रान रहौ कै जाऊ।

× × ×

हम व्रजबाल गोपाल उपासी।
ब्रह्म-ग्यान सुनि आवै हाँसी।

ब्रज में जोगकथा लै आयौ।
मन कुबिजा कूबरहि दुरायौ।

इस प्रकार दोनों महात्माओं के प्रेम में एक स्पष्ट अन्तर दिखायी देता है। नन्ददास का प्रेम मस्तिष्क की ओर से आता है, सूरदास का हृदय की ओर से। नन्ददास युक्ति और तर्क को शुरू में ही नहीं भूल जाते, सूरदास के यहाँ भूलने न भूलने का सवाल ही नहीं है। वहाँ युक्ति और तर्क है ही नहीं। नन्ददास की गोपियाँ प्रेम मे बावरी है, तर्क मे नहीं, उपालम्भ करने मे भी नहीं, परन्तु सूरदास की गोपियाँ सब तरह से भोरी है।

सूरदास की विशेषता

1. गौड़ीय वैष्णव आलंकारिकों की गोपियाँ और सूरदास

गौड़ीय वैष्णवो के साथ सूरदास का क्या सम्बन्ध था, इस बात की चर्चा हम आगे करेंगे। यहाँ गौड़ीय वैष्णवो की नायिकाओं के साथ सूरदास की गोपियों की तुलना करेंगे। हमारा लक्ष्य सर्वदा सूरदास का विशेष दृष्टिकोण स्पष्ट करने की ओर होगा।

गौड़ीय वैष्णवों के अनुसार ब्रज मे दो तरह की नायिकाएँ थीं। कुछ स्वकीया और कुछ परकीया। भागवत में कथा आती है कि कुछ गोपियाँ श्रीकृष्ण को पति-रूप में पाने के लिए कात्यायनी का व्रत करती थीं। इनसे गान्धर्व विधि से श्रीकृष्ण ने विवाह किया था। ये स्वकीया थीं, बाकी परकीया।[1] राधा दूसरी श्रेणी मे आती हैं। पर सूरदास राधिका को परकीया नही समझते। राधिका से श्रीकृष्ण का विवाह बड़ी धूमधाम के साथ होता है।[2] यही नहीं, राधिका भी और गोपियों की तरह श्रीकृष्ण को पति-रूप में पाने के लिए व्रत करती हैं।[3]

1. उज्ज्वलनीलमणिकिरण, पृ. 2-3
2. सनकादिक नारदमुनि सिव विरंचि जान।
   देव दुंदुभी मृदंग बाजे बर निसान॥
   बारनै तोरन बँधाइ हरि कीन्ह उछाह।
   ब्रज की सब रीति भई बरसानै ब्याह। इत्यादि
3. सिव सौं विनय करति कुमारि।
   जोरि कर मुख करति अस्तुति बड़े प्रभु त्रिपुरारि। →

वैष्णव आलंकारिकों ने 363 प्रकार की नायिकाओं के उदाहरण के लिए सैकड़ों नाम गिनाये हैं। 'सूरसागर' में इन गोपियों के नामों का कोई उल्लेख नहीं देख पड़ता। कुछ मुख्य नाम जैसे राधा, ललिता आदि ज़रूर आते है, पर अधिकांश गोपियाँ बिना नाम की ही हैं। 'उज्ज्वलनीलमणि' में गोपियों के स्वभाव और वस्त्राभूषण आदि के बारे में विस्तृत वर्णन है। उक्त ग्रन्थ का एक संक्षिप्त संस्करण 'उज्ज्वलनीलमणिकिरण' नाम से विश्वनाथ चक्रवर्ती ने सोलहवी शताब्दी में किया था। इस संक्षिप्त ग्रन्थ के अनुसार गोपियों के स्वभाव इस प्रकार है :

"कुछ गोपियाँ प्रखर स्वभाव की थीं। जैसे श्यामला, मंगला आदि। श्रीराधा और पाली प्रभृति कुछ गोपियाँ मध्या और चन्द्रावली आदि कुछ मृदु-स्वभावा थी। इनमें भी स्वपक्षा, सुहृत्पक्षा, तटस्थपक्षा और प्रतिपक्षा—ये चार भेद है। इनमें भी कुछ वामा है और कुछ दक्षिणा। श्रीराधिका की स्वपक्षा थी ललिता और विशाखा, सुहृत्पक्षा-श्यामला, तटस्थपक्षा-भद्रा और प्रतिपक्षा-चन्द्रावली थी। श्रीमती राधा वामामध्या थी, कभी नील वस्त्र धारण करती थी, कभी लाल। ललिता प्रखरा और मयूर-पुच्छ जैसा वस्त्र धारण करती थी। विशाखा थी वामा मध्या और तारावलि-खचित वस्त्र पहनती थी। इन्दुरेखा वामा प्रखरा और अरुण-वस्त्रा थीं। रंगदेवी और सुदेवी वामा मध्या और रक्त-वस्त्रा थी। ये सभी गोरी थीं। चम्पकलता वामा मध्या और नील-वस्त्रा, चित्रा दक्षिणा मृद्वी नील-वसना, तुंगविधा दक्षिणा प्रखरा और शुक्लवस्त्रा, श्यामला वामा दाक्षिण्ययुक्ता प्रखरा,और रक्तवस्त्रा, भद्रा दक्षिणा मृद्वी और चित्र-वसना, चन्द्रावली दक्षिणा मृद्वी और नीलवसना थी। इनकी सखी पद्मा, दक्षिणा और प्रखरा, शैब्या दक्षिणा और मृद्वी थी। ये सभी रक्त-वस्त्र धारण करती थी।"[1]

इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं कि सूरदास ने इतने नामों को नहीं गिनाया; पर जिन्हें गिनाया है उनमें राधा का वस्त्र इ ा विवृति से मिलता है।[2]

सूरदास ने कभी-कभी दो-एक सखियों के नाम गिनाये[3] है, पर उनमें

→ सीत भीत न करति सुदरि कृस भई सुकुमारि।
छहौं रितु तन करति नीके गेह नेह बिसारि।
ध्यान धरि कर जोरि लोचन मूंदि इक-इक जाम।
विनय अंचल छोरि रवि सौं करति हैं सब वाम।
हमहिं होहु कृपालु दिनमनि तुम बिदित ससार।
काम अति तनु दहत दीजै सूर हरि भरतार।

1. उ. नी. म. कि., पृ. 6-7
2. देखिए—
"नील लहँगा लाल चोली कसि उबटि केसरि सुरंगनो"—2280
"देखो जुवतिवृन्द मे ठाढ़ी नील वसन तनु गोरी।"—116
"नील वसन फरिया कटि पहिरे वेनी पीठ रुचिर झकझोरी।"—462
3. दे. पद सं. 1073 (वा. राधाकृष्णजी का संस्करण)

प्रतिपक्षता या तटस्थ-पक्षता का कोई लक्षण नहीं मिलता। दान-लीला के प्रसंग में चन्द्रावली, ललिता और विशाखा का नाम आया है सही, पर चन्द्रावली वहाँ ललिता की भाँति ही एक सखी है। दान-लीला की गोपियों में प्रश्नोत्तर करते समय नाम लेकर केवल राधा का वर्णन आया है। वहाँ राधा मध्या नायिका नहीं हैं। इनकी मुखरता दान-लीला के सैंकड़ों पदों में फूट पड़ी है। पर यही राधा अन्यत्र मुग्धा की भाँति दिखायी पड़ती है। वस्तुतः सूरदास ने आलंकारिकों के वर्गीकरण की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया।

राधा की सखियों में ललिता का चित्र सबसे अधिक स्पष्ट है। विशाखा भी ललिता की भाँति ही चित्रित की गयी है। वैष्णव आलंकारिकों ने दूती-कर्म के विषय में भी विचार किया है। 'उज्ज्वलनीलमणि' के अनुसार कृष्ण की तीन प्रधान दूतियाँ हैं—वीरा, वृन्दा और वंशी।[1] पर सूरदास ने विशाखा से दौत्य-कर्म कराया है।[2] आलंकारिकों के अनुसार ललिता का स्वभाव प्रखर है पर सूरदास की ललिता धीर है। कृष्ण के पास जाकर बड़े कौशल से वह सन्देश पहुँचाती है। पहले कृष्ण के मन में उत्सुकता प्रकट करती है, फिर लालसा, और बाद को प्रयत्न :

ललिता मुख चितवत मुसकाने।
आपु हँसी पिय मुख अवलोकत दुहुन मनहिं मन जाने।
× × ×
तब बोली वह चतुर नागरी अचरज-कथा सुनाऊँ।
सूर स्याम जो चलो तुरत ही नैनन जाइ दिखाऊँ।—1679

ललिता ने इसके बाद एक अनुपम बाग दिखाने की बात कही :

अदभुत एक अनूपम बाग।
जुगल कमल पर गजवर क्रीडत तापर सिंह करत अनुराग।
हरि पर सरवर सर पर गिरिवर गिरि पर फूले कंज पराग।
रुचिर कपोत बसे ता ऊपर ता ऊपर अम्रित फल लाग।
फल पर पुहुप पुहुप पर पल्लव ता पर सुक पिक मृग-मद-काग।
खंजन धनुप चन्द्रमा ऊपर ता ऊपर इक मनिधर नाग।
अंग-अंग प्रति और-और छवि उपमा ताकों करत न त्याग।
सूरदास प्रभु पियौ सुधारस मानौ अधरनि के बड 1680

इस प्रकार सूरदास की ललिता आलंकारिकों की लहि[illegible] का स्वभाव भी एक-सा नहीं है। कभी वे मुखर है और कर्भ[illegible] और कभी मुग्धा। निम्नलिखित विभिन्न चित्रों से यह

स्याम सखि नीके देखे नाहिं
चितवत ही लोचन भरि

1. उज्ज्वलनीलमणिकिरण, पृ. 6-7
2. दे., 1677-78

कैसेहुँ करि इक टक मैं राखति नैकहिं मैं अकुलाहिं।
निमिष मनौ छवि पर रखवारे तातें अतिहि डराहिं।
कहा करें इनकौ कहा दूषन इन अपनी सी कीन्हौ।
सूर स्याम छवि पर मन अटक्यो उन सब सोभा लीन्ही।—1418

× × ×

चितवन रोकेंहू न रही।
स्यामसुंदर सिंधु सनमुख सरित उमंगि वही।
प्रेम-सलिल प्रवाह भौंरनि मिलि कबहुँ न थाह लही।
लोभ लहरि कटाच्छ घूंघट-पट-करार ढही।
थके पल-पथ नाव धीरज परत नहिंन गही।

× × ×

घट मेरो जब ही भरि दैहौ लकुटी हौं तब दैहौ।
कहा भयौ जो नंद बड़े वृषभानु-आन न डरैहौ।
समसरि मिलकरि कैहौ।—843

× × ×

तुम्हारोई चित्र बनाउ कियौ।
तब कौ इंदु सम्हारि तुरत ही मनसिजसाज लियौ।
व्रत गहि जुग अंगुरी के बीचहिं उन भरि पानि पियौ।—3474

'उज्ज्वलनीलमणि' के अनुसार राधा सदा व्यक्त-यौवना किशोरी थी,[1] चन्द्रावली और पद्मा पूर्ण-यौवना। सूरदास की राधा कई अवस्थाओं में पायी जाती हैं। उनका बाल-रूप भी वर्णित है, किशोरी और तरुणी-रूप भी; मगर सूरदास की इन स्वभाव और उम्र-सम्बन्धी विविधताओं का अर्थ चित्र की अनेकता नहीं है। उन्होंने राधा का एक सम्पूर्ण चित्र दिया है। अवस्था और परिस्थिति के अनुसार उसमें परिवर्तन दिखायी जरूर देता है, पर यह परिवर्तन चित्र को अधिक सजीव और आकर्षक बना देता है।

आलंकारिकों ने तीन प्रकार की रति मानी है—साधारणी, समंजसा और समर्था। साधारणी रति कुब्जा आदि में, समंजसा मथुरा की रानियों में और समर्था ब्रज-वालाओं में। समर्था रति में भी कई सीढ़ियाँ हैं। प्रथम दशा में रति बीज की नाईं, प्रेम ईख की नाईं, स्नेह रस की तरह, मान गुड़ की तरह, प्रणय खाँड़ की तरह, राग शर्करा (चीनी) की तरह, अनुराग मिश्री की तरह और अन्त में महाभाव सितोपल की भाँति दृष्ट होता है।[2] सूरदास की राधा रुक्मिणी के साथ एक आसन पर दो बहनों की भाँति बैठती है, दोनों ही श्रीकृष्ण की परम प्यारी हैं। आलंकारिकों के अनुसार महाभाव केवल राधा में ही सम्भव है। महाभाव वह है जहाँ

1. उ. नी. म. कि., पृ. 10-12
2. वही, पृ. 13-14

प्रिय-मिलन के सुख के समान कोटि ब्रह्माण्ड का सुख भी नहीं होता और उसके विरह के दुःख के समान कोटि नरक का दुःख भी नहीं होता। इसके भी दो भेद हैं—मोदन और मादन। मोदन की अवस्था में पट्टमहिषी-गण द्वारा आलिंगित होने पर भी श्रीकृष्ण राधा का स्मरण कर मूर्च्छित हो जाते हैं। मादन महाभाव में राधिका को श्रीकृष्ण की मुरली और वनमाला से भी ईर्ष्या होती है। यह मादन महाभाव राधिका में ही सम्भव है। पर सूरदास गोपियों में भी इस अवस्था का वर्णन करते हैं।

भागवतामृत के अनुसार श्रीकृष्ण द्वारिका में पूर्ण, मथुरा में पूर्णतर और ब्रज में पूर्णतम रहते हैं।[1] सूरदास इस मत पर विश्वास करते-से जान पड़ते हैं। सूर-सागर में ब्रज-लीलाओं की अधिकता है, मथुरा की कम और द्वारिका की और भी कम हैं।[2] ब्रज में श्रीकृष्ण ग्यारह वर्ष तक ही रहे। इसी अवस्था में उन्होंने तीन तरह की लीलाएँ कीं। *बाल्य, पौगण्ड और कैशोर।* सूरदास से अधिक स्पष्ट रूप से इन लीलाओं का वर्णन किसी ने नहीं किया। सूरदास की कविता से साफ प्रकट होता है कि ब्रज-लीला के समय भगवान् की अवस्था दस वर्ष के आस-पास थी :

बहुत होहुगे दसैं बरस के बात कहत हौ बनै बनाई।—1142

× × ×

सूरदास अब बड़े भये हौ जोबन दान सुहाई।—1139

× × ×

तरुनाई तन आवन दीजै कत जिय होत बिहाल।

× × ×

माँगत ऐसे दान कन्हाई।
अब समुझी हम बात तुम्हारी प्रकट भई कछु धौं तरुनाई।—1134

× × ×

मतलब यह है कि सूरदास वैष्णव आलंकारिकों के पथ का अनुकरण नहीं करते। कहा जा सकता है कि ऊपर जिन ग्रन्थों के उद्धरणों से सूरदास की कविता की तुलना की गयी है वे सभी सूरदास के परवर्ती हैं या समकालीन। इसलिए उनका 'सूरसागर' में कोई प्रभाव विद्यमान न रहना स्वाभाविक ही है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि ये बातें वैष्णवों में बहुत पहले से प्रचलित थीं। उक्त ग्रन्थों के प्रणेताओं ने उनका संग्रह भर किया है। इस बात को ध्यान में रखने पर सूरदास की स्वतन्त्र सृजन-शक्ति का महत्त्व समझ पड़ता है।

2. सूरदास की कविता का विषय

सूरदास भक्त थे। 'सूरसागर' का कोई भी पाठक कह सकता है कि सूरदास

1. उ. नी. म. वि., पृ. 14-17
2. भागवतामृत-रण, पृ. 7

उस श्रेणी के भक्त नही थे जैसे तुलसीदास। तुलसीदास की कोई भी रचना पढने पर उनके दास्य-भाव की प्रधानता स्पष्ट ही दिखायी पडती है, परन्तु सूरदास मे यह भाव नही के बराबर है। सूरदास की भक्ति में वात्सल्य-भाव और सख्य-भाव की प्रधानता है। माधुर्य-रस के प्रवाह में शायद कभी भी वे गौडीय वैष्णवो जैसा नही बहे। राधा-भाव के भजन 'सूरसागर' में कम नही है, पर सूरदास सर्वत्र उन स्थानों पर तटस्थ की भाँति रहते हैं। कही भी राधा में आत्म-भाव या सखी-भाव नही रखते। आरम्भ में सूरदास, जान पड़ता है, सख्य या वात्सल्य की अपेक्षा दास्य की ओर अधिक झुके थे। 'सूरदास की विनयपत्रिका' के नाम से जो सग्रह प्रकाशित हुआ है, उसमें सूरदास दास्य-रस के ही भक्त जान पडते है। इस अनुमान का समर्थन गोकुलनाथजी की चौरासी वैष्णवो की वार्ता से भी होता है। उक्त ग्रन्थ के अनुसार एक बार महाप्रभु वल्लभाचार्य व्रज में आकर कुछ दिनों तक गऊघाट पर टिके रहे। वहीं सूरदासजी का स्थान था। उनकी भक्ति और गान की मिठास के कारण वहुत लोग सूरदास के सेवक हो गये थे। महाप्रभु के आने की खबर जब सूरदास को मिली तो दर्शनार्थ उनके पास गये। उस समय महाप्रभु ठाकुरजी को भोग समर्पण करके स्वयं भी भोजन करगादी पर विराज रहे थे। सूरदास को देखकर आपने कुछ भगवद्-भजन करने का आदेश किया। सूरदास ने आज्ञा पाकर यह पद गाया :

हरि हौं सब पतितन कौ नायक।
को करि सकै बराबरि मेरी और नही कोउ लायक।
× × ×
ऐसी कितिक गिनाउँ प्रानपति सुमरन है भयौ आड़ौ।
अब की बार निवार लेउ प्रभु सूर पतित कौ टाँड़ौ।

तथा :

प्रभु हौ सब पतितन कौ टीकौ।
और पतित सब द्यौस चारि के हौ तो जनमत ही कौ।
बधिक अजामिल गनिका तारी और पूतना ही कौ।
मोहिं छाँड़ि तुम और उधारे मिटै सूल क्यों जी कौ।
कोउ न समरथ अघ करिबे कौं खैंचि कहत हौं लीकौ।
मरियत लाज सूर पतितन मे मोहू तें को नीकौ।

यह सुन प्रभु ने कहा—"सूर ह्वै के ऐसो घिघियात काहे कों है, कछू भगवत्-लीला वर्णन करि।" इस पर सूरदास ने अपना अज्ञान बताया तब महाप्रभु ने उन्हें स्नान करके उनके पास आकर समझ लेने की आज्ञा दी। यथावत् कर लौट आने पर महाप्रभु ने पहले सूरदास को नाम सुनाया, फिर समर्पण कराया और बाद में भागवत दशम स्कन्ध की अनुक्रमणिका कही। इसके बाद सूरदास को ज्ञानोदय हुआ और सारी भागवत की लीला का स्फुरण हुआ और उन्होने यह पद गाया :

चकई री चलि चरनसरोवर जहाँ न प्रेमवियोग।

यह पद उन्होंने आचार्यकृत दशम स्कन्ध की सुबोधिनी के मंगलाचरण की कारिका के अनुरूप बनाया। वह कारिका इस प्रकार है :

नमामि हृदये शेषे लीलाक्षीराब्धिशायिनम्।
लक्ष्मीसहस्रलीलाभिः सेव्यमानं कलानिधिम्।

सूरदास के पद को सुनकर आचार्य सन्तुष्ट हुए। बाद को सूरदास ने यह पद सुनाया :

ब्रज भयो महर के पूत जब यह बात सुनी। इत्यादि।

इस परम्परा की सचाई पर अविश्वास करने का कोई कारण नहीं है। इसलिए यह मान लिया जा सकता है कि महाप्रभु के संसर्ग में आने के बाद सूरदास ने अपना पुराना रास्ता छोड़ दिया और अपने गानों का मुख्य विषय भगवत्-लीला को ही बना लिया।

'*सूरसागर*' और कुछ नहीं, शुरू से अन्त तक भगवत्-लीला का वर्णन है। इसी लीला के अन्तराल से सूरदास का युग देखना पड़ता है जो सम्पूर्ण न होते हुए भी अस्पष्ट नहीं है। यत्र-तत्र उससे उस युग की रहन-सहन, पहनावा, बोल-चाल, धर्म-विश्वास आदि पर प्रकाश पड़ता है। पर सूरदास ने भूलकर भी इन विषयों पर प्रत्यक्ष रूप से कुछ नहीं लिखा।

कवि सूरदास की बहिरंग-परीक्षा

1. आधुनिक और मध्य-युग का साहित्य

एक बार हम भक्त सूरदास को जहाँ-का-तहाँ छोड़ देना चाहते हैं। केवल कवि सूरदास की चर्चा—सो भी बहिरंग की चर्चा—अनुचित जरूर है, पर इस बीसवीं शताब्दी के लेखक को इस अनौचित्य की सीमा के भीतर प्रवेश करना आवश्यक हो गया है। सूर-साहित्य की बहिरंग-परीक्षा में ही इस अनुचित प्रवेश के कारण पर प्रकाश पड़ेगा।

एक युग था जब साहित्य की रचना ऊँचे आदर्श पर की जाती थी। काव्य हो या नाटक, उसका नायक 'प्रख्यातवंशो राजर्षिः धीरोदात्तः प्रतापवान्' हुआ करता था। उसके वर्ण्य-विषय का यह आवश्यक कर्त्तव्य समझा जाता था कि वह मनुष्य के किसी स्थायी भाव—रति, उत्साह आदि को जाग्रत करे। पर आज वह युग नहीं रह गया है। आज शिक्षा का विस्तार हुआ है, जीवन की समस्याएँ शतमुखी

होकर परिदृष्ट हुई हैं—साहित्य सस्ता हो गया है, साहित्यकार चचल। उस युग का कवि एक ऊँचे आदर्श की कल्पना करता था और पाठक के चित्त को अपनी इन्द्रजाली भाषा के द्वारा ऊपर उठाता था। वह उसी ऊपर के कल्पना-लोक मे मानव-चित्त की सारी अनुभूतियाँ प्रतिफलित करता था जिसका फल यह होता था कि सहृदय का चित्त उससे आनन्द तो ले सकता था पर नाना समस्याओ के बोझ से क्लान्त नहीं हो उठता था। कालिदास के 'मेघदूत' मे ऐसी कोई बात नही है जो साधारण विरही नित्य-प्रति अनुभव न करता हो, परन्तु फिर भी उसमे एक ऐसा गुण है जो सहस्राधिक वर्ष से मनुष्य के चित्त को उद्भ्रान्त किये है। यह गुण है उसका नित्य जीवन के ऊपर के कल्पना-लोक मे अवस्थान। अति प्रकृत यक्ष के मुँह से, मेघो के द्वारा जो सन्देशा, अलकापुरी में (जहाँ चिर यौवन नित्य वर्तमान रहता है), भेजा गया है वह सम्पूर्ण भावजगत् की चीज हो गयी है। आज इतना ऊँचा जाना बेकार समझा जाता है। हमारे सामने ही, नाना भाँति की समस्याएँ पड़ी हुई है जो प्रेम और विरह को नाना भावो से विचित्र बना सकती है, तो हम दूर क्यों जायँ ? एक अशिक्षित मजदूर की विरह-कथा क्या किसी यक्ष की विरह-कथा से कम महत्त्व रखती है ? और फिर प्रेम और विरह की वही एक-घृष्ट (monotonous) पुरानी बातें बार-बार दुहराने की आवश्यकता ही क्या है ? मनुष्य की अन्तर्वृत्ति आज की भौतिक सभ्यता की जटिलता के कारण नाना समस्याओ की क्रीड़ा-भूमि हो गयी है। मजूरो और पूँजीपतियो के नाना मनोभाव इससे पहले इस रूप मे दृष्टिगोचर नही हुए थे; स्त्री और पति के प्रेम में वह पुरानी एकरसता अब नही रह गयी है, उसकी भी नाना दिशाएँ है, नाना समस्याएँ हैं; फिर इन बातों को साहित्य में क्यो न स्थान दिया जाय ? आज स्त्री और पुरुष में प्रतिद्वन्द्विता है, स्वामी और भृत्य मे प्रतिद्वन्द्विता है, शासक और शासित मे प्रतिद्वन्द्विता है, न्यायाधीश और अपराधी मे प्रतिद्वन्द्विता है, साधु और चोर में प्रतिद्वन्द्विता है—संसार प्रतिद्वन्द्वियो का अखाड़ा हो गया है ! साहित्य इन समस्याओ को कैसे भुला दे ?

ठीक ही है। साहित्य जिस वेग से उन्नत हो रहा है, उसे देखते हुए यह आशा करना व्यर्थ है कि वह मध्य-युग के या आदियुग- के परिकल्पित आदर्शो की संकीर्ण सीमा में बैठा रहेगा। वस्तुतः आज यही हो रहा है। ससार के किसी भी बड़े कवि या नाटककार की रचना को पढ़ जाइए, उसमे एक ही प्रयत्न नाना रूपों में चित्रित मिलेगा—वर्त्तमान समस्याओं का समाधान। परन्तु ये वर्त्तमान समस्याएँ हैं क्या ? एक शब्द मे कहना हो तो कहेगे—अप्रेम।

जिस साहित्य की नीव अप्रेम पर हो वह ऊँचा हो सकता है, गम्भीर तत्त्वपूर्ण भी हो सकता है; पर स्थायी नही होगा। मध्य-युग के भक्त कवियों मे इस प्रकार की समस्याओं के समाधान की कोई ऐसी प्रवृत्ति नहीं है—समस्याएँ भी इतनी अधिक नहीं थी—परन्तु वह एक सुदृढ़ नीव पर स्थापित है, यह सुदृढ नीव है प्रेम।

ऊपर की बात हम जितनी जल्दी कह गये हैं, शायद उतनी जल्दी मे कहना

की अन्याय-परायणता, प्रेम की अप्रियता, विवाह की विच्छिन्नता, धर्म की अधार्मिकता, घृणा का प्रेम दिखा देगा और बस। आप जिस दुनिया में है वह दुनिया और भी नग्न होकर आपके सामने आ जायेगी।

मध्य-युग का कवि भी कम-बेशी दुनिया को उसके वास्तविक रूप मे दिखायेगा। सूरदास, तुलसीदास, कबीरदास, सबने दुनिया के उस मायावी अग की ओर अंगुलि-निर्देश किया है। परन्तु उस युग की कविता मे—हम केवल कविता की बात कह रहे हैं, भक्ति-भरे पदो की नही—यह समस्या नितान्त गौण स्थान अधिकार करती है। वही मुख्य होकर नही आती। आप अगर न भी जानें कि किन सासारिक अड़चनो की ओर इशारा किया गया है तो भी रस-बोध मे रत्ती भर भी कमी नही आयेगी। परन्तु आज का कोई नाटक या काव्य या उपन्यास, जिसमे आधुनिक समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है, पढिए—आप निरन्तर सोचते रहेंगे, 'वाकई हम लोग इस प्रकार की पेचीदी जिन्दगी बसर कर रहे है और हमारा ध्यान भी कभी इधर नही जाता।' देखना है कि इसका कारण क्या है। क्यों मध्य-युग का कवि अपने पारिपार्श्विक जगत् से इतना ऊँचा उठ जाता है। सूरदास को लेकर ही अध्ययन आरम्भ किया जाय।

इस प्रश्न के उठते ही सबसे पहली बात जो आँखो के सामने आती है वह है साहित्य के आकार की। इस युग का साहित्यिक साहित्य को एक विशुद्ध आधुनिक वेश मे सजाता है। इसकी भूमिका पाठक की कल्पना-भूमि के साथ एक ही तल मे रहेगी। जितनी ही यह उस तल मे रहेगी, इस साहित्य के लिए उतनी ही अधिक सुविधा होगी। परन्तु मध्य-युग का कवि अपनी भूमिका पाठक की भूमिका से कही ऊँची—अवश्य ही, समानान्तर—रखेगा।

असीम और निरपेक्ष कृष्ण के साथ ससीम और सापेक्ष गोपियो की प्रेम-लीला ऊपर से कितनी ही मोहक हो, है एक अतुलनीय tragedy। उस विरह का कोई कूल-किनारा नही, कोई हद्दो-हिसाब नही। वैष्णव कवि अपने साहित्यिक आकार के लिए इस सनातन-कथा को चुनेगा और फिर संसार का सारा हाव-भाव, लीला-विभ्रम इस महासागर मे लीन कर देगा। उद्धव-सवाद के बहाने 'सूरसागर' की स्थिर गम्भीर वारि-राशि मे संसार की सारी व्याकुलता और सारी विरह-वेदना प्रतिबिम्बित हुई है। गोपियो की प्रेम-लीला मर्त्यलोक के मनुष्य की पहुँच से कितनी ही ऊँची क्यों न हो, है उसके समानान्तर। इस आकार-निर्वाचन मे वैष्णव कवि की समता संसार के शायद ही कुछ कवि कर सकें। यही मध्य-युग का कवि आधुनिक युग के कवि से अलग हो जाता है।

साहित्य-सृष्टि की मूल शक्ति का नाम संश्लेषणी है, विश्लेषणी नही। स्थायी साहित्य की रचना के लिए आवश्यक है एक अत्यन्त दृढ समुन्नत भूमि। वह एक तरफ जहाँ मानव-चित्र के अति निकट नही होना चाहिए, वही दूसरी ओर उसमें सामयिकता की ऐसी निकटता भी नही होनी चाहिए जो चित्त को तत्तद् समस्याओं में उलझा दे। वर्तमान साहित्य इस रास्ते पर नही चल रहा है। उसमे विश्लेष की

अनुचित हुआ है। क्या सचमुच मध्य-युग के सामने कोई समस्या नहीं थी? इसी अध्ययन के पिछले अध्यायों का हवाला देकर बताया जा सकता है कि उस समय भी समाज को एक विकट समस्या का समाधान करना पड़ रहा था। सूरदास आदि भक्तों ने अपने ढंग से उसके समाधान का प्रयत्न भी किया था। और फिर हमसे पूछा जा सकता है—आज के इस विराट् साहित्यिक प्रयत्न में क्या सचमुच कोई स्थायित्व का चिह्न नहीं है? क्या सचमुच फील्डिंग, स्मोलेट, बालजाक, दोदे, ज़ोला, अनातोले फ्रान्स, गेटे, तुर्गनेव, टालस्टाय, बर्नर्ड शा, गाल्सवर्दी, मेटरलिंक, रवीन्द्रनाथ और प्रेमचन्द, एक अस्थिर साहित्य की सृष्टि कर रहे हैं या कर गये हैं? इन बड़े-बड़े साहित्य-महारथियों में अनेक के ग्रन्थ-रत्नों को मौलिक या अनूदित रूप में देखने का सौभाग्य इन पंक्तियों के लेखक को नहीं प्राप्त हुआ। जो कुछ देखा है, या देखनेवालों के मुँह से सुना है, वह निश्चय ही अपूर्व है। कितने ही साहित्यिकों के ग्रन्थ-रत्नों को निश्चय ही यह कृतज्ञ संसार चिरकाल रक्षित रखेगा।

फिर सूरदास आदि मध्य-युग के कवियों और इन आधुनिक साहित्यिकों में भेद क्या रहा? सूरदास भी अपने युग की समस्याओं का समाधान कर गये हैं, मेटरलिंक या गाल्सवर्दी भी वही कर रहे या कर गये हैं। सूरदास के युग में भी कितने ही कवि ऐसे हो गये हैं जो संसार में नाम-शेष होकर भी नहीं रह सके और इस युग में ऐसे कवि-रत्न हैं जो चिरकाल के लिए अपनी कीर्ति छोड़ जायेंगे। फिर कौन-सी ऐसी विभाजक रेखा है जो मध्य-युग के कवियों की विशेषता का निर्देश करेगी?

सच पूछिए तो भेद है; और इसी भेद के अनुसन्धान के लिए हम सूरदास को केवल कवि के रूप में देखना चाहते हैं। वह भेद है, आकृति और प्रकृति का, भाषा और भाव का, रूप और रस का, शरीर और आत्मा का। आधुनिक साहित्य-निर्माता के ग्रन्थ में बिना किसी अपवाद के आप एक गुण पायेंगे। पन्ने के बाद पन्ना पढ़ते जाइए, आपका मस्तिष्क नहीं ऊबेगा। प्रत्येक पन्ने में कुछ ज्ञान-विज्ञान की, कुछ तत्त्व-अतत्त्व की बातें इस सुन्दरता के साथ लिखी मिलेंगी कि आप मन्त्र-मुग्ध की भाँति आगे बढ़ते जायेंगे। दूसरी ओर, मध्य-युग के या आदि-युग के किसी महाकाव्य को लीजिए—उदाहरण के लिए वाल्मीकीय रामायण। जगह-जगह पर फीके श्लोक ही नहीं मिलेंगे, अध्याय का अध्याय अनावश्यक बोझ-सा जान पड़ेगा। फिर भी उस युग के महाकाव्य में सब मिलाकर कुछ मिलेगा, परन्तु इस युग का ग्रन्थ समाप्त होने के बाद आपको जहाँ-का-तहाँ छोड़ देगा। उस युग का काव्य महानद के समान है, उसके दस-बीस-पचास तरंग निरर्थक या शिथिल भी हों तो कोई हर्ज नहीं, बीच-बीच में शैवाल-पुंज के कारण आविलता भी आ गयी हो तो कुछ बात नहीं—अन्त में वह रस के महासमुद्र की ओर ले जायेगा ही। दूसरी ओर इस युग के काव्य का प्रत्येक पन्ना एक-एक मणि है। एक के बाद दूसरे रत्न की आभा पर मुग्ध होते जाइए परन्तु यहीं तक, इसके आगे नहीं। वर्तमान युग का समस्या-नाटक आपकी आँख में उँगली घुसेड़कर कानून की दुर्बलता, न्याय

की अन्याय-परायणता, प्रेम की अप्रियता, विवाह की विच्छिन्नता, धर्म की अधार्मिकता, घृणा का प्रेम दिखा देगा और बस। आप जिस दुनिया मे है वह दुनिया और भी नग्न होकर आपके सामने आ जायेगी।

मध्य-युग का कवि भी कम-वेशी दुनिया को उसके वास्तविक रूप मे दिखायेगा। सूरदास, तुलसीदास, कबीरदास, सबने दुनिया के उस मायावी अग की ओर अंगुलि-निर्देश किया है। परन्तु उस युग की कविता मे--हम केवल कविता की बात कह रहे है, भक्ति-भरे पदों की नही—यह समस्या नितान्त गौण स्थान अधिकार करती है। वही मुख्य होकर नही आती। आप अगर न भी जाने कि किन सांसारिक अड़चनों की ओर इशारा किया गया है तो भी रस-बोध में रत्ती भर भी कमी नही आयेगी। परन्तु आज का कोई नाटक या काव्य या उपन्यास, जिसमे आधुनिक समस्याओ पर प्रकाश डाला गया है, पढिए—आप निरन्तर सोचते रहेंगे, 'वाकई हम लोग इस प्रकार की पेचीदी जिन्दगी बसर कर रहे है और हमारा ध्यान भी कभी इधर नही जाता।' देखना है कि इसका कारण क्या है। क्यों मध्य-युग का कवि अपने पारिपार्श्विक जगत् से इतना ऊँचा उठ जाता है। सूरदास को लेकर ही अध्ययन आरम्भ किया जाय।

इस प्रश्न के उठते ही सबसे पहली बात जो आँखो के सामने आती है वह है साहित्य के आकार की। इस युग का साहित्यिक साहित्य को एक विशुद्ध आधुनिक वेश मे सजाता है। इसकी भूमिका पाठक की कल्पना-भूमि के साथ एक ही तल मे रहेगी। जितनी ही यह उस तल में रहेगी, इस साहित्य के लिए उतनी ही अधिक सुविधा होगी। परन्तु मध्य-युग का कवि अपनी भूमिका पाठक की भूमिका से कही ऊँची—अवश्य ही, समानान्तर—रखेगा।

असीम और निरपेक्ष कृष्ण के साथ ससीम और सापेक्ष गोपियो की प्रेम-लीला ऊपर से कितनी ही मोहक हो, है एक अतुलनीय tragedy। उस विरह का कोई कूल-किनारा नही, कोई हद्दो-हिसाब नही। वैष्णव कवि अपने साहित्यिक आकार के लिए इस सनातन-कथा को चुनेगा और फिर संसार का सारा हाव-भाव, लीला-विभ्रम इस महासागर मे लीन कर देगा। उद्धव-संवाद के बहाने 'सूरसागर' की स्थिर गम्भीर वारि-राशि में संसार की सारी व्याकुलता और सारी विरह-वेदना प्रतिबिम्बित हुई है। गोपियो की प्रेम-लीला मर्त्यलोक के मनुष्य की पहुँच से कितनी ही ऊँची क्यों न हो, है उसके समानान्तर। इस आकार-निर्वाचन में वैष्णव कवि की समता संसार के शायद ही कुछ कवि कर सकें। यही मध्य-युग का कवि आधुनिक युग के कवि से अलग हो जाता है।

साहित्य-सृष्टि की मूल शक्ति का नाम संश्लेषणी है, विश्लेषणी नही। स्थायी साहित्य की रचना के लिए आवश्यक है एक अत्यन्त दृढ़ समुन्नत भूमि। वह एक तरफ जहाँ मानव-चित्र के अति निकट नही होना चाहिए, वही दूसरी ओर उसमे सामयिकता की ऐसी निकटता भी नही होनी चाहिए जो चित्त को तत्तद् समस्याओं मे उलझा दे। वर्तमान साहित्य इस रास्ते पर नही चल रहा है। उसमे विश्लेष की

प्रधानता है, संश्लेष या संघात की नहीं; वह किसी दृढ़ समुन्नत भित्ति पर अवस्थित नहीं है, अथच उसमें सामयिकता की मात्रा पर्याप्त है। इस दृष्टि से जहाँ मध्य-युग का साहित्य आकार में इससे भेद रखता है, वहाँ प्रकार में भी। इस युग के साहित्य मे विश्लेप इतने वेग से दिखायी नहीं पड़ा। यह ठीक है कि आदि-युग के काव्य की अपेक्षा मध्य-युग का काव्य अधिक विश्लेप-प्रवण है पर उतना तो एकदम नहीं जितना आज का।

सूरसागर के प्रत्येक पद को उसी मे स्वतन्त्र समझा जा सकता है तथापि सारा सूरसागर 'सागर' है। उसकी एक-एक तरंग जिस प्रकार विश्लिप्ट भाव से पूर्ण है उसी तरह संश्लिप्ट भाव से भी। सूरदास की यह विशेषता है। वे विश्लेप में भी अनुपम है, संघात में भी।

इसके बाद ही मध्य-युग और वर्त्तमान युग की विभाजक दूसरी रेखा दिखायी पड़ती है। वह है भापा और भाव की। अधुनातन साहित्य वस्तुवाद का पुजारी है। वह सब ओर से natural या real (स्वाभाविक या वास्तव) होना चाहता है। और क्षेत्रों मे नाना क्षेत्रों का विवाद रह सकता है; पर भापा और भाव में वह निश्चय ही real होगा। एक मजदूर की बातों मे वह केवल मजदूर की प्रकृति, पहुँच और रचना भर को ही ध्यान में नहीं रखेगा, उसका उच्चारण, उसकी व्याकरण-सम्बन्धी गलतियाँ और मुहावरो की भूल भी ज्यों-की-त्यों रख देगा। मध्य-युग के संस्कृत नाटकों में यह प्रवृत्ति दिखायी पड़ी थी, पर वह एक सीमा तक आकर रुक गयी। आज का साहित्य रुकने का नाम नहीं जानता, उसे केवल आगे बढ़ना मालूम है—निरन्तर आगे बढ़ना।

संस्कृत भापा का एक शब्द है 'भाव'; अर्थ है, 'that, what is—जो है!' यही 'that, what is' आज के साहित्य की प्रधान बात है। परन्तु 'भाव' कहाँ का? भारतीय पण्डितों का कहना है—'भीतर का'। ऊपरी आवरण चाहे जैसा हो, देखो उससे भीतर की वह चीज स्पप्ट हुई है या नहीं, 'जो है'—what is! गोपियों की भापा गोपियो के अनुरूप है या नहीं—इससे कुछ आता-जाता नहीं। योग-मार्ग के उपदेशक उद्धव की भापा में दार्शनिक गम्भीरता है या नहीं—इस चिन्ता की आवश्यकता नहीं। केवल देखो, उन्होंने हृदय के जिस 'भाव' ('जो-है') को छूना चाहा था उसे छू पाया है या नहीं। अगर छू पाया है, काम हो चुका—'भाव अनूठो चाहिए भापा कोऊ होय!' सूरदास की भापा का लक्ष्य उसी भाव को छूना है, वह आलंकारिक भी है, सादी भी है, चित्रमय भी है, पर है सर्वत्र भाव की अनुगामिनी। वह real और unreal से बहुत ऊपर है।

सौ बात की एक बात यह कि मध्य-युग की कविता रूप और रस को अपने-अपने स्थान पर अच्छी तरह सजाती है। रस की सृष्टि करते समय वह रूप को अग्रसर नहीं कर देती और रूप की रचना के समय वह उसे नीरस नहीं होने देती। उसका रूप रस का आश्रय है, रस रूप का पूरक।

इतना सुन लेने के बाद हमारे पाठक शायद हमको यह अधिकार देंगे कि हम

मध्य-युग की कविता की आत्मा की ओर इशारा करे। यह आत्मा है प्रेम। बीसवीं शताब्दी की प्रतिद्वन्द्विता की समस्याएँ सौ-पचास वर्ष मे या तो लुप्त हो जायेंगी या दूसरा रूप धारण कर लेंगी। पर श्रीकृष्ण और राधिका की सुदृढ समुन्नत भूमि पर प्रतिष्ठित ये प्रेम और विरह के गान अनन्त काल तक यों ही बने रहेंगे। न इनमें जीर्णता आयेगी, न मृत्यु। इनकी आत्मा है जो,

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः।
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कश्चित्प्रमातृभिः
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रस।

2. सूरदास का साहित्य, उनकी जीवनी और प्रभाव

अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में एक फ्रेंच पण्डित ने सूरदास के कुछ भजनों का फ्रेंच भाषा में अनुवाद किया था। ये भजन उसने किसी ग्रामीण भिखारी के मुँह से सुने थे। इसके बाद पचास साल तक यूरोप में किसी ने इनके पदों का कुछ परिचय प्राप्त किया या नहीं, नहीं मालूम। उस समय के कुछ अनधिकारी पादरियों ने कृष्णायत सम्प्रदायों और कृष्ण-भक्तों के विरुद्ध एक विषैला वातावरण तैयार कर रखा था। पी. ज्योर्ग्री (P. Georgri) नामक एक ऐसे ही पादरी ने प्रचार किया था कि कृष्ण वस्तुतः प्रभु (क्राइष्ट) का नामान्तर है जिसे अति दुष्ट वंचकों (हिन्दुओं) ने बड़ी धूर्तता और नीचता के साथ इस पवित्र चरित्र को गँदला कर दिया है! (Cunningly and impiously polluted by most wicked imposters) जहाँ इस प्रकार का विकृत वायुमण्डल हो वहाँ से कुछ आशा करना व्यर्थ है।

परन्तु यह अवस्था बहुत दिनों तक नहीं रही। एफ. एस. ग्राउज़ (F. S. Growse) नामक प्रसिद्ध पण्डित ने सन् 1883 में 'चौरासी वैष्णवों की वार्त्ता' का कुछ अंश अंग्रेज़ी मे अनूदित किया। इससे यूरोप के पण्डितों का ध्यान सूर-साहित्य की ओर आकृष्ट हुआ। विल्सन की प्रसिद्ध पुस्तक The Religious Sects of the Hindus में भी कुछ अंश अनूदित होकर प्रकाशित हुआ था। परन्तु सूरदास का वास्तविक परिचय कराया हिन्दी-साहित्य के अति परिचित पण्डित ग्रियर्सन ने। सन् 1889 में कलकत्ता से इनकी पुस्तक The Modern Vernacular Literature of Hindustan (हिन्दुस्तान की वर्तमान देशी भाषाओं का साहित्य) प्रकाशित हुई। उसी साल के 'जर्नल ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी बंगाल' में आपने हिन्दी कवियों की एक नामावली भी प्रकाशित करायी। सन् 1907 के एक लेख में ग्रियर्सन साहब ने अपनी पुस्तक की तारीखों की अप्रामाणिकता स्वीकार की है। (The dates in this are frequently taken from the native sources and are not always to be relied upon)

यूरोप के पण्डितों ने इस भक्त-कवि की महिमा को हृदयंगम किया हो या

प्रधानता है, संश्लेष या संघात की नहीं; वह किसी दृढ़ समुन्नत भित्ति पर अवस्थित नहीं है, अथच उसमें सामयिकता की मात्रा पर्याप्त है। इस दृष्टि से जहाँ मध्य-युग का साहित्य आकार में इससे भेद रखता है, वहाँ प्रकार में भी। इस युग के साहित्य में विश्लेष इतने वेग से दिखायी नहीं पड़ा। यह ठीक है कि आदि-युग के काव्य की अपेक्षा मध्य-युग का काव्य अधिक विश्लेष-प्रवण है पर उतना तो एकदम नहीं जितना आज का।

सूरसागर के प्रत्येक पद को उसी में स्वतन्त्र समझा जा सकता है तथापि सारा सूरसागर 'सागर' है। उसकी एक-एक तरंग जिस प्रकार विश्लिष्ट भाव से पूर्ण है उसी तरह संश्लिष्ट भाव से भी। सूरदास की यह विशेषता है। वे विश्लेष में भी अनुपम है, संघात में भी।

इसके बाद ही मध्य-युग और वर्तमान युग की विभाजक दूसरी रेखा दिखायी पड़ती है। वह है भाषा और भाव की। अधुनातन साहित्य वस्तुवाद का पुजारी है। वह सब ओर से natural या real (स्वाभाविक या वास्तव) होना चाहता है। और क्षेत्रों में नाना क्षेत्रों का विवाद रह सकता है; पर भाषा और भाव में वह निश्चय ही real होगा। एक मजदूर की बातों में वह केवल मजदूर की प्रकृति, पहुँच और रचना भर को ही ध्यान में नहीं रखेगा, उसका उच्चारण, उसकी व्याकरण-सम्बन्धी गलतियों और मुहावरों की भूल भी ज्यों-की-त्यों रख देगा। मध्य-युग के संस्कृत नाटकों में यह प्रवृत्ति दिखायी पड़ी थी, पर वह एक सीमा तक आकर रुक गयी। आज का साहित्य रुकने का नाम नहीं जानता, उसे केवल आगे बढ़ना मालूम है—निरन्तर आगे बढ़ना।

संस्कृत भाषा का एक शब्द है 'भाव'; अर्थ है, 'that, what is—जो है!' यही 'that, what is' आज के साहित्य की प्रधान बात है। परन्तु 'भाव' कहाँ का? भारतीय पण्डितों का कहना है—'भीतर का'। ऊपरी आवरण चाहे जैसा हो, देखो उससे भीतर की वह चीज स्पष्ट हुई है या नहीं, 'जो है'—what is! गोपियों की भाषा गोपियों के अनुरूप है या नहीं—इससे कुछ आता-जाता नहीं। योग-मार्ग के उपदेशक उद्धव की भाषा में दार्शनिक गम्भीरता है या नहीं—इस चिन्ता की आवश्यकता नहीं। केवल देखो, उन्होंने हृदय के जिस 'भाव' ('जो-है') को छूना चाहा था उसे छू पाया है या नहीं। अगर छू पाया है, काम हो चुका—'भाव अनूठो चाहिए भाषा कोऊ होय!' सूरदास की भाषा का लक्ष्य उसी भाव को छूना है, वह आलंकारिक भी है, सादी भी है, चित्रमय भी है, पर है सर्वत्र भाव की अनुगामिनी। वह real और unreal से बहुत ऊपर है।

सौ बात की एक बात यह कि मध्य-युग की कविता रूप और रस को अपने-अपने स्थान पर अच्छी तरह सजाती है। रस की सृष्टि करते समय वह रूप को अग्रसर नहीं कर देती और रूप की रचना के समय वह उसे नीरस नहीं होने देती। उसका रूप रस का आश्रय है, रस रूप का पूरक।

इतना सुन लेने के बाद हमारे पाठक शायद हमको यह अधिकार देंगे कि हम

मध्य-युग की कविता की आत्मा की ओर इशारा करें। यह आत्मा है प्रेम। बीसवी शताब्दी की प्रतिद्वन्द्विता की समस्याएँ सौ-पचास वर्ष मे या तो लुप्त हो जायेगी या दूसरा रूप धारण कर लेंगी। पर श्रीकृष्ण और राधिका की सुदृढ समुन्नत भूमि पर प्रतिष्ठित ये प्रेम और विरह के गान अनन्त काल तक यो ही बने रहेंगे। न इनमें जीर्णता आयेगी, न मृत्यु। इनकी आत्मा है जो,

सत्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदर'।
लोकोत्तरचमत्कारप्राण' कश्चित्प्रमातृभि.
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रस ।

2. सूरदास का साहित्य, उनकी जीवनी और प्रभाव

अठारहवी शताब्दी के अन्तिम भाग मे एक फ्रेंच पण्डित ने सूरदास के कुछ भजनो का फ्रेंच भाषा में अनुवाद किया था। ये भजन उसने किसी ग्रामीण भिखारी के मुँह से सुने थे। इसके बाद पचास साल तक यूरोप मे किसी ने इनके पदो का कुछ परिचय प्राप्त किया या नही, नही मालूम। उस समय के कुछ अनधिकारी पादरियो ने कृष्णायत सम्प्रदायो और कृष्ण-भक्तो के विरुद्ध एक विषैला वातावरण तैयार कर रखा था। पी. ज्योर्ग्री (P. Georgn) नामक एक ऐसे ही पादरी ने प्रचार किया था कि कृष्ण वस्तुत: प्रभु (क्राइष्ट) का नामान्तर है जिसे अति दुष्ट वंचकों (हिन्दुओं) ने बड़ी धूर्त्तता और नीचता के साथ इस पवित्र चरित्र को गँदला कर दिया है! (Cunningly and impiously polluted by most wicked imposters) जहाँ इस प्रकार का विकृत वायुमण्डल हो वहाँ से कुछ आशा करना व्यर्थ है।

परन्तु यह अवस्था बहुत दिनों तक नही रही। एफ. एस. ग्राउज (F. S. Growse) नामक प्रसिद्ध पण्डित ने सन् 1883 मे 'चौरासी वैष्णवो की वार्त्ता' का कुछ अंश अंग्रेजी मे अनूदित किया। इससे यूरोप के पण्डितो का ध्यान सूर-साहित्य की ओर आकृष्ट हुआ। विल्सन की प्रसिद्ध पुस्तक The Religious Sects of the Hindus में भी कुछ अंश अनूदित होकर प्रकाशित हुआ था। परन्तु सूरदास का वास्तविक परिचय कराया हिन्दी-साहित्य के अति परिचित पण्डित ग्रियर्सन ने। सन् 1889 मे कलकत्ता से इनकी पुस्तक The Modern Vernacular Literature of Hindustan (हिन्दुस्तान की वर्तमान देशी भाषाओं का साहित्य) प्रकाशित हुई। उसी साल के 'जर्नल ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी बंगाल' में आपने हिन्दी कवियों की एक नामावली भी प्रकाशित करायी। सन् 1907 के एक लेख में ग्रियर्सन साहब ने अपनी पुस्तक की तारीखों की अप्रामाणिकता स्वीकार की है। (The dates in this are frequently taken from the native sources and are not always to be relied upon.)

यूरोप के पण्डितो ने इस भक्त-कवि की महिमा को हृदयंगम किया हो या

नहीं, भारतवर्ष के पण्डितों ने बहुत पुराने ज़माने से अपना हृदय खोलकर इनके चरणों में अपनी श्रद्धाजलि अर्पण की है। पुराने ज़माने की 'चौरासी वैष्णवों की वार्त्ता' 'भक्तमाल' आदि पुस्तकों से लेकर इस युग के नाना पण्डितों की आलोचनाओं में इस महाकवि के प्रति असंकोच आदर-भाव प्रदर्शित किया गया है। इस युग में सूरदास के प्रति जो श्रद्धांजलि दी गयी उसमें सर्वश्रेष्ठ, और शायद सर्वप्रथम भी, है भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की। इसके बाद अन्य अनेक पण्डितों ने इस साहित्य का रसास्वादन किया और कराया है। साहित्य की छानबीन भी हुई है और फलस्वरूप सूरदास की वास्तविक जीवनी और उनकी लिखी पुस्तकों की वास्तविक तालिका भी तैयार करने की कोशिश की गयी है। पता चला है कि उनके बनाये ग्रन्थों के नाम हैं—'सूरसागर', 'सूरसारावली', 'साहित्य-लहरी', 'भागवत दशम स्कन्ध की टीका', 'ब्याहलो' और 'नलदमयन्ती'। 'सूरसारावली' 'सूरसागर' का ही संक्षिप्त संस्करण है। 'साहित्य-लहरी' उनके दृष्टकूटों में कुछ और जोड़कर रची गयी है। नाग-लीला और पद-संग्रह सूरसागर के ही भाग हैं। अन्तिम तीन ग्रन्थों ('टीका', 'ब्याहलो' और 'नल-दमयन्ती') के बारे में पण्डितों को सन्देह है कि ये सूरदास के रचित हैं या नहीं। अर्थात् 'सूरसागर' ही उनका ग्रन्थ है!

वास्तविक जीवनी? पण्डितों ने अथक परिश्रम के बाद उनकी निकटतम वास्तविक जीवनी खोज निकाली है। और वास्तविक ग्रन्थ तालिका? वह भी तैयार कर ली गयी है! कहा जाता है, 'सूरसागर' में सवा लाख पद हैं; पर पण्डितों ने देखा है, दस हज़ार भी नहीं हैं। कहा जाता है सूरदास ने अपनी प्रेमिका से आँखें फुड़वा ली थी, पण्डित-मण्डली को इसका कोई प्रमाण नहीं मिला। कहा जाता है सूरदास को भगवान् ने कुएँ में से निकाला था। पण्डित लोग इन बच्चों की-सी बातों पर हँसकर रह गये हैं और फिर भी वास्तविक जीवनी तैयार है।

पण्डित-मण्डली मुझे क्षमा करे—मैं उसके परिश्रम और उसकी ईमानदारी का आदर करता हूँ—सूरदास की वास्तविक जीवनी वह नहीं है जो ऐतिहासिक प्रमाणों के बल पर तैयार की गयी है। उनका वास्तविक साहित्य वह नहीं है जो पुरानी कीट-क्लिष्ट पोथियों में लिखा गया है। कोटि-कोटि भारतवासी के हृदय पर वह साहित्य लिखा हुआ है। वही उनका वास्तविक साहित्य है। उसमें सचमुच सवा लाख पद हैं—सवा लाख, असंख्य! और उनकी वास्तविक जीवनी इस प्रकार है:

उस दिन यमुना के किनारे अचानक एक प्रौढ युवक दिखायी दिया। संसार में वह उसी रूप में आया था। उसका रंग गौर, मुँह सुन्दर, बातें मीठी और रूप लुभावना था। वह साधु था।

युवक साधु की ओर देखकर उसकी ओर आकृष्ट हुए बिना नहीं रहा जाता था। पौर-युवतियाँ इस साधु के चरणों में अपनी भक्ति भेंट करने के लिए उतावली हो उठीं। साधु निर्मम, निःस्पृह भाव से सबकी ओर देखता, आशीर्वाद देता और फिर भगवान् का नाम जपने लगता।

एक दिन साधु ध्यानावस्थ होकर बैठा था। पौर-युवतियों का दल आज भी अपने पति-पुत्र की मंगलकामना से साधु को प्रणाम कर रहा था। साधु आज चंचल था। उसने जोर से आँखें मूंद ली। इसी समय उसे ऐसा जान पड़ा कि वह जिसका ध्यान कर रहा था वह हृदय से निकल भागा। भगवान् को हृदय में न पाकर साधु व्याकुल हो उठा। इधर-उधर खोजने के लिए आँखें खोली और लो, उसके भगवान् एक अपूर्व, अभिनव वेश में सामने ही खड़े मिले ! इस बार उन्होंने मोहिनी मूर्ति धारण की थी। सामने एक स्त्री थी। साधु तरुण, इस भगवान् के मनोहर रूप पर मुग्ध हो गया और चल पड़ा समाधि छोड़कर उसके पीछे-पीछे !

इसी समय उसने देखा भगवान् फिर एक बार हृदय में आ गये हैं, वह लौट पड़ा ! पर कहाँ, भगवान् तो फिर उसी मोहिनी में समा गये ! अन्त में अनुसरण ही श्रेष्ठ-पन्थ जान पड़ा। उस युवती ने समझा, आज भाग्य जगा जो महात्मा हमारे घर पधारे।

युवती ने पूछा, "क्या सेवा करूँ ?"

महात्मा ने कहा, "दो तीक्ष्ण काँटे ले आओ।"

युवती ने तत्काल आज्ञा-पालन की। साधु बोला :

"देवि,[1] तुम्हें क्या मालूम है मैंने इन पापी आँखों को बन्द करके तुम्हें देखा है। मेरी विभोर वासना तुम्हारे इसी मुख की ओर दौड़ पड़ी थी। उस समय तुम्हारे विमल हृदयरूपी आईने में मेरे कलुष-नि:श्वास की कुछ छाया पड़ी थी। लज्जा ने सहसा आकर वस्त्र की भाँति रंगीन आवरण से तुम्हारे मुख को इन लुब्ध नयनों से बचाने के लिए ढक लिया था। वह मेरी मोहमयी चंचल लालसा काले भौंरे की भाँति तुम्हारे दृष्टि-पथ के चारों ओर क्या गुनगुना रही थी ?"

युवती कुछ समझ नहीं पायी। आश्चर्य से उस तरुण साधु की ओर ताकती रह गयी।

साधु ने कहा, "लो,[2] इन तीक्ष्ण काँटों से मेरी काली आँखें फोड़ दो। जिन आँखों की प्यास तुम्हारे लिए है, वे तुम्हारे ही हों।"

उस समय सन्ध्या-सूर्य आकाश के प्रान्त भाग में जा चुका था। युवती के व्रीड़ा-रक्त कपोलों पर सन्ध्या की लाली पड़कर उसे और भी गाढ़ कर रही थी। साधु एक बार फिर चंचल हो उठा :

"जरा[3] ठहरो। समझ नहीं रहा हूँ। ज़रा सोच लेने दो। संसार को लुप्त कर देनेवाला यह चिर अन्धकार क्या सदा यों ही रहेगा ? क्रमशः धीरे-धीरे उसमें तुम्हारी यह मधुर मूर्ति, पवित्र मुख और स्निग्ध आनत आँखें क्या फूट नहीं पड़ेंगी ? इस समय जैसे देवी की प्रतिमा की भाँति खड़ी हो; स्थिर, गम्भीर, करुण नयनों से मेरे हृदय की ओर देख रही हो, वातायन से सन्ध्या-किरण आकर तुम्हारे

1. श्री रवीन्द्रनाथ की 'सूरदासेर प्रार्थना' कविता से।
2. वही।
3. वही।

व्याकरण की दृष्टि से उतनी ही शुद्ध हो सकती है जितनी पहली या दूसरी श्रेणी की, परन्तु उसमें वह प्रवाह कहाँ ! अब हम पहली और दूसरी श्रेणी की कविताओं की भाषा पर विचार करें।

'सूरसागर' की भाषा पर लिखते समय क्या लिखा जाय ? क्या यही कि सूरदास ने 'देख्यौ' लिखा है या 'देख्यो' ? या सूरदास की भाषा के अध्ययन से सौरसेनी और महाराष्ट्री प्राकृत भाषाओं की पुरानी वास-भूमि पर कोई प्रकाश पड़ता है या नहीं ? अब तक विद्वानों का विचार रहा है कि महाराष्ट्री प्राकृत महाराष्ट्र प्रान्त की भाषा थी। अब अध्यापक मनमोहन घोष के रिसर्चों ने सिद्ध किया है कि वस्तुतः महाराष्ट्री मध्यदेश की ही भाषा थी। उनका विश्वास है कि सूरदास आदि पुराने ब्रजभाषी कवियों की भाषा इस विषय पर और प्रकाश डाल सकती है। हम इन प्रश्नों की गुरुता समझते हैं, परन्तु इस परिमित क्षेत्र में हम इधर-उधर दौड़ना अच्छा नहीं समझते। इसके लिए पर्याप्त समय की भी आवश्यकता है। तो 'सूरसागर' की भाषा पर क्या विचार लिखा जाय ? सच पूछा जाय तो जब तक 'सूरसागर' का कोई सुसम्पादित प्रामणिक संस्करण प्रकाशित नहीं हो जाता, तब तक उसके भाषाशास्त्रीय अंग पर विचार करना पानी पर लकीर खींचना है। जिन प्रतियों को लेकर यह अध्ययन आरम्भ किया गया है, वे इतनी अशुद्ध हैं कि जिसका कोई हद्दो-हिसाब नहीं। इसलिए हम 'सूरसागर' की भाषा के काव्यांग पर ही विचार करना चाहते हैं।

गद्य और पद्य में यह अन्तर है कि गद्य का लेखक स्वतन्त्र रहता है, पद्य का परतन्त्र। गद्य-लेखक चाहे जितने शब्दों को और चाहे जितनी मात्राओं को काम में ला सकता है, पर पद्य का लेखक कुछ अक्षरों और मात्राओं से अधिक या कम का व्यवहार नहीं कर सकता। गद्य का लेखक दुनियावी प्रयोजनों को लक्ष्य करके लिखता है, उसका पराजय उस स्थान पर है जहाँ वह उस प्रयोजन को प्रकट करने के लिए कम शब्दों का प्रयोग करके अस्पष्ट कर दे या अधिक शब्दों का प्रयोग करके निरर्थक। पद्य का लेखक यदि दुनियावी प्रयोजन को ही लक्ष्य में रखता है (जैसे वैद्यक और ज्योतिष आदि के श्लोक रचयिता), तो वह एक व्यर्थ का बन्धन स्वीकार करता है। परन्तु अगर वह दुनियावी प्रयोजनों से ऊपर उठ जाय तो कवि हो जाता है। इसलिए कवि सीमाबद्ध होकर भी प्रयोजन की सीमा से कहीं दूर निकल जाता है।

मतलब यह कि जिसको लेकर दुनिया का कारबार चल रहा है वह अकवि का लक्ष्य है, कवि का लक्ष्य उससे कहीं ऊपर है। औरों के लिए जो चीज नितान्त निष्प्रयोजन है, कवि उसी मामूली-सी चीज से एक असीम वस्तु की ओर संकेत करता है। अगर देखा जाय तो कुत्ते की पूँछ उसका सबसे अधिक अनावश्यक अंग है, परन्तु कृतज्ञता के आनन्द में विभोर कुत्ते में का 'कवि-पुरुष' अपना असीम आनन्द इसी निष्प्रयोजन अंग को हिलाकर प्रकट करता है। आँखों का काम है देखना। दुनियावी प्रयोजन के लिए पुतलियों को आँखों के कोने में आने की बिल्कुल

व्याकरण की दृष्टि से उतनी ही शुद्ध हो सकती है जितनी पहली या दूसरी श्रेणी की, परन्तु उसमें वह प्रवाह कहाँ ! अब हम पहली और दूसरी श्रेणी की कविताओं की भाषा पर विचार करें।

'सूरसागर' की भाषा पर लिखते समय क्या लिखा जाय ? क्या यही कि सूरदास ने 'देख्यौ' लिखा है या 'देख्यो' ?-या सूरदास की भाषा के अध्ययन से सौरसेनी और महाराष्ट्री प्राकृत भाषाओं की पुरानी वास-भूमि पर कोई प्रकाश पड़ता है या नहीं ? अब तक विद्वानों का विचार रहा है कि महाराष्ट्री प्राकृत महाराष्ट्र प्रान्त की भाषा थी। अब अध्यापक मनमोहन घोष के रिसर्चो ने सिद्ध किया है कि वस्तुतः महाराष्ट्री मध्यदेश की ही भाषा थी। उनका विश्वास है कि सूरदास आदि पुराने व्रजभाषी कवियों की भाषा इस विषय पर और प्रकाश डाल सकती है। हम इन प्रश्नों की गुरुता समझते है, परन्तु इस परिमित क्षेत्र मे हम इधर-उधर दौड़ना अच्छा नही समझते। इसके लिए पर्याप्त समय की भी आवश्यकता है। तो 'सूरसागर' की भाषा पर क्या विचार लिखा जाय ? सच पूछा जाय तो जब तक 'सूरसागर' का कोई सुसम्पादित प्रामणिक संस्करण प्रकाशित नहीं हो जाता, तब तक उसके भाषाशास्त्रीय अंग पर विचार करना पानी पर लकीर खीचना है। जिन प्रतियों को लेकर यह अध्ययन आरम्भ किया गया है, वे इतनी अशुद्ध हैं कि जिसका कोई हद्दो-हिसाब नही। इसलिए हम 'सूरसागर' की भाषा के काव्यांग पर ही विचार करना चाहते है।

गद्य और पद्य मे यह अन्तर है कि गद्य का लेखक स्वतन्त्र रहता है, पद्य का परतन्त्र। गद्य-लेखक चाहे जितने शब्दों को और चाहे जितनी मात्राओं को काम में ला सकता है, पर पद्य का लेखक कुछ अक्षरों और मात्राओ से अधिक या कम का व्यवहार नही कर सकता। गद्य का लेखक दुनियावी प्रयोजनों को लक्ष्य करके लिखता है, उसका पराजय उस स्थान पर है जहाँ वह उस प्रयोजन को प्रकट करने के लिए कम शब्दों का प्रयोग करके अस्पष्ट कर दे या अधिक शब्दों का प्रयोग करके निरर्थक। पद्य का लेखक यदि दुनियावी प्रयोजन को ही लक्ष्य में रखता है (जैसे वैद्यक और ज्योतिष आदि के श्लोक रचयिता), तो वह एक व्यर्थ का बन्धन स्वीकार करता है। परन्तु अगर वह दुनियावी प्रयोजनों से ऊपर उठ जाय तो कवि हो जाता है। इसलिए कवि सीमाबद्ध होकर भी प्रयोजन की सीमा से कहीं दूर निकल जाता है।

मतलब यह कि जिसको लेकर दुनिया का कारबार चल रहा है वह अकवि का लक्ष्य है, कवि का लक्ष्य उससे कही ऊपर है। औरों के लिए जो चीज नितान्त निष्प्रयोजन है, कवि उसी मामूली-सी चीज से एक असीम वस्तु की ओर संकेत करता है। अगर देखा जाय तो कुत्ते की पूँछ उसका सबसे अधिक अनावश्यक अंग है, परन्तु कृतज्ञता के आनन्द मे विभोर कुत्ते मे का 'कवि-पुरुष' अपना असीम आनन्द इसी निष्प्रयोजन अंग को हिलाकर प्रकट करता है। आँखों का काम है देखना। दुनियावी प्रयोजन के लिए पुतलियों को आँखों के कोने मे आने की बिल्कुल

जरूरत नहीं। पर इसी अनावश्यक क्रिया—'कटाक्ष-पात'—से कवि एक अवाङ्मनोगोचर प्रेम को प्रकट करता है। कहने का मतलब यह है कि कवि परतन्त्र जरूर है पर इस परतन्त्रता का वह इतना अच्छा प्रयोग करता है कि संसार का अद्वितीय आदर-भाजन हो गया है। कवि की भाषा का उत्कर्ष देखना हो तो देखना चाहिए कि वह कितने कम शब्दों में, कितनी छोटी सीमा में बैठकर, किस असीम की ओर इशारा कर सका है। 'काव्य-प्रकाश' के शब्दों में उसके वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ कितना अतिशायी हुआ है।

काव्य की भाषा का दूसरा महत्त्वपूर्ण अंग है उसका चित्रमय होना। साधारण मनुष्य जिस बात को नाना भाव-भंगियों, व्याख्याओं और संकेतों का सहारा लेकर भी स्पष्ट नहीं कर पाता, कवि उसे बड़ी आसानी से एक साधारण-सी भंगी में प्रकट कर देता है। सूरदास में ये दोनों गुण विद्यमान हैं। दूसरे गुण में तो सूरदास की समता संसार के कुछ ही कवि कर सकते हैं।

पहली बात के लिए 'सूरसागर' का एक पद उदाहरणार्थ लिया जाय। श्रीकृष्ण ने किसी गोपी के घर माखन चुराकर खाया है, वह उलाहना देने यशोदा के घर आयी है। कहती है—यशोदा, तेरे लल्ला ने मेरा माखन खा लिया है। दोपहर को घर सूना जानकर ढूँढ़ता-ढाँढ़ता मेरे घर आया। किवाड़ खोलकर सीके के पास खाट पर चढ़ गया, कुछ खाया, कुछ ढरकाया, कुछ दोस्तों को खिलाया। यह तो अच्छी बात नहीं है। एक ही दिन की बात रहती तो कोई बात नहीं थी, रोज ही गोरस का नुकसान होता है। अद्भुत है तुम्हारा यह ढोटा। अनोखा तुमने पूत जनमाया है!

तेरो लाल मेरो माखन खायौ।
दुपहर दिवस जानि घर सूनो ढूँढ़ि ढँढ़ोरि आप ही आयौ।
खोलि किवार पैठि मन्दिर मे दूध दही सब सखनि खवायौ।
सीके काढ़ि खाट चढ़ि मोहन कछु खायौ कछु लै ढरकायौ।
दिन प्रति हानि होत गोरस की यह ढोटा कौनै ढंग ढायौ।
सूर स्याम कौं हटकि न राखै, तूँ ही पूत अनोखौ जायौ।

सारा पद सीधा-सा उलाहना है, पर यह प्रतिवेशिनी का द्वेषपूर्ण उलाहना नहीं है, यह प्रेम-परायणा का उलाहना है, जिसमें हृदय का स्पर्श है। उलाहना देते समय उलाहना देनेवाली की आँखों की एक स्निग्ध हँसी का चित्र खिंच जाता है। वह अपना क्रोध प्रकट करने नहीं आयी है, अपना प्यार जताने आयी है। यह प्यार केवल एक शब्द से ध्वनित होता है, 'पूत अनोखौ जायौ'! पद के सारे शब्द प्रेम के विपरीत दिशा की ओर संकेत करते हैं; पर यह एक शब्द उन सबके भाव को बदल देने की आश्चर्यजनक शक्ति रखता है। साधारण आदमी के उलाहने में अन्य शब्द नितान्त आवश्यक हैं, अनावश्यक है केवल यह 'अनोखौ' शब्द! पर सूरदास के लिए इस अनावश्यक शब्द में ही सब-कुछ है। इसी शब्द के आ जाने से गोपी के सारे कथन का अर्थ बदल जाता है। वह मानो कह रही है, कितना अच्छा तुम्हारा

लाल है जो रोज ही हमारे घर के दही को धन्य कर जाता है !

मगर यहाँ तो फिर भी सूरदास ने एक शब्द का प्रयोग किया है। प्रायः वे कुछ भी नही कहते, केवल कुछ शब्दों को इस भाँति रख देते है कि वाच्यार्थ कहीं का कहीं पड़ा रह जाता है और व्यंग्यार्थ न जाने कितनी दूर निकल जाता है।

ब्रज घर-घर यह बात चलावत।
जसुमति कौ सुत करत अचगरी जमुना जल कोउ भरन न पावत।
स्याम-बरन नटवर वपु काछे मुरली राग मलार बजावत।
कुंडल छबि रवि किरनहुँ तैं दुति मुकुट इंद्रधनुहू तैं भावत।
मानत काहु न करत अचगरी, गागर धरि जल मुंड ढरकावत।
सूर स्याम कौं मात-पिता दोउ ऐसे ढँग आपुनहिं पढ़ावत।

इस पद में शिकायत के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। पर कहने की भंगी ऐसी है कि सारे निन्दावाद का अर्थ हो जाता है, प्रेम की चचलता—'स्याम वरन नटवर वपु काछे मुरली राग मलार बजावत। कुंडल छबि रवि किरनहुँ तें दुति मुकुट इंद्रधनुहू तें भावत !'

चित्रमय भाषा के लिए तो सूरसागर की एक-एक पक्ति उदाहरण हैं :

बिहरत हैं जमुना जल स्याम।
राजत हैं दोउ बाँहाजोरी दंपति अरु ब्रज-वाम।
× × ×
नटवर वेष धरे ब्रज आवत।
मोर मुकुट मकराकृत कुंडल कुटिल अलक मुख पर छबि छावत।

और भी अच्छे उदाहरण हैं :

उमँगि चले दोउ नैन विसाल।
सुनि-सुनि यह संदेस स्याम-घन, सुमिरि तुम्हारे गुन गोपाल।
आनन अरु उरजनि के अन्तर जलधारा बाढी तेहिं काल।
मनु जुग जलज सुमेरु-सृंग तें जाइ मिले सम ससिहिं सनाल।
× × ×
देखी मैं लोचन चुअत अचेत।
द्वार खड़ी इकटक मग जोवत ऊरध स्वास न लेत।
ठुमुक ठुमुक धरनी धर रेंगत जननी देखि दिखावै। इत्यादि।

4. सूरदास की विशेषताएँ

आरम्भ से ही हमारी इच्छा रही है कि इस अध्ययन में सूरदास के विशेष दृष्टिकोण को स्पष्ट किया जाय। अध्ययन के अन्त मे हम एक बार फिरकर देखना चाहते हैं कि सूरदास की विशेषताएँ क्या-क्या है। इस प्रसग मे एक बात यहाँ कह रखना अच्छा होगा। पिछले प्रकरणो मे यह कहने का अवसर ही नही मिला था कि सूरदास वैष्णवपद-रचयिता की दृष्टि मे समस्त उत्तर-पश्चिम भारत के अगुआ हैं :

1. सूरदास ने जिस प्रकार के पद लिखे हैं वे हिन्दी-जगत् में बहुत नवीन न होते हुए भी एक विशेष नवीनता रखते है। नाथ और सहज-पन्थ के सिद्धान्तों के पुराने पद उपलब्ध हुए है। श्री हरप्रसाद शास्त्री प्रभृति बंगाली पण्डितों ने इन पदों को पुरानी बंगला में लिखित बताया है। श्री राहुल सांकृत्यायन इन्हें मगही हिन्दी में लिखित बताते हैं। जो कुछ भी हो, ये पूर्व-भारत से सम्बन्ध रखते हैं, इसमें सन्देह नहीं। इन पदों में संसार की अस्थिरता दिखाकर वैराग्य-भावना पर जोर दिया गया है। हिन्दी-सन्त कबीर और नानकजी के आदि-ग्रन्थ में रामानन्द का एक पद भी सगृहीत है। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक पुराने भक्तों के पद भी उसमें आये हैं परन्तु अब तक इस प्रकार के पदों का प्रयोग निर्गुण उपासक ही करते आ रहे थे।

सगुण लीला के वर्णनार्थ किस कवि ने इस प्रकार के पदों का प्रथम प्रयोग किया यह विवादास्पद है। अंग्रेज पण्डित इस बात का श्रेय मैथिल कवि विद्यापति को देते है। विद्यापति के ही समसामयिक कवि चण्डीदास ने भी इस प्रकार के पदों का व्यवहार किया है। पर इसकी प्राचीनता और भी पुरानी सिद्ध होती है। संस्कृत कवि जयदेव के 'गीत गोविन्द' के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का कहना है कि वह पहले उस युग के अपभ्रंश में लिखा गया था और पीछे से संस्कृत कर दिया गया। यह बात ठीक हो या नहीं, इतना निश्चित है कि जयदेव से भी पूर्ववर्ती कवि उमापति ने वैष्णव लीला-गान करते समय इस प्रकार के पदों का प्रयोग किया था। मेरा जहाँ तक जाना हुआ है, उत्तर-पश्चिम भारत में कृष्ण-लीला वर्णन करने के लिए सूरदास ने ही पहले-पहल इनका प्रयोग किया। जो पद निर्गुण उपासना को वहन करते आ रहे थे, उसे सगुण-रस से सरस करना सूरदास का ही काम था।

2. सूरदास की दूसरी विशेषता है उनकी बाल-लीला का वर्णन। हिन्दी के जितने ही लब्धप्रतिष्ठ समालोचकों को सन्देह है कि संसार के दूसरे कवि ने इस प्रकार की लीला का वर्णन किया है या नहीं। इन पंक्तियों का लेखक संसार की बात तो नहीं जानता—वह बहुत बड़ा है—पर इस बात में तो उसे भी सन्देह ही है कि भारतवर्ष—उत्तर-भारतवर्ष—के किसी वैष्णव कवि ने इतनी सरलता से इस पूर्णता के साथ बाल-लीला का चित्रण किया होगा।

3. परन्तु हम बाल-लीला से भी बढ़कर जो गुण सूरदास में पाते हैं वह है उनका मातृ-हृदय-चित्रण। माता के कोमल हृदय में पैठने की अद्भुत शक्ति है इस अन्धे में।

4. और मातृ-हृदय के चित्रण में सूरदास को जो सफलता मिली है वह उनकी 'प्रेम की विराट् कल्पना' के कारण है। सूरदास ने एक अलौकिक प्रेम की कल्पना की है जो मिलन में गोचर आता मिलन और वियोग में गोचर आता वियोग के रूप में देखा जाता है। यह एक ही प्रेम यशोदा में एक रूप धारण कर गया है, राधिका में दूसरा, ग्वालबालों में तीसरा, रुक्मिणी में चौथा और गोपियों में और-

और। यह प्रेम प्रकृति से मृदु है, पर है सारवान्, यह कांचन पद्मधर्मी है। कालिदास के शब्दों में—ध्रुवं वपुः कांचनपद्मधर्मि यत् मृदु प्रकृत्या च ससारमेव च।

5. यह बात पहले ही दिखायी गयी है कि सूरदास वैष्णव आलंकारिकों के बन्धन में नहीं बँधे। वे भागवत के सोलह आना अनुयायी भी नही हुए। उनका अपना विशेष व्यक्तित्व सर्वत्र दिखायी देता है।

6. वल्लभाचार्य के शिष्य होकर भी सूरदास अन्य भक्तो की नाईं बार-बार गुरु का नाम लेकर जमुहाई नही लेते रहे। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने उन्हे लीलागान करने का उपदेश दिया और उन्होने सच्चे शिष्य की भांति इस उपदेश को आजीवन के लिए सिर-माथे उठा लिया।

कथा[1] है कि जब श्री सूरदासजी ने 'जान्यो कि भगवदिच्छा ते अवसान समैं है', तो पारसोली गये। वहाँ यह जानकर कि 'पुस्टी मारग को जिहाज जात है जा को जो लेनो होय सो लेउ', भक्तगण उनके निकट एकत्र हुए। 'तब चतुर्भुजदास ने कह्यो जो सूरदासजी ने बहुत भगवद् जस वर्णन कीयो पर श्री आचार्यजी महाप्रभून को जस वर्णन नाही कीयो। तब यह वचन सुनि कैं सूरदास बोले जो मैं तो सब श्री आचार्य जू महाप्रभू को ही जस वर्णन कीयो है। देखूं तौ न्यारौ करूँ, परि तेरे साथ कहत हों या भांति कहि कैं सूरदासजू ने एक पद कह्यौ। सो पद—(राग विहागरो)

> भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो।
> श्री वल्लभ नख चंद्र छटा बिनु सब जगि मांझि अँधेरो।
> साधन और नही या कलि में जा सों होत निवेरो
> सूर कहा कहि दुविध आँधरो बिना मोल को चेरो।

सचमुच सूरदास ने कुछ भी गुरु के उपदेश से न्यारा करके नही देखा।

7. यह दिखाने के लिए पिछले प्रकरणो में कुछ प्रयत्न किया गया है कि सूरदास की दीनता, आत्म-समर्पण, वैराग्य-भावना और पाप-बोध के साथ ईसाई मरमी सन्तों की इन भावनाओं की तुलना असंगत है। दोनो दो चीज़ है।

8. सबसे बड़ी विशेषता सूरदास की यह है कि उन्होने एक इतःपूर्व काव्य में अप्रयुक्त भाषा को इतना सुन्दर, मधुर और आकर्षक बना दिया कि लगभग चार सौ वर्षों तक उत्तर-पश्चिम भारत की कविता का सारा राग-विराग, प्रेम-प्रतीति, भजन-भाव उसी भाषा के द्वारा अभिव्यक्त हुआ।

9. अन्तिम विशेषता, जिसे सूरदास, कबीरदास और तुलसीदास ने आत्मसात् किया है, अनोखी-सी है। यह विशेषता है सामान्य होना। ये महात्मा-गण भारतीय जनता में ऐसे घुल-मिल गये है जैसे कभी अलग व्यक्तित्व ही न रखते हों!

1. चौरासी वैंष्णवों की वार्त्ता।

परिशिष्ट

1. ब्रज-भाषा-साहित्य में ईश्वर

यह युग विश्लेष का युग है। बहुत-से लोग यह सुनकर कह उठेंगे कि 'हर्गिज नहीं, यह युग सामूहिक समुत्थान का है।' वस्तुतः वर्तमान युग का समूह संघात-विश्लेष से भी गया गुज़रा है। एक युग था जब एक देश की चिन्ताधारा और साधना-पद्धति अनायास ही दूसरे देश की अपनी चीज हो जाती थी। उन दिनों न तो प्रोपेगैण्डा ही था और न इसके साधन ही। फिर भी लोग सहज भाव से दूसरों की विशेषता ग्रहण कर लेते थे। पर आज राष्ट्रीयता की लहर इतनी तेज है कि हम किसी भी विदेशी वस्तु को बिना सन्देह और शंका की दृष्टि से देखे नहीं रहते। देश की चहारदीवारी पार करके यह संकीर्णता 'काल' में पहुँच चुकी है। एक स्वदेश-प्रेमी अंग्रेज भारतीय चित्रकला की सुन्दरता पर तब तक मुग्ध होना नहीं चाहता, जब तक उसमें ग्रीक या रोमन प्रभाव का प्रमाण न मिल जाय। यहाँ तक तो खैर है, पर मामला और भी पेचीदा हो जाता है जब हम ग्रीस या इजिप्ट की कला में उसी प्रकार की नैतिकता, जैसी इस युग में है, नहीं पाकर नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं। एक अंग्रेज पण्डित ने ग्रीक-कलाकारों के बारे में कहा था कि "ग्रीक-चित्त किसी प्रकार की सृष्टि से तृप्त नहीं होता था, जब तक कि उसे मनुष्य के आकार या भावों में से होकर न गुज़रना पड़े। प्राचीन कवियों ने जड़ प्रकृति की वास्तविक रूप में कभी व्याख्या नहीं की। उन्होंने खेतों में या मेघपुंजों में आध्यात्मिकता का आरोप कभी नहीं किया।" पर इसीलिए अगर कोई ग्रीक-काव्य में रस न पाये तो उपाय क्या है? ग्रीक-कवियों के सम्बन्ध में इस अंग्रेज पण्डित ने जो कुछ कहा है, वही बात ब्रजभाषा के कवियों के बारे में कही जा सकती है। उसमें इतना और जोड़ दिया जा सकता है कि ब्रजभाषा-कवि की सम्पूर्ण तृप्ति तब होगी जब वह इस मानव-भावना को कृष्ण या राधा में पर्यवसित कर दे।

ब्रजभाषा का कवि एक विचित्र रहस्यमय व्यक्ति है। वह अपने मनोभावों

को राधा और कृष्ण या गोपी और गोपाल के रूप में इस प्रकार प्रकट करेगा, मानो वह इस व्यापार में एक तटस्थ साक्षी के अतिरिक्त कुछ नही है। उसकी साधना मे व्यक्ति का कुछ महत्त्व नही है, पर संसार के अन्य कवियों के नियम के प्रतिकूल अपनी प्रत्येक कविता में अपना नाम इस सावधानी और सतर्कता से रख देगा मानो उसके व्यक्तित्व का न होना किसी भारी अपूर्णता का द्योतक है। *उसके कृष्ण जिस प्रकार अनादि अनन्त होकर भी व्यक्तित्व की अवहेलना नही* करते, वह भी उसी प्रकार पूर्व तटस्थ होकर भी अपने व्यक्तित्व का मोह नहीं त्याग सकता। व्रजभाषा के कवि के इस मनोभाव को समझने के लिए संस्कृत वाङ्मय के अलंकार-शास्त्र पर एक सरसरी निगाह दौड़ाये बिना काम नही चलेगा।

सस्कृत-अलंकार-शास्त्र की प्रारम्भ मे दो शाखाएँ थी। एक मे तो नाटक के रस और उसके आलम्बन, नायक-नायिकाओ की विवेचना और दूसरे में संस्कृत के फुटकर श्लोकों के अलंकारो की समीक्षा हुआ करती थी। वाद को ये दोनों धाराएँ एक में मिल गयीं। इसी समय ध्वनि-सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ। ध्वनि या व्यंग्य-अर्थ को समझने के लिए शब्द की तीन शक्तियों को समझना आवश्यक है। ये तीन शक्तियां है—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। पहली से शब्द का प्रचलित अर्थ जाना जाता है, दूसरी से उससे सम्बद्ध अन्य अर्थ और तीसरी शक्ति, इन दोनो से भिन्न अर्थ ध्वनित करती है। उदाहरणार्थ, अगर गुरु किसी विद्यार्थी से कहता है कि 'सूर्य अस्त हो गया', तो इसका अभिधेय अर्थ वही होता है जो इस वाक्य के शब्दों का कोश-व्याकरण-सम्मत अर्थ है, पर व्यंग्य अर्थ या ध्वनि यह है कि 'पाठ वन्द करो, सन्ध्या-वन्दन का समय हो गया'; कहना नही होगा कि यह अर्थ बिल्कुल निराला है। 'सूर्य अस्त हो गया' वाक्य के किसी अंश से इसका सम्बन्ध नहीं है।

ध्वनि-सम्प्रदाय के आचार्य अभिनवगुप्तपाद इस मत की पुष्टि के लिए शास्त्र-प्रमाण खोजने लगे; क्योंकि उस युग मे कुछ आप्त-प्रमाण दिये बिना किसी मत-वाद की प्रतिष्ठा नहीं की जा सकती थी। फलतः वैयाकरणों के स्फोटवाद का सहारा लेना पड़ा। स्फोटवाद का आश्रय पाकर ध्वनि-सम्प्रदाय गठित हो उठा, परन्तु रस को सम्पूर्णतः ध्वनि के अन्तर्गत करना अभी बाकी था। भरत के नाट्य-शास्त्र के रस-सूत्र का आधार पाकर अभिनवगुप्त ने इस काम को भी योग्यता के साथ कर डाला। हम अधिक सूक्ष्म विषयो की अवतारणा नही करना चाहते, पर व्रजभाषा के कवि की तटस्थ-वृत्ति का सूत्र इसी रस-सूत्र की व्याख्या मे पाया जाता है। अतः उसकी सामान्य चर्चा कर देना अनुचित और अस्थान-प्रयुक्त नहीं समझना चाहिए।

अभिनवगुप्त से पूर्ववर्ती एक भट्टनायक नामक आचार्य ने रस-सूत्र की व्याख्या करते समय बताया था कि नाटकीय रस की अनुभूति दर्शक को साधारणीकरण व्यापार के द्वारा होती है। दर्शक, राम से रामत्व और सीता से सीतात्व दूर कर उन्हें साधारण स्त्री-पुरुष के रूप मे ही देखता है; यहाँ तक कि वह अपने से मैं-पन

को अलग कर एकदम साधारण रूप में हो जाता है। ऐसा अगर न होता तो सामाजिकों के सामने राम-सीता का प्रेमालाप सुना सकना असम्भव था। उसमें लज्जा आदि विविध बाधाएँ उपस्थित होतीं। अभिनवगुप्त ने इस मत में संशोधन किया। वे कहते हैं कि दर्शक के हृदय में जो पूर्व अनुभूति विद्यमान रहती है, वस्तुतः वही रसबोध का कारण है। साधारणीकरण व्यापार केवल उस अनुभूति का रास्ता साफ कर देता है। पण्डितराज के शब्दों में चित् शक्ति भग्नावरण हो जाती है। उत्तरकालिक आलंकारिकों में से अधिकांश ने इस साधारणीकरण व्यापार की उपयोगिता स्वीकार की है। व्रजभाषा के कवियों ने तो इसमें किसी दिन सन्देह ही नहीं किया।

इस प्रकार जिस समय व्रजभाषा कविता का बाल्य-जीवन प्रारम्भ हो रहा था उस समय भारतीय काव्य में व्यक्तित्व की महत्ता घट चुकी थी, साधारणीकरण व्यापार ने आसन जमा लिया था। कवि का impersonal रूप अधिकाधिक विकसित हो रहा था। व्रजभाषा की कविता के दुर्भाग्य से उस समय विदेशी शासन का प्राबल्य था, इसलिए शृंगार-साहित्य की यह तटस्थता जो स्वतन्त्रता के युग में भूषण हो सकती थी, इस युग में दूषण हो गयी। आज के सुधारकों को पानी पी-पीकर व्रजभाषा-साहित्य को कोसने का अवसर मिल गया। तथ्यों से छिपा नहीं है कि भारत के सुवर्ण-युग का संस्कृत-साहित्य शृंगार के रंग में व्रजभाषा से कम नहीं रँगा है; बल्कि कुछ अधिक। व्रजभाषा में तो ये बातें वहीं से रफ्तनी की गयीं।

जर्मनी के सुविख्यात चित्रकार Von Uhde ने जब ईसा मसीह के चित्रों को आधुनिक परिच्छद में सजाना शुरू किया था, तो कहते हैं यूरोप में बड़ा आन्दोलन उठ खड़ा हुआ था। पूछा गया था—"किसी धार्मिक कथा को क्या आप आधुनिक परिच्छद में सजा सकते हैं? सेंट जोसेफ को मोटे लबादे में और वर्जिन के सिर को सुर्खी शाल से सुसज्जित रूप में देखने की क्या कल्पना की जा सकती है?" फिर भी प्राचीन चित्रकारों ने बाइबिल के समस्त उपाख्यानों के चित्र को अपने युग की पोशाक में ही अंकित किया।

व्रजभाषा के कवियों ने भी युगल-मूर्ति को अपने युग की भाव-भाषा में अंकित किया है। इस बात के लिए आप उनको दोषी नहीं ठहरा सकते। आज ज्ञान का प्रकाश सुदूर अतीत तक पहुँच सका है। आप खूब निपुण भाव से रामायण के युग के राम को अंकित कीजिए, पर भूल न जाइए कि आपकी यह कला विश्लेष-युग की कला है, इसमें ज्ञान की उज्ज्वलता है पर साधना की गम्भीरता नहीं। भारतवर्ष में जो साधना शताब्दियों-पर-शताब्दियों की संघट्टना से अजन्ता और ताजमहल की रचना कर सकी है, वही साधना साहित्य के रूप में भी गठित हो उठी है। इस गठन में अपने युग की छाप है। इस छाप के लिए आप किसी को दोषी नहीं ठहरा सकते।

हमने एक बार कहा था कि व्रजभाषा का शृंगार-साहित्य निरपेक्ष साहित्य

है। अर्थात् व्रजभाषा का कवि कविता लिखकर निश्चिन्त हो जाता है। उसे इस बात के सोचने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती कि समाज इस कविता से बनेगा या बिगड़ेगा। यद्यपि वह आज के कवियों की भाँति चिल्लाता नहीं कि 'कला कला के लिए है', पर वह अपने को बहुत-कुछ इस सिद्धान्त का पोषक ही प्रकट करता है। केशवदास ने जिस दिन चन्द्रवदनियों के बाबा कहने पर अपने सफेद बालों को कोसा था, उस दिन उन्हे स्वप्न मे भी यह खयाल नही था कि किसी मृगलोचनी के लोचन इस कविता पर पड़ेंगे। निरपेक्ष भाव से यह साहित्य राधिका और कृष्ण को अपना प्रेम समर्पण करता है।

आज के युग में और उस युग मे बड़ा अन्तर है। उस युग का कवि एक पूर्व-निर्णीत नियम को श्रद्धापूर्वक स्वीकार कर अपनी रचना करता है। वह अपनी प्रतिभा के दर्पण में अपने-आपको नूतन रूप मे देखने की चेष्टा नहीं करता। प्राचीनता का सदा सनातन सत्य के रूप में स्वीकार करके वह अपना संसार आरम्भ करता है। आज का कवि अपने को नित्य नूतन रूप में प्रकट करने के लिए व्याकुल है। वह एक सकीर्ण सीमा तैयार करता है, दूसरे ही क्षण उसे तोड़कर दूसरी सीमा की रचना में व्यस्त हो जाता है। सीमा की इस अनवरत भ जन-लीला को वह नित्य नूतन समझने लगता है। यही कारण है कि वर्तमान युग के अस्त-व्यस्त काव्य-समूह में एक अनवरत धारा का अभाव है। इसे एक धारा कहना ही अनुचित है। एक पण्डित का कथन है कि "विरलेष का यह युग नाना विक्षोभ और समस्याओं से होकर गुजर रहा है। सब मिलकर एक बड़ी चीज को गढ लेना या समन्वय की चेष्टा इस युग मे नही देख पड़ती।...यूरोप मे वर्तमान कला के बहुमुखी सौन्दर्य को देखकर निश्चय ही विस्मित होना पड़ता है; पर यह कहना कठिन है कि अतीत और वर्तमान, सनातन और सामाजिक के भीतर समन्वय की एक चेष्टा न देखकर चित्त में क्षोभ नहीं होता।" व्रजभाषा के कवियों ने इस समन्वय के महत्त्व को समझा था। आप सूरदास से पद्माकर तक का व्रज-साहित्य देख जाइए, उसमें एक योग-सूत्र पायेंगे, एक मर्यादा की प्रतिष्ठा देखेंगे। इस योग-सूत्र का प्रधान आलम्बन है, युगल-मूर्त्ति।

वर्तमान युग की कविता की सबसे बड़ी समस्या है, इस योग-सूत्र का अभाव। इस यन्त्र-युग में एक दशाब्दी पहले की चिन्ताधारा के साथ आज की चिन्ताधारा का योग-निर्वाह करने-कराने की फुरसत किसी को नहीं। इसका भयानक परिणाम यह हुआ कि सौ-सवा सौ वर्ष तक किसी एक चिन्ताधारा को जीवित देखकर वर्त्तमान समालोचक काँप उठता है। उसमें एकपृष्टता की गन्ध आने लगती है। वह न ग्रीक कविता की प्रशंसा कर पाता है और न व्रज-साहित्य की माधुरी पर मुग्ध हो सकता है। मगर मजा यह है कि वह कभी-कभी इस प्रकार के साहित्य में वर्तमान युग की फिलासफी का ऐसा प्रकाश पाता है कि आकाश-पाताल एक कर देता है। व्रजभाषा के विपुल साहित्य मे श्रीकृष्ण और राधा-रानी की अनन्त माधुर्य-लीला तो है, पर उसमें किसी आध्यात्मिक तत्त्व का निर्णय नहीं किया गया

है। जो आलोचक उसमें आध्यात्मिकता पाते हैं उनकी बात हमारी समझ में नही आती। जो खोजते हैं, उनकी चेष्टा का सफल होना असम्भव जान पड़ता है। फिर भी व्रजभाषा का घोर शृंगारी कवि यह कभी नही भूलता कि उनकी वर्णित लौकिक लीला किसी अति-प्राकृत की लीला है। व्रजभाषा की कविता में यही विशेषता है जो उसे संसार के साहित्य से अलग कर देती है। बंगाल के वैष्णव कवियों में यह भाव है और आश्चर्य यह है कि इस प्रकार के साहित्य की भाषा को बंगाल में भी 'व्रज बूलि' या व्रजभाषा कहते है। मानो इस मधुर और विचित्र साहित्य का 'व्रजभाषा-साहित्य' के अतिरिक्त और कुछ नाम ही नही दिया जा सकता।

अति-प्राकृत मे प्राकृत सौन्दर्य, सीमाहीन में ससीम माधुर्य और अन्तहीन मे सान्त भाव देखना ही इस कवि की साधना है। इसको वह अपने-आप अनायास कर जाता है। क्योंकि वह उसी रंग मे रँग गया है।

भाषा कविता का वाहन है। व्रज के कवि ने इस भाषा को ऐसा माँजा है कि वह जो कुछ भी कहता है, उसमे न जाने कहाँ से युगल-मूर्ति का शुभागमन हो जाता है। मध्ययुग मे सगीत के उत्कर्ष के समय मुसलमान उस्तादों ने जो गान बनाये उनमे राधा-माधव जरूर आ जाते है।

इस प्रकार की भाषा सृष्ट हो गयी कि लोग उसका अर्थ समझने की कोशिश किये बिना भी झूमने लगते है। पर जिन लोगों ने उस भाषा के 'जादू भरे उद्यान' मे पैर रखने की कोशिश कभी भूलकर भी नही की वे कृष्ण और राधा की इस प्रेम-मुखर भाषा मे ईश्वर की दुर्दशा का आभास पाने लगते हैं। उपाय क्या है!

व्रजभाषा की कविता में कुछ विदेशी विलासिता का अस्तित्व भी है। बहुत सम्भव है, उसकी आमदनी मुसलमानी संसर्ग से हुई हो, पर इस प्रकार की विलासिता मे कवि राधा-कृष्ण को कभी नही घसीटता। ऐसी विलासिता हमारे आलोच्य विषय के परे है। हम उसकी चर्चा यहाँ नही करेंगे।

यहाँ इस प्रकार की भी विलासिता राधा-कृष्ण और गोपियों के नाम पर आ घुसी है कि उसे अनुचित कहने को जी चाहता है। प्रस्तुत प्रबन्ध शृंगार-रस के नाम पर की गयी अश्लील कविताओं की वकालत करने के लिए नही लिखा जा रहा है। आलोच्य विषय केवल व्रजभाषा-काव्य का ईश्वर है। इसलिए ही हम इस प्रकरण की अवतारणा कर रहे है।

व्रजभाषा के युग मे, हमने अब तक देखा है कि इस प्रकार की प्रवृत्ति आ गयी थी कि कविगण तटस्थ रूप से अपनी सारी हँसी-खेल, क्रीड़ा-कौतूहल युगल-मूर्ति मे पर्यवसित कर दें। कवियों ने इस प्रकार के भाव-चित्रण मे अद्भुत सफलता पायी, रसिकों ने इस कविता का काफी सम्मान किया। ऐसा साहसी व्यक्ति शायद ही हो जो सूरदास या नन्ददास के ऊपर [जिन्हें ग्रियर्सन ने मध्ययुगीन मरमियों (mystics) के Bernerd of Clairvaux कहा है] भ्रष्टाचार फैलाने का अभियोग लगावे। परन्तु सूरदास की कविता में राधा और कृष्ण की प्रेम-लीला का साम्राज्य है। नन्ददास भी इस प्रेम-लीला की मस्ती में ही विभोर रहे। इधर

गृहस्थ-शृंगारी कवियों की तो गिनती ही नहीं।

यह सारी कविता स्पष्ट है। सौन्दर्य को ठोस रूप में उपलब्ध करने का परिणाम यह हुआ है कि उसमें किसी रहस्य-भावना या आध्यात्मिक रूपक का प्रभाव नहीं है। शेली या वर्ड्सवर्थ के समान विशुद्ध प्रकृति का प्रेम ब्रजभाषा के कवियों में ढूंढ़ने पर भी नहीं मिलेगा; मिलेगी ससीम की लीला—मिलेगी सान्त की क्रीड़ा। तन्त्र-साधना के उस आदर्श ने जिसमें सीमा को असीम की उपलब्धि का कारण बताया गया है, ब्रजभाषा के कवियों को बड़ी दूर तक प्रभावित किया था। उसी माधुर्य के फलस्वरूप विष्णु का आसन कृष्ण के नीचे हो गया। गोलोक में सिवा कृष्ण के पुरुष का अस्तित्व जाता रहा। कृष्ण के प्रेमी राधिका की सखी हो गये। उस सख्य-भाव से वह युग प्लावित हो उठा था।

श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में की गयी अनेक शृंगारी कविताओं में गोलोक की भावना ने यथेष्ट पुष्टि प्रदान की है। श्रीकृष्ण ही एकमात्र पुरुष हैं, बाकी सब राधारानी की सेविकाएँ, सखियाँ; फिर संकोच काहे का, व्यवधान कैसा? एक दूसरे प्रकार के भक्त थे जो अपने को श्रीकृष्ण का सखा समझते थे। इन्हें भी अपने रसीले मित्र की रहस्यमयी कथाओं को खुलकर गाने का अधिकार था। यह सब होते हुए भी ब्रजभाषा का कवि केवल तटस्थ साक्षी है। सखियाँ आकर कृष्ण और राधा के मिलन-विरह को नाना भाव-भंगी से प्रकट कर जाती हैं और श्रीकृष्ण के सखा या 'राधा ठकुराइन' की सखी हमारे कवि, कठपुतली के नाच के सूत्रधार की भाँति, केवल सूत्र खींचा करते हैं। अपना नाम शायद वे साक्षी रूप में रख देते हैं। इस प्रकार के सापेक्ष-निरपेक्ष द्वन्द्व से कवि एक विचित्र सौन्दर्य की सृष्टि तन्मय भाव से करता जाता है। भक्ति के प्रवाह में बहते समय भी वह तटस्थ है और शृंगार के सरोवर में स्नान करते समय भी तटस्थ है। इस मनोभाव को आप विचित्र कहना चाहें, कहें, पर है यह अनुपम।

इसी मनोभाव के साथ कवियों ने ब्रजभाषा-साहित्य की सृष्टि की है। अब अगर इस विविध-विचित्रता-युक्त मनोभाव को बिना समझे कोई इस काव्य-कानन में प्रवेश करेगा तो वह बार-बार प्रश्न करेगा कि जिन्हें परम ब्रह्म समझा जाता है उनके नाम के साथ क्या कारण है कि हिन्दी के कवि धृष्टता के साथ इस तरह का दुर्व्यवहार बराबर करते रहे हैं? समाज के इस नैतिक पतन का क्या कारण है? इस तरह के साहित्य के प्रचार से समाज का उत्थान होना कैसे सम्भव है? हमारे जातीय या धार्मिक विकास में किन कारणों से यह घृणित प्रवृत्ति आ गयी? और यदि आ भी गयी तो क्या कारण है कि इसके मूलोच्छेदन की चेष्टा समाज ने नहीं की? ये और इसी प्रकार के सैकड़ों प्रश्न उठेंगे। वह आश्चर्य से समाज की इस सहन शक्ति—नहीं-नहीं, भक्ति-प्रवणता को देखेगा।

पर उस युग का समाज—यह समाज अब भी लुप्त नहीं हो गया है—सौभाग्यवश, कवियों के अनुकूल था। श्रीकृष्ण के ज्ञान-भक्ति-कर्म के पूर्णरूप में उसने उस माधुर्य को हृदयंगम करने में किसी प्रकार की बाधा का अनुभव नहीं किया जिसे

तात्कालिक कवियों ने समाज को दान किया था। श्रीकृष्ण के उस रस-मय विचित्र रूप पर उस समाज की प्रेम-भक्ति केन्द्रित हो गयी थी। कृष्ण और राधा उनकी अपनी चीज हो गये थे, और हैं। कृष्ण उनके साथ गाय दुहा करते थे, विरहा गाया करते थे, होली खेला करते थे, झूले मे साथ ही झूला करते थे और उसके सभी प्रीति-स्निग्ध कार्यों को अपनी मधुर वंशी से प्लावित कर देते थे। राधा भी दूर नहीं थीं। नवोढा के वासक-शयनों पर वे फूल चुन दिया करती थीं, आगमिष्यत-पतिका के साथ वे प्रतीक्षा-पथ पर आँखें बिछा देती थीं, विरहिणी के साथ वे आँसू की धारा से दिन और रात एक कर देती थीं, कुमारी की मदिर आँखों में नटनागर की 'कलाबाजी-सी करति' आँखो को मिला देती थीं, सखियों के मिलन-मधुर हास्य मे वे अमृत ढाल देती थीं—फिर भी राधा और कृष्ण परम-शक्ति और परम-पुरुष थे! इतने नजदीक अथच इतने विराट्। जब तक समाज की इस मनोवृत्ति को आप नहीं समझेंगे, आप उसी तरह चकित भाव से पूछ बैठेंगे—'और यदि (यह घृणित प्रवृत्ति) आ भी गयी, तो क्या कारण है कि समाज ने इसके मूलोच्छेद की चेष्टा नहीं की?' समाज आपके प्रश्न को सुनकर भीत-भाव से पूछ बैठेगा—'कौन-सी घृणित प्रवृत्ति? कैसा मूलोच्छेद?'

असल बात यह है कि उन्नीसवी शताब्दी के बाद से हमारे नवविचार-परायण पण्डितों के हृदय मे जहाँ तर्क की आग जल उठी है, वहाँ श्रद्धा भस्म हो गयी है। 'आर्ट ओ आहिताग्नि' ग्रन्थ के प्रणेता श्री यामिनीकान्त सेन ने गेटे से एक अंश उद्धृत किया है, जिसमे कहा गया है कि "आज का तरुण युवक कहता है—मैं किसी कला-सम्प्रदाय का शिष्य नहीं हूँ। इस युग में कोई ऐसा जीवित मास्टर नहीं है जिससे मैंने कुछ सीखा हो। मृत व्यक्तियों से तो मैंने कभी कुछ सीखा ही नहीं। इस युग का तारुण्य श्रद्धाच्युत हो गया है।" आज हम बीसवीं सदी के भारतीय तरुण गेटे के कथन के उदाहरण हैं। अश्रद्धा-भाव से हम किसी साहित्य का ज्ञान-सम्पादन करते हैं, समीक्षा करते हैं, बुरा या भला होने का फतवा देते हैं और कल्पना कर लेते हैं कि उक्त साहित्य का उपजीव्य समाज हमारे ही जैसा तर्क-परायण और अश्रद्धावान् था।

आगे हम ब्रजभाषा-साहित्य के ईश्वर का जो विचार करेंगे उसके लिए उसी ईश्वर की एक बात कह देना चाहते हैं :

"हे परंतप! इस धर्म पर श्रद्धा नहीं रखनेवाले पुरुष मुझे न पाकर फिर से इस मरणधर्मा संसार-मार्ग मे लौट आते हैं।" —गीता, 9-3

2. ब्रजभाषा के कवि और युगल-मूर्त्ति

टेरि कहौं सिगरे ब्रज लोगनि,
काल्हि कोऊ कितनो समुझैहै।
माई री वा मुख की मुसुकानि,
सम्हारि न जैहै न जैहै न जैहै। —रसखान

कवि ठाकुर प्रीति करी है गुपाल सों,
टेरि कहो सुनो ऊँचे गले।
हमें नीकी लगी सो करी हमने,
तुम्हे नीकी लगै न लगै तो भले।

—ठाकुर

यही हैं व्रजभाषा के मधुर कृष्ण ! जरूरत समझो, ईश्वर कहो; न समझो, मनुष्य कहो। कवि का इससे कुछ बनता-बिगड़ता नही। अपने प्रशस्त प्रेम के विपुलायत राजमार्ग पर वह निर्द्वन्द्व, निर्भय और शान्त भाव से अग्रसर हो रहा है। तन्मयता के मधुर गीत को मानव-चरित्र की ससीम मर्यादा में प्रतिबद्ध रखकर वह अनन्त की ओर छूट चला है। उसके भगवान् तटस्थ की भाँति कही बैठे नही हैं। उसी के साथ प्रेम के नाना कल-कल्लोलो से उसके मनोमन्दिर को मुखरित करके उसी के साथ खेल रहे हैं। संसार मे जिस प्रकार स्त्री अपने लौकिक प्रेम को पति के साथ केन्द्रित करके बाकी जगत् का अपने शुद्ध प्रेम से सिंचन करती है — उसी प्रकार यह कवि अपना लौकिक प्रेम मनमोहन पर केन्द्रित करके शेष संसार को अपने प्रेम से प्लावित कर रहा है। उसके मोहन प्राकृत ही है, कुछ अति-प्राकृत नही। प्रेम लौकिक ही है, अलौकिक नही। पर लौकिक प्रेम के विशुद्ध स्वरूप में अति-प्राकृत के अलौकिक प्रेम की सत्ता रहती है। ससार मे हम अनन्त सत्य को ग्रहण नही कर सकते। सान्त का यथार्थ ज्ञान हमे अनन्त सत्य की ओर उन्मुख कर देता है। अगर हमारी शक्ति अल्प है तो हमारा सान्त भी छोटा होना चाहिए। जितना ही वह छोटा होगा, उतनी ही अधिक पूर्णता के साथ हम उसका ज्ञान प्राप्त करेंगे। हमारा ज्ञान जितना पूर्ण होगा, जितना यथार्थ होगा, उतना ही हम अनन्त सत्य का अनुभव कर सकेंगे। ब्रजभाषा का कवि इस रहस्य को समझता है। उसने अपने प्रेम का दायरा संकीर्ण कर लिया है। यह संकीर्णता विशालता की उपलब्धि के लिए है। नदी मे जल अगर कम हो तो उसके दोनो कूलों का सटा-सा रहना उसके प्रवाह को अधिक निर्बाध और प्रखर कर देता है। सकीर्णता से गम्भीरता आती है, गम्भीरता से शाश्वत रस।

ब्रजभाषा के कवियों के इस रहस्य को अगर नही समझेंगे तो आपका मन नाना प्रश्नों की कुहेलिका मे मार्ग भूल जायेगा। ब्रज-गोप-गोपिकाओ की विरह-लीला, मिलन-वैभव, रहस्य-केलि और उपालम्भ में वह उस प्रेम के रूप का यथार्थ परिचय पाता है जो सहजगम्य है और जिससे सीमाहीन माधुर्य का साक्षात्कार होता है। इसकी परिधि संकीर्ण है, होने दो; लौकिक है, कुछ चिन्ता नही। मगर देखो उसमें यथार्थता है या नही। अगर क्षुद्र की ही सत्य उपलब्धि हो सकी है तो काम हो चुका है। जरूरत नहीं कि विशाल विषयों का जाल बिछाकर बैठें और हाथ कुछ भी न लगे।

ईश्वर क्या है? संयम का लक्ष्य? उपासना का उपजीव्य? ज्ञान का आश्रय? नेति, नेति, नेति!

मगर ब्रज का कवि इसी भाव को बार-बार दुहराता हुआ जीवन काट दे और मनमोहन के केवल इसी अंग का एकान्त और यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर ले, तो वह अपनी साधना को सफल समझ लेगा। यह क्या साधारण बात है! सच है, मगर कुछ लोग-सा लगता है—'पदैर्गुर्वीमिनति मनु मुनिनोऽपि जन्तुः।' यह ठीक है कि इसका दायरा संकीर्ण है, पर क्या हुआ इससे? वह विराट् की उपलब्धि के लिए तो मर नहीं रहा है, उसकी साधना तो मधुर-उपलब्धि की है! वह उसे मिल गयी। उसका मधुर, उसका मोहन मिल गया, तदनन्तर जाय भाड़ में। इसकी उसे बिल्कुल परवा नहीं।

ब्रजभाषा के कवियों का ईश्वर मधुर और सुन्दर तो है ही, लौकिक विधि-निषेध के परे भी है। वह विधि का विधाता है, पर है परम मित्र। श्रीकृष्ण के इन दोनों रूपों का सामंजस्य ही ब्रजभाषा काव्य की विशेषता है, यही 'माडर्न-माइण्ड' से अलभ्य भी है। विधि के विधाता मानव को लेकर ब्रजभाषा का कवि सहज ही बहु उलझता और अगर आपने कृष्ण के इस मानवरूप को नहीं समझा है, तो घृणा तक करने लगेंगे। आप पतिंग की भाँति ताकते रहेंगे और युगल-मूर्ति की पद-धूलि का मतवाला भिखारी सूरदास गा उठेगा:

ऐसे जनि बोलहु नँदलाला।
छाँड़ि देहु अँचरा मेरो नीकेँ जानत और-सी बाला।
बार-बार मैं तुमहिं कहति हौं परिहौ बहुरि जंजाला।
जोबन रूप देखि ललचाने अबहीं तें ये ख्याला।
तरुनाई तन आवन दीजै कत जिय होत बिहाला।
सूर स्याम उर तें कर टारहु टूटै मोतिन माला।

आप कहते हैं अरे! 'सूरदास के समान भक्त के हृदय में ऐसी गन्दगी और विलासिता कहाँ से आ गयी?' आनन्दकन्द श्रीकृष्ण और श्रीपति राधा-रानी के [illegible] देखिये। भक्त की उस साधना को संसार में लोग जब तक नहीं समझेंगे, तब तक इस तरह के प्रश्न करेंगे। समझ लेने पर स्वयं अपने-आपसे ही पूछेंगे—कैसी गन्दगी? कैसी विलासिता?

व्रजभाषा के कवियों और रसिकों को वह पसन्द नहीं। योग की साधना व्यर्थ है उनके लिए। वे साफ कहते हैं :

जिन जान्यौ जोग तौ जोग लै जरि मरौ !—देव

उद्धव को गोपियों ने जो सन्देशा दिया है, वह इतना साफ है कि उसमें आध्यात्मिक गूढ़ताओं का ढूँढ़ना बेकार है। मगर उस विशाल प्रेम-वेदना के अध्यात्महीन होने से अध्यात्म का जगत् इतना निकट आ जाता है कि आश्चर्य होता है। 'मेघदूत' के अमर संगीत का सौन्दर्य क्या है ? विराट् मानव का सनातन विरह। युग-युगान्तर का पुंजीभूत विरह प्रतिनिधि कवि के कण्ठ में शाश्वत रूप धारण कर गया ! ताजमहल का सौन्दर्य कहाँ है ? पत्थरों में ? होगा; पर वास्तविक सौन्दर्य उसका है, उस शाश्वत विरह में। प्रेमी हृदय के उच्छ्वास ही पाषाण से फूटकर सौन्दर्य का रूप धारण कर सके हैं। और व्रज की इन गोपियों के मादक विरह का सौन्दर्य कहाँ है ? गोपियों में ? उद्धव में ? नहीं। उसका सौन्दर्य उसी मधुर कल्पना में है जिसने वासुदेव-देवकी-पुत्र कृष्ण को आनन्दकन्द मनमोहन के रूप में उपस्थित किया है, जिसने प्रेम की साक्षात् मूर्ति इन आभीर-कन्याओं की सृष्टि की है। कितनी विराट् कल्पना है, पर कितनी कोमल !—

जाहि अनादि अनन्त अखण्ड
अछेद अभेद सु बेद बतावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ
छछिया भरि छाँछ पै नाच नचावैं !

इसे अध्यात्मवाद कहना चाहते हैं ? एक यूरोपियन कला के मर्मज्ञ का कहना है कि "यूरोप का आधुनिक अध्यात्म-साहित्य, काव्य या आर्ट में कहीं भी एक परिपूर्ण सामंजस्य के साथ आत्मा का सहज सम्पर्क नहीं स्थापित कर सका है। अतीन्द्रिय-जगत् की ओर जरूरत से ज्यादा खिंचाव होने के कारण वहाँ इन्द्रिय-जगत् की ओर विशिष्ट प्रवृत्ति सम्भव नहीं हो सकी है।" एवमस्तु। अगर यूरोप के अध्यात्मवाद की सचमुच यह दशा है—हमें ठीक पता नहीं— तो कृपा करके इस अध्यात्मवाद से व्रज के अध्यात्मवाद को—अगर नितान्त प्रयोजनीय नहीं समझते हों तो—तुलना न कीजिए। कहाँ रूखा अध्यात्मवाद और कहाँ यह प्रेमप्लावित माधुर्य :

कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा।
कहँ स्यामल मृदु गात किसोरा !

मनमोहन के इस मिलन-विरह में कहीं भी तुरीय-अवस्था की ओर इशारा नहीं किया गया। इसलिए इसका माधुर्य अनुपम है, अवर्णनीय है। इसमें ईश्वर की धर-पकड़ अगर न भी की जाय तो कोई हानि नहीं। रस का परिपाक उसी मधुरता के साथ होगा :

मनमोहन के बिछुरे सजनी, अजहूँ तो नहीं दिन द्वै गये हैं।
सखि वे, तुम वे, हम वे ही रहीं, पै कछू के कछू मन ह्वै गये हैं।

—पद्माकर

ईश्वर क्या नहीं है ? शृंगार-रस का वह प्रेम जिसे नैतिकता के लक्षणों में नहीं ले आया जा सकता; देव, बिहारी, मतिराम की वे बातें, जिन्हें अश्लील कहने का प्रयत्न किया गया है? व्रज-बालाओं के मादक विरह का आश्रय, राधा का प्रेमी, सूरदास का श्याम क्या है ? नेति, नेति, नेति !

वह क्या बात है जिसके होने या न होने से ईश्वर का होना या न होना, सम्मानित या अपमानित होना निर्भर है ? किस रास्ते से ईश्वर के मन्दिर तक जाया जा सकता है ? किससे नहीं ? ब्रजभाषा का कवि इन प्रश्नों की निस्सारता को समझता है। उसे खूब मालूम है—'बेदम-से बेद-मत-वारे मतवारे परे !' उसे सीधा सहज मार्ग मालूम है— प्रेम !

तत्त्ववाद के इस विकट युग में प्रेम की बड़ी खींचातानी हुई है। ब्रजभाषी कवि इन दुरूहताओं को नहीं जानता। उसका प्रेम स्फटिक की भाँति उज्ज्वल है, उसी की तरह ठोस। अध्यात्मवाद की विकट गुत्थियों को सुलझाने का प्रयत्न उसने किसी दिन नहीं किया। उसकी प्रेम-धारा विशाल नद नहीं है, संकीर्ण नाला है, पर गम्भीर तेजपूर्ण। उसे इसका अभिमान है। वह अपने मार्ग में निर्भीक भाव से प्रेम की मशाल लिये बढ़ रहा है :

> कवि ठाकुर प्रीति करी है गुपाल सों,
> टेरि कहौ सुनो ऊँचे गले !

कितनी दृढ़ है यह निष्ठा ! मानो वह वर्तमान युग के कवि के कण्ठ-में-कण्ठ मिलाकर कहना चाहता है।

वैराग्य-साधना में मुक्ति है; हम इस मुक्ति को नहीं चाहते। असंख्य बन्धनों में रहकर महा आनन्दमय मुक्ति का स्वाद लेंगे। इस पृथ्वी की मिट्टी के पात्र को बारम्बार भरकर (हमारी यह महा आनन्दमय मुक्ति) तुम्हारे नाना वर्ण और गन्ध को अविरत ढाला करेगी, समस्त संसार को प्रदीप की नाईं लाख-लाख वर्तिकाओं में जलकर प्रकाशित कर देगी।"

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर : 'नैवेद्य'

"वैराग्य के विपुल भार से जर्जर इस देश के अन्तस्तल में सहज प्रेम की निष्ठा को प्रज्वलित किया है, इन ब्रजभाषा के कवियों ने। कैसा वैराग्य, कैसा योग ? शत-शत गोपियों के कल-कण्ठ से योग-साधना के विरुद्ध अधिकारपूर्ण बातें भारतवर्ष में अगर सुनने को मिली हैं तो युगल-मूर्त्ति के प्रेम में मतवाले इन कवियों की कृपा से। कहाँ है विरह का यह उमड़ता हुआ स्रोत अन्यत्र ? इस विशाल विरह-वेदना पर शत-शत 'मेघदूत' न्यौछावर हैं, हज़ार-हज़ार ताजमहल निसार हैं। इसी विपुल समुद्र को ईश्वर का अपमान कहते हैं आप ? कहिए। पर भूल न जाइए कि मध्ययुग का ईश्वर आज का ईश्वर नहीं है। एक तरफ है सहस्राधिक सम्प्रदायों के साधुओं के उपास्य नीरस, निष्काम, निर्गुण ईश्वर और दूसरी तरफ है यह प्रेम का उद्गम, माधुर्य की सरिता, भक्ति का समुद्र, सौन्दर्य का सर्वस्व, राधा माधव की युगल-मूर्त्ति। आपको पसन्द हो तो पहले को लेकर वैराग्य-साधना कीजिए।

व्रजभाषा के कवियों और रसिकों को वह पसन्द नहीं। योग की साधना व्यर्थ है उनके लिए। वे साफ कहते है :

जिन जान्यौ जोग तौ जोग लै जरि मरौ!—देव

उद्धव को गोपियों ने जो सन्देशा दिया है, वह इतना साफ है कि उसमें आध्यात्मिक गूढताओं का ढूंढना बेकार है। मगर उस विशाल प्रेम-वेदना के अध्यात्महीन होने से अध्यात्म का जगत् इतना निकट आ जाता है कि आश्चर्य होता है। 'मेघदूत' के अमर संगीत का सौन्दर्य क्या है? विराट् मानव का सनातन विरह। युग-युगान्तर का पुंजीभूत विरह प्रतिनिधि कवि के कण्ठ में शाश्वत रूप धारण कर गया! ताजमहल का सौन्दर्य कहाँ है? पत्थरों में? होगा; पर वास्तविक सौन्दर्य उसका है, उस शाश्वत विरह में। प्रेमी हृदय के उच्छ्वास ही पाषाण से फूटकर सौन्दर्य का रूप धारण कर सके है। और व्रज की इन गोपियों के मादक विरह का सौन्दर्य कहाँ है? गोपियों में? उद्धव मे? नहीं। उसका सौन्दर्य उसी मधुर कल्पना में है जिसने वासुदेव-देवकी-पुत्र कृष्ण को आनन्दकन्द मनमोहन के रूप में उपस्थित किया है, जिसने प्रेम की साक्षात् मूर्ति इन आभीर-कन्याओं की सृष्टि की है। कितनी विराट् कल्पना है, पर कितनी कोमल!—

जाहि अनादि अनन्त अखण्ड
अछेद अभेद सु वेद बतावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ
छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं!

इसे अध्यात्मवाद कहना चाहते हैं? एक यूरोपियन कला के मर्मज्ञ का कहना है कि "यूरोप का आधुनिक अध्यात्म-साहित्य, काव्य या आर्ट में कहीं भी एक परिपूर्ण सामंजस्य के साथ आत्मा का सहज सम्पर्क नहीं स्थापित कर सका है। अतीन्द्रिय-जगत् की ओर जरूरत से ज्यादा खिंचाव होने के कारण वहाँ इन्द्रिय-जगत् की ओर विशिष्ट प्रवृत्ति सम्भव नहीं हो सकी है।" एवमस्तु। अगर यूरोप के अध्यात्मवाद की सचमुच यह दशा है—हमें ठीक पता नहीं—तो कृपा करके इस अध्यात्मवाद से व्रज के अध्यात्मवाद की—अगर नितान्त प्रयोजनीय नहीं समझते हों तो—तुलना न कीजिए। कहाँ रूखा अध्यात्मवाद और कहाँ यह प्रेमस्निग्ध माधुर्य :

कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा।
कहँ श्यामल मृदु गात किसोरा!

मनमोहन के इस मिलन-विरह में कहीं भी सगुण-अवस्था की ओर इशारा नहीं किया गया। इसलिए इसका माधुर्य अनुपम है, अवर्णनीय है। इसमें ईश्वर की पर-ब्रह्म अगर न भी की जाय तो कोई हानि नहीं। रस का परिपाक उसी मधुरता के साथ होगा :

मनमोहन के बिछुरे सजनी, अजहूँ लौ भरी जिन ह्वै रहे हैं।
प्रान वे, मन वे, हम वे ही सही, पै कहूँ वे कहूँ मन ह्वै रहे हैं।

—पद्माकर

चित्रकला देखकर गरज उठते हैं—"असभ्य इजिप्ट ! राज-हर्म्य मे नग्न परिचारिकाएँ, और उनका चित्रण !!" फारस के कवि पर आँखें तरेरकर कहते है—"विलासपंक में निमज्जित कवि, और सुराही तेरी आराध्य देवी है !" संस्कृत के कवियों पर बरस पड़ते है—"देव-वाणी के पवित्र मन्दिर को अश्लील पंक से पंकिल करनेवाले कवि, यही तेरी कला है ! धिक !!" ब्रजभाषा के कवियो पर टूट पडते हैं—"भ्रष्टाचार के प्रसारक कवि, अपने उपास्यदेव के नाम पर तूने यह गन्दगी फैला रखी है ! धिक्कार है !" और फिर अपनी प्रबुद्ध नैतिकता की मशाल लेकर आगे बढ़ जाते है, मानो अतीत और भविष्य के निविड अन्धकार को दूर करने के सिवा इस युग के जीवन का और कोई लक्ष्य ही नही है।

यह बात विज्ञ-मण्डली को बताने की जरूरत नही कि श्रद्धा और प्रेम निकृष्ट-से-निकृष्ट आचरण में उत्कर्ष दिखा देता है। अश्रद्धा और घृणा से उत्तम-से-उत्तम वस्तुएँ घृणित हो जाती है। सभी धर्मों में आप कुछ-न-कुछ ऐसी बातें देखेंगे जिन्हें देखकर आपको आश्चर्य होगा कि धर्म के नाम पर यह क्या अनर्थ है ? पर उस धर्म के अनुयायी की सश्रद्ध दृष्टि से उसी बात को देखिए। आप जान सकेंगे कि यह अनर्थ नही है। ब्रजभाषा कवियों के कृष्ण भी ऐसे ही है। आप जिसे गन्दगी कहकर घृणा से आँख फेर लेते है, उसी मे वह युग प्रेम का स्रोत बहता देखता है और सिर आँखों चढ़ा लेता है। राधा और मोहन के नेह मे भी सन्देह ? ब्रज का कवि आपकी इस बात को समझ ही नही सकेगा। वह चकित की भाँति पूछेगा—युगल-मूर्त्ति का नेह भी किसी को अच्छा नही लगता ! आप अगर कहें 'हाँ' तो वह विस्मित हो जायगा। कह उठेगा—धूल डाल दो उसकी आँख मे, जो इसमें कलुप-प्रवृत्ति देखता है। एक मुट्ठी नहीं, हज़ार मुट्ठी—दस हज़ार मुट्ठी !

राधा-मोहनलाल कौ, जिन्है न भावत नेह।
परियौ मुठी हजार दस, तिनकी आँखिन खेह ॥

—मतिराम

क्या कहेंगे आप इस ईश्वर को ? इस भावना को ? इस विश्वास को ? पागलपन ? छीछालेदर ? ना; कृपा करके यह न कहिए। उस रहस्यमय ईश्वर को समझने की कोशिश कीजिए। कवि की आँखो से ही एक बार उसके मदनमोहन को देखिए। उस 'आँखिन में राखिबे जोग' को सम-व्यथित्व (sympathy) के साथ देखिए। देखिएगा, वासुदेव और आभीरो के बाल-देवता के इस संयुक्त संस्करण के चारों ओर ठोस प्रेम की कितनी जमावट आ जमी है। अति-प्राकृत का रूप कितना प्राकृत हो गया है। देखिएगा, 'राधारानी' के विशुद्ध काल्पनिक रूप के चारों ओर कितना सरस प्रेम, सहज सौन्दर्य घनीभूत हो उठा है, शून्य को जकड़कर किस मधुर स्नेह का स्तूप तैयार हो गया है। गोपियो को देखिएगा—प्रेम की असंख्य प्रतिमाओं के रूप में।

यह ईश्वर उस कवि का सखा है। अपनी विरह-वेदना को उसके चरणों में समर्पित करके वह धन्य हो जाता है, अपनी पुलक-व्यथा को उसे भेंट कर वह कृतार्थ

हो जाता है। वह गाय होकर भी रह सकेगा, यदि उस 'साँवरे मीत' का दर्शन हो सके; वह पक्षी वनना भी अच्छा समझेगा, यदि प्रिय का केलि-कदम्ब उसका वसेरा हो सके; वह पत्थर भी बन सकेगा, यदि उस लीलामय की उँगलियों का स्पर्श कर सके! क्या कहेंगे आप इस तन्मयता को? बाल-गोपाल की कारी कमरिया पर वह 'तिहूँ पुर को राज' वार सकता है, नन्द की गायों की चरवाही करने का अवसर मिल जाय तो आठों सिद्धि और नवों निधि को वह अनायास ही ठुकरा सकता है, कोटि-कोटि कलधौत के धाम वह उन करीर के कुंजों पर न्योछावर कर सकता है। यह है उसकी गहन साधना! पर यही स्वर्ग और अपवर्ग को ठुकरा देनेवाला कवि आपको आश्चर्य में डालकर गा उठता है :

रोकत हौ वन में 'रसखानि' चलावत हाथ घने दुख पैहौ।
जै है जो भूपन काहू तिया के तो मोल छला के लला न बिकैहौ।

× × ×

हाँसी मे हार हरौ 'रसखानि' सु जो कहुँ नैंकु तगा टुटि जैहै।
एक ही मोती के मोल लला, सिगरे ब्रज हाटक-हाट बिकैहै।

यही है ब्रज के कवि की मधुर और विपम साधना। आप कहेंगे इस साधना मे अश्लीलता है। जरूर है। लोक-धर्म बन जाने पर कौन-सी ऐसी साधना है, जिसमें कलुपवृत्त पुरुप न आ घुसे हों? परन्तु सारी ब्रजभाषा की कविता में आप मुश्किल से ऐसी एक-आध अश्लील कविता पायेंगे जिसमे युगल-मूर्त्ति की मर्यादा के प्रति श्रद्धा का भाव न हो। कवि सब कह जायगा, मगर एक मर्यादा के प्रति श्रद्धा रखकर। यह क्या मामूली साधना है? प्रेम के उच्चतम स्तर से लेकर निम्नतम स्तर तक मर्यादा के प्रति एकनिष्ठा, सो भी कितने दिनो तक? सौ-पचास वर्ष नही, कम-से-कम एक सहस्राब्दी तक!

संसार का यह एक विचित्र रहस्य है कि प्रेम की आँखों से देखने से जो बात जितनी ही आकर्पक होती है, घृणा की नजरो से देखने पर वह उतनी ही गर्हित। प्राय. देखा गया है कि धार्मिक आक्षेप करनेवाले उन्हीं बातों मे अधिक दोप देखते हैं, जिनसे उस धर्म के अनुयायी अधिक प्रेम करते है। ईसा के मेप-पाल रूप में करुणा का जो स्रोत फूट पड़ा है, ईसाई धर्म के आलोचको को उसी में भेड़िया-धसान दिखायी देता है। बुद्धदेव ने संसार की क्षणभंगुरता पर बड़ा जोर दिया था। सहस्र-सहस्र बौद्ध-भिक्षु संसार की इस क्षणिकता को शाश्वत के रूप में परिणत करने के लिए गृह-त्यागी हो गये; पर बौद्ध-दर्शन के विरोधियों ने इस पर सहज पिल पडने की कृपा ही नही की, बल्कि इसके अतिरिक्त उनकी राय में बौद्ध धर्म का और कोई अस्तित्व ही नही रह गया। विरोधी-दर्शनों मे बौद्ध क्षणिकवाद के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। हिन्दुओं ने मूर्त्तिपूजा के प्रति अपनी इतनी प्रगाढ श्रद्धा व्यक्त की थी कि धन-रत्न-सर्वस्व उस पर चढ़ा दिया था। आक्रमणकारी मुसलमानों को यही बात सबसे अधिक खटकी। आज अगर कोई हिन्दू धर्म का उपहास करना चाहे, तो उसे इन कवियों की कृतियों मे काफी मसाला मिलेगा।

उपाय क्या है !

आज से कम-से-कम ढाई हज़ार वर्ष पहले देव-देव वासुदेव का आविर्भाव हुआ था। तब से अब तक संसार के विविध उत्थान-पतनों के बीच से गुजरते हुए श्रीकृष्ण ने नाना भावों से विचित्र आकार ग्रहण किया है। ज्ञान की सर्वोत्तम प्रतिभा गीता का प्रवचन कराके उन्हें जहाँ विशुद्ध ज्ञान के सिंहासन पर बैठाया गया है, वही गोपियो के प्रेम की आश्रय-भूमि बनाकर उन्हें प्रेम-राज्य का सर्वस्व स्वीकार कर लिया गया है। बुद्धि और भाव—intellect और emotion—के अवतार, ढाई हज़ार वर्ष की विपुल साधना के साध्य को अगर लोग उपहास की फूँक से उड़ा देना चाहते हैं तो उचित तो नही कर रहे है, और चाहे जो करते हों। इस ढाई हज़ार वर्ष तक की एकान्त निष्ठा को छीछालेदर कहते हैं ? किमाश्चर्यमत: परम् ।

आज हम कविता में विशुद्ध प्रकृति-प्रेमी हो गये है और धर्म मे विशुद्ध ईश्वर-प्रेमी। यह प्रेम हम प्रेम के लिए नही कर रहे हैं, नैतिकता के लिए कर रहे है। शिलर (Schiller) कहते है—This kind of pleasure at the sight of nature is not an asthetic pleasure but a moral one, for it is arrived at by means of an idea. Whence comes this different sense? How is it that we who in every thing related to nature are inferiors to the ancients, should pay such homage to her, should cling so heartily to her and be able to embrace the inanimate world with such warmth of feeling? It is not our greater conformity to nature but on the contrary, the opposition to her... which is inherent in our conditions and customs that impels us to find some satisfaction in the physical world. [प्रकृति मे इस श्रेणी का आनन्द हम सौन्दर्य-बोध की ओर से नही पाते; पाते है नैतिकता की ओर से। क्योंकि यह एक विशेष धारणा से प्राप्त हुआ है। किस प्रकार प्राचीन लोगों की ओर हमारी धारणाओं मे अन्तर आ उपस्थित हुआ ? जहाँ तक प्रकृति से सम्बन्ध है, हम उनसे निम्नतर ही है। फिर भी हम प्रकृति को अपना अर्घ्य चढा रहे है, अनुभूति की ओर से जड़-जगत् को आलिंगन करने जा रहे हैं। इसका मतलब क्या है ? यह प्रकृति के साथ हमारे वृहत्तर योग से नही हुआ है, बल्कि उलटे, इसलिए हो सका है कि आचार-व्यवहार में हम प्रकृति के विरोधी हो गये है और आज उसी भौतिक-जगत् के भीतर कुछ सन्तुष्टि खोजने की चेष्टा हो रही है।]

शिलर के इस कथन मे प्रकृति के साथ ईश्वर को भी जोड़ देने की जरूरत जान पड़ती है। ब्रजभाषा-कविता पर विचार करते समय हमे ईश्वर-प्रेम के इस आधुनिक दृष्टिकोण का सहारा नही लेना चाहिए।

०००

सूरदास : स्फुट रचनाएँ

सूरकाव्य : प्रेरणा और स्रोत

सूरदास के बारे में इन दिनों काफी लिखा जा रहा है। उनकी भाषा से लेकर भक्ति तक सभी पक्षों पर और ऐसे भी पक्षों पर जिनसे सूरदास का बहुत दूर का ही सम्बन्ध है, बहुत लिखा गया है और लिखा जा रहा है। ऐसी स्थिति में कोई नयी बात कहना बहुत ही मुश्किल काम है। परन्तु कुछ-न-कुछ कहने का प्रयत्न करना ही पड़ेगा। पुरानी जानकारी को भी नये सिरे से सजाने में कुछ नवीनता आ जाती है, ऐसा कहा जाता है। पर इसमें नये सिरे से सजाने की कला आनी चाहिए, जो मुझे कम ही आती है। पर प्रयत्न तो करना ही चाहिए, वही कर रहा हूँ।

सूरदास महाप्रभु वल्लभाचार्यजी के शिष्य थे और लगभग समवयस्क थे। वार्त्ता-साहित्य से पता चलता है कि वे काफी बड़ी उम्र में अपने महान् गुरु के सम्पर्क में आये थे। इसके पहले भी वे भक्ति-परक गीतों की रचना करते थे। उनके शिष्य भी थे। महाप्रभु वल्लभाचार्य के सम्पर्क में आने का परिणाम यह हुआ कि पहले के दैन्य-परक भजनों का लिखा जाना बन्द हो गया और गुरु के आदेश और उपदेश को शिरसा स्वीकार कर उन्होंने लीला-गान शुरू किया। 'प्रभु हौं सब पतितन को टीको' जैसे दैन्य-परक पदों की रचना बन्द हो गयी और भगवान् श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं की पदरचना की बाढ़ आ गयी। 'सूरसागर' इन्हीं और भगवान् के अन्य अवतारों की लीला-विषयक पदों का भण्डार है। उनके दैन्य-परक और विनयमूलक कुछ पद इसमें अब भी सुरक्षित हैं और जो अनुमानतः पहले की रचनाओं के चुने हुए पदों का संकलन है। मुख्य वर्ण्य विषय श्रीकृष्ण, श्रीराधा तथा अन्य गोपियों की प्रेम-लीलाएँ हैं। सूरदास का मन इन्हीं में रमता है। इन्हीं लीला-पदों में उनका कवि-हृदय अपनत्व अनुभव करता है। महान् गुरु के सम्पर्क में आने का सबसे बड़ा सुखद परिणाम यह हुआ कि उन्हें अपने 'स्वभाव' का पता चल गया। कहते हैं कि महाप्रभु वल्लभाचार्य ने उन्हें अपनी भागवत पर लिखी सुबोधिनी टीका के आरम्भिक अंश का ही उपदेश दिया था। बाद में सूरदास ने बहुत कुछ सीखा-सुना होगा, लेकिन उनके 'स्वभाव' उद्रेक के लिए उतना ही . . .

हुआ। विद्वानों ने 'सूरसागर' के पदों में महाप्रभु वल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्तों को खोजने का भी प्रयत्न किया है। पर सही बात यह है कि लीला-विषयक मूल सिद्धान्त के अतिरिक्त 'सूरसागर' मे अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों की बहुत स्पष्ट चर्चा नही है। लगता है दार्शनिक तत्त्ववाद में उन्हें विशेष रुचि नही थी। लीला-विषयक सिद्धान्त उनके कवि-हृदय के अनुकूल भी था और पर्याप्त भी था। महाप्रभु के निकट आ जाने के पहले ही वे अन्धे हो चुके थे। सम्प्रदाय के विद्वान् तो उन्हें जन्मान्ध ही मानते हैं। इसलिए स्वयं ग्रन्थों का अध्ययन करने का उनका रास्ता बन्द ही था। स्वाभाविक ही है कि वे अन्तर्दृष्टि का अधिक आश्रय ले सके थे। बाह्य-साधन अर्थात् शास्त्रों का अध्ययन उनके लिए केवल दूसरों से सुनकर ही आश्रय बन सकता था। उधर उनका मन रमा नही।

इस कहानी का एक अर्थ यह भी हो सकता है कि महाप्रभु के सम्प्रदाय में उनके उन्ही पदों को सुरक्षित किया गया जो लीला-विषयक थे, क्योंकि सम्प्रदाय मे उन्हें ही मान्यता दी गयी। जो पद आत्म-दैन्य के थे उन्हें छोड दिया गया; क्योंकि महाप्रभु वल्लभाचार्य उनके प्रति वितृष्णा प्रकट कर चुके थे। नतीजा यह हुआ कि उनके आत्म-परक पद उपेक्षित हो गये। शायद परवर्ती जीवन में सूरदास को भी उन पदो से वितृष्णा हो गयी हो। जो पद फिर भी बच रहे हैं, वह हमारे लिए थोड़े ही सहायक सिद्ध होते हैं।

उन दिनों संस्कृत मे लिखनेवाले महान् प्रतिभाशाली आचार्य भाष्य और टीका लिखने मे व्यस्त थे। दसवी शताब्दी के बाद टीका-युग ही शक्तिशाली हो चुका था। विद्वानों और प्रवीण विचारकों के मन में यह बात घर कर गयी थी कि जो कुछ अच्छा या नया कहना था, उसे पहले के ऋषियों और आचार्यों ने कह दिया है। इस घोर कलिकाल मे पुरानी बातो की अपने ढग से नयी व्याख्या-भर की जा सकती है। श्रुति-सम्मत होना बड़ी बात है। कुछ भी ऐसा नही कहना या मानना चाहिए जो श्रुति-सम्मत न हो और प्राचीन या आप्त समझे जानेवाले ऋषि-मुनियों के प्रतिपादित सिद्धान्त के प्रतिकूल पड़ता हो। दर्शन हो या धर्मशास्त्र, ज्योतिष हो या आयुर्वेद, सबका श्रुति-सम्मत या आप्त-अनुमोदित होना आवश्यक माना जाने लगा। नयी बात कही ही नहीं गयी, ऐसा नही था; पर सबको श्रुति-सम्मत बताना आवश्यक हो गया था। उन दिनों सबसे बड़ा दोष वेद-बाह्य होना था।

इसकी प्रतिक्रिया भी बड़ी तीव्र थी। बहुत-से सम्प्रदाय तब भी थे जिनमें श्रुतियों की खिल्ली उड़ायी गयी थी। वह अवान्तर प्रसंग होगा। धीरे-धीरे प्रत्येक सम्प्रदाय अपने को श्रुति-सम्मत सिद्ध करने पर ही अधिक बल देने लगा। भक्ति-सम्प्रदायों मे यह बात और भी प्रबल रूप मे प्रकट हुई। महान् शंकराचार्य ने अपने शक्तिशाली भाष्यों में अद्वैतवाद—जिसे थोड़ा हीन साबित करने के लिए 'माया-वाद' भी कहा जाने लगा था—की स्थापना की। यह बात उन्होंने ग्यारह उप-निषदों, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता के भाष्यों मे सिद्ध की। वैष्णव मत पर इसकी तीव्र प्रतिक्रिया हुई। भक्ति के लिए अद्वैतवाद बहुत अच्छा आधार नही माना जा

सकता था। आवश्यक हो गया कि शांकर-अद्वैतवाद या मायावाद का प्रत्याख्यान उन्हीं ग्रन्थों के भाष्य या टीका द्वारा किया जाये जिन पर स्वयं शंकराचार्य ने भाष्य लिखे थे। इन ग्रन्थों को तीन प्रस्थान या 'प्रस्थानत्रयी' कहते थे। इन तीन प्रस्थानों का अर्थात् (1) ग्यारह उपनिषद्, (2) ब्रह्मसूत्र और (3) श्रीमद्भगवद्गीता का समर्थन पाये बिना कोई सम्प्रदाय मान्य नहीं होता था। कभी किसी एक या दो प्रस्थानों की टीका से भी काम चल जाता था, पर तीनों पर भाष्य, टीका या तिलक अत्युत्तम माना जाता था। कहते हैं कि श्री महाप्रभु चैतन्यदेव के 'अचिन्त्य भेदाभेद' का समर्थक कोई भाष्य नहीं था और इसीलिए उस सम्प्रदाय को जब शास्त्र-सम्मत मतों में स्थान नहीं दिया जाने लगा तो बलदेव विद्याभूषण ने रातों-रात वेदान्तसूत्र पर भाष्य लिख डाला और इस प्रकार शास्त्र-सम्मत सम्प्रदायों में स्थान बनाया। इन टीकाओं या तिलकों का प्रतीक तिलक धारण करना हर सम्प्रदाय के लिए आवश्यक था।

महाप्रभु चैतन्यदेव अत्यन्त प्रेमिक स्वभाव के भगवद्भक्त थे। उनके सम्प्रदाय यानी शिष्य-प्रशिष्यों में 'भागवत महापुराण' का बड़ा मान था। उन लोगों ने भागवत को ही एकमात्र शास्त्र स्वीकार किया था और भगवान् के प्रति अहैतुक प्रेम को सबसे बड़ा पुरुषार्थ माना था— 'शास्त्रं भागवतं पुराणममलं प्रेमापुमर्थो महान्।' इसलिए ही कदाचित् आरम्भ में उन्होंने प्रस्थानत्रयी का भाष्य नहीं लिखा। यद्यपि प्रस्थानत्रयी की महिमा उन लोगों को भी मान्य थी।

परन्तु महाप्रभु वल्लभाचार्य ने शुरू से प्रस्थानत्रयी का भाष्य लिखा। इतना उन्होंने और किया कि श्रीमद्भागवत को एक प्रस्थान मानकर प्रस्थानों की संख्या चार कर दी और 'प्रस्थान चतुष्ट्य' नाम दिया। अपने तत्त्वार्थदीप निबन्ध में प्रमाण-रूप में चारों प्रस्थानों की बात कही है :

वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि।
समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम्॥ (1-7)

उपनिषद् वेद ही है। सो, प्रमाण चतुष्ट्य हुए : (1) वेद, (2) श्रीकृष्ण वाक्य अर्थात् भगवद्गीता, (3) व्याससूत्र अर्थात् ब्रह्मसूत्र, और (4) व्यास की समाधि-भाषा अर्थात् श्रीमद्भागवत। इनमें भागवत को प्रमाण-रूप में स्वीकार किया गया है। मध्यकाल में यह सर्वाधिक प्रभावशाली ग्रन्थ रहा है। यह [illegible] का अपूर्व ग्रन्थ है। जो कोई भी इसका लेखक रहा हो, [illegible] साथ महाकवि भी था। उपनिषद् के तत्त्वज्ञान और [illegible] सभी आर्य शास्त्रों के सुविचारित मत इस ग्रन्थ में [illegible] घुल-मिलकर प्रकट हुए हैं कि इसे 'समाधिभाषा' [illegible] कहना बिल्कुल उचित है। ब्रह्मसूत्र और भागवत दोनों [illegible] में जहाँ तर्क-सम्मत तत्त्व-[illegible] प्रभावित करनेवाला और [illegible] अपूर्व काव्य-ग्रन्थ है। [illegible]

करके अन्तरतर को उल्लसित करनेवाला समाधि-काव्य है। समाधान केवल प्रतीति उत्पन्न कराता है और समाधि अनुभूति प्रदान करती है। एक बुद्धि का विषय है, दूसरा बोध का। ऐसे महान् ग्रन्थ को व्यास की समाधि-भाषा कहना सर्वथा उचित ही है। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने केवल यही नही कहा कि यह एक (अतिरिक्त) प्रस्थान है, वल्कि यह भी कहा कि केवल एक, दो या तीन प्रस्थानों को ही प्रमाण मानना पर्याप्त नही है। किसी मत की ग्राह्कता के लिए यह आवश्यक है कि वह चारों का अविरोधी हो, क्योंकि एक मे यदि सन्देह रह जाय तो वह दूसरों के द्वारा ही दूर होता है। इसमे भी चारो उत्तरोत्तर अधिक प्रामाणिक हैं।

"वेद, गीता, ब्रह्मसूत्र और भागवत इन चारो प्रमाणो मे प्रत्येक उत्तरवर्ती (परवर्ती) प्रमाण पूर्ववर्ती प्रमाणो में उत्पन्न होनेवाले सन्देह का निराकरण करनेवाला है। जो मत इन चार प्रमाणों के अविरुद्ध है, वही ग्राह्य है। जो इनके विपरीत है, वह अमान्य है।"

उत्तर पूर्व संदेहवारक परिकीर्तितम्।
अविरुद्ध यत्वस्य प्रमाणं तच्च नान्यथा।
एतद्विरुद्धं यत्सर्वं न तन्मान्यं कथंचन ॥ (1-8)

इसका मतलब यह है कि श्रीमद् वल्लभाचार्य के मत से भागवत केवल एक चौथा प्रस्थान ही नहीं है, वल्कि सबके सन्देहों का निराकरण करनेवाला व सर्वोतम प्रमाण है।

इतनी वड़ी वात कहने का अधिकार उन्हें था। उनकी सुबोधिनी टीका से स्पष्ट है कि भागवत को परम प्रमाण मानने का साहस, विद्या और निष्ठा उनमें भरपूर मात्रा में थी। ऐसे ही महान् गुरु के प्रेरणादायक सान्निध्य मे आकर सूरदास ने लीला-गान को अपनाया था। स्पष्ट है कि गुरु के महान् सन्देश को वहन करने और लोक-गोचर करने की अद्भुत शक्ति सूरदास में भी भरपूर मात्रा में थी।

यहाँ एक वात भागवत के प्रसंग मे और कह लेनी चाहिए। लीलाकथा को ही, 'चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता' के अनुसार, महाप्रभु वल्लभाचार्य ने सूरदास को भागवत के सारमर्म के रूप में बताया था। नि सन्देह भागवत की अपूर्वता, प्रथम तीन प्रस्थानो की अपेक्षा में, *लीला-रस के आस्वादन पर बल देने मे है :*

ससार सिन्धुमतिदुस्तरमुतितीर्षो:
नान्य: प्लवो भगवत. पुरुषोत्तमस्य।
लीलाकथारस निषेवणमन्तरेण
पुंसो भवेद्विविधदुः खदवार्दितस्य ॥

[अति दुस्तर संसार-सिन्धु को पार करने के इच्छुक, विविध दुःखदायी दावाग्नि से पीड़ित मनुष्य के लिए भगवान् पुरुषोत्तम (श्रीकृष्ण) की लीला-कथाओं से भिन्न कोई दूसरी नाव नही है।]

यह भागवत का विशिष्ट सन्देश है। लीला-कथा ऊपर-ऊपर से देखने पर प्राकृत जन के चरित के समान लगती है, पर भागवत में बताया गया है कि वस्तुतः

वे वैसी नही है, उनका अर्थ गहराई मे है। इसीलिए इस लीला-कथात्मक काव्य को व्यास की समाधि-भाषा कहा गया है। समाधि-भाषा ऊपर-ऊपर से विसगत दिखने पर भी गम्भीर अर्थ देती है।

बौद्ध सिद्धों की सन्ध्या-भाषा का नाम निश्चय ही आपने सुना होगा। महा-महोपाध्याय प. हरप्रसाद शास्त्री तक ने इस शब्द को समझने मे गलती की थी। वे बता गये हैं कि जिस भाषा का स्वरूप सन्ध्याकाल-जैसा ही थोड़ा-थोड़ा प्रकाश, थोड़ा-थोड़ा अन्धकार से झिलमिल रहता है, वैसा ही रूप इस भाषा का है। कुछ-कुछ स्पष्ट, कुछ-कुछ अस्पष्टता से आवृत। पण्डितों को इस अर्थ से सन्तोष नही हुआ था; महामहोपाध्याय प. विधुशेखर शास्त्री ने बताया था कि यह शब्द 'सन्धाय' (अभिप्रेत्य) शब्द से निकला हुआ है। मुझे भी यह दूसरा अर्थ कभी ठीक लगा था; पर अब लगता है कि 'सन्धा-भाषा' वस्तुतः 'समाधि-भाषा' का ही अपभ्रंश रूप है, अर्थात् भागवत जिस प्रकार ऊपर-ऊपर से दिखनेवाले अर्थ से भिन्न अतिविशिष्ट अर्थ को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार सिद्धो की यह 'सन्ध्या-भाषा' भी है। ऊपर-ऊपर से विसगत किन्तु महान् रहस्यपरक अर्थ की प्रकाशिका समाधि-भाषा ही 'सन्धा-भाषा' है।

सो, भागवत व्यास की समाधि-भाषा है। 'सूरसागर' मे ऐसा नहीं है, लेकिन सूरदास जानते है कि वे भागवत में वर्णित लीलाओ का ही अपने ढग से गान कर रहे है। वे यह भी जानते है कि भागवत की लीलाओ का गम्भीर अर्थ है। इस-लिए प्रायः अपने लीलागान के अन्त में वे पाठकों को सावधान कर देते हैं कि सूरदास के स्वामी श्यामसुन्दर की इन लीलाओ को, (जो 'समाधि-भाषा' मे कही गयी लीलाओं का अनुकथन मात्र है), वे प्राकृत जन का आचरण न समझे। ये वस्तुतः पुरुषोत्तम की अलौकिक लीलाएँ है। वे कवि है, समाधि-भाषा की सम-कक्षता का भ्रम उनके मन में नही है, पर वे यह भी नही चाहते कि लोग इस लीला-गान को कोरी कवि-कल्पना मान लें। इसीलिए वे बार-बार अपने पाठको को आगाह करते रहते हैं। आधुनिक समालोचक, जो इस पृष्ठभूमि को नही जानता, इन बार-बार सावधान करनेवाली बातो से झुँझलाता है। कभी-कभी वह इसे रसभंग का हेतु भी मान लेता है; क्योकि अगर इस तथ्य को न समझा जाय तो ये सावधान-वाणियाँ कवि-कर्म की परिपन्थी ही लगेंगी। भागवत में ऐसी सावधान-वाणियाँ क्वचित्-कदाचित् ही मिलती है। वह समाधि-भाषा है। 'सूर-सागर' मे ये बार-बार मिलती हैं, क्योकि कवि अपनी रचना को समाधि-भाषा नहीं मानता और उसे बराबर लगता रहता है कि उसकी रचना को प्राकृत जन-गुणगान माने जाने की आशंका है। वह इसीलिए सावधान करना आवश्यक समझता है। 'सूरसागर' भागवत से केवल इसी बात मे नहीं, अनेक बातों में भिन्न है। महाप्रभु वल्लभाचार्य और अन्य आचार्यो ने भागवत के सिद्धान्त और उसकी वर्णित लीलाओं का बहुत सूक्ष्म विश्लेषण किया था। उनके सूक्ष्म विवेचन 'सूरसागर' में नही मिलेंगे। कुछ बातें उसमें ऐसी भी हैं, जिनका मूल भागवत में खोजना कठिन

है। इसका क्या कारण हो सकता है ? यह विचारणीय है।

असल मे 'सूरसागर' शास्त्रीय वैष्णव भक्ति-शास्त्र से प्रेरणा अवश्य लेता है; पर शास्त्रीय की अपेक्षा लोक-धर्म के अधिक निकट है। उसकी भाषा, छन्द, पात्र और विचार-सरणि शास्त्रीय विश्लेषण की अपेक्षा लोक-व्यवहार के बहुत निकट-पर्यवेक्षण से अधिक प्रभावित है। हिन्दीप्रदेश के लोक-गीतों में वैष्णव भक्ति, तत्रापि श्रीकृष्णलीला का प्रवेश, महाप्रभु वल्लभाचार्य से बहुत पहले हो चुका था। वर्षो पहले आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अनुमान किया था कि 'सूरसागर' के पद किसी पुरानी लोक-परम्परा के गीतों का मार्जित रूप हैं। एकाएक ऐसी व्यवस्थित और मार्जित भाषा का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। इसका यह मतलब नहीं है कि ये गान सूरदास के रचे नही है। इसका मतलब यह है कि इस प्रकार की प्रेम-गीतियाँ, जिनमे कुछ प्रेम और विरह की अनुभूतियों का मार्मिक चित्रण था, पहले से ही लोक मे प्रचलित थीं। महाप्रभु वल्लभाचार्य-जैसे मनीषियों के सम्पर्क मे आकर भक्त कवियो ने उन्हें व्यवस्थित भक्ति-परक गानों का रूप दिया। अब हमारे पास ऐसी बहुत सामग्री है जिसके आधार पर इस बात की प्रामाणिकता विश्वसनीय हो रही है। महायान बौद्ध-मार्ग यद्यपि लुप्त हो गया था, पर उसके भक्ति-सिद्धान्त की छाप लोक-जीवन पर थी। वल्लभाचार्य और चैतन्यदेव-जैसे महापण्डित साधकों के शास्त्रीय मत का सहारा पाते ही वह नये तेज से दीप्त हो उठा। उसका मूल स्वरूप लोकधर्म का बना रहा। 'सूरसागर' की लीला-गान की प्रेरणा अवश्य 'श्रीमद्भागवत' से मिली, पर बहुत-सी बातें, उस समय उत्तर भारत के लोकधर्म की बनी रहीं और ऐसी बहुत-सी बातें जो परवर्ती वैष्णव आचार्यों की उद्भावनाएँ थीं और जिनका मूल श्रीमद्भागवत से बाहर था, इसमे छूट गयीं। उन्हें लेने का प्रयास भी नही हुआ।

श्री वल्लभाचार्य ने अनेक शास्त्र-वाक्यों के प्रमाण के आधार पर यह सिद्ध किया है कि माया और अविद्या दोनों ही भगवान् की शक्ति होने पर भी भिन्न-भिन्न हैं। अद्वैतवादियों के हिसाब से उनमे अभिन्नता है। श्रीमद्भागवत के अनुसार यह ठीक है, क्योकि दशमस्कन्ध के उनतालीसवें अध्याय मे भगवान् को *अपनी जिन शक्तियो से निषेवित कहा गया है उनमे अविद्या और माया* इन दो शक्तियो को अलग बताया गया है :

श्रिया पुष्ट्या गिरा कान्त्या कीर्त्या तुष्ट्येलयोर्जया।
विद्याऽविद्यया शक्त्या मायया च निषेवितम्। (भा. 10। 39। 5)

संसार अविद्या-जन्य है और प्रपंच माया-जन्य। इसलिए संसार भ्रम है, परन्तु प्रपंच सत्य। संसार से मुक्ति की इच्छा करनी चाहिए। जीव में अहंता, ममता आदि विकार होते है जिससे वह अविद्या (गलत जानकारी) के कारण मोह-ग्रस्त हो जाता है। संसार सिन्धु से पार होने के लिए, जैसा कि पहले ही बताया गया है, भगवान् के लीलाकथा-रस का आस्वादन एकमात्र साधन है, पर प्रपंच माया-जन्य है और सत्य है। वह रहेगा। उसका विलोप सम्भव नही है। संसार और

प्रपंच का यह सूक्ष्म भेद वल्लभाचार्य के तत्त्व-दर्शन को अद्वैत-वेदान्तियों के दर्शन से भिन्न करता है। वे लोग प्रपंच को भी मिथ्या मानते है। पर सूरदास इस प्रकार के किसी भेद की चर्चा, मेरी जानकारी में, नही करते। वे भवसागर—जो ससार का ही समुद्र-परक रूपक है—की चर्चा तो करते है और उतनी दूर तक वल्लभाचार्य के तत्त्व-दर्शन के अनुकूल ही है; पर प्रपच की कोई नामत. चर्चा नही करते। लोकधर्म मे ससार और प्रपंच के सूक्ष्म भेद का कोई अस्तित्व नहीं था। वहाँ भवसागर एक स्पष्ट धारणा है और वह भगवान् से भिन्न मोह पैदा करनेवाला जगत्, यम-यातना और मनुष्य का स्वय उत्पन्न किया हुआ अहता-ममता का जजाल, एक ही है। सूरदास इस बात मे भी लोक-विश्वास के अधिक निकट हैं। वे भवसागर को प्रपंच से अलग नही समझते। अनेक प्रकार की नरक-यातनाओं मे उनका विश्वास है। परन्तु भगवान् की लीला के गान को यम-यातना और नरक-भोग के मूल्य पर काम्य मानते है। उनके लिए तो भगवान् से उद्धार पाने का एक ही साधन है—शुद्ध मन से भगवान् का स्मरण :

गनिका किये कौन व्रत संयम शुकहित नाम पढावै।
मनसा करि सुमिरो गज बपुरो ग्राह परम गति पावै।

यज्ञ, याग, तीर्थ, व्रत सब ठीक है, पर भजन के सामने उनका कितना मूल्य है! यम-यातना से उद्धार पाने का एक ही उपाय है —भगवन्त-भजन :

काहे को अश्वमेध यज्ञ कीजै, गयाश्राद्ध, काशी-केदार
प्राग कल्प माथे करवत दै, चन्दा तरनि ग्रहन लछवार
सूरदास भगवन्त-भजन बिनु, यम के दूत कौन काटै पार।

सूरदास की यम-यातना भी भव-सागर का ही परिणाम है। परन्तु भगवत्-लीला-प्रेम की महिमा के आगे वे यम-यातना की विकरालता को उपेक्षणीय बतलाते है.

ऐसो कब करिहो गोपाल।
मनसा नाथ मनोरथ दाता हो प्रभु दीनदयाल।
चरननि चित्त निरन्तर अनुरत रसना चरित रसाल।
लोचन सजल प्रेम पुलकित तन कर कजन दल माल।
ऐसो रहत लिखत छन-छन यम अपनो भायो भाल।
सूर सुजस-रागी न डरत मन सुनि यातना कराल।।

सूरदास के पहले भी और बाद में भी व्रज-क्षेत्र मे देवीपूजा, मन्त्र-तन्त्र और टोना-टोटका का प्रभाव था। ऐसा अनुमान किया जा मकता है कि शाक्त-मत की अनेक देवियों और देवताओं को वैष्णव मत में स्थान मिला। वैष्णव सम्प्रदायों मे, विशेषकर गौड़ीय सम्प्रदाय में, गोपियों और उनकी यूथेश्वरियों का विस्तार-पूर्वक वर्णन किया गया है। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने गोपियों की उन्नीस श्रेणियाँ बतायी है— सात्त्विक स्वभाव की, राजस स्वभाव की, तामस स्वभाव की। तीन श्रेणियों मे प्रत्येक के प्रधान के साथ गौण गुणों के मिश्रण से प्रत्येक के छ-छ भेद होते हैं। इस प्रकार अठारह प्रकार के स्वभाववाली गोपियाँ हुई। इनके अतिरिक्त

निर्गुण स्वभाव का एक ही भेद है। इस प्रकार कुल उन्नीस श्रेणियाँ है। 'सूरसागर' मे इस प्रकार के पद का कोई सन्धान नही मिलता। यह और बात है कि लीला-गान के प्रसंग मे उन्होने जिन गोपियों की चर्चा की है, उनमें से किसी-किसी को इन भेदों के अन्तर्गत मान लिया जाय।

कुछ नाम सूरदास में भी मिल जाते है, पर बहुत थोड़े। ये नाम हैं: चन्द्रावली, ललिता, ('सूरसागर'-3525), सीला (3528), चन्द्रावली, संज्ञावली, ललिता, चन्द्रप्रभा (3520), ललिता, विशाखा (3451, 3455) और,

इन्दा, बिन्दा, राधिका स्यामा कामा नारि।
ललिता औ चन्द्रावली सखिन मध्य सुकुमारि।

एक पद मे तो कई सखियों के नाम गिनाये गये हैं: स्यामा, कामा, चतुरा, नवला, प्रमदा, सुमदा, सुषमा, सीला, अवधा, नन्दा, वृन्दा, कमला, यमुना, तारा, विमला, चन्द्रा, चन्द्रावली, अमला, अम्बा, जुहिला, चम्पा, ज्ञाना, माना, प्रेमा, रूपा, क्षमा, हसा (2626) इत्यादि। इनमें बहुत-से नाम पुराणों मे मिल जाते हैं। कुछ की पहचान गौडीय वैष्णव[1] की लम्बी सूची मे मिल जाती है। परन्तु बहुत-से नाम नये है और निश्चय ही सूरदास ने अपने इर्द-गिर्द के लोक-जीवन से लिये हैं। जो बात यहाँ विशेष रूप से उल्लेख्य है वह यह है कि सूरदास के बहुत पहले तन्त्र-शास्त्रो (शाक्त आगमो) में विशेष रूप से सम्मानित देवियाँ वैष्णव-साधना मे विशेष रूप और स्वभाव लेकर गृहीत हो गयी थी। 'पद्मपुराण', जो निश्चय ही वल्लभाचार्य से बहुत पहले अपना वर्तमान रूप ग्रहण कर चुका था और जिसके श्लोकों को अपनी बात के समर्थन के लिए उन्होंने प्रमाण रूप से बहुशः उद्धृत किया है, इन शाक्तागमों की बहु-सम्मानित देवियो को वैष्णव-आगमों में सम्मिलित कर चुका था। 'सूरसागर' में राधा की जिस सखी को बहुत बार और बड़े अन्तरग गौरव के साथ स्वीकार किया गया है, वे है ललिता। ललिता शाक्त आगमों में बहुत सम्मानित देवी है। शिव की जो लीला-शक्ति विश्व की सुन्दर रूप में रचना करती है उसी का नाम ललिता है। 'ललिता सहस्रनाम' मे इनकी स्तुति में कहा गया है:

'लीला ते लोक-रचना सखा ते चिन्मयः शिवः।'

सो, यह महिमामयी ललितादेवी राधा की अत्यन्त अन्तरंग सखी कही गयी हैं। 'सूरसागर' में वे कृष्ण को राधा से मिलाने में सहायक बतायी गयी है। विचित्र बात यह है कि उनको देखकर ही श्रीकृष्ण बहुत-कुछ समझ जाते है।

ललिता मुख चितवत मुसकाने।
आपु हँसी पिय मुख पहचानत दुहुँन मनहिं मन जाने।

इस प्रकार 'दुहुँन मनहिं मन जाने' का रहस्य शाक्त आगमो और 'पद्मपुराण' की गवाही पर जाना जा सकता है। वहाँ बताया गया है कि ललिता और श्रीकृष्ण

1. सूरदास के सम-सामयिक गौडीय भक्तों के वर्गीकरण के बारे मे कुछ विस्तृत विवरण आगे दिया गया है।

वस्तुतः अभिन्न है—'ललिता पुरुषाकारा कृष्णविग्रहा' अर्थात् ललिता ही पुरुष-रूप मे श्रीकृष्ण का शरीर धारण करती है।

इस प्रसग मे 'पद्मपुराण' मे नारद और अर्जुन के उपाख्यान स्मरणीय हैं। ये उपाख्यान किसी लोक-कथा के शास्त्रीय रूप जान पड़ते है और किसी पुराने युग की याद दिलाने लगते है, जब शाक्त विश्वास वैष्णव-रूप मे आत्मप्रकाश करने लगे थे। 'पद्मपुराण' के पातालखण्ड के 75वें अध्याय मे बताया गया है कि नारद ब्रह्मा के आदेश से वृन्दावन का रहस्य जानने के लिए महाविष्णु के पास गये। वहाँ उन्होंने अमृतसरोवर मे नारद को स्नान कराया। स्नान करते ही नारद सुन्दरी स्त्री के रूप मे हो गये। वहाँ उन्हे वहुत-सी और सुन्दरियाँ भी दिखी। एक ने उन्हें श्रीकृष्ण के पास पहुँचाया। उन्होने अपना परिचय देते हुए अपने को 'तुर्यातीता निष्कला' ललितादेवी बताया। श्रीकृष्ण का आलिंगन पाकर स्त्री-वेशी नारद को परम सुख प्राप्त हुआ। यहाँ ललिता और श्रीकृष्ण मे तथा ललिता और राधा मे अभेद बताया गया है— तीनों एक ही है। ललिता जो त्रिपुरसुन्दरी से अभिन्न है, यहाँ पूर्ण रूप से राधा के साथ एक हो गयी है। इसी प्रकार अर्जुन को भी एक बार श्रीकृष्ण के दिव्य लीला-वपु को देखने की आकाक्षा हुई। श्रीकृष्ण ने उन्हें महा-त्रिपुरसुन्दरी का कृपा-प्रसाद पाने की सलाह दी। वे ही अनुग्रह करें तो यह अभिलाषा पूरी हो सकती है। गोपी हुए बिना यह सुख नहीं मिल सकता और महात्रिपुरसुन्दरी की कृपा के बिना गोपी-रूप पाना सम्भव नही है ('पद्मपुराण', पातालखण्ड 74, 18-20)। फिर अर्जुन महात्रिपुरसुन्दरी के पादुकातल की शरण गये जहाँ उन्हें कुलकुण्ड मे स्नान कराया गया और बाला मन्त्र का उपदेश दिया गया। फिर वे उनको गोलोक के भी ऊपर स्थित वृन्दावन मे ले गयी और राधा-मन्त्र का उपदेश देकर श्रीकृष्ण के सामने ले गयी। तब कही जाकर अर्जुन को श्रीकृष्ण का 'रहोरमण' रूप दिखायी दिया। (वही)

इन उपाख्यानो से लोक मे अत्यन्त प्रचलित शाक्त देवियो का वैष्णव रूप प्राप्त होने का अनुमान होता है। परन्तु पुराण में उनका यह रूप प्राप्त करने के बावजूद लोक में शाक्त देवियों के मूल रूप किसी-न-किसी रूप में जीवित थे। उनकी प्रतिष्ठा सूरदास ने देखी होगी। 'सूरसागर' मे सभी गोपियों को और स्वयं राधा को भी वर-रूप में श्रीकृष्ण को प्राप्त करने के उद्देश्य से देवी और शिव की आराधना करते दिखाया गया है। उन्हें व्रत, संयम, नियम आदि का पालन करते भी दिखाया गया है। ये सारे प्रसंग लोक से ग्रहण किये जान पड़ते हैं। कहने का मतलब यह है कि सूरदास लीला-गान के समय शास्त्र की अपेक्षा लोक-जीवन पर अधिक आश्रित है।

श्री प्रभुदयाल मीतलजी ने 'व्रज का सांस्कृतिक इतिहास' नामक पुस्तक में दिखाया है कि "गणगौर की पूजा आज की कुमारी कन्याएं धूमधाम से करती हैं। व्रज की कुमारियाँ चैत्र कृष्ण 1 (एक) को अपने-अपने घरों मे मिट्टी अथवा लकड़ी की गौर-प्रतिमाएँ स्थापित कर प्रतिदिन उनकी पूजा करती हैं। प्रातःकाल होते

ही वे पूजा के लिए दूब और पुष्पों को लाने के लिए सामूहिक रूप में अपने घरों से निकल पडती है। उस समय ये 'गणगौर' के गीत गाती जाती है। सायंकाल वे गौर माता की आरती करती हुई फिर गीत गाती है। उस समय जो गीत गाये जाते हैं, उनकी प्रथम पक्तियाँ इस प्रकार हैं :

1. गौर, ए गनगौर माता, खोलो किवाड़, बाहर ठाड़ी तिहारी पूजनहारी।

2. गढ़ि लाई म्हारी गौर, छोटौ सौ खेलना।

गणगौर-पूजा का अन्तिम दिवस चैत्र शुक्ल 3 है। उस दिन सभी कुमारियाँ अपनी-अपनी गौर प्रतिमाओं को, सामूहिक रूप से गीत गाती हुई, किसी जलाशय पर ले जाती हैं और वहाँ उनका विसर्जन कर देती है। उसी दिन गणगौर का मेला भी होता है जिसमे कुमारी कन्याओं के साथ-ही-साथ सौभाग्यवती नारियाँ भी खूब सजधज कर भाग लेती है।"

इसी प्रकार 'देवी-पूजन' चैत्र शुक्ल 1 से 8 तक ब्रज के विभिन्न स्थानो मे देवी-पूजा के लोकोत्सव होते हैं। चैत्र शुक्ल पक्ष का आरम्भ होते ही ब्रज के सैकड़ों नर-नारी विविध देवियों की जात (यात्रा) को जाते है। उस समय वे स्त्री-बच्चो सहित पीले वस्त्र धारण कर घरों से निकलते है और देवी के गीत गाते हुए बड़ी श्रद्धापूर्वक यात्रा करते है। चैत्र शुक्ल 8 देवीपूजा का खास दिन है। उन दिनों जिन देवियों की यात्रा की जाती है, उनमें ब्रज की नरी-सेमरी, साचौली, करौली की कैलादेवी और नगरकोट की ज्वालाजी विशेष प्रसिद्ध हैं। इन देवियों के स्थानो में बड़े-बड़े मेले लगते हैं, जिनमें खाद्य पदार्थ और दैनिक उपयोग के सामान की दुकानों के अतिरिक्त, सबके मनोरंजन के लिए खेल-तमाशों की भी पूरी व्यवस्था होती है। इन स्थानो मे आठ दिनों तक बड़ी भीड़-भाड़ और धूम-धाम रहती है। यात्रा से वापिस आने पर अनेक श्रद्धालु देवी-भक्त 'देवी का जागरण' करते हैं। उस समय रात-भर जागकर देवी के गीत गाये जाते है।

लांगुरिया देवी की 'जात' को जानेवाले यात्रीगण जो गीत गाते हैं, उनमें 'लागुर' या 'लागुरिया' नाम का प्राय. उल्लेख किया जाता है। 'लागुरिया' देवी का लाड़िला बेटा माना गया है, जिसके प्रति भक्ति-भावना प्रकट करना देवी की प्रसन्नता के लिए आवश्यक समझा जाता है। यह बड़ी विचित्र बात है कि 'लांगुरिया' के प्रति यात्रियों की भावना वात्सल्य के साथ-ही-साथ शृंगाररस से पूर्ण होती है। श्रद्धापूर्वक देवी-पूजन को जानेवाले नर-नारी 'लांगुरिया' के नाम मे रसिकतापूर्ण ही नहीं, वरन् अश्लील गीतो का भी निःसंकोच गायन करते है। इस प्रकार के गीत देवी की प्रसन्नता के आवश्यक साधन माने जाते हैं। ग्रामीण जनता का विश्वास है कि इस प्रकार के गीत गाये बिना न तो देवी प्रसन्न होती हैं और न 'जात' (यात्रा) ही सफल होती है। इस विचित्र विश्वास के कारण यात्रा के लिए जानेवाली लोक-मण्डलियों में रसिकतापूर्ण व्यंग-विनोद एवं आमोद-प्रमोद का वातावरण बना रहता है। इस प्रकार के गीतों का एक कारण यह भी हो सकता है कि होली के बाद गाये जाने से उन पर होली के व्यंग-विनोद की छाया छायी

रहती है। यहाँ 'लांगुरिया' के गीतों की कुछ आरम्भिक पंक्तियाँ दी जाती हैं जिनमें उनकी रसिकतामयी भावना स्पष्ट रूप से व्यक्त होती है :

1. मैं मरूँगी जहर-विष खाय रे लागुरिया, मति फँसि अइयौ
   काऊ और ते।
2. करि लीजो तू दूसरौ ब्याह रे लागुरिया, मेरे भरोसे मत रहिओ।
3. नसे में लागुर आवैगो, नैंकु ड्यौडी-ड्यौडी रहियो।
4. अनोखी मालिन मैंना, करैं तो डरपैं काहे कूं।
   तेरे हाथ की मुदरी लागुर दई है गढाई॥
5. कोरी चूंदरिया मे दागु न लगइयो रे लागुरिया।

यह लांगुर या लांगुरिया नटखट प्रेमी है जो ब्रजभाषा-काव्य में बहुत परिचित है। भक्त-काव्यों में तो यह 'लगर' श्रीकृष्ण का ही वाचक हो गया है, पर लोक-जीवन में 'लागुर' के साथ सम्बन्ध भी याद रखा गया है। बिहारी ने जब कहा था :

लरिका लैबे के मिसनु लंगर मो ढिग आय।
गयौ अचानक आगुरी छातिन छैल छुवाय॥

तो लोक-जीवन से इस लंगर का सम्बन्ध स्पष्ट ही बना हुआ था। सूरदास लंगर, लंगराई, लंगरी आदि शब्दों का प्रयोग लोक-जीवन में व्याप्त लंगर या लागुरिया के चुहल के अर्थ में ही करते हैं.

कान्ह अब लंगराई हो जानी।
माँगत दान दही कौ अब लौं अब कछु औरौ ठानी।

× × ×

छाँडि देहु अंचरा फटिजैहै तुम को हम पहिचानी॥

—सू. सा., 2092

ब्रज मे पराइ नारि रोकि राखी बनवारि,
जान नहिं देत हौ जू कौन ऐसी लँगरी।
माँगत जोवनदान, भले हौ जू भले कान्ह,
मानत नहिं कस आन, बसि ब्रज नगरी॥—इत्यादि।

—वही, 2096

कई बार तो माता गौरी के लाड़ले पूत लागुरिया के व्यवहार की शिकायत के ढग पर ही गोपियाँ माता यशोदा से शिकायत करती हैं :

चली महरि पै सुंदरी उरहत लै हरि कौ।
अबही बोलि बँधाइए लंगर यह लरिकौ॥

—सू. सा 2104

गोपियाँ भी 'लंगरिनि' हैं। यशोदा उनकी शिकायत सुनकर डाँटती हैं :

मेरौ हरि कहँ दसहि बरस कौ, तुम जोवन मदमाती।
लाज नहीं आवति इन लंगरिनि, कैसे धों कहि आवति बानी।
—वही, 2106

सूरदास ने गोप-कुमारियों से ऐसा व्रत भी कराया है और लंगर नन्दलाल को उस उत्सव से जोड़ भी दिया है। 'पाइअ सद्द महण्णओ' में 'लंगिमा' देसी शब्द मिलता है जिसका अर्थ है जवानी। इससे जान पड़ता है कि 'जवान' के लिए 'लंग' शब्द का प्रयोग हुआ करता होगा। बाद में यह शब्द नन्दलाल के लिए प्रयुक्त होने लगा। इसे लकुलीश के साथ सम्बद्ध बताने का कोई आधार नहीं दिखता।

'सूरसागर' में गोपियों का इतना अधिक विस्तारित वर्णन है कि इसे स्त्री-चरित्र का विशाल काव्य कहा जाय तो अनुचित नहीं होगा। माता के वात्सल्य में वह बेजोड़ तो है ही, प्रेमिका का, पत्नी का, कुमारी का, रानी का, गोपवधू का, परिहास-पेशला का, चुहल करनेवाली का, विरहिणी का, वासकसज्जा का, प्रोषित-पतिका का भी वह अद्भुत, स्वाभाविक और सरस चित्रण करता है। पर ये सब किसी नायिका-भेद के ग्रन्थ या ग्रन्थों पर आधारित नहीं हैं। सब कुछ लोक-जीवन के निपुण निरीक्षण पर आधारित है। सूरदास का लोक-जीवन का अद्भुत ज्ञान अपने ढंग का अनोखा और अद्वितीय है।

शाक्त-साधना के अनेक प्रतीक वैष्णव-साधना में आ गये थे। लोक-जीवन में भी वे विद्यमान थे। आज भी हैं। डा. सत्येन्द्र ने व्रज के लोक-जीवन में देवियों की पूजा, मन्त्र-तन्त्र और शाक्त-प्रतीकों को आधुनिक काल में भी व्यापक रूप से प्रचलित पाया है। एकाध उदाहरण दिये जा सकते हैं।

कदम्ब-वृक्ष श्रीकृष्ण और गोपियों की प्रेम-लीला में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। सूरदास ने तो कदम्ब-तरु के साथ श्रीकृष्ण और गोपियों की अनेक लीलाओं को जोड़ रखा है। सुधारवादियों में रोष संचार करनेवाली वस्त्र-हरण-लीला भी कदम्ब-तरु के साथ जुड़ी हुई है। श्रीकृष्णचरित को 'अश्लील' कहनेवाले उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के सुधारवादी लोगों के बारे में ऐसी कहानियाँ प्रचलित हैं कि जिसके घर में या उसके आस-पास यह 'अश्लील' वृक्ष पाया जाता था उसके यहाँ वे लोग सामाजिक सद्भाव की रक्षा करने भी नहीं जाया करते थे। इस प्रकार कदम्ब-वृक्ष श्रीकृष्ण-लीला का प्रतीक ही बन गया है। पर यह वस्तुतः शाक्त आगमों का प्रतीक है। बहुत पुराने ग्रन्थ 'महानिर्वाणतन्त्र' में आदि-शक्ति या ललिता को 'कदम्बवनसंचारा' और 'कदम्बवनवासिनी' कहा गया है। यह प्रतीक शाक्त आगमों से उठकर ललितादेवी के साथ-साथ वैष्णव-साधना का अंग बन गया है। भागवत और पद्मपुराण आदि ग्रन्थों में इसने श्रीकृष्ण-लीला का अविच्छेद्य रूप धारण किया है और सूरदास के हाथों तो इसने और भी प्रेम-उद्दीपक रूप ग्रहण किया है। यह एक उदाहरण है जो शाक्त आगमों के वैष्णव रूपान्तर को इतना अधिक महत्त्व देता है कि बाद में लोग यह बात भूल ही गये कि यह पुष्प और इसका वृक्ष किसी समय शाक्त-साधना का उतना ही प्रतीक था जितना आज

उसे श्रीकृष्ण-लीला का वनना पड़ा है। इस कदम्ब ने व्रज-लीला को अत्यन्त मोहक रूप दिया है। शाक्त-साधना मे वह महाबिन्दु का प्रतीक था। कोई आश्चर्य नही कि उसने श्रीकृष्ण की वन-माला में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया। कहने का उद्देश्य इतना ही है कि बहुत प्राचीन काल से ही शाक्त-साधना के प्रतीक वैष्णव-साधना मे स्थान पा चुके थे और लोक मे भी बहुत-कुछ मूल रूप में विद्यमान थे।

सूरदास बहुत महान् कवि थे। परन्तु अगर आप कवि की महानता की खोज उसकी भाषा, छन्द, काव्य-पद्धति, विषयवस्तु आदि की नवीनता द्वारा निश्चित करने के अभ्यस्त है तो आपको बहुत अधिक उत्साहजनक कुछ नही मिलेगा। लोगों ने सूर-पूर्व और सूर-समकालीन व्रजभाषा का अध्ययन किया है जिससे देखा गया है कि भाषा बहुत पहले से काव्य में व्यवहृत होने लगी थी। डा. शिवप्रसाद सिंह ने सूर-पूर्व व्रजभाषा के अनेक मनोज्ञ सन्धान बताये है। अकबर के दरबारी व्रजभाषा कवियो की उत्तम रचनाएँ प्रकाश मे आ चुकी हैं। स्वयं सूरदास के गुरु-भाइयों परमानन्ददास, कुम्भनदास, कृष्णदास की उसी शैली की, उसी विषय की उत्तम रचनाएँ प्राप्त हुई है। सम-सामयिक तानसेन द्वारा रचित अनेक उत्तम गीत प्रकाशित हुए हैं। इन सबसे भाषा, विषय, उपस्थापन-पद्धति का जो सन्धान मिला है, वह सूरदास की इन्ही बातों से आश्चर्यजनक रूप से मिलती-जुलती है। ध्रुवपद या टेक देकर पद-रचना बौद्ध, सिद्धों, नाथो तथा निर्गुणमार्गी उन सन्तो मे भी मिलती है और जयदेव आदि संस्कृत-कवियों मे भी। विद्यापति और चण्डीदास आदि पूर्ववर्ती कवियों की रचनाओं मे भी यह बात पायी जाती है। सो, भाषा, भाव, विषयवस्तु, उपस्थापन-शैली, जिनका सूरदास ने प्रयोग किया है, वही है जो उनसे पहले भी प्रचलित थीं। फिर नवीनता क्या है?

लोक-जीवन ही 'सूरसागर' की लीलाओं की मुख्य सामग्री है। बिसातिन, दही बेचनेवाली, नट-बाजीगर, मेला, पनघट आदि के प्रसग मे सूरदास की वाणी सहस्र सुरों में मुखरित हो जाती है। टोना-टोटका, मन्त्र-जन्त्र, झाड़-फूंक आदि के लोक-प्रचलित विश्वासों के माध्यम से रस का महास्रोत उमड़ पड़ा है। इनका सन्धान किसी प्रस्थानत्रयी या प्रस्थान-चतुष्टय मे खोजना बेकार है। सांप के विष उतारने-वाले गारुडी गाँवो में आज भी बहुत है, सूरदास के समय मे और भी अधिक रहे होंगे। उनको उपलक्ष्य करके मोहन-मधुर रस की अवतारणा सूरदास की ही करामात है। उस प्रसंग में इस गारुड़ी लीला की अद्भुत सरसता का निर्माण किया गया है—राधा को कारे सांप ने डँस लिया। डँस क्या लिया, कीरति मैया को ऐसा ही बताया गया। सरलहृदया मां ने श्याम गारुडी की बातों मे विश्वास कर लिया :

> मैया एक मन्त्र मोहिं आवै।
> विषहर खाइ मरै जो कोई मो सों मरन न पावै।

मां को गारुड़ी की ही खोज थी :

> सूर स्याम मेरो बड़ो गारुड़ी राधा ज्यावाहु जाइ।

सो, श्याम गारुड़ी ने साँप का तो क्या, अपना ही विष झाड़ा :

कछु पढ़ि-पढ़ि करि अंग परसि करि
विष अपनो लियो झारि।
सूरदास प्रभु बड़े गारुड़ी
सिर पर गाड़ूँ मारि।

इस प्रकार की लोक-विश्वासों पर आधारित सरस लीलाओं का भाण्डार है 'सूरसागर'। इसका मूल प्रेरणा-स्रोत है महाप्रभु वल्लभाचार्य का लीलागत उपदेश और प्रचुर उपादान जुटाया गया लोक-जीवन से।

माँ यशोदा, नन्दबबा, कीरति मैया, राधा और उनकी सखियाँ, ग्वालबाल की विभिन्न परिस्थितियों और उनसे उत्पन्न मनोभावों का ऐसा सहज मनोहर चित्रण अद्वितीय है, पर सब कुछ लिया गया है सुनिरीक्षित लोक-जीवन से। गृहस्थ के जीवन के सारे आनन्द, औत्सुक्य, चिन्ता, प्यार, प्रेम, विरह, सुख-दुख इतनी सचाई के साथ चित्रित होकर भी अन्ततः भगवान् की मधुर लीलाओं में पर्यवसित हुए हैं। अद्भुत है लोकतत्त्व की लोकोत्तर परिणति।

[भारतीय भाषा केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली में पठित भाषण, 28 मार्च, 1978]

यह अन्ध गायक कौन था ?

यह अन्धा मनुष्य जो महाप्रभु वल्लभाचार्य की शरण में गया था, जो अपने को 'सब पतितन को टीको', 'जनमत ही को पातकी' बताकर व्याकुल वेदना से 'घिघिया' उठा था (स्वयं महाप्रभु ने ही इस शब्द का प्रयोग किया था) और अपने को भगवत्-लीला के विषय में अनजान बताया था, वह कौन था ? वह किन अवस्थाओं में अन्धा हुआ था; कहाँ-कहाँ भटकता हुआ गऊघाट पहुँचा था; कितना अपमान, कितनी अवहेलना, कितना तिरस्कार पा चुका था, इसका कुछ भी पता नहीं है। किन बड़भागी माता-पिता ने उसे जन्म दिया था, किन निदारुण परिस्थितियों में उसका यह लाला दर-दर भटकने को मजबूर हुआ था, कोई नहीं जानता। किसी ने जानने की परवा भी नहीं की। जिसका दृढ़ विश्वास हो गया था कि मैं 'जनमत ही को पतित' हूँ, 'सब पतितन को नायक' हूँ, वह कितना उपेक्षित हो चुका होगा, कितना अपमानित जीवन बिता चुका होगा, किन असहनीय परिस्थितियों में जीने

की दुर्वार लालसा ने उस भरमते-भटकते को विवश किया होगा—हमें बिल्कुल नही मालूम। अलौकिक चमत्कारों के विश्वासी हमारे इस देश के लोगों ने मान लिया कि वह तो जन्मान्ध होकर दिव्यदृष्टि-सम्पन्न था, या फिर उसने अपनी आँखों को कुमार्ग में प्रवृत्त होते देख स्वयं फोड़ लिया था, या पूर्वजन्म के अभिशाप और वरदान की आँखमिचौनी के कारण इस जन्म में अन्धा होकर भी दिव्यदृष्टि पाकर नित्य-लीलाविहार का साक्षी बना रहा, इत्यादि-इत्यादि। उसे कभी कोई कष्ट नही हुआ, दुःख नही हुआ, जलती रेत में पटकी हुई मछली की भाँति कभी छटपटाया नही, हाहाकार की झंझा उसके हृदय को कभी भी विकल वेदना से झटका नही दे गयी—सब प्रकार से सन्तुष्ट, सब प्रकार से विगतशंक, दिव्यदृष्टि-सम्पन्न लोकोत्तर पुरुष! परन्तु भरमा वह अवश्य था। सारे कष्टों की कहानी अब मालूम नही, पर उसे भटकना अवश्य पड़ा था :

माधौ जू, मन माया बस कीन्हौ।
लाभ-हानि कछु समुझत नाहीं, ज्यौं पतंग तन दीन्हौ।
गृह दीपक, धन तेल, तूल तिय, सुत ज्वाला अति घोर।
मैं मति-हीन मरम नहिं जान्यौ, पर्यौ अधिक करि दौर।
बिवस भयौ नलिनी के सुक ज्यौं, बिन गुन मोहिं गह्यौ।
मैं अज्ञान कछू नहिं समुझ्यौ, परि दुख-पुंज सह्यौ।
बहुतक दिवस भये या जग में, भ्रमत फिर्‌यौ मति-हीन।
सूर स्यामसुन्दर जौ सेवै क्यों होवै गति दीन।

—सू. सा., पद 46

'सूरसागर' को सरसरी निगाह से देख जानेवाला भी यह अनुभव करता है कि इसका लेखक असामान्य संवेदनशील और व्युत्पन्न कवि था। प्रेम का वह निपुण चितेरा था, भाषा का वह बादशाह था, अलंकार उसकी उक्तियों के पीछे-पीछे दौड़ते थे, रूप को, वर्ण को, प्रभा को, आभिजात्य को, विलासिता और विदग्धता को अनायास रूपायित करनेवाला वह महान् सौन्दर्यशिल्पी था। प्रेम के सारे चुहल उसके परिचित थे—फिर वह माता का हो, प्रिया का हो, सुहृद् जनों का हो—और जमकर उन्हें अभिव्यक्ति देने की अपार शक्ति से वह सम्पन्न था। उन्मत्त यौवन की विलासकला का भी चितेरा था और अवसन्न विरहावस्था का भी निपुण गायक था। निस्सन्देह उसने सबकुछ लीलाधाम भगवान् श्रीकृष्ण को समर्पित कर दिया था, पर यह अद्भुत समर्पण जानकार का सुचिन्तित समर्पण था, किसी अनजान भोलेनाथ का अटपटा आत्मार्पण नही था। प्रेम उसके हृदय में हिलोरें ले रहा था, विरह की व्याकुलता से वह बेचैन हो उठा था, पर यह सब सावधानी से उसने अपने आराध्य को समर्पित कर दिया था। उसकी प्रत्येक शिरा से यह गुरु-प्रदत्त मन्त्र निरन्तर मुखर होता रहा कि 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये'। वह जन्मान्ध नही था। वह ऐसा था जिसे कालिदास 'सचेता' कह गये हैं, जिसका मन प्रत्येक व्यक्ति का सुख देखकर सुखी और दुख देखकर तदाकार

हो जाता है। वह यशोदा के साथ, प्रेमपरवशा और विरहिणी गोपियों के साथ, नन्दबबा के साथ, ग्वालबालों के साथ, ज्ञानव्रती उद्धव के साथ—सबके साथ तद्भावभावित हो जाता था।

वह सही अर्थो में सहृदय था; सहृदय जो सबकी अनुभूतियों के समय की हृदयगत अवस्था के साथ अपना हृदय एकमेक कर देता है—'समाना हृदयानिवः'। उसने पारिवारिक जीवन को सम्पूर्णता में देखा था, पुत्र-जन्म के समय की आनन्दाभिव्यक्ति का वह प्रत्यक्ष साक्षी था, गोपवधुओं का, दूर्वा, दधि, रोचना, अक्षत आदि के साथ बधावा का उल्लास वह अपनी प्रत्येक शिरा से अनुभव कर सकता था; बच्चे का तेल, उबटन, काजल लगाना, अंगूठा चूसना, तोतली बोली बोलना उसे बहुत प्रिय था; बच्चे के मणिमाला और चौतनी धारणकर डिठौना, आंजन लगाकर किलकने पर वह भाव-विह्वल हो जाता था। वह उन प्रवीण गोपवधुओं के उल्लास के साथ स्वयं थिरक उठता था जो गाँव के नाते चाची, दादी, बुआ, भाभी की समशीला थीं। उसे कर्णवेध-संस्कार का पता था, यज्ञोपवीत-संस्कार की बहुत अच्छी जानकारी थी और विवाह के उल्लास का तो कहना ही क्या? उसे वधू के गौरी-पूजन के साथ चुपके-से अभिलषित वर माँग लेने की गोपनीय मानसिक अवस्था का, दुलहिन का दुलहे को नजर-भर देख लेने की दबी हुई पर उत्कट अभिलाषा का रहस्य मालूम था, उसे वर-वधू का जूआ खेलना, वधू की सहेलियों का गाली गाना, दहेज और लेनदेन के रिवाज का बहुत अच्छा ज्ञान था। वह लड़के और लड़कियों की बाल-क्रीड़ाएँ—आँखमुदौवल, लुका-चोरी, गुल्ली-डण्डा, भौरा-चक-डोरी, चौगान सब जानता था और जानता था इनके अन्तराल में पनपनेवाली अविज्ञात प्रेम-लीला को।

पहला केवल खेल ही था :

> खेलन हरि निकसे ब्रज खोरी।
> कटि कछनी पीतांबर ओढ़े, हाथ लिये भौरा चक-डोरी।
> मोर-मुकुट कुंडल स्रवनन वर दसन दमक दामिनि छवि धोरी।
> गये स्याम रवि तनया के तट अंग लसति चन्दन की खोरी।
> औचक ही देखी तहँ राधा नयन विशाल भाल दिये रोरी।
> नील बसन फरिया कटि पहिरे बेनी पीठ रुलति झकझोरी।
> संग लरिकनी चलि इत आवति दिन थोरी अति छवि तन गोरी।
> सूर स्याम देखत ही रीझे नैन-नैन मिलि परी ठगोरी।
>
> —सूर-साहित्य, पृ. 111

वह पनघट और नदीतीर की छेड़खानी का बहुत अच्छा जानकार था, उसे गोचारण और वंशी-वादन के समय रहस्यमय प्रेम के घातप्रतिघातों का भी पता था। वह प्रिया की आँखों की अपार उत्सुकता देख सकता था, क्षणभर भी न मिलने से उत्पन्न व्याकुल छटपटाहट की तो उसे जरूरत से कुछ ज्यादा ही जानकारी थी। वह सचमुच ही महान् रसिक था। उसमें सब कुछ लीला-निकेतन को न्योछावर

कर देने की अपार शक्ति भी थी। वह कभी यशोदा के माध्यम से अपनी व्याकुल वेदना प्रकट कर दिया करता है :

लाला हौ वारी तेरे मुख पर।
कुटिल अलक मोहन मन विहँसनि भृकुटी विकट ललित नैननि पर।
दमकनि दूध दँतुलिया विहँसति मनौ सीप घर कियौ वारिज पर।
लघु-लघु सिर लट घूँघरवारी लटकनि लटक रह्यौ माथनि पर।
यह उपमा कापै कहि आवै, कछुक कहौं सकुचनि हौ जिय पर।
नवननचन्द्ररेखिपधि राजत, सुरगुरु शुक्र उदोत परसपर।
लोचन लोल कपोल ललित अति नासिका को मुकता रद छद पर।
सूर कहा न्यौछावर करिये अपने लाल ललित लर ऊपर।

—सूर-साहित्य, पृ. 128

या फिर,

मेरे कान्ह कमल-दल-लोचन।
अबकि बेर बहुरि फिर आवहु कहा लगे जिय सोचन।
यह लालसा होति जिय मेरे बैठी सोचत रैहौं,
गाइ चरावन कान्ह कुँवर सों कबहूँ भूलि न कैहौ।
करत अन्याव न बरजौं कबहूँ अरु माखन की चोरी।
अपने जियत नैन भरि देखौ हरि हलधर की जोरी।
दिवस चारि मिलि जाहु साँवरे कहियौ यहै सँदेसौ,
अबकी बेर आनि सुख दीजै, सूर मिटाय अँदेसौ।

—सूर-साहित्य, पृ 126

और कभी राधिका के हृदय में पैठकर अपनी व्याकुल वेदना व्यक्त कर दिया करता था :

आजु रैनि नहिं नीद परी।
जागत गनत गगन के तारे रसना रटत गोविंद हरी।
वह चितवन वह रथ की बैठन जब अक्रूर की बाँह गही।
चितवत रही ठगी-सी ठाढ़ी कहि न सकत कछु काम-दही।
इतनो मन व्याकुल भयौ सजनी आरज पंथहु ते बिडरी।
सूरदास प्रभु जहाँ सिधारे कितिक दूर मथुरा नगरी।

—सूर-साहित्य, पृ 118

इतना विशाल लोकाचार का ज्ञान, इतनी मर्मभेदी प्रेम-कथाएँ, इतनी मोहक चितवनों का द्वन्द्व, इतना अद्भुत आत्म-निवेदन क्या सुनी-सुनायी बात है ? कविवर रवीन्द्रनाथ ने बंगाल के किसी पुराने वैष्णव कवि से जो बात पूछी थी, वह पूछने का लोभ क्या सूरदास के पाठकों को नहीं होता ?

"सच बताओ हे वैष्णव कवि, तुमने यह प्रेमचित्र कहाँ पाया था ? यह विरह-तप्त गान तुमने कहाँ सीखा था ? किसकी आँखें देखकर राधिका की आँखें याद

आ गयी थी ? निर्जन वसन्त-रात्रि की मिलन-शैया पर किसने तुम्हें भुज-पाशों से बाँध रखा था; और अपने हृदय के अगाध समुद्र में मग्न रखा था ? इतनी प्रेम-कथा, राधिका की चित्त विदीर्ण कर देनेवाली तीव्र व्याकुलता तुमने किसके मुँह और किसकी आँखों से चुरा ली थी ? आज क्या इस संगीत पर उसका (कभी कुछ भी) अधिकार नहीं है ? क्या तुम उसी के नारी-हृदय की संचित भाषा से उसी को सदा के लिए वंचित कर दोगे ?"

—सूर-साहित्य, पृ. 79

पर किसी ने यह प्रश्न नहीं पूछा। सबने यह मानकर सन्तोष कर लिया कि सूरदास तो बस दिव्यदृष्टि-सम्पन्न लोकोत्तर प्रतिभा के धनी थे। उन्हें अपनी असहायावस्था का कभी अहसास ही नहीं हुआ। इतना रूप, इतना रंग, इतने हाव-भाव, इतने कटाक्ष, इतने गतिशील अनुभाव, इतनी मोहक भाषा, ऐसा तन्मय भाव, इतनी चुहल, इतनी व्याजोक्तियाँ क्या बात-की-बात हैं ? अन्तरतर की निजी वेदना, आँखों का अभावजन्य दुःख, देखने की अपार लालसा और न देख सकने के क्षोभ का विकट द्वन्द्व क्या कभी इस अनोखे भक्त कवि के भावुक चित्त में टीस नहीं उत्पन्न करता ? मेरा मन कहता है कि अवश्य यह हृदयद्रावी विडम्बना सूरदास को व्याकुल कर जाती होगी। निरुपाय वे नहीं बने। सारी पीड़ा को हँसते-हँसते झेल गये। यह क्या समर्पित चित्त के लिए कम सन्तोष का विषय था कि आँखों को भगवान् ने अपने चरणों के नीचे डाल दिया ! दूसरे रूप को देखने का मार्ग ही बन्द कर दिया। लाज-संकोच तो आँखों के कारण ही पैदा होता है। वह रास्ता भगवान् ने बन्द कर दिया और अब हालत यह है कि कुछ भी माँगने में संकोच नहीं। ढीठ तो उन्होंने ही बना दिया :

तुमही मोकौ ढीठ कियौ।
नैन सदा चरननि तर राखे मुख देखत न बियौ।
प्रभु मेरी तुम सकुच मिटाई, जोइ सोइ माँगत पेलि।
माँगौं चरन सरन वृंदावन, जहाँ करत नित केलि।

—सूर-साहित्य, पृ. 79

श्याम और श्यामा का अद्भुत रास-वर्णन करना है। रूप का, रंग का, ताल का, लय का, शोभा और चारुता का, गतिशील चांचल्य का, नयनाभिराम चित्रण ! क्या यह सब आँखों के बिना हो सकता है ? शोभा के समुद्र में ज्वार आया हुआ है :

नृत्यत स्याम नाना रंग।
मुकुटलटकनि, भृकुटि-मटकनि, धरे नटवर अंग।
चलत गति कटि कुनित किंकनि, घुँघरु झनकार।
मनौ हंस रसाल बानी, अरस-परस बिहार।।
लसति कर पहुँची उपाजे, मुद्रिका अति जोति।
भाव सौ भुज फिरत जबही, तबहिं सोभा होति।।

कबहुँ नृत्यत नारि-गति पर कबहुँ नृत्यत आपु।
सूर के प्रभु रसिक के मनि, रच्यौ रास प्रतापु।।
—सूरसागर, 1074

गति सुघंग नृत्यति ब्रज-नारि।
हाव भाव नैननि सैननि दै, रिझवति गिरिवर धारि।
पग-पग पटकि भुजनि लटकावति, फूँदा करनि अनूप।
चंचल चलत झूमका अंचल, अद्भुत है वह रूप।।
दुरि निरखत अँग, रूप परसपर दोउ मनही-मन रीझत।
हँसि-हँसि वदन बचन रस बरषत, अंग स्वेद जल भीजत।।
बेनी छूटि लटैं बगरानी, मुकुट लटकि लटकानौ।
फूल खसत सिर ते भये न्यारे, सुभग स्वाति-सुत मानौ।।
गान करति नागरि, रीझे पिय, लीन्ही अंकम लाइ।
रस-बस ह्वै लपटाइ रहे दोउ, सूर सखी बलि जाइ।।
—सूरसागर, 1675

सूरदास यह सोचकर एक क्षण के लिए शिथिल हो जाते है। 'हाय प्रभु, कैसे वर्णन करूँ? कर भी दूँ तो कौन मानेगा? जिसे आँख ही नही उसके वर्णन का क्या विश्वास? दयानिधान, वर्णन तो करूँगा ही; पर यह बार-बार माँगना चाहता हूँ कि फिर नरदेह दो, फिर मनुष्य के रूप में जन्म दो—ऐसे मनुष्य के रूप मे जिसके दो नयन बने रहें!'

नयन-वंचित सूर की यह बड़ी ही कातर प्रार्थना है। मनुष्य का जन्म पाकर भी आँखो का अभाव! इस विकट विडम्बना से उबार देना प्रभु!

रास-रस रीति नहिं बरनि आवै।
कहाँ वैसी बुद्धि, कहाँ वह मन लहौ, कहाँ यह चित्त जिय भ्रम भुलावै।
जौ कहौ, कौन मानै, जो निगम-अगम-कृपा बिनु नही या रसहिं पावै।
भाव सौ भजै, बिनु भाव मे यह नही भाव ही माहिं घ्यानहिं बसावै।
यहै निज मंत्र, यह ज्ञान यह ध्यान है, दरस-दंपति भजन-सार गाऊँ।
यहै माँगौं बार-बार प्रभु सूर के, नैन दोउ रहैं, नर-देह पाऊँ।
—सूरसागर, 1624

चकितकारी रूप का, चटकीली वर्णच्छटा का, जगमगाते आभूषणो का, रंग-बिरंगे रत्नजटित लहँगों का, लहराती किनारीवाली साडियों का और उनके भीतर झाँकनेवाली कसी चटकदार अंगियों का बखान करना है और आँखें नदारद! हाय रे विडम्बना!

सूरदास यही थोड़ा रुककर तुरन्त सम्हल जाते हैं और फिर रूप और शोभा के गतिमान सचरण में अपने को निमग्न कर देते हैं। कसक रह-रहकर उठती अवश्य है। कभी-कभी किसी गोपी के माध्यम से क्षण-भर को हृदय के भीतर छिपी—दारुण वेदना ऊपर आ ही जाती है!

आ गयी थी ? निर्जन वसन्त-रात्रि की मिलन-शैया पर किसने तुम्हें भुज-पाशों से बाँध रखा था; और अपने हृदय के अगाध समुद्र में मग्न रखा था ? इतनी प्रेम-कथा, राधिका की चित्त विदीर्ण कर देनेवाली तीव्र व्याकुलता तुमने किसके मुँह और किसकी आँखों से चुरा ली थी ? आज क्या इस संगीत पर उसका (कभी कुछ भी) अधिकार नहीं है ? क्या तुम उसी के नारी-हृदय की संचित भाषा से उसी को सदा के लिए वंचित कर दोगे ?"

—सूर-साहित्य, पृ. 79

पर किसी ने यह प्रश्न नहीं पूछा। सबने यह मानकर सन्तोष कर लिया कि सूरदास तो बस दिव्यदृष्टि-सम्पन्न लोकोत्तर प्रतिभा के धनी थे। उन्हें अपनी असहायावस्था का कभी अहसास ही नहीं हुआ। इतना रूप, इतना रंग, इतने हाव-भाव, इतने कटाक्ष, इतने गतिशील अनुभाव, इतनी मोहक भाषा, ऐसा तन्मय भाव, इतनी चुहल, इतनी व्याजोक्तियाँ क्या बात-की-बात हैं ? अन्तरतर की निजी वेदना, आँखों का अभावजन्य दुःख, देखने की अपार लालसा और न देख सकने के क्षोभ का विकट द्वन्द्व क्या कभी इस अनोखे भक्त कवि के भावुक चित्त में टीस नहीं उत्पन्न करता ? मेरा मन कहता है कि अवश्य यह हृदयद्रावी विडम्बना सूरदास को व्याकुल कर जाती होगी। निरुपाय वे नहीं बने। सारी पीड़ा को हँसते-हँसते झेल गये। यह क्या समर्पित चित्त के लिए कम सन्तोष का विषय था कि आँखों को भगवान् ने अपने चरणों के नीचे डाल दिया ! दूसरे रूप को देखने का मार्ग ही बन्द कर दिया। लाज-संकोच तो आँखों के कारण ही पैदा होता है। वह रास्ता भगवान् ने बन्द कर दिया और अब हालत यह है कि कुछ भी माँगने में संकोच नहीं। ढीठ तो उन्होंने ही बना दिया :

तुमही मोकौं ढीठ कियौ।
नैन सदा चरननि तर राखे मुख देखत न बियौ।
प्रभु मेरी तुम सकुच मिटाई, जोइ सोइ माँगत पेलि।
माँगौं चरन सरन वृंदावन, जहाँ करत नित केलि।

—सूर-साहित्य, पृ. 79

श्याम और श्यामा का अद्भुत रास-वर्णन करना है। रूप का, रंग का, ताल का, लय का, शोभा और चारुता का, गतिशील चांचल्य का, नयनाभिराम चित्रण ! क्या यह सब आँखों के बिना हो सकता है ? शोभा के समुद्र में ज्वार आया हुआ है :

नृत्यत स्याम नाना रंग।
मुकुटलटकनि, भृकुटि-मटकनि, धरे नटवर अंग।
चलत गति कटि कुनित किंकनि, घुँघरु झनकार।
मनौ हंस रसाल बानी, अरस-परस बिहार॥
लसति कर पहुँची उपाजे, मुद्रिका अति जोति।
भाव सौं भुज फिरत जबहीं, तबहिं सोभा होति॥

कबहुँ नृत्यत नारि-गति पर कबहुँ नृत्यत आपु।
सूर के प्रभु रसिक के मनि, रच्यौ रास प्रतापु ॥

—सूरसागर, 1074

गति सुघंग नृत्यति व्रज-नारि।
हाव भाव नैननि सैननि दै, रिझवति गिरिवर धारि।
पग-पग पटकि भुजनि लटकावति, फूँदा करनि अनूप।
चंचल चलत झूमका अचल, अद्भुत है वह रूप ॥
दुरि निरखत अँग, रूप परसपर दोउ मनही-मन रीझत।
हँसि-हँसि वदन वचन रस वरषत, अंग स्वेद जल भीजत ॥
बेनी छूटि लटें बगरानी, मुकुट लटकि लटकानौ।
फूल खसत सिर ते भये न्यारे, सुभग स्वाति-सुत मानौ ॥
गान करति नागरि, रीझे पिय, लीन्ही अंकम लाइ।
रस-बस ह्वै लपटाइ रहे दोउ, सूर सखी बलि जाइ ॥

—सूरसागर, 1675

सूरदास यह सोचकर एक क्षण के लिए शिथिल हो जाते हैं। 'हाय प्रभु, कैसे वर्णन करूँ? कर भी दूँ तो कौन मानेगा? जिसे आँख ही नहीं उसके वर्णन का क्या विश्वास? दयानिधान, वर्णन तो करूँगा ही; पर यह बार-बार माँगना चाहता हूँ कि फिर नरदेह दो, फिर मनुष्य के रूप में जन्म दो—ऐसे मनुष्य के रूप में जिसके दो नयन बने रहें!'

नयन-वंचित सूर की यह बड़ी ही कातर प्रार्थना है। मनुष्य का जन्म पाकर भी आँखों का अभाव! इस विकट विडम्बना से उबार देना प्रभु!

रास-रस रीति नहिं बरनि आवै।
कहाँ वैसी बुद्धि, कहाँ वह मन लहौं, कहाँ यह चित्त जिय भ्रम भुलावै।
जौ कहौं, कौन मानै, जो निगम-अगम-कृपा बिनु नहीं या रसहिं पावै।
भाव सौं भजै, बिनु भाव मे यह नहीं भाव ही माहि घ्यानहिं बसावै।
यहै निज मंत्र, यह ज्ञान यह ध्यान है, दरस-दंपति भजन-सार गाऊँ।
यहै माँगौं बार-बार प्रभु सूर के, नैन दोउ रहें, नर-देह पाऊँ।

—सूरसागर, 1624

चकितकारी रूप का, चटकीली वर्णच्छटा का, जगमगाते आभूषणों का, रंग-बिरंगे रत्नजटित लहँगों का, लहराती किनारीवाली साड़ियों का और उनके भीतर झाँकनेवाली कसी चटकदार अंगियों का बखान करना है और आँखें नदारद! हाय रे विडम्बना!

सूरदास यहीं थोड़ा रुककर तुरन्त सम्हल जाते हैं और फिर रूप और शोभा के गतिमान संचरण में अपने को निमग्न कर देते हैं। कसक रह-रहकर उठती अवश्य है। कभी-कभी किसी गोपी के माध्यम से क्षण-भर को हृदय के भीतर छिपी दारुण वेदना ऊपर आ ही जाती है!

सुन री सखी बचन इक मोसों।
रोम-रोम प्रति लोचन चाहति द्वै साबित है तो सों।
मैं बिधना सों कहौ कछू नहिं, नित प्रति निमि कौ कोसों।
मेऊ जे नीके द्वै रहते निरखति रहती हौं सों।

—सूरसागर, 2447

इस पद में भी सूरदास की अपनी क्षीण दृष्टि की व्यथा ही सुनायी देती है। कई पदों में सूर की यह व्याकुलता फूट पड़ी है। ऐसा जान पड़ता है कि सूरदास के दैन्य-भाववाले पद ही सुरक्षित रह पाये। एक पद ऐसा मिलता है जिससे लगता है कि उनकी आँखें धीरे-धीरे खराब हुई थी। इस पद में उन्होंने बताया है कि उनकी एक ही आँख बची है और उसमें भी पूरी ज्योति नहीं है :

अब हौं माया हाथ बिकानौ।
परबस भयौ पसू ज्यौं रजु-बस, भज्यौ न श्रीपति रानौ।
हिंसा-मद-ममता-रस भूल्यौ, आसा ही लपटानौ॥
याही करत अधीन भयौ हौं, निद्रा अति न अघानौ।
अपने ही अज्ञान तिमिर में, बिसर्यौ परम ठिकानौ।
सूरदास की एक आँखि है, ताहू में कछु कानौ।

—सूरसागर, 47

ऐसा लगता है कि यह पद महाप्रभु वल्लभाचार्य से मिलने के पहले का लिखा हुआ है। इसमें वर्तमान काल की क्रिया का प्रयोग है। महाप्रभु ने उन्हें 'आँधरा' ही देखा था, उसके पूर्व उनकी आँखें किसी कारणवश नष्ट हो रही थी, पूरी तरह नहीं गयी थी और तब भी उनका नाम 'सूरदास' ही था। जल्दी ही उनकी यह दूसरी आँख भी नहीं रही। शायद उसी समय उन्होंने यह पद लिखा हो कि प्रिय तो निस्सन्देह महादानी है, पर कृपा उन्हीं पर करते हो जिनने पहले की कुछ पहचान हो, बिचारे सूरदास का कौन निहोरा है, उसके तो आँख भी नहीं है :

कहावत ऐसे त्यागी दानि।
चारि पदारथ दिये सुदामहिं अरु गुरु के सुत आनि।
रावन के दस मस्तक छेदे, सर गहिं सारंग-पानि।
लंका दई बिभीषण जन कौं, पूरवली पहिचानि।
बिप्र सुदामा कियौ अजाची, प्रीति पुरातन जानि।
सूरदास सौं कहा निहोरौ नैननि हूँ की हानि। —सूरसागर, 135

पता नहीं यह नाम माता-पिता का दिया हुआ था या लोक-प्रदत्त था। लेकिन जिस बहादुरी से कवि ने अपनी समूची दुर्बलता और साधनहीनता को दबाया और पूरे वाक्-काय और मन को बलपूर्वक भगवद्भक्ति की ओर मोड़ दिया था वह उन्हें 'सूर' (शूर) नाम का सच्चा अधिकारी सिद्ध करता है। उनके पूर्ववर्ती भक्त कवियों ने भक्त का एक आदर्श 'सूर' या शूर को माना था। कबीर ने तो 'सूरातन' (शूरत्व) की महिमा का नाना भाव से बखान किया है। वही सच्चा सूर है जो

इन्द्रियों से जूझता हुआ मन को काबू में करके परमप्रेमिक भगवान् को सर्वस्व उलीचकर दे देता है :

पूर्ण पड्या न छूटियो सुणि रे जीव अबूझ।
कबीर मरि मैदान मे करि इन्द्रयाँ सूं झूझ॥
कबीर सोई सूरियाँ मन सूं मांड़ै झूझ।
पंच पयादा पाड़िले दूरि करै सब दूज॥
कबीर मेटे संसा को नही, हरि रंग लाला हेत।
काम क्रोध सूं झूझणा, चौड़े मार्या खेत॥
कायर बहुत पसावही, बहकि न बोलै सूर।
काम परा ही जाणियै, जिसके मुख पै नूर॥

सूरदास निस्सन्देह ऐसे ही 'सूर' थे। अपने अन्तर्जगत् के द्वन्द्वों से जूझकर ही वे विजयी हुए थे। अपने परम आराध्य को उन्होंने सच्चे सूर (शूर) की ही भाँति वरण किया था। कबीर ने भक्त के लिए जिस प्रकार के सूर को आदर्श माना था वे वैसे ही थे :

अब तो जूझना ही बरौ, मुडि चाल्यां घर दूर।
सिर साहिब को सौंपता सोच न कीजै सूर॥

अनुमान किया जा सकता है कि कबीर आदि महान् सन्तों के प्रभाव से जन-साधारण मे उत्कृष्ट और जितेन्द्रिय भक्त के लिए उसी प्रकार 'सूर' शब्द प्रचलित हो गया होगा जिस प्रकार परवर्ती काल में वशी और ज्ञानी व्यक्ति को 'स्वामी' कहना रूढ हो गया। 'सूर' कदाचित् लोक-प्रदत्त नाम ही हो। दास वैष्णव भाव का सूचक है।

ऐसा लगता है कि विरक्त होने से पहले वे समृद्ध गृहस्थ-जीवन बिता चुके थे। उस जीवन के अनुभव वे भूले नही थे। 'सूरसागर' के आरम्भिक पदो से भी ध्वनित होता है कि कुछ समय तो वे सुखी गृहस्थी थे। उनके भी 'सुत-संतान स्वजन वनिता रति धन समान उनई' थी (पद 50)। तुलसीदास की तरह 'कूकर टूकर लागि ललाई' वाली स्थिति नही थी। पर न जाने क्या ऐसा घटित हुआ, बीच मे कौन-सी ऐसी दुर्भाग्य की आँधी आयी कि वे विरक्त हो गये। वे आँख रहते ही—कम-से-कम एक आँख रहते ही—सब-कुछ छोड-छाडकर निकल पड़े। वे कभी-कभी इस सोच मे पड अवश्य जाते रहे होंगे कि क्या-का-क्या हो गया, क्या योजना बनायी और क्या बन गया।

द्वै मैं एकौ तौ न भई।
ना हरि भज्यौ, न गृह सुख पायौ, वृथा बिहाइ गई।
ठानी हुती और कछु मन मैं, औरै आनि ठई।
अविगत-गति कछु समुझ परत नहिं, जो कछु करत दई।
सुत-सनेह-तिय सकल कुटुँब मिलि, निसि-दिन होत खई।
पद-नख-चंद चकोर विमुख मन, खात अँगार मई।

विषय-विकार-दवानल उपजी, मोह-बयारि लई।
भ्रमत-भ्रमत बहुतै दुख पायौ, अजहूँ न टँव गई।
होत कहा अबके पछिताएँ, बहुत बेर बितई।
सूरदास सेये न कृपानिधि, जो सुख सकल मई।

लगता है किसी महामारी से सारा परिवार नष्ट हो गया। आँखों पर उसी ने अपना दुष्प्रभाव छोड़ा होगा। बहुत बड़ा आघात लगा होगा इस महान् भावुक कवि को। सारा खेल बिगड़ गया था। सिवा भगवान् की शरण के कोई रास्ता नहीं था। वही शरण उन्होंने गही :

कौन सुनै यह बात हमारी?
समरथ और न देखौ तुम बिनु, कासौ बिथा कहौं बनवारी?
तुम अविगत, अनाथ के स्वामी, दीन-दयाल, निकुंज-बिहारी।
सदा सहाइ करी दासनि की, जो उर धरी सोइ प्रतिपारी।
अब किहि सरन जाउँ जादौपति, राखु लेहु बलि, त्रास निवारी।
सूरदास चरननि की बलि-बलि, कौन खता तैं कृपा बिसारी।

—सूरसागर, *160*

जैसे राखौ तैसे रहौं।
जानत हौ दुख-सुख सब जन कै, मुख करि कहा कहौ?
कबहुँक भोजन लहौ कृपानिधि, कबहुँक भूख सहौं।
कबहुँक चढ़ौं तुरंग, महा गज, कबहुँक भार बहौं।
कमल-नयन घनस्याम मनोहर, अनुचर भयो रहौ।
सूरदास-प्रभु भक्त कृपानिधि, तुम्हरे चरन गहौ।

—सूरसागर, *161*

परन्तु पूर्वजीवन के समृद्ध अनुभव बने रहे। लोक-जीवन को उन्होंने सरस जीवन्त रूप में देखा था। नानाप्रकार के व्यंजन, अनेक प्रकार के आभूषण, अनेक प्रकार के व्रत-उपवास, तीज-त्योहार, खेल-कूद, मेला-बाजार, होली-दीवाली, चारण भाट, पण्डा-पुरोहित, बिसातिन-पनिहारिन, शादी-ब्याह सब उनके देखे और जाने हुए थे। लोक-जीवन को गोपी-गोपाल-लीला के बहाने उन्होंने अत्यन्त जीवन्त रूप में उजागर किया। संगीत की बारीकियों के वे समझदार थे, नृत्य की चटुल भंगिमाओं का प्रत्यक्ष-दृष्ट चित्र-सा आँक सकते थे। हास-परिहास और ब्रोली-ठिठोली के भी वे उस्ताद लगते हैं। अनेक प्रकार के उन अन्धविश्वासों को, जो उन दिनों लोक-जीवन का नियमन करते थे, वे सरस-मनोहर बनाकर प्रस्तुत करने की असाधारण क्षमता रखते थे। मध्यकालीन ब्रज के लोक-जीवन को, उसके सारे गुण-दोषों के साथ, उन्होंने प्राणवन्त बना दिया है। यह निपुण निरीक्षण का ही नहीं, स्वयं भोगे हुए सत्य का प्रत्यक्ष रूप है। समूचा लोक-जीवन गोपियों और ग्वालों के साथ सरस रूप में प्रत्यक्ष हो उठा है। सूरदास विरक्त होकर भी अपनी समृद्ध अनुभूतियों को भूले नहीं थे। उन्होंने उसे भगवान् श्रीकृष्ण को समर्पित

कर दिया, प्राण ढालकर, समूचा आपा निचोड़कर, उन्होंने परमाराध्य को सौंप दिया। सूर के श्रीकृष्ण लोक-जीवन में घुलमिल कर तद्रूप बन गये।

सूरदास ने सारी व्याकुलता, अशेष उल्लास और समूची अनुभूति ब्रजराज श्रीकृष्ण को समर्पित कर दी। लोक-जीवन का जो कुछ सुन्दर है, जो कुछ उदात्त है, जो कुछ महनीय है, वह श्रीकृष्ण को समर्पित होकर धन्य हो उठा। परन्तु यह क्षेत्र सीमित था। 'सूरसागर' में जहाँ पशुपालक समाज का सादा जीवन जीवन्त हो उठा है, वहीं कृषक-जीवन की गतिविधियों का बहुत कम—नहीं के बराबर—चित्रण है। युद्ध की तो थोड़ी चर्चा आ जाती है। किसी-किसी रूपक में उस समय के सरकारी कारिन्दों की—पटवारी, लिखहार, मुसाहिब, अमीन, मुहर्रिर आदि की—चर्चा है जो अवश्य ही कृषि-जीवन से सम्बद्ध थे, परन्तु खेती के बारे में विशेष कुछ नहीं है। वैसे उन्हें वस्त्रों की असाधारण जानकारी थी—तिपार का लहँगा, पचरंग साड़ी, कटावदार और जड़ाऊ अँगिया, कुसुम्भी सारी, झूमक सारी, सेत-पीत चूनरी, पाटाम्बर, नीलाम्बर और पाग, अँगरखा आदि विविध वस्त्रों का केवल उल्लेख ही नहीं है, वरन् इस प्रकार काव्य में उन्हें गूँथा गया है कि विविध रंगों का अद्भुत सामंजस्य पारखी को चकित कर देता है। फिर तेल, उबटन, बिन्दी, महावर, गहने आदि, जो प्रधानतः कृषि-जीवी समाज में बहुत समादृत थे, खूब मनोरम होकर उभरे हैं। लेकिन प्रधान रूप से गोपालक समाज के जीवन को ही उजागर किया गया है; हल, बैल, कुदालवाली जीवनचर्या छूट ही गयी है। यही स्वाभाविक था।

सचमुच अद्भुत शक्ति-सम्पन्न था वह अन्ध गायक जिसने अपने-आप को ही उलीचकर ब्रजराज को दे दिया था। कुछ भी उसने बचाकर रख नहीं लिया—महादानी।

[भारतीय भाषा केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय,
दिल्ली में पठित भाषण, 29 मार्च, 1978]

भावैकरसं मनःस्थितम्

लीला-गान के प्रसंग में किसी नवीनता का सन्धान आवश्यक नहीं है। भारतीय कवियों ने ज्ञात और अति-परिचित कथानक के द्वारा ही काव्य, नाटक आदि में रस-सृष्टि की है। रस किसी भावी घटना के लिए औत्सुक्य की अपेक्षा नहीं रखता। ज्ञात कथानक में भावी घटना के लिए औत्सुक्य की सम्भावना होती ही नहीं। फिर

भी भारतीय साहित्य का अधिकांश महाभारत और रामायण की ज्ञात कथाओं पर आधारित है। कहा जाता है कि भारत का पुराना (और बहुत हद तक नया भी) साहित्य का अधिकांशत. 'महाभारत' और 'रामायण' की कथा पर ही लिखा गया है। उत्तर-मध्यकाल मे 'भागवत' ने यह प्रेरणा दी है। यहाँ घटना के लिए पाठक या दर्शक सांस रोके नही बैठा रहता। वह तो मालूम होती है। ज्ञात घटनाओं और ततोऽधिक ज्ञात पात्रों के अनुभाव और संचारी भाव के वैचित्र्य, पद-संघटना से उत्पादित ध्वनि-योजना, छन्दों की गतिशीलता से उत्पन्न लय सगति और शब्द और अर्थ की परस्पर स्पर्द्धी चारुता के विन्यास से कवि उस 'रस' की व्यंजना करता है जो इन बातों की सम्मिलित संघटना का स्फुरित रूप है। वह कहा नही जाता, अनुभव किया जाता है। यह सूच्य नही, संवेद्य होता है। कवि की विशेषता नयी घटनाओं की कल्पना मे नही, पुराने ज्ञात तथ्यो की उस नयी उपस्थापना में होती है जो 'रस' की अभिव्यक्ति कर सके। सूरदास ने 'भागवत' की अत्यन्त परिचित कथा के उन प्रसंगों को चुना है जो सहृदय के हृदय को छूती है। 'सूरसागर' कोई सुनियोजित कथा नही है; यद्यपि उसकी संघटना महाकाव्यात्मक है, पर उसके प्रेरक भाव गीतिकाव्यात्मक हैं। श्रीकृष्ण की लीलाओं को आधार बनाकर महाकाव्य लिखने के प्रयास भी किये गये है; पर बहुत सफल नहीं हुए हैं। गोपियाँ, यशोदा और राधा—ये चरित्र ही गीतिकाव्यात्मक हैं। भगवान् के मधुर रूप और उनकी मधुर लीलाओं का वर्णन वे अत्यन्त सहजभाव से करते हैं। यह माधुरी चार श्रेणी की बतायी गयी है : ऐश्वर्य-माधुरी, क्रीड़ा-माधुरी, वेणु-माधुरी और विग्रह-माधुरी अर्थात् रूप-माधुरी।

ऐश्वर्य-माधुरी मे भगवान् के प्रभु रूप अर्थात् सबकुछ करने के अपार ऐश्वर्य की माधुरी का वर्णन होता है। यह भी सूरदास को प्रिय है, पर मन उनका बाकी तीन माधुरियों में ही रमता है। उनके वर्णन के साधन हैं : शब्दों की निपुण योजना, छन्द का उच्छल वेग, मनोभावों का जीवन्त उपस्थापन और सम्पूर्ण रूप से आत्म-विह्वल भाव।

ससार के थोड़े ही कवि इस दिशा मे सूरदास की तुलना में रखे जा सकते हैं। रूप का, रंग का, आकृति का, ऐसा सुखद रूप काव्य की दुनिया मे कम ही उपलब्ध होता है। दृग्बिम्बों के निर्माण मे सूरदास बेजोड़ है। परन्तु रूप या विग्रह मे वे केवल श्रीकृष्ण तक ही सीमित नही रहते। राधा का, गोपियो का, ग्वाल बालों का, कुंजों का, ऋतुप्रवर्तक चिह्नों का उन्होने जमके वर्णन किया है। पर इससे भी अधिक उनका मन श्रुतिबिम्बों के निर्माण मे लगता है। बहाना है वेणुनिनाद—मुरली की चमत्कारी ध्वनि !

बेधक है मुरली की यह तान। बेध डालती है मन और प्राण को। फिर भी राधा सुनना चाहती है। बजाने दे प्यारी सखी, सुन नही रही है उसमे राधा-राधा की ही रट है :

मुरली स्याम बजावन दै री।
स्रवननि सुधा पिवति काहे नहिं इहिं तू जनि बरजै री।
सुनति नहीं वह कहति कहा है राधा-राधा नाम।
तुम जानति हरि भूलि गये मोहि तुम एकै पतिवाम।

सो, मुरली में राधा का नाम ही व्याकुल स्वर में बजता रहता है :

जब-जब मुरली कान्ह बजावत
तब-तब राधा नाम उचारत बारंबार रिझावत।
तुम रमनी वह रमन तुम्हारे वैसे हि मोहि जनावत।
मुरली भई सौत जो मेरी तेरो टहल करावत।
वह दासी तुम हरि अर्धांगिनि यह मेरो मन आवत।
सूर प्रगट ताही सो कहि कहि तुम को स्याम बुलावत ।।

और सूरदास का हृदय इस कलध्वनि को सुनने के लिए व्याकुल हो उठता है। श्रीकृष्ण के सखाओं के माध्यम से वे स्वयं चीत्कार कर उठते हैं :

छबीले मुरली नेंकु बजाउ।
बलि बलि जात सखा यह कहि कहि अधर सुधारस प्याउ।
दुरलभ जनम लहब वृन्दावन दुर्लभ प्रेम तरंग।
ना जानिए बहुरि कब ह्वै है स्याम तिहारो संग।

शब्दों की अपूर्व विन्यास-चातुरी के साथ चित्त का परिपूर्ण समर्पण किस सहज भंगिमा में अभिव्यक्त हुआ है ! भक्त का कातर हृदय कितने प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त हो गया है ! यही कातर अभिलाषा 'सूरसागर' का मुख्य केन्द्रबिन्दु है।

रूपमाधुरी में सूरदास का मन बहुत रमता है। अपार रूप-समुद्र का क्या दो आँखों से पार पाया जा सकता है ? उन्हीं की कृपा प्राप्त हो तभी यह सम्भव है :

द्वै लोचन तुम्हरे द्वै मेरे।
तुम प्रति अंग विलोकन कीन्हे, मैं भई मगन एक अँग हेरें।
अपनो-अपनो भाग सखी री, तुम तन्मय मैं कहूँ न नेरें।
स्याम रूप अवगाह सिंधु ते, पार होत चढ़ि डोंगनि केरें।
सूरदास तैसे ये लोचन कृपा जहाज बिना क्यों पेरे।

आँखें बार-बार देखती हैं। पलक झँपते ही शोभा और की और हो जाती है; भाव नवीन हो जाते हैं—'क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति'

पुनि लोचन ठहराइ निहारति निमिष मेलि वह छवि अनुमानौं।
औरै भाव और कुछ सोभा कहो सखी कैसे उर आनौं।
छिनु छिनु अँग छवि अगनित पुनि देखौं फिरि कै हठ ठानौं।
सूरदास स्वामी की महिमा कैसे रसना एक बखानौं।

ब्रज-ललनाएँ थकित हो जाती हैं। वनमाला धारण किये जब श्यामसुन्दर वन से लौटते हैं तो वे तन-मन निछावर कर देती हैं :

राजत री वनमाल गरे हरि आवत वन तें।
सूरदास प्रभु की छवि, ब्रजललना निरखि
थकित तन मन निछावर करे आनन्द वहुतन तें॥

उस नटवर वेश की बलिहारी जिसकी शोभा के सामने कामदेव भी विवश हो जाता है :

नटवर वेष धरे नदनन्दन निरखि बिबस भयो काम
उर वनमाल चरन पंकज लौ नील जलद तनु स्याम।

अद्भुत है वह रूप, अद्भुत है उसकी शोभा—सुखद, शामक मदनमोहन :

फिरत बननि वृन्दावन बंसीवट, सकेतवट,
नागर कटि काछे खोरि केसरि की किए।
पीतवसन चदन तिलक मोर मुकुट कुंडल झलक
स्याम घनु तुरग छलक, यह छबि तन लिये।
तनु त्रिभग सुभग अग निरखि लाजत रति अनंग
ग्वाल वाल लिये संग प्रमुदित सब हिये।
सूर स्याम अति सुजान मुरली धुनि करत गान ।

कहते है आध्यात्मिक ऊँचाई का अन्दाजा श्रुतिबिम्बों से लगता है। अत्यन्त निचले स्तर के विलासी कवि गन्ध-बिम्बों की प्रचुरता की ओर जाते हैं। फिर स्पर्श-बिम्बों का स्तर थोड़ी और ऊँचाई की अपेक्षा रखता है। चाक्षुष-बिम्ब उससे भी अधिक ऊँचाई की अपेक्षा रखता है। श्रुति-बिम्बों की ओर झुकनेवाले कवि अधिक आध्यात्मिक होते है। पर मानस-बिम्ब तो बहुत विरले कवियों के बस की बात होती है।

भक्ति-सम्प्रदाय मे 'भावैंकरस' (भाव ही एकमात्र रसवाले) चित्त की महिमा बहुत पुरानी बात है। कालिदास ने पार्वती के मुख से ब्रह्मचारी वेशधारी शिव के प्रति कहलवाया है कि तुम अच्छा समझो या बुरा, मेरा मन तो 'भावैंकरस' हो गया है—'ममात्र भावैंकरस मन. स्थितम्'। भक्त जनों मे यह भावैंकरस चित्त नाना प्रकार से प्रकट हुआ है। पर इसका अत्यन्त निखरा हुआ रूप उत्तर मध्य-काल के भक्ति-साहित्य में दिखायी देता है। भक्त चाहे निर्गुणमार्गी हो या सगुण-मार्गी, रामाश्रयी हो या कृष्णाश्रयी, भाव की साधना सर्वत्र दिखायी देती है। निर्गुणमार्गी भक्तों ने भी परमप्रेयान् के प्रति अपना प्रेम अत्यन्त शक्तिशाली भाषा मे अभिव्यक्त किया है। निर्गुणमार्गी भक्त भी कान्ताभाव की प्रेम-साधना मे उसी प्रकार रमे हैं जिस प्रकार सगुणमार्गी भक्त। फिर भी दोनो मे अन्तर भी है।

इस अन्तर को समझ लेना आवश्यक है। निर्गुणमार्गी भक्तो की वाणियों से भी स्पष्ट है कि भगवान् के प्रति सच्चे प्रेम से सच्ची व्याकुलता उत्पन्न होती है। जिसे सच्ची व्याकुलता प्राप्त है, वह विधि-निषेध के बन्धन में नहीं बँधा रहता। लोक-लाज और शास्त्र के प्रति निष्ठा भी उसे अपने मार्ग से विचलित नहीं कर सकती। सहज साधक के लिए यह प्रेम ही बड़ी चीज है। किसी प्रकार का ऊपरी

दिखावा, मानसिक संकोच, प्रयत्न में झिझक और उपलब्धि मे हिचक इस सच्चे प्रेमिक को परिपूर्ण आत्मसमर्पण के मार्ग से विचलित नही कर सकते। वह सती भी क्या जो लाज से चिता पर न चढ सके :

विरहिनी थी तो क्यों रही, जली न पिव के नालि।
रहु-रहु मुगुध गहेलडी, प्रेम न लाजूं मारि॥—कबीर

जिसके चित्त में प्रेमोदयजन्य व्याकुलता आ जाती है उसका होना सार्थक हो जाता है। मनुष्य का होना, उसकी सत्ता, यही तो भाव है—भाव अर्थात् होना। भावों के आधार पर ही मनुष्य जीता है। भाव की चरितार्थता, जैसा कि पहले ही बताया गया है, किसी के लिए होने में है। जो 'होना' केवल होने के लिए है, केवल सत्ता-मात्र है, जो दलित द्राक्षा की तरह निचोड़कर अपने-आपको किसी के चरणो मे पूर्ण रूप से समर्पित कर देने के लिए व्याकुल नही है, उसका होना व्यर्थ ही है। उससे तो न होना अच्छा :

कै विरहिनि कूं मीच दे, कै आपा दिखराइ।
आठ पहर का दाझणां, मोपै सहा न जाइ॥—कबीर

सगुणमार्गी भक्तों ने इस प्रेम-साधना को एक दूसरा ही रूप दिया है। मूल तत्त्व यहाँ भी वही है—भगवान् की लीला। भगवान् केवल सत्तामय या केवल चिन्मय नही है। चिन्मय रूप उसका एक अंग है। इसी चिन्मय रूप को ब्रह्म कहते हैं। इसके अतिरिक्त भगवान् का एक और रूप है जो उसका ऐश्वर्यमय रूप है। इस ऐश्वर्यमय रूप को तत्त्ववेत्ता लोग परमात्मा कहते है। परन्तु भगवान् का जो पूर्ण रूप है वह प्रेममय है। यही भगवान् पृथ्वी पर अवतार ग्रहण किया करता है। 'श्रीमद्भगवद्गीता' मे साधुओं की रक्षा, दुष्टों का विनाश और धर्म की स्थापना को अवतार के हेतु कहा गया है। जो लोग भगवान् के अवतार में विश्वास करते हैं (और सगुणमार्गी भक्त ऐसे ही लोगो मे होते हैं), उनका दृढ विश्वास होता है कि इन तीन उद्देश्यों से भगवान् प्रत्येक युग में सम्भूत होते है। 'सम्भूत' शब्द का तात्पर्य यह है कि उनका सन्मय, चिन्मय और आनन्दमय रूप ठोस इन्द्रिय-ग्राह्य रूप को ग्रहण करता है। मध्यकाल मे इन तीन उद्देश्यों के अतिरिक्त एक और उद्देश्य भी स्वीकार किया गया था। वह है अपनी लीला-कीर्त्ति का विस्तार करके भक्तों पर अनुग्रह करने की इच्छा—'स्व-लीला कीर्ति विस्ताराद् भक्तेष्वनुजिघृक्षया'—अर्थात् भगवान् अपनी लीला और कीर्त्ति का विस्तार करके भक्तों पर अनुग्रह करते है। इसीलिए इस प्रकार के अवतारो को लीला-वपु कहते है। लीला का कोई और प्रयोजन नही; लीला ही उसका प्रयोजन है। इसी लीला के द्वारा भगवान् भक्तों पर अनुग्रह किया करते है।

बताया गया है कि नियमित साधना और गुरु की कृपा से साधक जब अपनी प्रकृति पहचान लेता है, तब वह सहज ही अपने भाव (एक भाव) को पकड़ने लगता है। वस्तु-जगत् में यदि उन भावों को स्थूल विषयेच्छा के साथ मिलाया जाय, तो कदाचित् वे अच्छे नहीं माने जायेंगे। किन्तु भाव-जगत् मे इस पर कोई

प्रतिबन्ध नहीं होता। सांसारिक विधि-निषेध बाह्य-जगत् को दृष्टि में रखकर बनाये गये है। इन विधि-निषेधों की व्यवस्था करनेवाले धर्मशास्त्र वस्तु-जगत् की उपरली सतह की व्यवस्था को ही दृष्टि में रखकर नियमों का प्रवर्त्तन करते रहते है। परन्तु गहराई मे जाने पर उनके ऊपर विधि-निषेधों और उनके ऊपर आधारित नैतिकता का कोई विशेष मूल्य नही है। जड़ वस्तुएँ काल और देश दोनों की सीमाओ से बँधी रहती है। उनका संग्रह करने से उनके जीर्ण और नष्ट होने का भय बना रहता है और स्थान की कमी भी मालूम पड़ती है। परन्तु भाव-जगत् की वस्तुएँ इस प्रकार की सीमाओ से बँधी नही होती। इसीलिए उनमें नैतिकता का वह मानदण्ड निर्णायक नहीं हो सकता है जो वस्तु-जगत् में प्रचलित है। साधक की प्रकृति यदि ऐसी हुई, जो वस्तु-जगत् में घृणित और निषिद्ध मालूम पड़ती है, तो भी उसे अपने को छिपाना नही चाहिए; क्योंकि इस जगत् की सबसे बड़ी विपत्ति अपने को छिपाने में अथवा गलत समझने में ही है। इसलिए सावधानी से साधक का अपनी यथार्थ प्रकृति को पहचान लेना बहुत आवश्यक है। दुराव-छिपाव इस क्षेत्र में अनावश्यक भी है और भयानक भी। आचार्यों ने बताया है कि भाव ही जब गाढ बन जाता है, तब रस बन जाता है—'भाव स एव सान्द्रात्मा रसत्वमधिगच्छति'।

भाव के गाढ होने का अपना क्रम है। सबसे पहले साधक को निरन्तर अपने यथार्थ भावों के अनुकूल वस्तुओं की कामना करनी होती है। ये वस्तुएँ इस भाव-जगत् मे अनायास उपलब्ध हो जाती हैं। कुछ दिनो तक इस प्रकार अनायास उपलब्ध हो जानेवाले पदार्थो से उत्पन्न सुख फीका पड़ जाता है। भक्ति-शास्त्र के आचार्यो ने बताया है कि इस प्रकार के आनन्द के फीका पड़ने का हेतु जीवात्मा की अपूर्णता है। उसे केवल आनन्द और सुख के साधन ही नहीं चाहिए, इन सुखों की प्राप्ति का साक्षी-साथी भी चाहिए।

वस्तुत. स्वभाव अर्थात् अपने निजी भाव की जानकारी हुए बिना अपने निजी अभाव का भी ज्ञान नही होता। अगर किसी का दास्य-भाव ही निजी भाव है तो उसे मालिक का अभाव अनुभूत होगा। यदि वह मातृभाव वाला है तो उसे शिशु-पुत्र या पुत्री का अभाव खलेगा। इस अभाव की पूर्त्ति भगवान् कर देते हैं। पूर्ति हो जाने के बाद वे ही 'विभाव' कहलाते है। यह विभाव-पुरुष ही साथी बनता है। प्रिया-भाववाले के लिए वह प्रिय रूप मे, मातृ-भाववाले के लिए वह पुत्र या पुत्री रूप मे आ जाता है और लीला अन्तर्जगत् मे ही शुरू हो जाती है। जिस दिन साधक इस साथी की खोज करने लगता है, उस दिन उसे अपनी यथार्थ प्रकृति का दूसरा परिचय मिलता है। साथी ऐसा होना चाहिए जो उसका निकटतम प्रिय हो। वह साथी भी भाव-जगत् मे मिल सकता है। वह प्रिया-रूप मे, मित्र-रूप मे, माता-पिता के रूप मे, पुत्र के रूप मे या प्रेमी के रूप में कल्पित होता है। यह जो निकटतम साथी है, वही उसका परम प्राप्तव्य है। अपने स्वभाव के अनुसार इन अनेक प्रकार के साथियों में से किसी एक की अभिलाषा की जाती है। अभिलषित साथी

ही वस्तुत: भगवान् है। भाव-जगत् में उसके आ जाने के बाद ही साधना परिपूर्ण होती है। इस भाव-साधना का भक्तों में बड़ा विस्तार है। ब्यौरे में ऐसी अनेक बातें मिलती हैं जो ऊपर से परस्पर विरुद्ध-सी लग सकती हैं; पर विरोध वास्तविक नहीं होता। भावों की कोई संख्या नहीं नियत की जा सकती और मनुष्य-स्वभाव को देखते हुए यह भी नहीं कहा जा सकता कि रुचि और संस्कार को ही 'इदमित्थं' कहकर गिन लिया जा सकता है। भक्तों की रुचि और संस्कार के अनुसार भाव अनन्त हो सकते हैं। कोई भक्त इस पक्ष पर जोर देता है, कोई उस पक्ष पर। फिर सम्प्रदाय में शिष्य-गण उसे ग्रहण करते हैं। जब कोई तेजस्वी शिष्य होता है, तब वह अपनी अनुभूति के अनुसार किसी नवीन पक्ष पर बल देता है और साधना और साहित्य आगे बढ़ता है। अनेक वैष्णव सम्प्रदाय भाव की अनन्त सत्ता का विश्लेषण और प्रचार कर गये हैं। परन्तु मूल बात सर्वत्र एक है।

गौड़ीय वैष्णवों ने भाव-साधना का बहुत व्यवस्थित साहित्य बनाया था। अन्यान्य भाव-साधकों को भी इस साहित्य ने प्रभावित किया था। इधर राम-भक्ति की मधुर साधना का भी विपुल साहित्य उपलब्ध हुआ है। डॉ. भगवतीप्रसाद सिंह ने राम-भक्ति शाखा के रसिक सम्प्रदाय का परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत किया है। उसमें इस शाखा के विशाल साहित्य का जो रूप उद्घाटित हुआ है, वह चकित कर देनेवाला है। रसिक शाखा के रामभक्त भी पाँच भक्ति-रसों को स्वीकार करते हैं। वे मानते हैं कि भगवान् का सम्पूर्ण विग्रह ही रसमय है। किसी-किसी महात्मा ने बारह रसों की भी कल्पना की है। इसी प्रकार अन्य वैष्णव-सम्प्रदायों में भाव-साधना का विस्तृत साहित्य है। सारी बातों को यहाँ बताना सम्भव भी नहीं है, आवश्यक भी नहीं। व्यवस्थित और प्रेरक होने के कारण संक्षेप में गौड़ीय वैष्णवों के ग्रन्थों से कुछ सामग्री प्रस्तुत की जा रही है।

वैष्णव-शास्त्रों में इस साथी के प्राप्त होने के बाद की व्यवस्था को ही रागानुगा भक्ति कहा गया है। यह वैधी भक्ति से भिन्न प्रकार की होती है। जो नियम कर्त्तव्यबुद्धि से स्थिर किये जाते हैं, उसे विधि कहते हैं। उसके निर्णय करने में शास्त्रकार बाह्य जगत् को दृष्टि में रखते हैं। भक्ति की उस अवस्था को, जिसमें बाह्य वस्तु-जगत् के नियमों के अनुकूल चलते रहने की प्रकृति बनी रहती है, वैधी भक्ति कहते हैं। इसमें स्वभाव की चिन्ता कम होती है और समाज के नियामक शास्त्रकारों की व्यवस्था की चिन्ता अधिक। स्वभाव से जो रुचि उत्पन्न होती है, उसे स्वाभाविक रुचि कहते हैं और स्वाभाविक रुचि से जो मनोवृत्ति उत्तेजित होती है, उसे राग कहते हैं। कहने का अर्थ यह हुआ कि इष्ट वस्तु के प्रति जो स्वाभाविक तन्मयता है वही राग है और राग जिसके प्रति धावित होता है वही इष्ट होता है। साधना की प्रथम अवस्था में भाव-जगत् में भी अनेक वस्तुएँ इष्ट होती हैं; परन्तु द्वितीय अवस्था में एकमात्र इष्ट वह साथी हो जाता है जिसके बिना समस्त इष्ट समझी गयी वस्तुओं का आनन्द फीका पड़ जाता है। इस दूसरी अवस्था में आनन्द-उपभोग का जो साथी है वही प्रधान इष्ट हो जाता है। भगवान्

और बद्ध जीव में एक स्वभावगत पार्थक्य यह है कि भगवान् मे वैराग्य की प्रधानता होती है और जीव में विषयाशक्ति की। जड़ देह और जड़ विषयो के प्रति भी राग होता है। जब तक यह राग जड़ोन्मुख होता है तब तक वह विषय-वासना कहलाता है। परन्तु ज्यों ही वह चिन्मुख होकर एकमात्र भगवान् को ही साथी मान लेता है, त्यों ही उसका यह राग प्रेम मे बदलने लगता है। जड़-जगत् में विधि और राग मे विरोध है, किन्तु चेतन-जगत् में अर्थात् भाव-जगत् मे इनमे कोई विरोध नही। जब साधक भाव-जगत् में अपने परम इष्ट को प्राप्त कर लेता है, तब उसका भाव धीरे-धीरे भाव-जगत् की ही अन्यान्य वस्तुओं से हटकर अपने-अपको परिपूर्ण करनेवाले चिद्घन-आनन्द-सन्दोह भगवान् में स्थिर हो जाता है। इसी स्थिर होने की प्रक्रिया को शास्त्रकारों ने सान्द्र (गाढ़) होना कहा है। इसी अवस्था मे उस *रस का परिपाक होता है, जिसका साधक भी प्रेम है और साध्य भी।*

ऐसे कम भक्त है जिन्हें गुरु की कृपा से, जन्म-जन्मान्तर के पुण्य-संस्कार से या भगवान् की असीम अनुकम्पा से एकाएक प्रेम की प्राप्ति हो जाय। साधारणतः भगवत्प्रेम के उदय होने के समय इस प्रकार का क्रम देखा है—श्रद्धा, साधु-संग, भजन-क्रिया, अनर्थ निवृत्ति, निष्ठा, रुचि, आसक्ति भाव और प्रेम। जब प्रेमोदय हो जाता है, तब भक्त के चित्त के सभी विकल्प नष्ट हो जाते है और तीसरी बार निश्चित रूप से अपने स्वभाव को पहचान लेता है। शास्त्रकारों ने इन पाँच भावों के नाम इस प्रकार दिये हैं: शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। इन पाँच स्वभाव के भक्तों की रति भी भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। यह रति ही स्थायी भाव है। इसके प्राप्त हो जाने के बाद अन्य किसी भी भाव के आने न आने का प्रश्न ही नही रहता है। इस रति का नाम भिन्न-भिन्न स्वभाव के भक्तों मे क्रमशः शान्ति, रीति, प्रेम, अनुकम्पा और कान्ता या मधुरा पड़ता है। साहित्यशास्त्र में जो रस माने जाते है वे जडोन्मुख होने के कारण यहाँ रस-रूप में गृहीत नही होते। किन्तु जड़-जगत् मे जो स्थान शृंगार का है, वही चिद्-जगत् या भाव-जगत् में मधुर रस का है।

किन्तु यह नही समझना चाहिए कि रति के अतिरिक्त अन्य स्थायी भावों की साधना भाव-जगत् मे होती ही नही। वैष्णव-शास्त्रियों ने अन्यान्य भावों को इसी का साधक बताया है। परन्तु यह भी सत्य है कि दूसरे भावों के माध्यम से भाव-*जगत् की साधना चलती है।*

प्रेमारुरुक्षु भक्त इस प्रकार भावुक की दशा से होता हुआ, प्रेमी की दशा में पहुँचता है। यह प्रेम शान्त, दास्य, सख्य और वात्सल्य-रूप से चार प्रकार का होता है। अपने-अपने स्वभाव के अनुसार भक्त को इन चार प्रकार के प्रेम का अधिकार है। अन्तिम और सर्वश्रेष्ठ रस है मधुर। इस रस मे राधिका या चन्द्रावली के रूप से भक्त श्रीकृष्ण से प्रेम करता है। इनमें भी भगवान् की आह्लादिनी शक्ति होने के कारण राधिका श्रेष्ठ है। पर ब्रह्म की सत्, चित् और आनन्द इन तीन विभूतियों में सत् समस्त प्रकृति मे, सत् और चित् सभी जीवों में पाया जाता

है। उसका परम वैशिष्ट्य आनन्द तत्त्व में है। श्रीराधा इसी आनन्द सुख की परा-शक्ति हैं। परमानन्द की प्राप्ति मे इनका अनुग्रह होना ही चाहिए—ऐसा भक्तों का विश्वास है।

श्रीकृष्ण शृंगाररस के सर्वस्व है। श्रीराधिका की कृपा के बिना उस रस मे श्रीकृष्ण-प्राप्ति असम्भव है। इस जड़-जगत् मे दैनन्दिन क्रिया के साधन रूप में जड़-देह में वास करता हुआ भी भक्त भावना-दशा में सिद्ध रूप में वास करता है। सखियों के नाम, रूप, वय, वेश, सम्बन्ध, यूथ, आज्ञा, सेवा, पराकाष्ठा, पाल्य-दासी और निवास को अपने में चिन्ता करते हुए भक्तों के मन मे ललिता आदि सखियों का अभिमान पैदा होता है और वे उस रूप की अनुभूति की ओर अग्रसर होते हैं। आगे चलकर वे विशुद्ध माधुर्य रस के अधिकारी होते है। भक्तों के रस में और काव्य-रस में भेद यह है कि भक्ति का रस चिन्मुख होता है, अर्थात् वह चित्-घन-विग्रह श्रीकृष्ण को आश्रय करके प्रकट होता है; किन्तु आलंकारिको के रस जड़ोन्मुख। भेद की कुछ और भी बातें है। इस रस-व्यापार मे पाँच भाव होते हैं—स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव, सात्विक भाव, संचारी या व्यभिचारी भाव। स्थायी भाव नाम प्राप्त रति, विभाव, अनुभाव, सात्विक तथा व्यभिचारी भावो से स्वाद्य होकर भिन्न-भिन्न पाँच स्वभावों को ग्रहण करती है, जिन्हें क्रमश: शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर स्वभाव कहते है। जब संसार से विरत होकर चित्तवृत्तियाँ भगवान् मुकुन्द के ज्योति-स्वरूप मे लीन हो जाती है, तब उस समय भक्त शान्त रस का अनुभव करता है। सनक, सनन्दन आदि भक्त इसी रस के रसिक हैं। केवल प्रेम ही रस के मूल में काम करता है। 'भक्ति-रसामृत-सिन्धु' मे कहा है कि कब वह दिन आयेगा, जब पर्वत की कन्दरा के किसी विशाल वृक्ष के कोटर में बैठकर कौपीन धारण करके, कन्द-मूल खाकर बारम्बार मुकुन्द नामक उस चिदानन्द ज्योति का ध्यान करते हुए क्षण-भर की तरह रात काट देंगे। सूरदास के गीतों में इस प्रकार की अभिलाषा के बहुत पद है। वे ब्रजभूमि को परम काम्य मानते हैं और उसमें रहने की व्यग्र आकुलता प्रकट करते हैं। स्वयं श्रीकृष्ण से उन्होंने कहलवाया है :

ऊधौ मोहि ब्रज बिसरत नाही।
वृन्दावन गोकुल वन उपवन सघन कुंज की छाही।।
प्रात समय माता जसुमति और नन्द देखि सुख पावत।
माखन रोटी दह्यौ सजायौ अति हित साथ खवावत।।
गोपी ग्वाल बाल सँग खेलत सब दिन हँसत सिरात।
सूरदास धनि धनि ब्रजवासी जिन सौं हित जदुतात।।

प्रीति या दास्य-रस मे दो भाव रहते हैं, सम्भ्रम का और गौरव का। इसमें भक्त सर्वात्मना अपने को श्रीकृष्ण का दास समझता है। इस माधुर्य में भगवान् का प्रबल रूप ही प्रधान होता है। शास्त्र में दास चार प्रकार के बताये गये हैं : 1. अधिकृत—इस श्रेणी मे ब्रह्मा, इन्द्र आदि हैं, 2. आश्रित—इस श्रेणी में कालिनाग, बहुलादव

और बद्ध जीव मे एक स्वभावगत पार्थक्य यह है कि भगवान् मे वैराग्य की प्रधानता होती है और जीव मे विषयाशक्ति की। जड़ देह और जड़ विषयों के प्रति भी राग होता है। जब तक यह राग जड़ोन्मुख होता है तब तक वह विषय-वासना कहलाता है। परन्तु ज्यों ही वह चिन्मुख होकर एकमात्र भगवान् को ही साथी मान लेता है, त्यों ही उसका यह राग प्रेम में बदलने लगता है। जड़-जगत् में विधि और राग में विरोध है, किन्तु चेतन-जगत् में अर्थात् भाव-जगत् मे इनमें कोई विरोध नही। जब साधक भाव-जगत् में अपने परम इष्ट को प्राप्त कर लेता है, तब उसका भाव धीरे-धीरे भाव-जगत् की ही अन्यान्य वस्तुओं से हटकर अपने-अपको परिपूर्ण करनेवाले चिद्घन-आनन्द-सन्दोह भगवान् मे स्थिर हो जाता है। इसी स्थिर होने की प्रक्रिया को शास्त्रकारों ने सान्द्र (गाढ़) होना कहा है। इसी अवस्था में उस रस का परिपाक होता है, जिसका साधक भी प्रेम है और साध्य भी।

ऐसे कम भक्त है जिन्हें गुरु की कृपा से, जन्म-जन्मान्तर के पुण्य-संस्कार से या भगवान् की असीम अनुकम्पा से एकाएक प्रेम की प्राप्ति हो जाय। साधारणतः भगवत्प्रेम के उदय होने के समय इस प्रकार का क्रम देखा है—श्रद्धा, साधु-संग, भजन-क्रिया, अनर्थ निवृत्ति, निष्ठा, रुचि, आसक्ति भाव और प्रेम। जब प्रेमोदय हो जाता है, तब भक्त के चित्त के सभी विकल्प नष्ट हो जाते है और तीसरी बार निश्चित रूप से अपने स्वभाव को पहचान लेता है। शास्त्रकारों ने इन पाँच भावों के नाम इस प्रकार दिये है : शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। इन पाँच स्वभाव के भक्तों की रति भी भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। यह रति ही स्थायी भाव है। इसके प्राप्त हो जाने के बाद अन्य किसी भी भाव के आने न आने का प्रश्न ही नही रहता है। इस रति का नाम भिन्न-भिन्न स्वभाव के भक्तों मे क्रमशः शान्ति, रीति, प्रेम, अनुकम्पा और कान्ता या मधुरा पडता है। साहित्यशास्त्र मे जो रस माने जाते हैं वे जडोन्मुख होने के कारण यहाँ रस-रूप मे गृहीत नही होते। किन्तु जड़-जगत् मे जो स्थान शृंगार का है, वही चिद्-जगत् या भाव-जगत् मे मधुर रस का है।

किन्तु यह नही समझना चाहिए कि रति के अतिरिक्त अन्य स्थायी भावों की साधना भाव-जगत् मे होती ही नही। वैष्णव-शास्त्रियों ने अन्यान्य भावों को इसी का साधक बताया है। परन्तु यह भी सत्य है कि दूसरे भावों के माध्यम से भाव-जगत् की साधना चलती है।

प्रेमारुरुक्षु भक्त इस प्रकार भावुक की दशा मे होता हुआ, प्रेमी की दशा मे पहुँचता है। यह प्रेम शान्त, दास्य, सख्य और वात्सल्य-रूप से चार प्रकार का होता है। अपने-अपने स्वभाव के अनुसार भक्त को इन चार प्रकार के प्रेम का अधिकार है। अन्तिम और सर्वश्रेष्ठ रस है मधुर। इस रस में राधिका या चन्द्रावली के रूप मे भक्त श्रीकृष्ण से प्रेम करता है। इनमें भी भगवान् की आह्लादिनी शक्ति होने के कारण राधिका श्रेष्ठ है। पर ब्रह्म की सत्, चित् और आनन्द इन तीन विभूतियों मे सत् समस्त प्रकृति में, सत् और चित् सभी जीवों में पाया जाता

है। उसका परम वैशिष्ट्य आनन्द तत्त्व में है। श्रीराधा इसी आनन्द सुख की परा-शक्ति है। परमानन्द की प्राप्ति में इनका अनुग्रह होना ही चाहिए—ऐसा भक्तों का विश्वास है।

श्रीकृष्ण शृंगाररस के सर्वस्व है। श्रीराधिका की कृपा के बिना उस रस में श्रीकृष्ण-प्राप्ति असम्भव है। इस जड़-जगत् मे दैनन्दिन क्रिया के साधन रूप में जड-देह में वास करता हुआ भी भक्त भावना-दशा में सिद्ध रूप में वास करता है। सखियों के नाम, रूप, वय, वेश, सम्बन्ध, यूथ, आज्ञा, सेवा, पराकाष्ठा, पाल्य-दासी और निवास को अपने में चिन्ता करते हुए भक्तो के मन मे ललिता आदि सखियों का अभिमान पैदा होता है और वे उस रूप की अनुभूति की ओर अग्रसर होते हैं। आगे चलकर वे विशुद्ध माधुर्य रस के अधिकारी होते है। भक्तों के रस में और काव्य-रस मे भेद यह है कि भक्ति का रस चिन्मुख होता है, अर्थात् वह चित्-घन-विग्रह श्रीकृष्ण को आश्रय करके प्रकट होता है; किन्तु आलंकारिको के रस जड़ोन्मुख। भेद की कुछ और भी बातें हैं। इस रस-व्यापार मे पाँच भाव होते हैं—स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव, सात्विक भाव, संचारी या व्यभिचारी भाव। स्थायी भाव नाम प्राप्त रति, विभाव, अनुभाव, सात्त्विक तथा व्यभिचारी भावों से स्वाद्य होकर भिन्न-भिन्न पाँच स्वभावों को ग्रहण करती है, जिन्हें क्रमशः शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर स्वभाव कहते हैं। जब संसार से विरत होकर चित्तवृत्तियाँ भगवान् मुकुन्द के ज्योति-स्वरूप में लीन हो जाती हैं, तब उस समय भक्त शान्त रस का अनुभव करता है। सनक, सनन्दन आदि भक्त इसी रस के रसिक हैं। केवल प्रेम ही रस के मूल में काम करता है। 'भक्ति-रसामृत-सिन्धु' में कहा है कि कब वह दिन आयेगा, जब पर्वत की कन्दरा के किसी विशाल वृक्ष के कोटर में बैठकर कौपीन धारण करके, कन्द-मूल खाकर बारम्बार मुकुन्द नामक उस चिदानन्द ज्योति का ध्यान करते हुए क्षण-भर की तरह रात काट देंगे। सूरदास के गीतों में इस प्रकार की अभिलाषा के बहुत पद हैं। वे ब्रजभूमि को परम काम्य मानते हैं और उसमें रहने की व्यग्र आकुलता प्रकट करते हैं। स्वयं श्रीकृष्ण से उन्होंने कहलवाया है :

ऊधौ मोहि ब्रज बिसरत नाही।
वृन्दावन गोकुल वन उपवन सघन कुंज की छाही॥
प्रात समय माता जसुमति और नन्द देखि सुख पावत।
माखन रोटी दह्यौ सजायौ अति हित साथ खवावत॥
गोपी ग्वाल बाल सँग खेलत सब दिन हँसत सिरात।
सूरदास धनि धनि ब्रजवासी जिन सौं हित जदुतात॥

प्रीति या दास्य-रस में दो भाव रहते हैं, सम्भ्रम का और गौरव का। इसमें भक्त सर्वात्मना अपने को श्रीकृष्ण का दास समझता है। इस माधुर्य मे भगवान् का प्रबल रूप ही प्रधान होता है। शास्त्र में दास चार प्रकार के बताये गये हैं : 1. अधिकृत—इस श्रेणी में ब्रह्मा, इन्द्र आदि हैं, 2. आश्रित—इस श्रेणी में कालिनाम, बहुलादव

आदि भक्त आते हैं, 3. पारिषद्—इस श्रेणी में उद्धव, दासक आदि आते हैं, 4. अनुग—इस श्रेणी मे सुचन्द, मण्डन आदि भक्त आते है।

सख्य-रस मे वे भक्त आते है, जो उनके सखा थे। भक्त इन सखाओं का अभिमान करके भी भजन कर सकता है। श्रीकृष्ण के सखा कई प्रकार के थे। कुछ उनकी गैया चरा देते थे, कुछ चरवा लेते थे, कुछ उनका वेश सजाने के लिए पुष्प-चयन कर देते थे, कुछ सजा देते थे, कुछ विरहावस्था मे उनका मनोविनोद कर देते थे और कुछ राधिका और चन्द्रावली-जैसी सखियों के मान करने पर उनकी सखियों को तर्क में परास्त करके मिलन की भूमिका प्रस्तुत करते थे। शास्त्र में इनको चार श्रेणियों में बाँट लिया गया है: 1. सुहृद्—जो उम्र में बड़े थे और श्रीकृष्ण के प्रति वात्सल्य-भाव रखते थे, 2. सखा—जिनमें दास्य-मिश्रित प्रेम था और जो उम्र में छोटे थे, 3. प्रिय सखा—जो श्रीकृष्ण के साथ कबड्डी और गुल्ली-डण्डा खेला करते थे और अन्य केलियों के द्वारा उनका मनोविनोद करते थे, 4. प्रिय मर्म सखा—जो भगवान् के आभ्यन्तरिक मर्म के साथी थे। इनमे चौथी श्रेणी के भक्तों का स्थान सर्वश्रेष्ठ है।

श्रीकृष्ण के बाल-रूप को माता-पिता की भाँति वत्सल भाव से प्रेम करनेवाले भक्त वात्सल्यप्रेमी कहे जाते है। इस रस के आलम्बन श्रीकृष्ण बाल-रूप, मधुरभाषी, आज्ञाकारी, सरल तथा मर्यादा-निर्वाहक हैं। इसके बाद मधुर रस है जो भक्तिशास्त्र की सर्वश्रेष्ठ साधना है। इस रस के आलम्बन है निखिल माधुर्य और श्री के स्वरूप भगवान् श्यामसुन्दर। राधिका और चन्द्रावली दो प्रधान नायिकाएँ हैं जिनकी सैकड़ों सखियाँ हैं। प्रत्येक अलग यूथ है और प्रत्येक यूथ की यूथेश्वरी है। विशाला, ललिता, श्यामा, शैला, पद्मा, भद्रिका, तारा, विचित्रा, खंजनाक्षी, मनोरमा, मंगला, विचला, लीला, कृष्णा आदि सखियाँ यूथेश्वरी हैं। राधा और *चन्द्रावली सुष्ठुकान्त-स्वरूपा है। सोलहों शृंगार से वे देदीप्यमान हैं।* उनके रूप और शोभा की जगमगाहट के सामने अष्टमांगलिक अलंकारों के बाकी द्वादश आभरण फीके पड़ जाते हैं। संकुचित केश, चंचल मुख-कमल, दीर्घ नेत्र, विशाल वक्षःस्थल, क्षीण कटि, आयत स्कन्ध, तरंगित त्रिवली, उद्भासित निर्मल नख-ज्योति, सुवृत्त बाहु, पद्माभ करतल—शोभा और श्री का लहराता हुआ समुद्र। फिर राधिका का तो क्या कहना? पच्चीस गुण उनमे पाये जाते हैं—वे चारु दर्शना हैं; किशोरी हैं; चंचल अपांगा, शुचिस्मिता, सौभाग्ययुक्ता, सुगन्धि से श्रीकृष्ण को उन्मादित करनेवाली, संगीतज्ञा, रम्यवचना, नर्म-मर्मज्ञा, विनीता, करुणामयी, विदग्धा, चतुरा, लज्जाशीला, सुमर्यादा, धैर्यशालिनी, गाम्भीर्यशालिनी, सुविलासवती, परम उत्कर्षमयी, गोकुल के प्रेम में ही जीनेवाली परम यशस्विनी, गुरुजों पर परम स्नेह रखनेवाली, सखियों की प्रणयाधीना, कृष्ण-प्रियाओं में मुख्य हैं और श्रीकृष्ण सदा उनकी आज्ञा के वशवर्ती हैं।

भगवान् की इस लीला को आश्रित करके मध्यकालीन भक्तों में सरस प्रेमोन्माद का नशा छा गया था। भगवान् श्रीकृष्ण रसरूप हैं। यह भी माना गया

कि वही एकमात्र पुरुष है और बाकी सब लोग स्त्रीभाव से ही उनका भजन कर सकते हैं। स्त्री-भाव अर्थात् निषेध-व्यापारमूला शक्ति का भाव, जो अपने-आपको भगवान् श्रीकृष्ण के सुख के लिए ही सम्पूर्ण भाव से अर्पित कर देता है। फिर राधिका को ही उपास्य समझकर उन्हीं के सुख में अपना सुख मानने का अद्भुत व्रत भी एक श्रेणी के भक्तों में है। सब मिलाकर मधुर-रस की साधना ने उत्तर-कालीन भक्ति-रस की साधना में बहुत ही मनोरम और हृदयंगम धर्म का रूप दिया। यहाँ भक्त भगवान् के लिए और भगवान् भक्त को पाने के लिए व्यग्र है, दोनों, दोनों के बिना अपूर्ण हैं।

सूरदास में चारों रतियों का परिपाक हुआ है। भक्तिशास्त्रियों के मत से यह विलक्षण रस है। मधुसूदन सरस्वती ने कहा है कि 'शृंगारमिश्रिता-भक्ति कामजा भक्ति कही जाती है और सम्बन्धजा दो प्रकार से पूर्वोक्त रसता को प्राप्त होती है—एक वत्सलभक्ति और दूसरी प्रेयोभक्ति। भयजन्य भक्ति-प्रीति भयानक रस में रहती है। जब ये चारों रतियाँ एक साथ ही व्यक्त हों तब तो प्रपाणक रसन्यास से एक परम विलक्षण रस की अनुभूति होती है। एक, दो आदि रसों की अभिव्यक्ति से सहानुभूति में भी भेद होता है। इसलिए रति चतुष्टय में कहीं भी अभ्यास करे, व्रजदेवियों में स्पष्ट ही चारों रतियाँ देखी गयी हैं। उनके चित्त का आलम्बन लेने से अपना चित्त भी वैसा ही हो जाता है :

> शृंगारमिश्रिता भक्तिः कामजाभक्तिरिष्यते।
> सम्बन्धजा रतिर्याति पूर्वोक्ता रसतां द्वयोः ॥
> एको वत्सल भक्त्याख्यः प्रेयोभक्तिस्तथाऽपरा।
> भयजा रतिरध्यास्ते रसं प्रीति भयानकम् ॥
> एकदैव यदि व्यक्तमिदं रति चतुष्टयम्।
> तदा तु पानक रस न्यायेन परमो रसः ॥
> एकद्वयादिरसव्यक्तिभेदाद्रसभिदा भवेत्।
> तस्मात् क्वचित्तदभ्यासं कुर्याद्रतिचतुष्टये ॥
> व्रजदेवीषु च स्पष्टं दृष्टं रति चतुष्टयम्।
> तच्चित्तालम्बनत्वेन स्वचित्त तादृशं भवेत् ॥

—'श्रीभगवद्भक्ति रसायन', द्वि. स., श्लो. 67 से 71

लीलागान में सूरदास का प्रिय विषय था प्रेम। माता का प्रेम, पुत्र का प्रेम, गोप-गोपियों का प्रेम, प्रिय और प्रिया का प्रेम, पति और पत्नी का प्रेम—इन बातों से 'सूरसागर' भरा है। सूरदास के प्रेम में उस प्रकार का प्रेम बहुत कम है जो प्रिय की संयोगावस्था में उसकी विरहाशंका से उत्कण्ठित और वियोगावस्था में मिलन-लालसा से भरा रहता है। यशोदा कभी उस माता की तरह साश्रु नयनों से देवताओं की ओर नहीं ताकतीं जो सदा आँचल पसारकर वर माँगा करती है कि 'हे भगवान्! जिसे पाया है वह खो न जाय।' इसी प्रकार राधिका ने कृष्ण के व्रजवास के समय कभी—मान और अभिमान के समय भी—कातर नयनों से नहीं

देखा। सूरदास का प्रेम संयोग के समय सोलह आना संयोगमय है; क्योंकि उनका हृदय बालक का था जो अपने प्रिय के क्षणिक वियोग में भी अधीर हो जाता है और क्षणिक सम्मिलन में ही सब-कुछ भूलकर किलकारियाँ मारने लगता है। राधा प्रेम मे व्याकुल है, पर उपाय सूझते ही एकदम स्वस्थ हो जाती हैं :

नागर मनहिं गई अरुझाइ।
अति बिरह तन भई बावरि घर न नेकु सुहाइ।
स्याम सुन्दर मदन मोहन मोहिनी-सी लाइ।
चित्त चंचल कुँवरि राधा खान-पान भुलाइ।
कबहुँ बिलपति कबहुँ बिहँसति सकुचि बहुरि लजाइ।
मातु पितु को भास मानति मन बिना भई बाइ।
जननि सों दोहनी माँगति बेगि दै री माइ।
सूर को प्रभु खरिक मिलिहै, नन्द मोहिं बुलाइ॥

बाल-स्वभाव के वर्णन मे सूरदास बेजोड़ समझे जाते हैं। वे स्वयं वय.प्राप्त बालक थे। बाल-स्वभाव के चित्रण में वे एक तरह का अपनापा अनुभव करते जान पड़ते है और ठीक उसी प्रकार मातृ-हृदय का मर्म भी समझ लेते हैं। केवल कृष्ण का बाल-स्वभाव ही उन्होने नही वर्णन किया, राधिका की बाल-केलि को भी समान रूप से आकर्षक बनाया है। सच पूछा जाय तो राधिका और कृष्ण का सारा प्रेम-व्यापार, जो 'सूरसागर' में वर्णित है, बालकों का प्रेम-व्यापार है। वही चुहल, वही लापरवाही, वही मस्ती, वही मौज। न तो इस प्रेम में कोई पारिवारिक रस-बोध ही है और न आयुष्मिक सम्बन्ध ही। सारी लीला साफ, सीधी और सहज है। जैसा कि उनके गुरु वल्लभाचार्य ने बताया है कि 'लीला का कोई प्रयोजन नही; क्योकि लीला ही स्वयं प्रयोजन है।'

अद्भुत सहज भाव है इस लोकोत्तर कही जानेवाली लीला में। प्रेम-क्रीड़ा के पकड़े जाने पर भी दोनों की चतुरता उबार लेती है :

नीवी ललित गही यदुराई।
जबहि सरोज धरो श्री फल पर तब यसुमति गइ आई।
तत्क्षण रुदन करत मनमोहन मन मे बुधि उपजाई।
देखो ढोठि देति नहिं माता राखी गेंद चुराई।
काहे को झकझोरत नोखे चलहु न देउँ बताई।
देखि बिनोद बालसुत को तब महरि चली मुसुकाई।
सूरदास के प्रभु की लीला को जानै इहि भाई।

सूरदास इस लीला को ही चरम साध्य मानते हैं।

प्रेम के इस साफ और मार्जित रूप का चित्रण भारतीय साहित्य में किसी और कवि ने नहीं किया। यह सूरदास की अपनी विशेषता है। वियोग के समय राधिका का जो चित्र सूरदास ने चित्रित किया है, वह भी इस प्रेम के योग्य ही है। श्यामसुन्दर के मिलन-समय की मुखरा, लीलावती, चंचला और हँसोड़ राधिका

वियोग के समय मौन, शान्त और गम्भीर हो जाती है। उद्धव से अन्यान्य गोपियाँ काफी वकझक करती हैं, पर राधिका वहाँ जाती भी नहीं। उद्धव ने श्रीकृष्ण से उनकी जिस मूर्त्ति का वर्णन किया है, उससे पत्थर भी पिघल सकता है। उन्होंने राधिका की आँखों को निरन्तर बहते देखा था, कपोल-देश वारिधारा से आर्द्र था, मुखमण्डल पीत हो गया था, आँखें धँस गयी थीं, शरीर कंकाल-शेष रह गया था। वे दरवाजे से आगे न बढ़ सकी थीं। प्रिय के प्रिय-वयस्य ने जब सन्देश माँगा तो वे मूर्च्छित होकर गिर पड़ी। प्रेम का वही रूप, जिसने संयोगावस्था में कभी विरहा-शंका का अनुमान नहीं किया, वियोग में इस मूर्त्ति को धारण कर सकता है :

देखी मैं लोचन चुवत अचेत।
मनहु कमल ससि त्रास ईस कौ, मुक्ता गनि-गनि देत॥
कहुँ कंकन कहुँ गिरी मुद्रिका, कहूँ ठाड़ कहुँ नेत।
चेतति नहीं चित्र की पुतरी, समुझाई सौचेत॥
द्वार खरी इकटक मग जोवति, ऊर्ध उसाँसनि लेत।
सूरदास कछु सुधि नहिं तन की, बँधी तिहारे हेत॥

इसी प्रकार :

तुम्हरे विरह ब्रजनाथ राधिका नैननि नदी बढ़ी।
लीने जात निमेष कूल दोउ, एते मान चढ़ी।
चलि न सकत गोलक नौका लौ, सीव फलक बल बोरति।
ऊर्ध्व उसाँस समीर तरंगनि, तेज तिलक तरु तोरति।
कज्जल कीच कुचील किए तट, अम्बर अधर कपोल।
रहे पथिक जु जहाँ सो तहाँ थकि, हस्त चरन मुख बोल।
नाही और उपाय रमापति, बिनु दरसन क्यों जीजै।
आँसू-सलिल बूड़त सब गोकुल, सूर स्वकर गहि लीजै॥

असल में सूरदास की राधिका शुरू से आखिर तक सरल बालिका है। उनके प्रेम में चण्डीदास की राधा की तरह पद-पद पर सास-ननद का डर भी नहीं है और विद्यापति की किशोरी राधिका के समान रुदन में हास और हास में रुदन की चातुरी भी नहीं है। इस प्रेम में किसी प्रकार की जटिलता नहीं है। घर में, वन में, घाट पर, कदम्ब-तले, हिंडोले पर—जहाँ कहीं भी इसका प्रकाश हुआ है वहीं वह अपने-आपमें ही पूर्ण है, मानो वह किसी की अपेक्षा नहीं रखता और न कोई उसकी खबर रखता है :

देख्यो हरि मथति ग्वालि दधि भेद सो ठाढ़ी।
यौवन मदमाती इतराती बेनी ढुरत कटि पर छबि बाढ़ी।
दिन थोरी भोरी अति कोरी देखत ही जु स्याम भये चाढ़ी।
कर्षति है दुहुँ करन मथानी शोभाराशि भुजा गहि गाढ़ी।
इत उत अंग मुरति झकझोरति अँगिया बनी कुचन सो माढ़ी।
सूरदास प्रभु रीझि थकित भये मनहुँ काम साँचे भरि काढ़ी॥

सूरदास जब अपने विषय का वर्णन शुरू करते हैं तो मानो अलंकारशास्त्र हाथ जोड़कर उनके पीछे दौड़ा करता है। उपमाओं की बाढ़ आ जाती है, रूपकों की वर्षा होने लगती है। संगीत के प्रवाह में कवि स्वयं बह जाता है। वह अपने को भूल जाता है :

नैन मीन मकराकृत कुण्डल भुजबल सुभग भुजग।
मुकुतमाल मिलि मानो सुरसरि द्वै सरिता लिये संग।
मोर मुकुट मणिगण आभूषण, कटि किंकिनि नव चन्द।
मनु अडोल वारिधि मे बिंबित राका उडुगनवृन्द।
वदन चन्द्र-मंडल की शोभा अवलोकनि सुख देत।
जनु जलनिधि मथि प्रगट कियो शशि श्री अरु सुधा समेत।
रतन जटित पग सुभग पाँवरी, नूपुर ध्वनि कल परम रसाल।
मानहुँ चरन कमलदल लोभी निकटहिं बैठे बाल मराल।
बाँह उँचाई जोरि जमुहानी ऐंड़ानी कमनीय कामिनी।
भुज छूटे छवि यों लागी मनो टूट भई द्वै टूक दामिनी।

काव्य मे इस तन्मयता के साथ शास्त्रीय पद्धति का निर्वाह विरल है। पद-पद पर मिलनेवाले अलकारो को देखकर भी कोई अनुमान नही कर सकता कि कवि जान-बूझकर अलंकारों का उपयोग कर रहा है। पन्ने पर पन्ने पढ़ते जाइए, केवल उपमाओं-रूपकों की घटा, अन्योक्तियों का ठाट, लक्षणा और व्यंजना का चमत्कार—यहाँ तक कि एक ही चीज दो-दो, चार-चार, दस-दस बार तक दुह-रायी जा रही है, फिर भी स्वाभाविक और सहज प्रभाव कहीं भी आहत नहीं हुआ। जिसने 'सूरसागर' नही पढ़ा उसे यह बात सुनकर अजीब-सी लगेगी। शायद वह विश्वास ही न कर सके, पर बात सही है। काव्य-गुणो की इस विशाल वन-स्थली में एक अपना सहज सौन्दर्य है। वह उस रमणीय उद्यान के समान नहीं जिसका सौन्दर्य पद-पद पर माली के कृतित्व की याद दिलाया करता है; बल्कि उस अकृत्रिम वन-भूमि के समान है जिसका रचयिता रचना में ही घुल-मिल गया है।

सूरदास सुधारक नहीं थे, ज्ञानमार्गी भी नही थे। किसी को कुछ सिखाने का भान उन्होंने कभी किया ही नहीं। वे कहीं भी सम्प्रदाय, मतवाद या व्यक्ति-विशेष के प्रति कटु नही हुए। यह भी उनके सरल हृदय का निदर्शक है। लेकिन वे कबीर-दास की तरह ऐसे समाज से नहीं आये थे जो पद-पद पर लाछित और अपमानित होता था और जहाँ का गृहस्थ-जीवन वैराग्य-जीवन की अपेक्षा ज्यादा कठोर और तपोमय था। सूरदास जिस समाज में पले थे, उसका गृहस्थ-जीवन विलासिता का जीवन था, मिथ्याचार और फरेब का जीवन था और 'यौवन-मद, जन-मद, धन-मद, विष-मद भारी' का जीवन था। इसलिए इस समाज से वैराग्य ग्रहण करना उनका मन था। वे तुलसीदास की भाँति द्रष्टा नेता सेनानायक नहीं थे जो समाज की कुरीतियों से कुशलतापूर्वक बाहर निकलकर उस पर गोलाबारी आरम्भ कर

दें। नन्ददास की तरह पर-पक्ष की युक्तियों को तर्कबल पर निरास करना भी वे नहीं जानते थे। वे केवल श्रद्धालु और विश्वासी भक्त थे जो झगड़ों में पड़ने के ही नहीं।

भक्तों में मशहूर है कि सूरदास उद्धव के अवतार थे। यह उनके भक्त और कवि जीवन की सर्वोत्तम आलोचना है। 'बृहद्भागवतामृत' के अनुसार उद्धव भगवान् के महाशिष्य, महामृत्य और महाप्रियकर थे। वे सदा श्रीकृष्ण के साथ रहते थे। शयन के समय, भोजन के समय, राज-कार्य के समय—कभी भी भगवान् का साथ नहीं छोड़ते थे, यहाँ तक कि अन्तःपुर में भी साथ रहते थे। केवल एक बार उन्होंने भगवान् का साथ छोड़ा था और वह उस समय जब भगवान् ने व्रज में गोपियों की खबर लेने को भेजा था। इस बार उन्हें भगवत्संग से दूना आनन्द मिला था। उनके तीन काम थे, भगवान् की पद-सेवा, उनसे परिहास करना और क्रीड़ा में साथ रहना। पहले काम में वे इतने तन्मय रहते थे कि अबोध लोगों को यह भ्रम हो जाता था कि वे पागल हो गये हैं। सूरदास के जीवन का यही परिचय है। उद्धव के सभी गुण उनमें वर्तमान थे। अपने काव्य में एक ही जगह उन्होंने भगवान् का साथ छोड़ा है, 'भ्रमरगीत' में। और इस बात में कोई सन्देह ही नहीं कि इस अवसर पर सूरदास को भी दूना रस मिला था। इसी तरह इस कथन का यह भी अर्थ है कि सूरदास की भक्ति में दास्य (प्रीति-रीति) सख्य और मधुर, इन तीनों भावों का सम्मिश्रण है। उद्धव ने व्रज से लौटकर बताया था :

माधव जू सुनौ व्रज कौ प्रेम।
सोधि मैं षट मास देख्यौ, गोपिकनि कौ नेम।
हृदय तें नहिं टरत टारे, स्याम राम समेत।
आँसु सलिल प्रवाह मानौ, अर्घ नैननि देत॥
चँवर अचल कुच कलस, वर पानि पद्म चढ़ाइ।
सुमिरि तुम्हरि प्रगट लीला, कर्म उठती गाइ॥
देह गेह सनेह अर्पन, कमल लोचन ध्यान।
सूर उनकौ प्रेम देखें, फीकौ लागत ज्ञान॥

इसी प्रकार—

मो मन उनही को जु भयौ।
पर्‌यौ प्रभु उनके प्रेम कोस मैं, तुमहूँ बिसरि गयौ।
तुमसौं सपथ करि गयो मोहन, बेगि इहाँ हौ आवन।
तिनहिं देखि वैसोइ मैं ह्वै रह्यौ, लाग्यौ उनहिं मिलि गावन।
समुझि पी पट मास बितीते, इहाँ दूजौ हौ आयौ।
सूर अनकहि दै गोपिनि सौं, रुदन मूँदि उठि धायौ॥

सूरदास का वात्सल्य वर्णन

महात्मा सूरदास महान् भक्त भी थे और अत्यन्त उच्च कोटि के कवि भी। भगवान् की लीलाकथाएं मध्ययुग के सभी भक्तो को प्रिय रही हैं; क्योंकि ऐसा विश्वास किया जाने लगा था कि घोर कलिकाल में भयंकर भवसागर को पार करने की एकमात्र नाव है भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाकथाओं का रसास्वादन। 'भागवत' में कहा गया है :

संसारसिंधुमतिदुस्तरमुत्तितीर्षो-
नान्य: प्लवो भगवत: पुरुषोत्तमस्य।
लीलाकथा रस निषेवणमन्तरेण
पुंसो भवेद् विविधदु.खदवार्दितस्य ।।

सूरदास ने अपने महान् गुरु श्री वल्लभाचार्य से लीलागान करने का ही आदेश पाया। भगवान् की लीलाओं की कोई इयत्ता नही है। भिन्न-भिन्न भक्त अपनी रुचि और संस्कार के अनुरूप लीलाओं का चयन करते हैं और उन्ही के अनुकीर्तन में मग्न रहते है। मध्यकालीन कृष्णभक्त कवियों ने व्रज की गोपियों को सर्वोत्तम भक्त माना था। इन गोपियो मे अनेक प्रकार की भगवद्‌विषयक रीति थी, पर उनके समान भक्त कोई नही हुआ :

एवं भक्ति: सकल भुवने नेक्षिता वा श्रुता वा।
किं शास्त्रौघै: किमिह तपसा गोपिकाभ्यो नमोस्तु ।।

ऐसी भक्ति त्रिभुवन मे न देखी गयी, न सुनी गयी। शास्त्रों को पढ़ने और कठोर तप करने से क्या लाभ, इन्हीं गोपियों को प्रणाम करो!

वैसे तो भक्तजन पांच प्रकार की रतियों में विश्वास करते हैं, पर उनमें एक वैराग्यवा.न ज्ञा.नी जनो की है। गोपियों में चार ही रतियां मिलती हैं। एक तो कामजा रति जो भगवान् को अपने परमप्रेमिक के रूप में देखने से उनके प्रति आत्म-निवेदन के रूप मे प्रकट होती है। सूरदास का मन इसमे भी खूब रमा है। एक और प्रकार की प्रीति 'सम्बन्धजा' होती है जो भगवान् के प्रति दो प्रकार के सम्बन्धों से परिपुष्ट होती है। एक सम्बन्ध है पाल्य-पालक भाव जो वत्सला रति कहलाती है। दूसरा सम्बन्ध है स्वामी-सेवक का जिसे दास्य भक्ति कहते हैं। सूरदास मे दोनों ही मिल जाती है। पर मन उनका रमता है वात्सल्य भक्ति मे। इन तीन रतियों के अतिरिक्त एक और भी रति है जिसमें प्रीति-जन्य भय मिला रहता है। कही किसी आचरण से भगवान् नाराज न हो जायें, है वह भी प्रेम ही। कभी-कभी सूरदास इसमें भी रमे हैं। इन्ही को रति चतुष्टय कहा जाता है। सूरदास प्रथम दो प्रकार की रतियों के बेजोड़ चितेरे हैं। वात्सल्य के चित्रण में तो उनके साथ ज्ञात जगत् के किसी भी कवि का नाम लेना कठिन है। उनकी वर्णित बाललीला में माता और शिशु की प्रायः सभी चेष्टाओं का अत्यन्त मोहक

और फिर भी पूर्णतः मनोवैज्ञानिक चित्रण है। जन्म से ही शिशु की विविध चेष्टाओं का ऐसा यथार्थ-ललित चित्रण है कि उनकी पर्यवेक्षण शक्ति को देखकर संसार के सभी सहृदय आश्चर्यचकित रह जाते हैं। केवल विविध चेष्टाओं का वर्णन ही उसका उद्देश्य नहीं है, उद्देश्य है निखिलात्मा प्रेममय श्रीकृष्ण के प्रति भक्ति की अभिव्यक्ति। इसीलिए, इनमे यथार्थ चित्रण के साथ एक विशेष प्रकार का लुभावना आत्मसमर्पण भी है। यही इन रचनाओं को कविजनोचित ललित वर्णन से अधिक मोहक बना देता है। पूरे 'सूरसागर' में, जो वस्तुतः सूरदास की रचनाओं का एक अंश मात्र है, लगभग नवाँ हिस्सा बाललीला के पद हैं। माता यशोदा की सारी आशा, आकांक्षा, आनन्द और सुख बालक कृष्ण पर केन्द्रित है :

जसुमति मन अभिलाष करै।
कब मोरे लाल घुटुरुवनि रेंगै, कब धरनी पग द्वैक धरै।
कब द्वै दाँत दूध के देखौ, कब तोतरे मुख बैन झरै।
कबहिं नन्दहिं बाबा कहि बोलै, कब मैया कहि मोहिं ररै।
कब मेरो अँचरा गहि मोहन, जोइ सोइ मोसों झगरै।
कब धौं तनक तनक कछु खैहै, अपने कर सों मुखहिं भरै।
कब हँसि बात कहैंगो मोसो, जा छवि तें दुख दूरि हरै।

मातृहृदय की पूरी अभिलाषा, आकांक्षा और उल्लास, कम्पन आदि कितने सहज ढंग से कह दिये गये हैं! यह माता यशोदा की ही नहीं, सभी माताओं की बात है।

ये सारी आकांक्षाएँ पूरी होती हैं। अनेकानेक लीलाओं के अत्यन्त हृदयग्राही चित्रण भक्त-चित्त के अपार औत्सुक्य को उकसाते रहते हैं। कभी कृष्ण घुटुरुओं के बल चलते दिखाये गये है :

सोभित कर नवनीत लिये।
घुटुरनि चलत रेनु तन मंडित मुख दधि लेप किये।

और फिर—

किलकत कान्ह घुटुरुवनि आवत।
मनिमय कनक नंद कै आँगन बिंब पकरिबैं धावत॥
कबहुँ निरखि हरि आपु छाँह कों कर सों पकरन चाहत।
किलकि हँसत राजत द्वै दँतियाँ पुनि पुनि तिहिं अवगाहत॥

फिर चलना सीखते है और अरबरा के गिरते रहते हैं :

सिखवति चलन जसोदा मैया।
अरबराइ कर पानि गहावत डगमगाइ [illegible] पैया।

और फिर आँगन मे नाचने लगते हैं, यशोदा [illegible] देखती है और आनन्द-निमग्न होती हैं। इन लीलाओं के [illegible] मातृहृदय के साथ ही शिशु-हृदय का भी यथार्थ-ललित [illegible] है कि [illegible] जीवन्त गतिशील चित्र आँखों के सामने [illegible] हो उठते हैं। [illegible]

के अन्तरतर को प्रभावित करती है और भक्त-हृदय को अपूर्व उल्लास से भर देती है।

बाललीला में सूरदास पूरी तरह रम जाते हैं। वे अपने पाठकों को सावधान करना भी प्रायः भूल जाते है कि यह प्राकृत जन की लीला नही है। अन्य अनेक अवसरो पर वे यह कहना नही भूलते कि इसे मामूली लीला न समझा जाये। पर बाललीला के प्रसग मे वे इतने तन्मय हो जाते है कि वह सावधानी एकदम तिरोहित हो जाती है। कुछ थोड़े प्रसंगो मे वे लोकोत्तरता की याद भी दिला देते हैं, पर बहुत कम। शिशु कृष्ण अपना अँगूठा पी रहे हैं; इस अवसर पर सूर अपने पाठक को उनकी लोकोतरता की ओर ले जाते हैं :

कर पग गहि अँगुठा मुख मेलत।
प्रभु पौढे पालने अकेले, हरषि हरषि अपने रँग खेलत।

यहाँ प्रभु अकेले हैं, माता यशोदा उन्हें पालने में पौढ़ाकर कही चली गयी हैं। यहाँ सूरदास को उनकी लोकोत्तरता के प्रति सचेत करने का अवसर मिलता है :

सिव सोचत, विधि बुद्धि विचारत, वट बाढ़्यो सागर-जल झेलत।
बिडरि चले घन प्रलय जानिकै दिगपति दिग दंतीनि सकेलत।
मुनि मन भीत भये, भव कंपित सेष सकुचि सहसौ फन मेलत।
उन ब्रज बासिन बात न जानी समुझै सूर सकट पग ठेलत।

कभी महाप्रलय के समय वट पत्र पर पौढ़े हुए 'करारविन्देन पदारविन्दं मुखारविन्दे विनिवेशयन्तं' बालमुकुन्द की याद आ जाने से जानकार देवताओ मे भय समा गया। वही दृश्य फिर तो नहीं आ गया, पर ब्रजवासी निश्चिन्त हैं।

इसी तरह कृष्ण के माटी खाने पर माता जब डाँटती हैं और सहज भाव से वे अपना मुँह खोल देते हैं तो अचानक माता को उनका अनन्त रूप दिख जाता है। वे चकित हो जाती हैं।

परन्तु बाललीला मे साधारणतः सूरदास बालक की सहज लीला का ही चित्रण करते हैं और अपनी अपूर्व कविता-शक्ति से, बिना कहे ही, भगवान् के मधुर रूप के प्रति भक्त और सहृदय को आकर्षित कर देते है। अत्यन्त गहराई से यह लीला उठी है। केवल निरीक्षण, पर्यवेक्षण इसके साधन नही हैं। यह लीला भक्त-हृदय की अन्तरतर की उल्लासमुखर वाणी है।

[14 मई, 1978]

वैष्णवदर्शन कई हैं। उनकी अधिकांश बातें एक-जैसी अवश्य है, पर बहुत-सी बातों मे मतभेद भी है। इन मतभेदो के कारण ही इनके अलग-अलग नाम हैं। विशिष्टाद्वैतवाद, द्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, नित्यभेदाभेदवाद आदि नाम ही इनकी मान्यताओं के सूक्ष्म अन्तर को प्रकट कर देते है। एक बात मे उन्हे समान माना जा सकता है। ये सभी शंकराचार्य के अद्वैतवाद के विरुद्ध है। शंकराचार्य के मत को ये लोग 'मायावाद' कहते है। साथ ही भक्ति, शरणागति आदि के विषय मे वे एकमत है। सूरदास के प्रसंग मे वैष्णवदर्शन, महाप्रभु वल्लभाचार्यजी द्वारा प्रवर्तित पुष्टिमार्ग और शुद्धाद्वैतदर्शन है। सूरदास महाप्रभु के प्रधान शिष्यो मे अन्यतम थे। काफी उमर बीत जाने के बाद वे उनके (वल्लभाचार्यजी के) शिष्य हुए थे। शिष्य होने के पहले वे शायद विनय-परक और दैन्यसूचक पद लिखा करते थे। वार्त्ता-साहित्य से पता चलता है कि महाप्रभु वल्लभाचार्यजी के सम्पर्क मे आने के बाद वे लीला-पदो की रचना मे लग गये। 'प्रभु मैं सब पतितन कौ टीको' जैसे दैन्यसूचक पदो का लिखा जाना बन्द हो गया। उनके पहले लिखे पदों मे कुछ लीलागान के पद थे या नही, इस सम्बन्ध मे कोई जानकारी नही मिलती।

सूरदास का मन लीलागान मे ही रमता है, दार्शनिक विवेचन मे नही। 'सूर-सागर' में जो पद संकलित हुए हैं, वे उनकी सारी रचनाओ का एक अंश-मात्र है। इस संकलन का मुख्य वर्ण्य-विषय लीलागान है। मुख्य प्रसग श्रीकृष्ण की बाललीलाएँ, माता यशोदा और नन्दबबा का वात्सल्य-भाव, श्रीकृष्ण की श्रीराधा तथा अन्य गोपियों के साथ प्रेमलीलाएँ, रासलीला आदि है। सूरदास का मन इन्ही लीलाओं में रमा है। और अवतारो की लीलाएँ वे गा अवश्य जाते है, पर मन तो कृष्ण-लीला के रस मे ही आनन्द पाता है। महान् गुरु के सान्निध्य मे आने का बडा सुखद परिणाम यह हुआ कि उन्हें स्व-भाव—निजी भाव—का पता चल गया। उन्होने सीखा-सुना तो और भी होगा, पर पहले ही दिन गुरु ने 'सुबोधिनी टीका' का जो आरम्भिक अंश पढाया वही उनके जीवन का प्रधान सम्बल बन गया। विद्वानों ने महाप्रभु के दार्शनिक सिद्धान्तो को उनके गानों में खोजने का प्रयास किया है, पर सही बात यही है कि उन्होने लीला-विषयक सिद्धान्त को ही जीवन का सम्बल बनाया और पुष्टिमार्ग का यह सिद्धान्त कि भगवान् के अनुग्रह से ही जीव का भक्ति-भाव पुष्ट होता है, अपना प्रधान विश्वास बना लिया।

विद्वानों ने सूरदास के पदो में महाप्रभु वल्लभाचार्य के सिद्धान्त खोजे है। परन्तु कई बार जिन्हे दार्शनिक विचार कहा जाता है वे वस्तुतः धार्मिक मान्यता और आध्यात्मिक विश्वास होते हैं। वे मध्यकाल के सभी भक्तो मे समान रूप से पाये जाते है। अपनी रुचि और प्रकृति के अनुसार भक्तगण किसी विशेष पक्ष पर बल अवश्य देते हैं। उन्हें ठीक-ठीक दर्शन नही कहा जा सकता। कुछ भक्त कभी-

उपनिषद् वेद ही है। सो, प्रमाण चतुष्टय हुए : (1) वेद, (2) श्रीकृष्णवाक्य अर्थात् भगवद्गीता, (3) व्याससूत्र अर्थात् ब्रह्मसूत्र और (4) व्यास की समाधि-भाषा अर्थात् श्रीमद्भागवत। इनमें भागवत को प्रमाण-रूप में स्वीकार किया गया है। *यह मध्यकाल मे सर्वाधिक प्रभावशाली ग्रन्थ रहा है। यह भक्ति का अपूर्व* ग्रन्थ है। उपनिषद् के तत्त्वज्ञान और तत्काल प्रचलित सभी आर्ष शास्त्रों के सुविचारित मत इस ग्रन्थ में सहज कवित्व के साथ इस प्रकार घुल-मिलकर प्रकट हुए हैं कि इसे समाधि-भाषा कहना उचित है। ब्रह्मसूत्र और भागवत दोनो ही व्यास-रचित माने जाते हैं; लेकिन सूत्रों में जहाँ तर्क-सम्मत तत्त्व-जिज्ञासा का समाधान है वहाँ 'भागवत' भावनाओं को प्रभावित करनेवाला और फिर भी बौद्धिक समाधान को भी प्रस्तुत करनेवाला अपूर्व काव्य-ग्रन्थ है। वह बौद्धिक समाधान नही है, बुद्धि को भी अभिभूत करके अन्तरतर को उल्लसित करनेवाला समाधि-काव्य है। समाधान केवल प्रतीति उत्पन्न कराता है और समाधि अनुभूति प्रदान करती है। एक बुद्धि का विषय है, दूसरा बोध का।

ऐसे महान् ग्रन्थ को व्यास की समाधि-भाषा कहना सर्वथा उचित है। उसे तीन के अतिरिक्त चौथा प्रस्थान मानना भी उचित ही है। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने केवल यही नही कहा कि यह एक अतिरिक्त प्रस्थान है बल्कि यह भी कहा कि केवल एक, दो या तीन प्रस्थानों को प्रमाण मानना पर्याप्त नही है। किसी मत की ग्राहकता के लिए आवश्यक है कि वह चारों का अविरोधी हो; क्योंकि एक मे यदि सन्देह रह जाय तो वह दूसरो के द्वारा ही दूर होता है। इनमें भी चारो उत्तरोत्तर अधिक प्रामाणिक है। इसका मतलब यह है कि श्रीमद् वल्लभाचार्य के मत से 'भागवत' केवल एक चौथा प्रस्थान ही नही है बल्कि सबके सन्देहों को निराकरण करनेवाला सर्वोत्तम प्रमाण है। यह बात वल्लभाचार्य और चैतन्य मत की विशेषता है। अन्य वैष्णव दर्शनों में 'भागवत' को इतनी दृढ़ता से स्वीकार नही किया गया है। 'सूरसागर' भी 'भागवत' का ही अनुकथन है। फिर भी सूरदास अपनी रचना को समाधिभाषा नहीं समझते। समाधिभाषा तो 'भागवत' ही है। महान् शक्ति को वहन करने और लोक-गोचर करने की अद्‌भुत शक्ति सूरदास मे भी भरपूर मात्रा में थी।

यहाँ एक बात 'भागवत' के सम्बन्ध में और कह लेनी चाहिए। लीलाकथा को ही, 'चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता' के अनुसार, महाप्रभु वल्लभाचार्य ने सूरदास को 'भागवत' के सारमर्म के रूप मे बताया था। नि.सन्देह 'भागवत' की अपूर्वता, प्रथम तीन प्रस्थानों की अपेक्षा, लीला-रस के आस्वादन पर बल देने में है :

संसारसिंधुमतिदुस्तरमुत्तितीर्षो:
र्नान्य: प्लवो भगवत: पुरुषोत्तमस्य।
लीलाकथारसनिषेवणमन्तरेण
पुंसो भवेद्विविधदु.खदवार्दितस्य ॥

[अति दुस्तर संसार-सिन्धु को पार करने के इच्छुक, विविध दुःखदायी दावाग्नि

कभी तत्त्व-जिज्ञासा की भी पद्धति अपनाते हैं, पर बहुत कम। सूरदास 'भ्रमर-गीत' के प्रसंग में अवश्य ही कुछ प्रचलित मतों को उद्धव के मुख से कहलाकर उनका मृदु प्रत्याख्यान गोपियों से करा देते हैं। पर अन्यत्र वे इस पद्धति की उपेक्षा ही करते हैं। अन्यान्य प्रसंगों में वे शास्त्रीय की अपेक्षा लोकानुभव को ही सरस भाषा में कविजनोचित सम्प्रेषण द्वारा सहृदय-हृदय-गम्य बना देते हैं।

उन दिनों की प्रवृत्ति को देखते हुए कहा जा सकता है कि प्रस्थानों में श्रेष्ठ प्रस्थान 'भागवत' है। यह सूरदास को पूर्णतः मान्य थी। विद्वानों और प्रवीण विचारकों के मन में यह बात उन दिनों घर कर गयी थी कि जो कुछ अच्छा या नया कहना था उसे पहले के ऋषियों और आचार्यों ने कह दिया है। इस घोर कलिकाल में अब पुरानी बातों की अपने ढंग से व्याख्या-भर की जा सकती है, श्रुति-सम्मत होना बड़ी बात है। कुछ भी ऐसा नहीं कहना या मानना चाहिए जो श्रुति-सम्मत या प्राचीन आप्त समझे जानेवाले ऋषि-मुनियों के प्रतिपादित सिद्धान्त के प्रतिकूल पड़ता हो। दर्शन हो या धर्मशास्त्र, ज्योतिष हो या आयुर्वेद—सबका श्रुति-सम्मत या आप्त जनानुमोदित होना आवश्यक माना जाने लगा। नयी बात कही ही नहीं गयी, ऐसा नहीं था। पर सब-कुछ को श्रुति-सम्मत बताना आवश्यक हो गया था। उन दिनों सबसे बड़ा दोष वेद-बाह्य होना था। किसी को अत्यन्त गर्हित कहना हो तो उसे वेद-बाह्य कह दिया जाता था। इसकी प्रतिक्रिया भी बड़ी तीव्र थी। बहुत-से सम्प्रदाय तब भी थे जिनमें श्रुतियों की खिल्ली उड़ायी गयी थी। धीरे-धीरे प्रत्येक सम्प्रदाय अपने को श्रुति-सम्मत सिद्ध करने पर ही अधिक बल देने लगा। भक्ति-सम्प्रदायों में यह बात और भी प्रबल रूप में प्रकट हुई। महान् शंकराचार्य ने अपने शक्तिशाली भाष्यों में अद्वैतवाद—जिसे थोड़ा हीन साबित करने के लिए 'मायावाद' भी कहा जाने लगा था—की स्थापना की। यह बात उन्होंने ग्यारह उपनिषदों, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता के भाष्यों में सिद्ध की। वैष्णव मत में इसकी तीव्र प्रतिक्रिया हुई। भक्ति के लिए अद्वैतवाद बहुत अच्छा आधार नहीं माना जा सकता था। इसलिए आवश्यक हो गया कि शांकर अद्वैत-वाद या मायावाद का प्रत्याख्यान उन्हीं ग्रन्थों के भाष्य या टीका द्वारा किया जाय जिन पर स्वयं शंकराचार्य ने भाष्य लिखे थे। इन ग्रन्थों को तीन प्रस्थान या 'प्रस्थान-त्रयी' कहते थे। इन तीन प्रस्थानों का अर्थात् (1) ग्यारह उपनिषद्, (2) ब्रह्म-सूत्र और (3) श्रीमद्भगवद्गीता का समर्थन पाये बिना कोई सम्प्रदाय मान्य नहीं होता था। कभी किसी एक या दो प्रस्थानों की टीका से भी काम चल जाता था; पर तीनों पर भाष्य, टीका या तिलक अत्युत्तम माना जाता था।

महाप्रभु वल्लभाचार्य ने भी श्रीमद्भागवत को एक प्रस्थान मानकर प्रस्थानों की संख्या चार कर दी और प्रस्थान चतुष्टय नाम दिया। उन्होंने अपने तत्त्वार्थ दीप निबन्ध में प्रमाणरूप में चारों प्रस्थानों की बात कही है :

वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैवहि।
समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयं॥ (1-7)

उपनिषद् वेद ही है। सो, प्रमाण चतुष्टय हुए : (1) वेद, (2) श्रीकृष्णवाक्य अर्थात् भगवद्गीता, (3)व्याससूत्र अर्थात् ब्रह्मसूत्र और (4) व्यास की समाधि-भाषा अर्थात् श्रीमद्भागवत। इनमें भागवत को प्रमाण-रूप में स्वीकार किया गया है। यह मध्यकाल में सर्वाधिकप्रभावशाली ग्रन्थ रहा है। यह भक्ति का अपूर्व ग्रन्थ है। उपनिषद् के तत्त्वज्ञान और तत्काल प्रचलित सभी आर्ष शास्त्रों के सुविचारित मत इस ग्रन्थ में सहज कवित्व के साथ इस प्रकार घुल-मिलकर प्रकट हुए हैं कि इसे समाधि-भाषा कहना उचित है। ब्रह्मसूत्र और भागवत दोनों ही व्यास-रचित माने जाते हैं; लेकिन सूत्रों में जहाँ तर्क-सम्मत तत्त्व-जिज्ञासा का समाधान है वहाँ 'भागवत' भावनाओं को प्रभावित करनेवाला और फिर भी बौद्धिक समाधान को भी प्रस्तुत करनेवाला अपूर्व काव्य-ग्रन्थ है। वह बौद्धिक समाधान नहीं है, बुद्धि को भी अभिभूत करके अन्तरतर को उल्लसित करनेवाला समाधि-काव्य है। समाधान केवल प्रतीति उत्पन्न कराता है और समाधि अनुभूति प्रदान करती है। एक बुद्धि का विषय है, दूसरा बोध का।

ऐसे महान् ग्रन्थ को व्यास की समाधि-भाषा कहना सर्वथा उचित है। उसे तीन के अतिरिक्त चौथा प्रस्थान मानना भी उचित ही है। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने केवल यही नहीं कहा कि यह एक अतिरिक्त प्रस्थान है बल्कि यह भी कहा कि केवल एक, दो या तीन प्रस्थानों को प्रमाण मानना पर्याप्त नहीं है। किसी मत की ग्राहकता के लिए आवश्यक है कि वह चारों का अविरोधी हो; क्योंकि एक मे यदि सन्देह रह जाय तो वह दूसरों के द्वारा ही दूर होता है। इनमे भी चारों उत्तरोत्तर अधिक प्रामाणिक हैं। इसका मतलब यह है कि श्रीमद् वल्लभाचार्य के मत से 'भागवत' केवल एक चौथा प्रस्थान ही नहीं है बल्कि सबके सन्देहों को निराकरण करनेवाला सर्वोत्तम प्रमाण है। यह बात वल्लभाचार्य और चैतन्य मत की विशेषता है। अन्य वैष्णव दर्शनों में 'भागवत' को इतनी दृढ़ता से स्वीकार नहीं किया गया है। 'सूरसागर' भी 'भागवत' का ही अनुकथन है। फिर भी सूरदास अपनी रचना को समाधिभाषा नहीं समझते। समाधिभाषा तो 'भागवत' ही है। महान् शक्ति को वहन करने और लोक-गोचर करने की अद्भुत शक्ति सूरदास में भी भरपूर मात्रा में थी।

यहाँ एक बात 'भागवत' के सम्बन्ध में और कह लेनी चाहिए। लीलाकथा को ही, 'चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता' के अनुसार, महाप्रभु वल्लभाचार्य ने सूरदास को 'भागवत' के सारमर्म के रूप में बताया था। निःसन्देह 'भागवत' की अपूर्वता, प्रथम तीन प्रस्थानों की अपेक्षा, लीला-रस के आस्वादन पर बल देने में है :

> संसारसिंधुमतिदुस्तरमुत्तितीर्षोः
> नान्यः प्लवो भगवतः पुरुषोत्तमस्य।
> लीलाकथारसनिषेवणमन्तरेण
> पुंसो भवेद्विविधदुःखदवार्दितस्य॥

[अति दुस्तर संसार-सिन्धु को पार करने के इच्छुक, विविध दुःखदायी दावाग्नि

से पीड़ित मनुष्य के लिए भगवान् पुरुषोत्तम (श्रीकृष्ण) की लीला-कथाओं के रसास्वादन से भिन्न कोई दूसरी नाव नहीं है।]

यह 'भागवत' का विशिष्ट सन्देश है। लीला-कथाएँ ऊपर-ऊपर से देखने पर प्राकृत जन के चरित के समान लगती हैं, पर 'भागवत' में बताया गया है कि वस्तुत वे वैसी नहीं है—उनका अर्थ गहराई में है। इसीलिए इस लीला-कथात्मक काव्य को व्यास की समाधिभाषा कहा गया है। समाधिभाषा ऊपर-ऊपर से विसंगत दिखने पर भी गम्भीर अर्थ देती है।

सूरदास ने 'भागवत' के इस सन्देश को पूरी तरह स्वीकार किया था, पर उन्होंने अपनी रचना को 'भागवत' की भाँति समाधिभाषा नहीं समझा। इसीलिए वे अपने पाठकों को आगाह करते रहते हैं कि सूर के प्रभु की इस लीला को प्राकृत जन का आचरण न समझें। 'सूरसागर' 'भागवत' से अनेक बातों में भिन्न है। महाप्रभु वल्लभाचार्य तथा अन्य आचार्यों ने 'भागवत' के सिद्धान्त और उसमें वर्णित लीलाओं का बहुत सूक्ष्म विश्लेषण किया था। उतने सूक्ष्म विश्लेषण 'सूरसागर' मे नहीं मिलेंगे। कुछ बातें उनमे ऐसी भी है जिनका मूल 'भागवत' मे खोजना कठिन है। वस्तुतः उन्हें लोक-जीवन मे खोजना चाहिए। किस प्रकार शाक्त-साधना की बहुत-सारी बातें वैष्णव रूप ग्रहण कर चुकी थीं, यह मैंने अन्यत्र दिखाया है।

असल मे 'सूरसागर' शास्त्रीय वैष्णव-भक्ति-शास्त्र से प्रेरणा अवश्य लेता है, पर वह शास्त्रीय की अपेक्षा लोकधर्म के अधिक निकट है। उसकी भाषा, छन्द, पात्र और विचार-सरणि शास्त्रीय विश्लेषण की अपेक्षा लोक-व्यवहार के बहुत निकट-पर्यवेक्षण से अधिक प्रभावित है। हिन्दीप्रदेश के लोकगीतों में वैष्णव भक्ति—तत्रापि श्रीकृष्ण-लीला—का प्रवेश, महाप्रभु वल्लभाचार्य के बहुत पहले हो चुका था। 'सूरसागर' को लीलागान की प्रेरणा अवश्य 'श्रीमद्भागवत' से मिली; पर बहुत-सी बातें उस समय उत्तर भारत के लोकधर्म की बनी रही और ऐसी बहुत-सी बातें, जो परवर्त्ती वैष्णव आचार्यों की उद्भावनाएँ थीं और जिनका मूल 'श्रीमद्भागवत' से बाहर था, इसमे छूट गयी। उन्हें लेने का प्रयास भी नहीं हुआ।

श्री वल्लभाचार्य ने अनेक शास्त्र-वाक्यों के प्रमाण के आधार पर यह सिद्ध किया है कि माया और अविद्या दोनों ही भगवान् की शक्ति होने पर भी भिन्न-भिन्न है। अद्वैतवादियों के हिसाब से उनमे अभिन्नता है। 'श्रीमद्भागवत' के अनुसार यह ठीक है; क्योंकि दशमस्कन्ध के उनतालीसवें अध्याय मे भगवान् को अपनी जिन शक्तियों से निषेवित कहा गया है उनमें अविद्या और माया, इन दो शक्तियों को अलग बताया गया है। ससार अविद्या-जन्य है और प्रपंच माया-जन्य। इसलिए संसार भ्रम है, परन्तु प्रपंच सत्य। संसार से मुक्ति की इच्छा करनी चाहिए। जीव मे अहंता, ममता आदि विकार होते है जिससे वह अविद्या (गलत जानकारी) के कारण मोहग्रस्त हो जाता है। संसार-सिन्धु से पार होने के लिए, जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, भगवान् के लीला-कथा-रस का आस्वादन एकमात्र साधन

है। पर प्रपंच माया-जन्य है और सत्य है। वह रहेगा, उसका विलोप सम्भव नहीं है। संसार और प्रपंच का यह सूक्ष्म भेद वल्लभाचार्य के तत्त्व दर्शन को अद्वैत वेदान्तियों के दर्शन से भिन्न करता है। वे लोग प्रपच को भी मिथ्या मानते है।

'सूरसागर' में, जहाँ तक मैं देख सका हूँ, इस प्रकार के किसी भेद की चर्चा नही है। अन्य सन्तों और भक्तों की भाँति वे भी भवसागर और प्रपंच को समान भाव से तिरस्करणीय समझते थे; क्योंकि लोकधर्म में संसार और प्रपंच के इस सूक्ष्म भेद का कोई अस्तित्व नही था। वहाँ भवसागर एक स्पष्ट धारणा है और वह भगवान् से भिन्न मोह पैदा करनेवाला जगत् भी तथा यम-यातना और मनुष्य का स्वयं उत्पन्न किया हुआ अहता-ममता का जजाल भी, एक ही है। सूरदास इस बात में लोक-विश्वास के अधिक निकट है। वे भवसागर को प्रपच से अलग नही समझते। अनेक प्रकार की नरक-यातनाओं मे उनका विश्वास है। परन्तु वे भगवान् की लीला के गान को यमयातना और नरकभोग के मूल्य पर भी काम्य मानते है। उनके लिए तो भगवान् से उद्धार पाने का एक ही साधन है— शुद्ध मन से भगवान् का स्मरण :

गनिका किये कौन व्रत संयम शुक हित नाम पढावै।
मनसा करि सुमिरो गज बपुरो ग्राह परम गति पावै।

यज्ञ, याग, तीर्थ, व्रत सब ठीक है; पर भजन के सामने उनका कितना मूल्य है ? यमयातना से उद्धार पाने का एक ही उपाय है—भगवन्त भजन :

काहे को अस्वमेध जग कीजै, गया श्राद्ध काशी केदार।
राम-कृष्ण अभिधाम न पटतर जो तन गारै हेम हतमार।
प्राग कल्प माथे करवत दै चन्दा तरनि ग्रहन लछवार,
सूरदास भगवन्त-भजन विनु, यम के दूत कौन टारै मार॥

सूरदास की यमयातना भी भवसागर का ही परिणाम है। परन्तु भगवत्-लीला-प्रेम की महिमा के आगे वे यमयातना की विकरालता को उपेक्षणीय बताते हैं :

ऐसो कब करिहो गोपाल।
मनसानाथ मनोरथ-दाता हो प्रभु दीनदयाल।
चरननि चित्त निरन्तर अनुरत रसना चरित रसाल।
लोचन सजल प्रेम पुलकित तन कर कजन दल माल।
ऐसो रहत लिखत छन-छन यम अपनो भायो भाल।
सूर सुजस रागी न डरत मन सुनि यातना कराल॥

वैष्णव शास्त्रों में भगवान् की ऐश्वर्यमाधुरी, विग्रहमाधुरी और वेणुमाधुरी की विशेष चर्चा है। सूरदास विग्रह अर्थात् रूपमाधुरी में तथा वेणुमाधुरी में विशेष रस पाते हैं। रूप भी स्थिर और गतिशील दो प्रकार से आराध्य होता है। रास-लीला मे गतिशील रूप का वर्णन है। निस्सन्देह सूरदास उसमे विशेष रूप से रमे है। रूप चाक्षुप विषय है जबकि वेणुनिनाद श्रौत विषय। कहा जाता है कि उत्तम कवि श्रौत और दृश्य-बिम्बों में अधिक रमता है, स्पर्श और गन्ध बिम्बो में बहुत

कम। सूरदास मुरली निनाद पर बेहद मुग्ध होते हैं। इस रस को उन्होंने 'सूर-सागर' में बहुत प्रकार से उजागर किया है। वे शास्त्रों से प्रभावित अवश्य थे, पर रूप-बिम्ब और श्रौत-बिम्ब की सामग्री उन्हें लोकजीवन से मिली थी। वे दार्शनिक विचारों में नहीं, दृश्य तथा श्रव्य-बिम्बों में ही अधिक रमे हैं।

सूरदास ने सब विद्याओं, दर्शनों और दान-पुण्य तथा तपस्याओं का फल भगवान् के लीलागान को ही माना। कल्पना द्वारा रचित पूर्वपक्ष और अपरपक्ष का विन्यास करके खण्डन-मण्डन द्वारा निरूपित दार्शनिक सिद्धान्तों की स्थापना के पचड़े में वे नहीं पड़े। वे कवि थे और कविजनोचित ढंग से ही उन्होंने भगवत्-लीला को अद्भुत प्रभावशाली तथा भक्तिरस को अनायास लोक-ग्राह्य बनाया। 'श्रीमद्भागवत' में, मानो ऐसे ही कवियों को ध्यान में रखकर कहा गया था :

इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धदत्तयोः।
अविच्युतोऽर्थःकविभिर्निरूपितः यदुत्तमश्लोके गुणानुवर्णनम् ॥

—भाग., *1/5/22*

[आकाशवाणी के वाराणसी केन्द्र से प्रसारित, 1978]

कबीर

भूमिका

'कबीर' लिखते समय नाना साधनाओं की चर्चा प्रसंगवश आ गयी है। उनके उसी पहलू का परिचय विशेष रूप से कराया गया है जिसे कबीरदास ने अधिक लक्ष्य किया था। पाठक पुस्तक में यथास्थान पढ़ेंगे कि कबीरदास बहुत-कुछ को अस्वीकार करने का अपार साहस लेकर अवतीर्ण हुए थे। उन्होंने तत्काल प्रचलित नाना साधन-मार्गों पर उग्र आक्रमण किया है। कबीरदास के इस विशेष दृष्टिकोण को स्पष्ट रूप से हृदयंगम कराने के लिए मैंने उसकी ओर पाठक की सहानुभूति पैदा करने की चेष्टा की है। इसीलिए कहीं-कहीं पुस्तक में ऐसा लग सकता है कि लेखक भी व्यक्तिगत भाव से किसी साधन-मार्ग का विरोधी है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। जहाँ कहीं भी अवसर मिला है वहीं लेखक ने इस भ्रम को दूर करने का प्रयास किया है, पर फिर भी यदि कहीं भ्रम का अवकाश रह गया हो तो वह इस वक्तव्य से दूर हो जाना चाहिए। कबीरदास ने तत्कालीन नाथपन्थी योगियों की साधन-क्रिया पर भी आक्षेप किया है, यथास्थान उसकी चर्चा की गयी है। पुस्तक के अधिकांश स्थलों में 'योगी' शब्द से इन्हीं नाथपन्थी योगियों से तात्पर्य है। समाधि के विरुद्ध जहाँ कहीं कबीरदास ने कहा है वहाँ 'जड़-समाधि' अर्थ समझना चाहिए। यथाप्रसंग पुस्तक में इसकी चर्चा आ गयी है। वैसे, कबीरदास जिस सहज-समाधि की बात कहते हैं वह योगमार्ग से असम्मत नहीं है। यहाँ यह भी कह रखना जरूरी है कि पुस्तक में भिन्न-भिन्न साधन-मार्गों के ऐतिहासिक विकास की ओर ही अधिक ध्यान दिया गया है।

पुस्तक के अन्त में उपयोगी समझकर 'कबीर-वाणी' नाम से कुछ चुने हुए पद्य संग्रह किये गये हैं। उनके शुरू के सौ पद श्री आचार्य क्षितिमोहन सेन के संग्रह के हैं। इन्हीं को कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अंग्रेजी में अनूदित किया था। आचार्य सेन ने इन पद्यों को लेने की अनुमति देकर हमें अनुगृहीत किया है।

पुस्तक के इस संस्करण (1971) में यथासम्भव संशोधन किया गया है। पुस्तक लम्बी प्रतीक्षा के उपरान्त पाठकों के समक्ष आ रही है। श्रीमती शीला

सन्धू, प्रबन्ध निदेशिका, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., दिल्ली, को पुस्तक का नया रूप देकर शीघ्र प्रकाशित करने का श्रेय प्राप्त है। अनेक लेखकों और प्रकाशकों के अमूल्य ग्रन्थों की सहायता न मिली होती तो पुस्तक लिखी ही न गयी होती। जिन लोगों के मत का कहीं-कहीं विरोध करना पड़ा है उनके प्रति मेरी गम्भीर श्रद्धा है। वस्तुतः जिनके ऊपर श्रद्धा है उन्हीं के मतों की मैंने समीक्षा की है। इनमें कई मेरे गुरुतुल्य हैं। सब लोगों के प्रति मैं अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

रवीन्द्रपुरी, न्यू कालोनी,
वाराणसी

हजारीप्रसाद द्विवेदी

संकेत-विवरण

[जिन पुस्तकों का पूरा नाम और विवरण ग्रन्थ में ही दिया हुआ है, उनका उल्लेख यहाँ नहीं किया गया है।]

अ. रा.—'अध्यात्म रामायण', श्रीमुनिलाल का अनुवाद, गोरखपुर, सं. 1989

अष्टो.—'ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद्', निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, चतुर्थ संस्करण, 1932

उपासक.—'भारतवर्षीय उपासक सम्प्रदाय', श्री अक्षयकुमार दत्त प्रणीत, कलकत्ता 1314 बंगाब्द (द्वितीय संस्करण)

क. ग्रं.—'कबीर ग्रन्थावली', श्री श्यामसुन्दरदास सम्पादित, काशी नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी, 1928

क. वच.—'कबीर वचनावली', श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय—सम्पादित, काशी नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी, 1916

क. मन., मनसूर—'कबीर मनसूर', स्वामी परमानन्द-कृत, भानजी कुबेरजी पेंटर द्वारा प्रकाशित, बम्बई, 1902

गोरक्ष. वि., गोरक्षविजय—'गोरक्षविजय', श्री अब्दुल करीम सम्पादित, कलकत्ता, 1324 बंगाब्द

गोपी.—'गोपीचन्द्रेर गान', कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित और श्री विश्वेश्वर भट्टाचार्य द्वारा संकलित

गो. सि. सं.—'गोरक्ष-सिद्धान्त', म. म. गोपीनाथ कविराज सम्पादित, सरस्वती भवन टेक्स्ट्स नं. 18, काशी, 1925

चर्या.—'चर्याचर्यनिश्चय', बौ. गा. दो. में संकलित

जाति.—'भारतवर्ष में जातिभेद', श्री क्षितिमोहन सेन लिखित, कलकत्ता, 1940

ज. डि. ले.—Journal of the Department or Letter, Vol. XXVIII, कलकत्ता विश्वविद्यालय, 1934। इनमें श्री बागची द्वारा सम्पादित ये ग्रन्थ

है : 1. तिल्लोपाद का दोहा-कोष, 2. सरहापाद का दोहा, 3. कण्हपादरा., 4. सरहपादकीय दोहा-संग्रह, 5. प्रकीर्ण दोहा-संग्रह

डायसन.—The System of Vedant by P. Ducssen, शिकागो, 1912

पंचदशी.—विचारण्य स्वामी विरचित, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1918

पदा.—शब्दा. देखिए

प्राण.—'प्राणसंगली', सन्त सम्पूरणसिंहजी सम्पादित, तरनतारन, पंजाब

फर्कुहर—An Outline of the Religious Literature of India by J. N. Farquhar, Oxford, 1920

बौ. गा. दो. बौद्ध.—'बौद्ध गान ओ दोहा', म. म. हरप्रसाद शास्त्री सम्पादित कलकत्ता, 1323 (बंगाब्द)

भ. र. सि. भक्ति. र.—'भक्तिरसामृतसिन्धुः', श्री रूपगोस्वामिपाद विरचित, मुर्शिदाबाद, 1331

मनसूर—क. मन. देखिए

मिडिएवल मिस्टि.—Medieval Mysticism of India, श्री क्षितिमोहन सेन, लन्दन, 1935

विचार.—'कबीरसाहब का बीजक' पर साधु श्री विचारदासजी की टीका, काशी, सं. 1983

विश्व.—'बीजक कबीरसाहब' पर श्री विश्वनाथसिंहजू देव बहादुर कृत पाखण्ड-खण्डिनी टीका, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, सं. 1961

वेदान्त.—'वेदान्तसार', कर्नल जे. ए. जैकोब सम्पादित, द्वितीय संस्करण, निर्णयसागर, बम्बई 1916

शब्दा.—'शब्दावली', कबीरसाहब की, बेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद, 1900 ई.

शारदा.—'शारदातिलक-तन्त्रम्'—Arthur Avalon द्वारा सम्पादित, Tantric Text Society, Vol. XVI, कलकत्ता, 1933

शिव.—'शिवसंहिता', पाणिनी ऑफिस, इलाहाबाद, 1914

शुक्ल.—पं. रामचन्द्र शुक्ल का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', प्रयाग, सं. 1990

स. क. स.—'सत्य कबीर की साखी', वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, सं. 1977

सहजा., सहजाम्नाय.—'सहजाम्नायपंजिका', बौ. गा. दो. मे संकलित

हठ.—'हठयोगप्रदीपिका', पाणिनी ऑफिस, इलाहाबाद, 1915

हिन्दुत्व.—श्रीरामदास गौड़ रचित, ज्ञानमण्डल, काशी, 1997

हि. भा. सा. वि.—'हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास', पं. अयोध्यासिंह उपाध्याय, लहेरियासराय, 1997

प्रस्तावना

कबीरदास का लालन-पालन जुलाहा परिवार में हुआ था, इसलिए उनके मत का महत्त्वपूर्ण अंश यदि इस जाति के परम्परागत विश्वासों से प्रभावित रहा हो तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। यद्यपि 'जुलाहा' शब्द फ़ारसी भाषा का[1] है, तथापि इस जाति की उत्पत्ति के विषय में संस्कृत पुराणों में कुछ-न-कुछ चर्चा मिलती ही है। ब्रह्मवैवर्त पुराण के ब्रह्मखण्ड के दसवें अध्याय में बताया गया है कि म्लेच्छ से कुविन्दकन्या में 'जोला' या जुलाहा जाति की उत्पत्ति हुई है।[2] अर्थात् म्लेच्छ पिता और कुविन्द माता में जो सन्तति हुई वही जुलाहा कहलायी। पुराणकार ने म्लेच्छ और कुविन्द के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं रहने दिया है। विश्वकर्मा ने शूद्रा के गर्भ से नौ शिल्पकार पुत्र उत्पन्न किये थे: माली, लुहार, शंखकार, कुविन्द, कुम्हार, कँसेरा, बढ़ई, चित्रकार और सुनार[3]। इस प्रकार कुविन्द एक शिल्पी या कलाकार है और उसका कार्य वस्त्र बुनना है। क्षत्रिय पिता और शूद्रा माता के संयोग से म्लेच्छ की उत्पत्ति हुई। यह उत्पत्ति जिस समय हुई उस समय माता ऋतुदोष से अपवित्र थी और पिता के मन में पाप-भावना थी। इसलिए इस संयोग से बलवान, दुरन्त और पापपरायण म्लेच्छ जातियों का प्रादुर्भाव हुआ। ये जातियाँ

1. प्रसिद्ध विद्वान् रायकृष्णदासजी ने अपने एक पत्र में मुझे बताया है कि 'जुलाहा' शब्द संस्कृत 'वोरवाय' से बना है। परन्तु मुझे संस्कृत साहित्य में 'वोरवाय' शब्द का कहीं प्रयोग नहीं मिला।
2. म्लेच्छात् कुविन्दकन्यायां जोला जातिर्बभूव ह।
   जोलात् कुविन्दकन्यायां शराकः परिकीर्तितः॥
3. विश्वकर्मा च शूद्रायां वीर्याधानं चकार ह।
   ततो बभूवुः पुत्रास्ते नवैते शिल्पकारिणः॥
   मालाकारः कर्मकारः शंखकारः कुविन्दकः।
   कुम्भकारः कांसकारः षडेते शिल्पिनां वराः॥
   सूत्रधारश्चित्रकारः स्वर्णकारस्तथैव च।
   पतितास्ते ब्रह्मशापाद् अयाज्या वर्णसंकराः॥

क्रूर, निर्भय, दुर्धर्ष और विधर्मी हुई।[1] इस प्रकार हिन्दू-पुराणों के मत से जुलाहा जाति का प्रादुर्भाव मुसलमान पिता और कुविन्द माता के आकस्मिक संयोग से हुआ। इस देश में इस प्रकार के आकस्मिक संयोग से नयी जाति का पैदा हो जाना अपरिचित घटना नही है। आज जो सहस्रों की संख्या में जातियाँ वर्त्तमान हैं, वस्तुतः उनमे कई इसी प्रकार बन गयी हैं; परन्तु जुलाहों के सम्बन्ध में पुराणों की यह व्यवस्था कई कारणो से मानने योग्य नही मालूम होती।

हिन्दू-पुराणों और धर्मग्रन्थों की यह प्रवृत्ति रही है कि किसी जाति की उत्पत्ति के लिए निम्नलिखित पाँच कारणो में से किसी एक को मान लेना :

(1) वर्णों के अनुलोम विवाह से,
(2) वर्णों के प्रतिलोम विवाह से,
(3) वर्णों की संस्कार-भ्रष्टता के कारण,
(4) वर्णों से बहिष्कृत समुदाय से, और
(5) भिन्न संकर जातियो के अन्तर्विवाह से।

इन पाँच कारणों के अतिरिक्त कोई छठा कारण हिन्दू-पुराणो और स्मृतियों मे नही बताया गया। जब किसी नयी जाति का आविर्भाव, भारतीय भूमि पर हुआ है तभी कोई-न-कोई ऐसा ही मिश्रण सोच लिया गया है। यह धारणा केवल शास्त्रीय विवेचनाओं तक ही सीमित नही रही है, साधारण जनता में भी बद्ध-मूल हो गयी है।

इस प्रकार की कल्पनाएँ जाति की सामाजिक मर्यादाओ का नियमन भी करती है। स्मृतियों और पुराणो की कथाओं पर से यह अन्दाजा भी लगाया जा सकता है कि जिस समय ये कथाएँ लिखी गयी थी उस समय किसी जाति की सामाजिक मर्यादा क्या और कैसी थी। यह ध्यान देने की बात है कि कई जातियों के सम्बन्ध मे संस्कृत-ग्रन्थो मे जो कथाएँ कही गयी है उन्हें वे जातियाँ स्वयं नही मानतीं। प्रायः आर्येतर जातियाँ अपनी उत्पत्ति और मर्यादा के विषय मे कोई-न-कोई पौराणिक कथा बताया करती है। इन कथाओ मे साधारणतः उनका श्रेष्ठत्व प्रतिपादित किया होता है और कभी-कभी यह भी बताया गया है कि वर्त्तमान काल मे उनकी सामाजिक मर्यादा किस अभिशापवश या किस धोखे के कारण हीन हो गयी है।[2] उदाहरणार्थ, पटवेगर नामक कपड़ा बुननेवाली जाति अपनी उत्पत्ति शिव की जिह्वा से बताती है और यह दावा करती है कि मानव-जाति की लज्जा बचाने के लिए शिवजी ने इन्हें वस्त्र बुनने का सबसे पवित्र कार्य सौंपा है। इनके आदि-पुरुषों को उपवीत और वेद प्राप्त हुए थे।

1. क्षत्रवीर्येण शूद्रायामृतुदोषेण पापत।
बलवत्यो दुरन्ताश्च बभूवुर्म्लेच्छजातयः॥
अविद्धकर्णाः क्रूराश्च निर्भया रणदुर्जयाः।
शौचाचारविहीनश्च दुर्धर्षा धर्मवर्जिता॥

2. माइसोर ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स, जि. 4, पृ. 176-7, से उद्धृत।

आधुनिक काल में मनुष्य-गणना के समय जुलाहा जाति के सम्बन्ध मे जो तथ्य प्राप्त हुए हैं, उन पर से पुराण-समर्थित आकस्मिक संयोगवाली बात का समर्थन नही होता। जुलाहे मुसलमान हैं, पर इनसे अन्य मुसलमानो का मौलिक भेद है। सन् 1901 की मनुष्य-गणना के आधार पर रिजली साहब ने 'पीपुल्स ऑफ इण्डिया' नामक एक ग्रन्थ लिखा था। इस ग्रन्थ में उन्होने तीन मुसलमान जातियों की तुलना की थी। वे तीन है: सैयद, पठान और जुलाहे। इनमे पठान तो भारतवर्ष मे सर्वत्र फैले हुए हैं पर उनकी संख्या कही भी बहुत अधिक नही है। जान पड़ता है कि बाहर से आकर वे नाना स्थानों पर अपनी सुविधा के अनुसार बस गये। पर जुलाहे पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार और बंगाल मे ही पाये जाते है। ये जहाँ है वहाँ थोक-के-थोक हैं। एक पूरा-का-पूरा भूखण्ड इनके द्वारा अध्युषित है। पंजाब में इनकी संख्या 6,95,119, उत्तर प्रदेश में 9,23,032 और बंगाल-बिहार मे 92,42,049 थी। पंजाब में इनकी बस्ती कश्मीर रियासत की दक्षिण सीमा से शुरू होकर कुछ दूर तक पंजाब के उत्तरी किनारे पर फैली हुई है। उत्तर प्रदेश जहां पर राजपूताना और मध्यभारत की सीमाओं से मिलता है वहाँ से लेकर बनारस और गोरखपुर कमिश्नरी की पूर्वी सीमा तक एक मेखला की भाँति के भूखण्ड मे इनकी दूसरी बस्ती है। बिहार के उत्तरी अंश में और नेपाल की दक्षिण-पूर्व सीमा तक इनकी घनी बस्ती है। फिर दक्षिण बिहार मे भी इनकी एक छोटी-सी बस्ती है। दक्षिणी बंगाल में बर्दवान से ढाका कमिश्नरी तक ये बसे हुए है। इस प्रकार उत्तरी पंजाब से लेकर ढाका कमिश्नरी तक अर्धचन्द्राकृति भूभाग मे ये फैले हुए है। इन प्रदेशों में कभी नाथपन्थी योगियो का बड़ा जबरदस्त प्रभाव था। रिजली साहब का अनुमान है कि यह जुलाहा जाति किसी निम्न स्तर की भारतीय जाति का मुसलमानी रूप है। सामाजिक परिस्थिति इनकी अच्छी नही रही और नवागत धर्म मे कुछ अच्छा स्थान पा जाने की आशा से इन्होने समूह-रूप में धर्मान्तर ग्रहण किया होगा। यही कारण है कि ये सैयद और पठानो की भाँति सारे भारतवर्ष मे फैले हुए नही हैं बल्कि अपने मूल निवासस्थान मे ही पाये जाते है।[1]

जिन दिनों कबीरदास इस जुलाहा-जाति को अलंकृत कर रहे थे उन दिनों, ऐसा जान पड़ता है कि इस जाति ने अभी एकाध पुश्त से ही मुसलमानी धर्म ग्रहण किया था। कबीरदास की वाणी को समझने के लिए यह निहायत जरूरी है कि हम इस बात की जानकारी प्राप्त कर लें कि उन दिनों इस जाति के बचे-खुचे पुराने संस्कार क्या थे।

सन् 1901 की मनुष्य-गणना के आधार पर सर आर्थन्टेल बेन्स ने 'Grundriss der Indo-orischen philologie and Altertumskunde' सीरीज में भारतीय जातियों के सम्बन्ध में जो अध्ययन उपस्थित किया उसमें बाईस प्रकार की वयनजीवी (कपड़ा बुनकर जीविका चलनेवाली) जातियों का उल्लेख है। इनकी

1. 'पीपुल्स ऑफ इण्डिया', पृ 123

अधिकारिणी रहीं होंगी।

बंगाल-बिहार की 'सराक' जाति तांतियों की ही एक शाखा है। इनके विषय में हाल ही में एक अत्यन्त मनोरंजक तथ्य का रहस्योद्घाटन हुआ है। ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार 'सराक' जाति की उत्पत्ति जुलाहा पिता कुविन्द (तांती) माता से हुई है।। परन्तु आधुनिक खोजों से पता चला है कि ये सराक असल में श्रावकों के अर्थात् जैनियों के भग्नावशेष हैं जो अवस्था-दुर्विपाक से समाज के निचले स्तर में धकेल दिये गये हैं। अब भी इनके सामाजिक आचारों में बहुत-कुछ जैन आचार बच ही गये हैं। अब फिर से जैन मुनियों ने इनकी ओर ध्यान देना शुरू किया है।

सराक (सराक = श्रावक) जाति के इस रहस्योद्घाटन पर से यह अनुमान पुष्ट होता है कि अन्यान्य वस्त्रजीवियों की वर्तमान अवस्था का कारण उनका ब्राह्मणेतर विश्वास का आश्रय होना चाहिए। शायद इन्होंने शुरू-शुरू में ब्राह्मण धर्म का जबरदस्त विरोध किया होगा। विरोध की मात्रा का कुछ अनुमान तो कबीर के पदों से ही हो जाता है।

किन्तु इन वस्त्रजीवी जातियों में सबसे मनोरंजक बंगाल के 'जुगी' या 'योगी' हैं। सन् 1921 की मनुष्य-गणना के अनुसार अकेले बंगाल में इन जुगी या योगी लोगों की संख्या 2,65,910 थी। ये सारे बंगाल में फैले हुए हैं और कपड़ा बुनने का काम करते हैं। हिन्दू समाज में इनका स्थान क्या है, यह इस एक बात से अनुमान किया जा सकता है कि 1921 ई. की मनुष्य-गणना के समय जब एक जुगी परिवार ने अपने को स्थानीय प्रचलन के अनुसार 'जुगी' न लिखकर 'योगी' लिखना चाहा तथा अपनी स्त्रियों के नाम के सामने 'देवी' जुड़वाने की इच्छा प्रकट की, तो [illegible] ब्राह्मण-कर्मचारी ने कहा था कि मैं अपना हाथ कटा देना अच्छा समझूँगा, पर 'जुगी' को 'योगी' और इनकी स्त्रियों को 'देवी' नहीं लिख सकूँगा! [illegible] योगियों की एक संगठित सभा है जो योगियों के सम्बन्ध में अच्छी

निचली जाति के लोग उस कारण से धर्मान्तर ग्रहण करते नहीं देखे जाते। नीची-से-नीची श्रेणी का हिन्दू अपने को विधर्मी से उत्तम जाति का समझता है और कबीर की गवाही पर तो हम निश्चित रूप से कह सकते है कि न तो लोक की दृष्टि में और न अपने-आपकी ही दृष्टि मे जुलाहा जाति उच्चतर सामाजिक मर्यादा पा सकी थी। आज जुलाहों के सम्बन्ध मे जो लोकोक्तियाँ और किस्से-कहानियाँ आदि प्रचलित है, वे यह सिद्ध करती है कि सब मिलकर यह जाति आज भी साधारण जनता की दृष्टि मे ऊँची नही उठ सकी। स्वयं रिजली साहब ने भी अपनी पुस्तक मे ऐसी लोकोक्तियों का मनोरंजन संग्रह किया है। कबीरदास ने जुलाहो की जाति को कमीनी जाति कहा है[1] और यह भी बताया है कि उन दिनों भी यह जाति जन-साधारण मे उपहास और मजाक की पात्र थी। साधारणत. मूर्खता-सम्बन्धी कहानियों का एक बहुत बड़ा अंश सारे भारतवर्ष मे जुलाहो से भी बना है।

अब प्रश्न यह है कि इतना बड़ा जनसमूह एक ही साथ मुसलमान क्यों हो गया? सामाजिक मर्यादा की उन्नतिवाली बात तो कबीर की अपनी गवाही से ही परास्त हो जाती है। इस प्रश्न को जरा विचारपूर्वक जाँच करने की चेष्टा की जाय। एक विचित्र बात यह है कि अधिकांश वयनजीवी जातियों मे यह एक उल्लेख-योग्य विशेषता पायी जाती है कि वे अपने-आपको उसी सामाजिक स्तर मे रखने को प्रस्तुत नही है जिसमे साधारणतः उन्हे रखा गया है। ये लोग अपनी उत्पत्ति और इतिहास अलग से बताया करते है और अपनी वंशगत श्रेष्ठता का दावा करते है। कभी-कभी वे अपने को ब्राह्मण भी कहते है। इस प्रकार तमिल और तजोर प्रान्त की पटलूनकर जाति (जो गुजरात-काठियावाड की आदिम अधिवासी होने के कारण 'सौराष्ट्रक' भी कहलाती है) अपने को ब्राह्मण कहती है और उपवीत धारण करती तथा आयंगर आदि पदवियों का व्यवहार करती है।[2] पटवेगर जाति की चर्चा पहले ही हो गयी है। दाक्षिणात्य के साले भी अपने को ब्राह्मण कहने और शास्त्री आदि पदवियाँ धारण करने लगे है। ब्राह्मणो की भाँति इनकी शाखाएँ और गोत्र भी है। शायद ही किसी अन्य जाति मे अपनी वर्तमान सामाजिक मर्यादा के विषय मे ऐसा तीव्र असन्तोष हो जैसा कि वयनजीवी जातियो मे पाया जाता है। ऐसा जान पड़ता है, किसी काल में यह पेशा उत्तम गिना जाता था और किसी *अज्ञात कारण से इस पेशे के लोग अपनी ऊँची मर्यादा से अध पतित हुए है* और इनके भीतर उनकी पुरानी महिमा के जो संस्मरण बचे रहे है वे ही उन्हे असन्तुष्ट बनाये हुए हैं। सम्भवतः इस देश मे ब्राह्मण-श्रेष्ठता प्रतिष्ठित होने के पूर्व इन वयनजीवी जातियों मे से कई जैन-बौद्धादि ब्राह्मणेतर धर्मो मे उन्नत स्थान की

1. सरगलोक मे क्या दुख पडिया तुम आई कलिमांही।
जाति जुलाहा नाम कबीरा अजहु पतीजो नाही॥
तहाँ जाहु जहाँ पाट-पटम्बर अगर चंदन घसि लीना।
आइ हमारे कहा करोगी हम तो जाति कमीना॥ —क ग्र., पद 270
2. माइसोर ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स, जि. 4, पृ. 474—'जातिभेद' से.

निचली जाति के लोग उस कारण से धर्मान्तर ग्रहण करते नहीं देखे जाते। नीची-से-नीची श्रेणी का हिन्दू अपने को विधर्मी से उत्तम जाति का समझता है और कबीर की गवाही पर तो हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि न तो लोक की दृष्टि में और न अपने-आपकी ही दृष्टि में जुलाहा जाति उच्चतर सामाजिक मर्यादा पा सकी थी। आज जुलाहों के सम्बन्ध मे जो लोकोक्तियाँ और किस्से-कहानियाँ आदि प्रचलित हैं, वे यह सिद्ध करती हैं कि सब मिलकर यह जाति आज भी साधारण जनता की दृष्टि में ऊँची नहीं उठ सकी। स्वयं रिजली साहब ने भी अपनी पुस्तक मे ऐसी लोकोक्तियों का मनोरंजन संग्रह किया है। कबीरदास ने जुलाहों की जाति को कमीनी जाति कहा है[1] और यह भी बताया है कि उन दिनों भी यह जाति जन-साधारण में उपहास और मजाक की पात्र थी। साधारणतः मूर्खता-सम्बन्धी कहानियों का एक बहुत बड़ा अंश सारे भारतवर्ष में जुलाहों से भी बना है।

अब प्रश्न यह है कि इतना बड़ा जनसमूह एक ही साथ मुसलमान क्यों हो गया? सामाजिक मर्यादा की उन्नतिवाली बात तो कबीर की अपनी गवाही से ही परास्त हो जाती है। इस प्रश्न को ज़रा विचारपूर्वक जाँच करने की चेष्टा की जाय। एक विचित्र बात यह है कि अधिकांश वयनजीवी जातियों में यह एक उल्लेख-योग्य विशेषता पायी जाती है कि वे अपने-आपको उसी सामाजिक स्तर में रखने को प्रस्तुत नहीं हैं जिसमें साधारणतः उन्हें रखा गया है। ये लोग अपनी उत्पत्ति और इतिहास अलग से बताया करते हैं और अपनी वंशगत श्रेष्ठता का दावा करते हैं। कभी-कभी वे अपने को ब्राह्मण भी कहते हैं। इस प्रकार तमिल और तंजोर प्रान्त की पटलूनकर जाति (जो गुजरात-काठियावाड़ की आदिम अधिवासी होने के कारण 'सौराष्ट्रक' भी कहलाती है) अपने को ब्राह्मण कहती है और उपवीत धारण करती तथा आयंगर आदि पदवियों का व्यवहार करती है।[2] पटवेगर जाति की चर्चा पहले ही हो गयी है। दाक्षिणात्य के साले भी अपने को ब्राह्मण कहने और शास्त्री आदि पदवियाँ धारण करने लगे हैं। ब्राह्मणों की भाँति इनकी शाखाएँ और गोत्र भी हैं। शायद ही किसी अन्य जाति में अपनी वर्तमान सामाजिक मर्यादा के विषय में ऐसा तीव्र असन्तोष हो जैसा कि वयनजीवी जातियों में पाया जाता है। ऐसा जान पड़ता है, किसी काल में यह पेशा उत्तम गिना जाता था और किसी अज्ञात कारण से इस पेशे के लोग अपनी ऊँची मर्यादा से अध:पतित हुए हैं और इनके भीतर उनकी पुरानी महिमा के जो संस्मरण बचे रहे हैं वे ही उन्हें असन्तुष्ट बनाये हुए हैं। सम्भवतः इस देश में ब्राह्मण-श्रेष्ठता प्रतिष्ठित होने के पूर्व इन वयनजीवी जातियों में से कई जैन-बौद्धादि ब्राह्मणेतर धर्मों में उन्नत स्थान की

1. मरगलोक में क्या दुख पड़िया तुम आई कलिमांही।
जाति जुलाहा नाम कबीरा अजहु पतीजो नाही॥
तहाँ जाहु जहाँ पाट-पटम्बर अगर चंदन घसि लीना।
आइ हमारे कहा करोगे हम तो जाति कमीना॥ —क. ग्र. - पद 270

2. थाइमोर ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स, जि. 4, पृ. 474—'जातिभेद' से.

अधिकारिणी रही होंगी।

बंगाल-बिहार की 'सराक' जाति ताँतियों की ही एक शाखा है। इनके विषय में हाल ही में एक अत्यन्त मनोरंजक तथ्य का रहस्योद्घाटन हुआ है। ब्रह्मवैवर्त्त पुराण के अनुसार 'शराक' जाति की उत्पत्ति जुलाहा पिता कुविन्द (ताँती) माता से हुई है।[1] परन्तु आधुनिक खोजों में पता चला है कि ये शराक असल में श्रावकों के अर्थात् जैनियों के भग्नावशेष है जो अवस्था-दुर्विपाक से समाज के निचले स्तर मे डाल दिये गये है। अब भी इनके सामाजिक आचारों मे बहुत-कुछ जैन आचार रह ही गये है। अब फिर से जैन मुनियों ने इनकी ओर ध्यान देना शुरू किया है।

सराक (शराक = श्रावक) जाति के इस रहस्योद्घाटन पर से यह अनुमान पुष्ट होता है कि अन्यान्य वयनजीवियों की वर्त्तमान अवस्था का कारण उनका ब्राह्मणेतर विश्वास का आश्रय होना चाहिए। शायद इन्होने शुरू-शुरू में ब्राह्मण धर्म का जबरदस्त विरोध किया होगा। विरोध की मात्रा का कुछ अनुमान तो कबीर के पदों से ही हो जाता है।

लेकिन इन वयनजीवी जातियों में सबसे मनोरंजक बंगाल के 'जुगी' या 'योगी' हैं। सन् 1921 की मनुष्य-गणना के अनुसार अकेले बंगाल में इन जुगी या योगी लोगों की संख्या 2,65,910 थी। ये सारे बंगाल मे फैले हुए हैं और कपड़ा बुनने का काम करते है। हिन्दू समाज में इनका स्थान क्या है, यह इस एक बात से अनुमान किया जा सकता है कि 1921 ई. की मनुष्य-गणना के समय जब एक जुगी परिवार ने अपने को स्थानीय प्रचलन के अनुसार 'जुगी' न लिखकर 'योगी' लिखना चाहा तथा अपनी स्त्रियों के नाम के सामने 'देवी' जुड़वाने की इच्छा प्रकट की, तो गणना-लेखक ब्राह्मण-कर्मचारी ने कहा था कि मैं अपना हाथ कटा देना अच्छा समझूँगा, पर 'जुगी' को 'योगी' और इनकी स्त्रियों को 'देवी' नही लिख सकूँगा! आजकल इन योगियों की दृढ़ संघटित सभा है जो योगियों के सम्बन्ध में अच्छी जानकारी संग्रह कर रही है। ये लोग अपने को 'योगी ब्राह्मण' भी कहने लगे हैं। इस प्रकार की योगी जातियाँ बिहार में भी पायी जाती हैं और उत्तर प्रदेश मे भी किसी जमाने में थी। आचार्य क्षितिमोहन सेन महाशय ने अपने 'भारतवर्ष में जाति-भेद' नामक ग्रन्थ में (पृ. 144) लिखा है कि, "बंगाल के युगी (जुगी) या नाथ लोग पहले तो वेदस्मृति-शासित हिन्दू ही नही थे। नाथ-धर्म एक स्वतन्त्र और पुराना धर्म है। मध्ययुग मे इनमे से अधिकांश बाध्य होकर मुसलमान हो गये थे। ये ही जुलाहे हुए। ये स्वयं अपना पौरोहित्य किया करते थे। बाद में उन लोगों ने, जो पुरोहित का काम करते थे, जनेऊ पहनना शुरू किया। इससे समाज में एक जबरदस्त आन्दोलन हुआ। टिपरा जिले के कृष्णचन्द्र दलाल ने जनेऊ पहनने का आन्दोलन किया था।…अब इनमें कितने ही बाहर जाकर 'पण्डित', 'शर्मा' और 'उपाध्याय' बनकर बाकायदा ब्राह्मण बन गये हैं। ऐसी कई घटनाएँ मैं व्यक्तिगत

1. जोलात् कुविन्दकन्यायां शराकः परिकीर्तितः। —ब्र. वै. पुराण, 10 । 121

रूप से जानता हूँ।"

कलकत्ता विश्वविद्यालय ने 'गोपीचन्देर गान' नामक एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक प्रकाशित की है। इसके दूसरे भाग की भूमिका मे (पृ. 36-7) सम्पादक ने लिखा है कि, "योगियों का पूर्व प्रभाव अब कुछ भी नही रह गया है। ये लोग क्रमशः विशुद्ध हिन्दुत्व की ओर झुके आ रहे है और जीविका चलाने के लिए उन्होंने कपड़ा बुनना, चूना बेचना और अन्यान्य व्यवसाय आरम्भ किये है। इनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में *नाना भांति की किंवदन्तियाँ प्रचलित है। शायद ये नाना जाति के* मिश्रण से बने हुए किसी धर्म-सम्प्रदाय के भग्नावशेष है। आज भी रंगपुर जिले के योगियों के परम उपास्य देवता 'धर्म' ही है। इनके स्मरणीय महापुरुष है गोरखनाथ, धीरनाथ, छायानाथ और रघुनाथ आदि। ये कार्त्तिक और वैशाख मास में भीख माँगकर चावल संग्रह करते और उससे 'धर्म' देवता की पूजा करते है। इस पूजा मे हंस और कबूतर वगैरह उत्सर्ग तो किये जाते है पर मारे नही जाते।...'धर्म' की कोई मूर्त्ति नही बनायी जाती। इनके गुरु और पुरोहित ब्राह्मण नही होते बल्कि इनकी अपनी ही जाति के आदमी होते है। पुरोहित को 'अधिकारी' कहते है। स्त्रियों को पूजा के लिए अधिकारी की मध्यस्थता जरूरी नही होती। जन्म के बाद और कर्म के समय बालकों का कान चीर देना निहायत जरूरी समझा जाता है। तीन वर्ष की उमर में ही गुरु-मन्त्र ग्रहण करना आवश्यक होता है अन्यथा शिशु का पंक्ति-भोजन का अधिकार जाता रहता है। मृत-देह को 'योड़आसन' या योगासन मे समाधि दी जाती है। यह भी सुना गया है कि कही-कही धर्म-ठाकुर को चूने का उपहार दिया जाता है। चूना बेचना और भीख माँगना रंगपुर के योगियों का प्रधान व्यवसाय है। किन्तु ढाका और टिपरा जिले मे कपड़ा बुनना ही प्रधान व्यवसाय है।..."

ऐसा जान पड़ता है कि मुसलमानो के आने के पहले इस देश में एक ऐसी श्रेणी वर्त्तमान थी जो ब्राह्मणों से असन्तुष्ट थी और वर्णाश्रम के नियमो की कायल नही थी। नाथपन्थी योगी ऐसे ही थे। रमाई-पण्डित के 'शून्यपुराण' से जान पड़ता है कि एक प्रकार के तान्त्रित बौद्ध उन दिनों मुसलमानो को धर्म-ठाकुर का अवतार *समझने लगे थे। उन्हें यह आशा हो चली थी कि अब पुनः एक बार बौद्ध धर्म का* उद्धार होगा। शायद उन्होने हिन्दू-विरोधी सभी मतों को बौद्ध ही मान लिया था। जो हो, इस विषय में कोई सन्देह नही कि उन दिनों नाथ-मतावलम्बी गृहस्थ योगियों की एक बहुत बड़ी जाति थी, जो न हिन्दू थी और न मुसलमान। इस प्रसंग में श्री रायकृष्णदासजी से मुझे यह महत्त्वपूर्ण सूचना प्राप्त हुई है कि बनारस के अलईपुरा के जुलाहे अपने को 'गिरस्त' (गृहस्थ) कहते हैं। यह शब्द बताता है कि कोई अगृहस्थ या योगी जुलाहा जाति भी रही होगी। बंगाल की युगी जाति इसी सम्प्रदायमूलक जाति का भग्नावशेष है। कई बातें ऐसी हैं जो यह सोचने को प्रवृत्त करती हैं कि कबीरदास जिस जुलाहा-वंश में पालित हुए थे वह इसी प्रकार के नाथ-मतावलम्बी गृहस्थ योगियों का मुसलमानी रूप था।

सबसे पहले लगनेवाली बात यह है कि कबीरदास ने अपने को जुलाहा तो कई बार कहा है, पर मुसलमान एक बार भी नहीं कहा। वे बराबर अपने को 'ना-हिन्दू ना-मुसलमान' कहते रहे। आध्यात्मिक पक्ष में निस्सन्देह यह बहुत ऊँचा भाव है, पर कबीरदास ने कुछ इस ढंग से अपने को उभय-विशेष बताया है कि कभी-कभी यह सन्देह होता है कि वे आध्यात्मिक सत्य के अतिरिक्त एक सामाजिक तथ्य की ओर भी इशारा कर रहे हैं। उन दिनों वयनजीवी नाथ-मतावलम्बी गृहस्थ योगियों की जाति सचमुच ही 'ना-हिन्दू ना-मुसलमान' थी। कबीरदास ने कम-से-कम एक पद में स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि हिन्दू और है, मुसलमान और हैं और योगी और है, क्योंकि योगी या जोगी 'गोरख-गोरख' करता है, हिन्दू 'राम-राम' उच्चारता है और मुसलमान 'खुदा-खुदा' कहा करता है।[1]

यह स्पष्ट रूप से विचार कर लेना चाहिए कि यहाँ हिन्दू, जोगी और मुसलमान से कबीरदास का क्या मतलब रहा होगा। जहाँ-जहाँ कबीरदास ने हिन्दू शब्द का व्यवहार किया है वहाँ-वहाँ निम्नलिखित तीन शब्दों में से तीनों, दो या एक का मतलब रहता है। ये तीन बातें है—वेद, ब्राह्मण और पौराणिक मत। इन तीनो को माननेवाले को ही कबीरदास 'हिन्दू' कहते है। मुसलमान शब्द की व्याख्या करने की जरूरत नही। इस शब्द से कबीरदास हू-ब-हू वही अर्थ लेते हैं जो सदा से लिया जाता रहा है। 'हिन्दू' शब्द का व्यवहार आजकल उन सभी धर्म-मतों के लिए होने लगा है जो भारतवर्ष मे उत्पन्न हुए है और जिनके अनुयायी अपने को अहिन्दू नही कहते। कबीरदास इस शब्द का यह अर्थ नही लेते जान पड़ते।

'योगी' शब्द और भी अस्पष्ट है। योग-क्रिया करनेवाले को योगी कहते हैं। इनके विषय में हम आगे विस्तारपूर्वक चर्चा करने का अवसर पायेंगे। हिन्दू लोग ब्राह्मण को श्रेष्ठ और पूज्य मानते है। संन्यासी और योगी भी उनके लिए पूज्य है। किन्तु आश्रम-भ्रष्ट योगी और संन्यासी हिन्दू समाज में बहुत निकृष्ट समझे जाते है। यदि कोई संन्यासी फिर से गृहस्थाश्रम मे प्रविष्ट हो जाय तो उसकी सन्तति अस्पृश्य हो जाती है। इस देश के हर हिस्से में भ्रष्ट संन्यासियों से बनी हुई जातियाँ पायी जाती हैं। उत्तर भारत की गोसाईं, बैरागी, अतीत, साधु, जोगी और फकीर जातियाँ तथा दक्षिण भारत की आण्डी, दासरी और पानिसवन जातियाँ ऐसी ही हैं। जब तक संन्यासी अपने संन्यासाश्रम मे होता है यह हिन्दू का पूज्य है, पर घरबारी होकर वह उसकी आँखों में गिरकर भ्रष्ट हो जाता है। घरबारी संन्यासियों की सन्तति से जो जातियाँ बनती है वे समाज के निचले स्तर में चली जाती है। इसलिए साधक योगी और गृहस्थ जाति के योगी मे बड़ा भेद है। योगी जाति अर्थात् आश्रम-भ्रष्ट योगियों की सन्तति न तो किसी आश्रम-व्यवस्था

1. जोगी गोरख गोरख करै। हिन्दू राम-नाम उच्चरै।
मुसलमान कहै एक खुदाइ। कबीर [illegible] मी [illegible] ॥
—क. ग्रं., पृ॰ [illegible]

के अन्तर्गत आती है और न वर्ण-व्यवस्था के। आजकल इन जातियों में से कई अपने को 'ब्राह्मण' कहने लगी हैं। कइयों ने तो अपना दावा ब्राह्मणत्व के भी ऊपर उठा दिया है। अतीत के लोग अपने को ब्रह्मा के मस्तक से उत्पन्न कहते है और इस पर से यह तर्क और उपस्थित करते है कि वे ब्राह्मण से ऊँचे है, क्योंकि ब्राह्मण तो ब्रह्मा के मुख से ही उत्पन्न है और हम मस्तक से ! मस्तक निस्सन्देह मुख से ऊँचा है। वस्तुतः ये जातियाँ एक जमाने मे आश्रम-भ्रष्ट होने के कारण वर्णाश्रम-व्यवस्था के बाहर पड़ती थीं। सर्वग्रासी हिन्दू जाति ने उन्हे अब सम्पूर्ण रूप से आत्मसात् कर लिया है।

परन्तु इन आश्रम-भ्रष्ट जातियों मे से अधिकाश अब भी भेप धारण करती हैं, भिक्षा पर निर्वाह करती हैं और अनेकानेक सामाजिक कृत्यो में गृहस्थ-धर्म की विधि के बदले संन्यासियो मे विहित विधि का अनुष्ठान करती है। बहुतों का मृतक-संस्कार नही होता और संन्यासियों की भाँति समाधि दी जाती है। ऊपर हमने देखा है कि बंगाल मे योगियों को कही तो समाधि दी जाती है (अर्थात् शव को गाड़ दिया जाता है) और कही-कही उनका अग्नि-सस्कार भी किया जाता है (अर्थात् गृहस्थ हिन्दुओं की भाँति शव को जलाया जाता है)। मेरे एक मित्र पूर्वी बंगाल के निवासी है। उन्होंने बताया है कि त्रिपुरा जिले के योगियो को पहले अग्निदाह करते हैं और फिर समाधि भी दे देते है अर्थात् मिट्टी मे गाड़ भी देते हैं। कबीरदास के विषय मे प्रसिद्ध है कि उनकी मृत्यु के बाद कुछ फूल बच रहे थे जिनमे मे आधे को हिन्दुओं ने जलाया और आधे को मुसलमानो ने गाड़ दिया। कई पण्डितो ने इस बात को करामाती किंवदन्ती कहकर उड़ा दिया है, पर मेरा अनुमान है कि सचमुच ही कबीरदास को (त्रिपुरा जिले के वर्त्तमान योगियो की भाँति) समाधि भी दी गयी होगी और उनका अग्नि-संस्कार भी किया गया होगा। यदि यह अनुमान सत्य है तो दृढता के साथ ही कहा जा सकता है कि कबीरदास जिस जुलाहा जाति में पालित हुए थे वह एकाध पुश्त पहले के योगी जैसी किसी आश्रम-भ्रष्ट जाति से मुसलमान हुई थी या अभी होने की राह मे थी।

जोगी जाति का सम्बन्ध नाथपन्थ से है। जान पड़ता है, कबीर के वंश मे भी यह नाथपन्थी संस्कार पूरी मात्रा मे थे। यदि नाथपन्थी सिद्धान्तो की जानकारी न हो, तो कबीर की वाणियों को समझ सकना भी मुश्किल है।

आज से कई सौ वर्ष पहले की जोगी जाति का जो विवरण उपलब्ध हुआ है उसमे भी जान पड़ता है कि वे उन दिनों वेद-स्मृति-शासित हिन्दू समाज से बाहर थे और कपडा बुनने और बेचने का व्यवसाय किया करते थे। श्री अब्दुलकरीम साहब ने आज से लगभग पाँच-छः सौ वर्ष पहले की लिखी बतायी जानेवाली 'गोरक्ष-विजय' नाम की प्राचीन बंगला पुस्तक का सम्पादन किया है। यह पुस्तक शेख फैजुल्लाह नामक एक मुसलमान बंगाली कवि की लिखी हुई है। इसमें कदली-देश के प्रसंग मे एक जोगिन (अर्थात् जोगी जाति की स्त्री) के द्वारा गोरखनाथ को भुलावा देने के प्रसग मे इस प्रकार कहलवाया गया है, "तुम जोगी हो, जोगी के

घर जाओगे और अन्न-जल पाकर तृप्त होगे, इसमें भला सोचना-विचारना क्या है ? तुम जिस जाति और गोत्र के हो मैं भी उसी जाति-गोत्र की हूँ, फिर मेरे यहाँ चलने में दोष क्या है ? तुम वलिष्ठ और युवक योगी हो, मैं जवान जोगिन हूँ। फिर क्यों न हम अपना व्यवहार शुरू कर दें, क्यों हम किसी की परवा करने जायें ? मैं रात-दिन तुम्हारी सेवा करूँगी और अपना-पराया कुछ भी भेद न रखूँगी। मैं चिकना सूत कात दूँगी, तुम उसकी महीन धोती बुनोगे और हाट में बेचने ले जाओगे। इस प्रकार सम्पत्ति दिन-दिन बढ़ती रहेगी और तुम्हारी झोली और कन्था में अँटाये नहीं अँटेगी।"[1] इससे सिद्ध होता है कि आज से पाँच-छः सौ वर्ष पहले भारतवर्ष की पूर्वी सीमा पर जो जोगी थे, वे घरवारी हो चुके थे और सूत कातने और वस्त्र बुनने का कार्य करने लगे थे और अपनी पृथक् जाति और गोत्र में विश्वास करने लगे थे। इसी पुस्तक से यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि मृत्यु के बाद उनका अग्नि-संस्कार नहीं होता था बल्कि समाधि दी जाती थी।

ऐसा जान पड़ता है कि ये पौराणिक धर्म के अनुकूल नहीं थे। इनमें भिन्न-भिन्न जाति के आश्रम-भ्रष्ट लोगों की सन्तति मिली हुई थी। ऊपर जिस जोगिन की चर्चा है उसने अपने को ब्राह्मण जोगिन और निरामिषाहारी बताया था (पृ. 64)। इस प्रकार यद्यपि इनकी एक पृथक् जाति हो गयी थी तथापि ये लोग वर्णाश्रम-व्यवस्था और अस्पृश्य-विचार के विरोधी थे। न तो ये भगवान् के अवतार में विश्वास करते थे और न त्रिदेव के ही कायल थे। इनके बाह्य मृतकादि संस्कार भी हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमानों से अधिक मिलते थे। इस प्रकार उन्हें मुसलमानी धर्म में आत्म-साधर्म्य ज्यादा मिला और इनका एक अंश धीरे-धीरे मुसलमान होता रहा। यह क्रिया अब भी जारी है। आजकल यद्यपि योगियों का मुसलमान होना कम हो गया है, क्योंकि अब उनकी संघटित सभाएँ और उन्हें ऐतिहासिक जाति होने का गौरव प्राप्त है, पर कुछ दिन पहले तक ये निरन्तर धीरे-धीरे मुसलमान होते जा रहे थे।

1. युगी द्वारे युगी याइवा, अन्न-जले तिप्ति पाइवा
 ताते आर किवा आछे कथा !
तुमि-आमि ज्ञाति जन, एक गोत्रे उतपन
 ताते किछु दोष नाहि आर।
गभुर युगिया तुमि, जोयान योगिनी आमि
 ये थाके करियु वेवहार॥
सेविमु ये रात्रदिन, ना जानिए भिन्न-भिन्न
 येइ आशा आछए तोमार।
काटिमु चिकन सुति, तुमिह बुनिवा धुति
 हाटे ते निवा ये वेचिवार॥
दिने दिने वेशी हइव, सम्पति बाड़िया याइव;
 झुलि काथा सव याइव छाड़ि॥
—'गोरक्षविजय', (कलकत्ता, सन् 1324), पृ. 65

यह आश्चर्य की बात ही कही जानी चाहिए कि योगियों और नाथपन्थियों के मध्ययुगीन आचार-विचार पर प्रकाश डालनेवाली जितनी भी पोथियाँ अब तक आविष्कृत हुई है, उनमें की अधिकांश मुसलमान कवियों की लिखी हुई है। "अली राजा का 'ज्ञानसागर', सैयद सुलतान का 'ज्ञानप्रदीप' और 'ज्ञानचौतीसा', मुहम्मद शफी का 'सुर कन्दिल', मुरशिद का 'बारामास्या' (बारहमासा), 'योग कलन्दर' और 'सत्यज्ञान प्रदीप' के समान कोई ग्रन्थ हिन्दू कवियों ने लिखा हो, ऐसा हमारा जाना हुआ नही है।"[1] अनुमान है कि ये कविगण कबीरदास की भाँति ही इसी प्रकार की किसी जाति के धर्मान्तरित वंश मे उत्पन्न हुए थे। हम और भी आगे बढ़कर कहना चाहते है कि कबीर, दादू, रज्जब, कुतुबन, जायसी, नूरमुहम्मद, फाजिलशाह आदि हिन्दी के कवियो की रचनाएँ इसी रोशनी मे विवेचित होनी चाहिए। इन सभी कवियों की रचनाओ की चर्चा किसी-न-किसी बहाने आ ही जाती है।

ऊपर की विवेचना का निष्कर्ष यह हुआ कि :

1. आज की वयनजीवी जातियो मे से अधिकांश किसी समय ब्राह्मण-श्रेष्ठता को स्वीकार नहीं करती थी।

2. जोगी नामक आश्रम-भ्रष्ट घरबारियों की एक जाति सारे उत्तर और पूर्वी भारत में फैली थी। ये नाथपन्थी थे, कपड़ा बुनकर और सूत कातकर या गोरखनाथ और भरथरी के नाम पर भीख माँगकर जीविका चलाया करते थे।

3. इनमें निराकार भाव की उपासना प्रचलित थी, जातिभेद और ब्राह्मण-श्रेष्ठता के प्रति इनकी कोई सहानुभूति नही थी और न अवतारवाद मे ही कोई आस्था थी।

4. आसपास के बृहत्तर हिन्दू-समाज की दृष्टि मे ये नीच और अस्पृश्य थे।

5. मुसलमानों के आने के बाद ये धीरे-धीरे मुसलमान होते रहे।

6. पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार और बंगाल में इनकी कई बस्तियों ने सामूहिक रूप से मुसलमानी धर्म ग्रहण किया था।

7. कबीरदास इन्ही नव-धर्मान्तरित लोगो में पालित हुए थे।

इनमें जो तीसरा निष्कर्ष है वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। हमने इस अध्याय में उसके विषय मे अधिक प्रमाण नही उपस्थित किये हैं। अगले अध्याय मे हम जो कुछ कहने जा रहे है उससे तृतीय निष्कर्ष का पूर्ण समर्थन हो जायगा।

परन्तु आगे हम जो कुछ कहने जा रहे है उसके लिए पद-पद पर प्रमाण की जरूरत होगी। कबीरदास के नाम पर जो वाणियाँ मिलती है उनका कोई हिसाब नही है। कबीरपन्थी लोगों का विश्वास है कि सद्गुरु की वाणी अनन्त है और सद्गुरु अर्थात् कबीरदास—यह मान लेना हमारे वश के बाहर है। यह तो सभी मानते हैं कि कबीरदास ने 'मसि कागद छूआ नहीं' था। इनके समस्त उपदेश

1. 'गोरक्षविजय', पृ. 18

मौखिक ही हुआ करते थे। शिष्यों ने ही उन्हें लिखा होगा इसमें भी कोई सन्देह नही। खोज में अब तक कबीरदास के नाम पर छह दर्जन के आसपास पुस्तकें मिली है।[1] इनमें से कई तो निस्सन्देह उनकी लिखी हुई नही है और कई अन्य पुस्तकों के भीतर आ जाती हैं। बीज में रमैनी, शब्द, ज्ञान चौतीसा, विप्रवतीसी, कहरा, वसन्त, चाचर, वेली, विरहुली, हिंडोला और साखी ये ग्यारह अंग हैं। इनमें से एक-एक विभाग को अलग करके कभी-कभी नयी और स्वतन्त्र पुस्तक बना दी गयी है। अलग किये हुए विभागों मे यथेष्ट वृद्धि की जा रही है। फिर, 'पिय पहचानिवे को अंग', 'सत्संग को अंग' आदि अंग नामक पुस्तकें वस्तुतः साखी के ही उपविभाग हैं।

प्रो. रामकुमार वर्मा ने इन पुस्तकों में किये गये कुछ प्रक्षेपों का एक मनोरंजक लेखा दिया है। सन् 1906-9 की खोज-रिपोर्ट में 'अनुरागसागर' की एक प्रति पायी गयी थी, जो सन् 1862 की लिखी थी। उसमें पद्यो की संख्या 1 590 थी। पर सन् 1906-11 में इसी पुस्तक की इससे 16 वर्ष पुरानी एक और प्रति मिली। इस पुरानी प्रति में पद्यों की संख्या 1504 थी। अर्थात् सोलह वर्ष के अल्पकाल में 'अनुरागसागर' मे 86 पद्यो की वृद्धि हो गयी। हम आगे चलकर देखेंगे कि कबीर साहब के नाम पर मुहम्मद, गोरखनाथ, नानक आदि के साथ जो गोष्ठियाँ चलती हैं उनके वक्तव्य-विषय बाद की साम्प्रदायिक कल्पनाओं के आधार पर बना लिये

1. स्व रामदास गौड़ ने अपनी पुस्तक 'हिन्दुत्व' में 71 पुस्तको की एक लम्बी सूची दी है (पृ 734) और प्रो रामकुमार वर्मा ने अपने 'हिन्दी साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास' मे खोज की रिपोर्टों के आधार पर 61 पुस्तको की सूची दी है। गौडजी की सूची मे निर्भय-ज्ञान, हिंडोला और अलिफनामा (एक जगह आरिफनामा) ये दो-दो बार आये हैं। इस प्रकार उनकी सूची मे वस्तुत 68 ही ग्रन्थ हैं। दोनों सूचियो के सामान्य नाम ये हैं—अठपहरा, अनुरागसागर, अमर-मूल, अर्जनामा, अलिफनामा, अक्षर खण्ड की रमैनी, अक्षर भेद की रमैनी, आरती, उग्रगीता, उग्रतान, मूल-सिद्धान्त, कबीर और धर्मदास की गोष्ठी क. की बानी, क. अष्टक, क गोरख गोष्ठी, क. जी की साखी, क. परिचय की साखी, कर्म काण्ड रमैनी (गौड़-कर्म-खण्ड.), काया-पजी, चौका पर की रमैनी, चौतीसा, छप्पय, जन्म-बोध, तीसा यन्त्र, नाम महातम की साखी, निर्भय ज्ञान, पिय पहचानिवे को अग, पुकार, बारामासी (गौड-बारहमासा), बीजक, ब्रह्मनिरूपण, भक्ति का अग, रमैनी, रामरक्षा, रामसार, रेखता, विचारमाला, विवेकसार, शब्द अलहटुक, शब्द वंशावली, सत्त कबीर, बन्दी छोर, सतनामा, साधो को अंग, स्वास गुजार, हिंडोरा, हसमुक्तावली, ज्ञानगूदड़ी, ज्ञानसरोदय, ज्ञानसागर, ज्ञानसम्बोध और ज्ञानस्तोत्र।

इनके सिवा प्रो. वर्मा की सूची मे ये नाम और हैं : बलख की पज, भाषो खण्ड, चौतीसा, मुहम्मद बोध, मगल शब्द, शब्द-राग-काफी और राग फगुआ, शब्द-राग गौरी और राग भैरव, सुरति सम्वाद, ज्ञान चौतीसा।

गौड़जी की सूची के अधिक नाम ये है . पदे, दोहे, सुखनिधान, कबीरपजी, बलख की रमैनी, रामानन्द गोष्ठी, आनन्दसागर मगल, अनाथ मगल, मुहम्मद की बानी, मखहोम, वसन्त होली, झूलना, खमरा, चाचरा, आगम और शब्द पारखा तथा ज्ञानबत्तीसी।

मैं अपनी नयी पुस्तक 'कबीरपन्थी साहित्य' मे इन पुस्तको की जाँच करूँगा। इनमें से अधिकाश पुस्तकें निश्चित रूप से दूसरो की लिखी हुई हैं।

हैं। कई ग्रन्थों में सम्प्रदाय और भेष की महिमा बखानी गयी है।[1] यह बात सम्पूर्ण अविश्वसनीय जान पड़ती है। कबीरदास ने आजीवन सम्प्रदायवाद, बाह्याचार और बाहरी भेषभाव पर कठोरतम आघात किया था। वही कबीर अचानक भेष-भाव और छापा-तिलक की महिमा बखानने लगेंगे, यह बात कुछ जँचती नहीं मालूम देती। इसीलिए कबीरदास के नाम पर प्रचलित इन ग्रन्थों की प्रामाणिकता सन्देह का ही विषय है। श्री विश्वनाथसिंहजू देव ने अपनी टीका के अन्त में कबीर-दास का कहा जानेवाला एक पद उद्धृत किया है जिसमें कहा गया है कि 'बीजक' का मत ही ग्राह्य है।[2] यह पद स्वयं सन्देहात्मक है; क्योंकि इसको सचमुच कबीर की वाणी मानने के पहले यह मान लेना होगा कि कबीर की जीवितावस्था में ही

1. माला-तिलक निन्दा करें, ते परगट जमदूत।
कहे कबीर विचारिके तेई राक्षस भूत॥
द्वादश तिलक बनावई, अंग-अंग अस्थान।
कहे कबीर विराजहीं, उज्ज्वल हंस समान॥
—कबीर मंसूर में 'गुरु-महिमा' से उद्धृत, पृ. 1363

2. सायर बीजक को पद—
सन्तो बीजक मत परमाना।
कैयक खोजी खोजि थके कोई बिरला जन पहिचाना॥
चारिउ जुग और निगम चतुर्भुज गावैं ग्रन्थ अपारा।
विष्णु विरंचि रुद्र ऋषि गावैं शेष न पावैं पारा॥
कोई निर्गुण सगुण ठहरावैं कोई ज्योति बतावैं।
नाम धनी को सब ठहरावैं रूप को नहीं लखावैं॥
कोउ सूच्छम कोउ थूल कहावैं कोउ अक्षर निज सांचा।
सतगुरु कहैं बिरले पहिचानैं भूले फिरैं असांचा॥
लोभ के भक्ति सरैं नहिं कामा साहब परम सयाना।
अगम अगोचर धाम धनी को सबै कहै ह्वां जाना॥
देखैं न पथ मिलै नहिं पंथी ढूंढत ठौर-ठिकाना।
कोउ ठहरावैं शून्यक कीन्हा ज्योति एक परमाना॥
कोउ कहैं रूपरेख नहिं वाके धरत कौन को ध्याना।
रोम रोम में परगट कर्ता काहे भरम भुलाना॥
पक्ष-अपक्ष सबै पचिहारे करता कोई न विचारा।
कौन रूप है सांचा साहब नहिं कोई निस्तारा॥
बहु परचे परतीति दृढावैं सांचे को बिसरावैं।
कल्पन कोटि जन्म जुग बागैं दर्शन कतहुं न पावैं॥
परम दयालु परम पुरुषोत्तम ताहि चीन्ह नर कोई।
तत्पर हाल निहाल करत है रीझत है निज सोई॥
बधिक कर्म करि भक्ति दृढावैं नाना मत को ज्ञानी।
बीजक-मतु कोइ बिरला जानै भूलि फिरै अभिमानी॥
कह कबीर कर्ता में सब है कर्ता सकल समाना।
भेद बिना सब भरम परे कोउ बूझत मन्त गुजाना॥— विश्व, पृ 657 8

बहुत-से जाली ग्रन्थ बन गये होंगे और जाल का जंगल इतना बढ़ गया होगा कि उसके निराकरण के लिए कबीरदास को स्वयं उद्योगी होकर यह पद लिखना पड़ा। जो हो, यह पद है महत्त्वपूर्ण। क्योंकि इससे कबीरदास का अपना मत प्रकट होता हो या नहीं; पर इतना निश्चित रूप से प्रकट हो जाता है कि काफी प्राचीन काल से कबीर के नाम पर चलनेवाले ग्रन्थ सन्देह की दृष्टि से देखे जाते रहे हैं। महाराज विश्वनाथसिंहजू के अनुसार स्वयं 'बीजक' के विषय में परम्परा है कि भगवानदास नामक किसी शिष्य ने कबीरदास की जीवितावस्था में ही 'बीजक' का अपहरण किया था। ले भागने के कारण ही भगवानदास 'भग्गूदास' बन गया। कहते हैं, इस शिष्य ने 'बीजक' को विकृत भी किया था। कहा गया है कि स्वयं कबीरदास ने ही 'बघेल-वंश-विस्तार' में भग्गूदास की इस करतूत की चर्चा की है।[1] परन्तु कबीरदास के नाम पर पाये जानेवाले इस कथन की भाषा और युक्ति सभी बतलाते हैं कि यह वाद की साम्प्रदायिक होड़ के कारण लिखा गया है। सौभाग्यवश महात्मा भगवानदास की शिष्य-परम्परा अब भी जीवित है और छपरा (बिहार) जिले का धनौती मठ उसका मुख्य स्थान है। इन लोगों ने अपना 'बीजक' प्रकाशित भी कराया है। जो हो, मेरी धारणा है कि 'बीजक' में कुछ अंश अवश्य बाद के हैं। कहरा, बिरहुली आदि में बिहारी भाषा के बहुत प्रयोग हैं। कहा जाता है कि 'बीजक' बहुत दिनों तक छपरा जिले के धनौती मठ मे पड़ा रहा। बाद में उसे प्रचारित किया गया। अपनी नयी पुस्तक 'कबीरपन्थी-साहित्य' मे मैंने इस पर विचार किया है।

जो हो, बीजक कबीरदास के मतों का पुराना और प्रामाणिक संग्रह है, इसमें सन्देह नहीं। एक ध्यान देने योग्य बात इसमे यह है कि बीजक में 84 रमैनियाँ हैं। रमैनियाँ चौपाई छन्द में लिखी गयी हैं। इनमें कुछ रमैनियाँ ऐसी है जिनके अन्त में एक-एक साखी उद्धृत की गयी है। साखी उद्धृत करने का अर्थ यह होता है कि कोई दूसरा आदमी मानो इन रमैनियों को लिख रहा है और इस रमैनी-रूप व्याख्या के प्रमाण में कबीर की साखी या गवाही पेश कर रहा है। गुरु को 'साक्षी' (या साखी) करके किसी बात को कहने की प्रथा बहुत पुरानी है। जालन्धरनाथ के शिष्य कृष्णपाद (कानपा) ने कहा है : 'साखि करब जालंधरि पाए', अस्तु बहुत थोड़ी-सी रमैनियाँ (नं. 3, 28, 32, 42, 56, 62, 70, 80) ऐसी है जिनके अन्त मे साखियाँ नही है। परन्तु इस प्रकार साखी उद्धृत करने का क्या अर्थ हो सकता है ? इस पुस्तक में मैंने बीजक को निस्संकोच प्रमाण-रूप में व्यवहृत किया है, पर

1. भागूदास की खबरि जनाई। ले चरणामृत साधु पियाई।
कोऊ आप कह वह कालिंजर गयऊ। बीजक ग्रन्थ चोराइ ले गयऊ॥
सदगुरु कह वह निगुरा पंथी। काय भयो लै बीजक ग्रन्थी।
चोरी करि वह चोर कहाई। काह भयो बड भक्त कहाई॥
बीजमूल हम प्रगट चिन्हाई। बीज न चीन्हो दुर्मति लाई॥ इत्यादि
—विश्व., पृ 24

स्वयं 'बीजक' ही इस बात का प्रमाण है कि साखियों को सबसे अधिक प्रामाणिक समझना चाहिए, क्योंकि स्वयं 'बीजक' ने ही रमैनियों की प्रामाणिकता के लिए साखियों का हवाला दिया है। इसीलिए कबीरदास के सिद्धान्तों की जानकारी का सबसे उत्तम साधन साखियाँ है।[1]

साखियों की ही भाँति 'बीजक' के शब्द भी बहुत प्रामाणिक है। 'बीजक' मे इन शब्दों की प्रामाणिकता दिखाने के लिए कभी भी साखियाँ नही उद्धृत की गयी। इसका अर्थ यह हुआ कि 'बीजक' मे शब्द और साखियाँ सबसे अधिक प्रामाणिक हैं। वे अपने लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नही रखती। इस पुस्तक मे मैंने इसीलिए पदो का प्रमाण-रूप मे यथेच्छ व्यवहार किया है।

परन्तु मै यह नही मानता कि 'बीजक' के बाहर कबीरदास ने कुछ कहा ही नही। कबीरपन्थियों मे कबीरदास के स्वयवेद के चार भेद बताये गये है —(1) कूट-वाणी, (2) टकसार, (3) मूल-ज्ञान और (4) बीजक-वाणी। इनमे कूट-वाणी को महात्मा धर्मदास ने प्रचारित किया था। बाकी के बारे में कहा जाता है कि उन्हे क्रमश. कर्नाटक के चतुर्भुजदास, दरभंगा के राय बकेजी और शाममल्ला द्वीप और मानपुर के हीरामीरासजी प्रचारित करेंगे। सो इन अपार वाणियो का पार पाना कठिन है। और उनकी नित्य-स्फीयमान काया का लेखा-जोखा भी दुष्कर है। पर इतना निश्चित है कि बीजक के बाहर भी कबीरदास की कुछ वाणियाँ जरूर रही होगी।

इधर बाबू श्यामसुन्दरदासजी ने काशी नागरी प्रचारिणी सभा से 'कबीर-ग्रन्थावली' नामक एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक प्रकाशित करायी है। कहा गया है कि इसका आधार एक बहुत पुरानी प्रति है जो सं. 1561 मे लिखी गयी थी। परम्परा से प्रसिद्ध है कि कबीरदास का आविर्भाव सिकन्दर लोदी के जमाने मे हुआ था। उन्होंने स्वामी रामानन्द से बचपन मे ही दीक्षा ली थी और मरती बार मगहर को चले गये थे। मगहर मे उनके तिरोहित होने का काल स 1575 की अगहन सुदी एकादशी कहा जाता है। सभी बातों का विचार करके बाबू श्यामसुन्दरदास को यही सम्भव जान पडा है कि कबीरदासजी का जन्म सं. 1456 में और मृत्यु सं. 1575 मे हुई होगी। अर्थात् 'कबीर-ग्रन्थावली' का प्रकाशन जिस प्रति के आधार पर हुआ है वह कबीरदास की मृत्यु के 14 वर्ष पहले की लिखी हुई है। यदि यह पुस्तक सत्य है तो पुस्तक की प्रामाणिकता बहुत बढ जाती है। यद्यपि 14 वर्ष की अवधि कम नही होती और कबीरदास ने निश्चय ही इन चौदह वर्षों में और बहुत-सी वाणियाँ कही होगी जो इस संग्रह में नही आ सकी होंगी और इसीलिए इस पुस्तक को एकमात्र प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं स्वीकार किया जा सकता, तथापि इसमें जितने पद हैं वे निश्चय ही प्रामाणिक होंगे।

1. साखी आँखी ज्ञान की, समुझि देखु मन माहि।
   बिन साखी संसार को, झगरा छूटन नाहि॥—साखी, 369

पर इस बात को मान लेने में एक बाधा है। नागरी प्रचारिणी सभा की प्रकाशित पुस्तकों में उक्त प्रति के अन्तिम पृष्ठ का फोटो दिया गया है। उसमें जो संवत् लिखा हुआ है वह बाद की लिखावट जान पड़ती है। इस बार 'इतिश्री कबीर जी की वाणी संपूरण समाप्तः ॥…' इत्यादि लिखकर फिर से अपेक्षाकृत मोटी लिखावट में 'संपूर्ण सं. 1561' इत्यादि लिखना क्या सन्देहास्पद नहीं है? पहली बार का 'संपूरण' और दूसरी बार का 'संपूर्ण' काफी संकेतपूर्ण हैं। एक ही शब्द के दो रूप—हिज्जे और आकार-प्रकार में स्पष्ट ही बता रहे हैं कि ये एक हाथ से लिखे नहीं हैं। ऐसा जान पड़ता है कि अन्तिम डेढ पंक्ति किसी बुद्धिमान् की कृति है। इसीलिए मुझे इस पुस्तक के सं. 1561 में लिखित होने में काफी सन्देह है, पर इसकी प्राचीनता में कोई सन्देह नहीं है। यह पुस्तक 1561 संवत् के बहुत बाद की लिखी हुई होने पर भी काफी प्राचीन जान पड़ती है। फिर यह प्रति जितनी सुसम्पादित है वैसी और कोई पुस्तक नहीं। इसीलिए मैंने इस पुस्तक में इस प्रति को प्रमाण-रूप से बराबर व्यवहृत किया है। वस्तुत. यह पुस्तक परवर्ती काल की लिखी हुई है। सम्भवतः इसका लेखन-काल अठारहवीं शताब्दी का आदि या मध्य भाग है।

'कबीर-ग्रन्थावली' के सम्पादक ने परिशिष्ट में ग्रन्थसाहब में आये हुए कबीर के पदों का संग्रह करके बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। मैंने यथावसर इन पदों को भी प्रमाण-रूप में स्वीकार करने में संकोच नहीं किया। इधर डॉ. रामकुमार वर्मा ने ग्रन्थसाहब के पदों का संग्रह 'सन्त कबीर' नाम से प्रकाशित कराया है।

कबीरदास की वाणियों के अनेक संग्रह प्रकाशित हुए हैं, पर उनमें सबसे अच्छा सुसम्पादित संस्करण अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' की 'कबीर रचनावली' है। यह भी काशी नागरी प्रचारिणी सभा का ही प्रकाशन है। प्रयाग के बेलवेडियर प्रेस ने भी कबीरदास की शब्दावली छापी है। इस शब्दावली का द्वितीय संस्करण मेरे पास है। यह संस्करण पहले संस्करण से बहुत-कुछ भिन्न है। इन दोनों संग्रहों का भी मैंने यथावसर उपयोग किया है, पर महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों के निर्णय के प्रसंग में यथासम्भव मूल ग्रन्थों के उपयोग करने की चेष्टा की है।

श्री क्षितिमोहन सेन द्वारा सम्पादित 'कबीर के पद' एक नये ढंग का प्रयास है। वे 'भक्तों के मुख से' सुनकर संग्रह किये गये हैं। अपनी प्रामाणिकता के लिए उन्होंने किसी पोथी की मुखापेक्षिता नहीं रखी। परम्परा से एक मुँह से दूसरे मुँह तक आते रहने के कारण इन पदों की भाषा जरूर बदल गयी होगी, पर इसके अन्तर्निहित भावों की प्रामाणिकता विश्वसनीय हो सकती है। फिर भी कोई विशेष स्वार्थ के पोषक महात्माओं की ओर से इस पुस्तक के गम्भीर विचारों को उड़ा देने की चेष्टा की गयी है। कहा गया है कि इसमें पाये जानेवाले उच्च भाव किसी प्राचीन पोथी में नहीं मिलते। इस विशेष स्वार्थ के पोषक लोग भारतीय मनीषा की न तो कोई प्रतिष्ठा देखना चाहते हैं, न आदर पाना बर्दाश्त कर पाते हैं। मैंने जान-बूझकर उक्त संग्रह का उपयोग नहीं किया। ऐसा मैंने इसीलिए किया है कि

भारतीय मनीषा को जो लोग अस्वीकार करना चाहते हैं वे सीधे ही ऐसा करें प्राचीन और नवीन पोथियों का झमेला खड़ा करके अपने उद्देश्य और पाठक की निर्णयात्मिका बुद्धि के बीच पर्दा खड़ा करने का प्रयास न करें। परन्तु मैं यहाँ अत्यन्त कृतज्ञ-भाव से निवेदन करना चाहता हूँ कि यद्यपि आचार्य सेन की पुस्तक के पाठ इस पुस्तक में नहीं लिये, पर उनके उपदेशों का यथेच्छ उपयोग किया गया है। उनके साथ मेरा सम्बन्ध कुछ इतना गम्भीर है कि इस स्थान पर कृतज्ञता प्रकट करने में भी संकोच होता है। सच बात तो यह है कि यदि उनसे प्रेरणा न मिलती तो मैं यह पुस्तक लिख ही न पाता। उनके दृष्टिकोण में और मेरे इस पुस्तक में व्यवहृत दृष्टिकोण में थोड़ा मौलिक अन्तर है। वे सन्तों की वाणियों को म्यूजियम के प्रदर्शन की वस्तु मानते और यह बात ठीक भी है। जिसे आजकल 'एकेडेमिक' आलोचना कहते हैं यह बात कुछ म्यूजियम की रुचि को ही उत्तेजना देती है। आचार्य सेन सन्तों की जीवन्त वाणी को जलती हुई मशाल कहते है और उनका दृढ़ विश्वास है कि ये वाणियाँ यथासमय भारतवर्ष की और संसार की समस्याओं को सुलझायेंगी। ऐसी प्राणमयी वाणी को म्यूजियम में सजाके नहीं रखा जा सकता। मुझे स्वर्गीय कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर से भी इस पुस्तक के लिखने में बहुत प्रेरणा मिली है और उनकी कविताओं और लेखों को पढ़कर कबीर के भावों को समझने में बड़ी सहायता मिली है। मेरा यह परम दुर्भाग्य है कि पुस्तक प्रेस में जाने के पहले ही वे इहलोक त्याग कर गये। परन्तु परम सौभाग्य यह है कि वे अपना आशीर्वाद छोड़ गये हैं जो आजीवन मुझे बल देता रहेगा।

श्री युगलानन्दजी की 'सत्य कबीर की साखी' का भी मैंने इस ग्रन्थ में उपयोग किया है जिसका सम्पादन सं. 1600 और सं. 1892 की प्रतियों के आधार पर किया हुआ बताया गया है। परन्तु सब मिलकर कबीर के अध्ययन करने लायक पर्याप्त सामग्री मुझे मिली नहीं है, यह मानसिक क्षोभ मैं पाठकों की सेवा में उपस्थित कर देना चाहता हूँ। मुझे नाथ, निरंजन, महिमा आदि सम्प्रदायों और आसाम से लेकर काठियावाड़ तक फैले हुए विविध निर्गुणिया समाजों का कोई प्रामाणिक विवरण प्राप्त नहीं हुआ है। इन सभी अभावों और त्रुटियों को शिरसा स्वीकार करके ही मैंने कार्य आरम्भ किया।

अवधूत कौन है ?

हमने ऊपर देखा है कि कबीरदास जिस वंश में पालित हुए थे, उसमें योग-मत का काफी प्रचार था। पर इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि स्वयं कबीरदास

परमेश्वर अपरम्पार है, उसकी इस मूर्त्ति की बलिहारी है।'[1]

अब अवधूत कौन है जो कबीरदास का गुरु तक बन सकता है और इस विचित्र पहेली का ही क्या अर्थ है? महाराज श्री विश्वनाथसिंहजू देव ने (विश्व., पृ. 255) इसी पद की व्याख्या करते समय बताया है कि "वधू जाके न होइ सो अवधू कहावै", अर्थात् अवधू वधू-हीन जीव है! किन्तु स्वयं कबीरदास ऐसा नही मानते। वे अवधू *योगी को जग से न्यारा मानते है।* वह मुद्रा, निरति, सुरति और सींगी धारण करता है, नाद से धारा को खण्डित नही करता, गगन-मण्डल मे बसता है और दुनिया की ओर देखता भी नही। वह चैतन्य की चौकी पर विराजता है, *आकाश पर चढ़ा हुआ भी आसन नही छोड़ता,* महामधुर रस *का पान करता रहता* है। यद्यपि प्रकट रूप में वह कन्या मे लिपटा रहता है, पर वस्तुतः हृदय के दर्पण में कुछ देखता रहता है। निश्चल बैठा हुआ नासिका मे 21 हजार 6 सौ धागों को पिरोया करता है। वह ब्रह्म-अग्नि मे काया को जलाता है, त्रिकुटी से संगम मे जागता है, सहज और शून्य की लौ लगाये रहता है।[2] इस प्रकार यह विचित्र योगेश्वर अवधूत शुरू से आखिर तक विचित्र पहेली है।

आखिर यह विचित्र जीव कौन है? सचमुच यह तीन लोक से न्यारा है। निश्चय ही वधू-हीन लोग ऐसे अजीव जीव नही होते।

भारतीय साहित्य में यह 'अवधू' शब्द कई सम्प्रदायो के सिद्ध आचार्यों के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। साधारणतः जागतिक द्वन्द्वों से अतीत, मानापमान-विवर्जित, पहुँचे हुए योगी को अवधूत कहा जाता है। यह शब्द मुख्यतया तान्त्रिको, सहज-यानियों और योगियों का है। सहजयान और वज्रयान नामक बौद्ध तान्त्रिक मतो मे 'अवधूती वृत्ति' नामक एक विशेष प्रकार की यौगिक वृत्ति का उल्लेख मिलता है।[3]

1. अवधू, सो योगी गुरु मेरा, जो या पद कौ करे निबेरा।
   तरवर एक पेड बिन ठाढा, बिन फूलां फल लागा।
   साखा-पत्र कछू नहिं वाकै, अष्ट गगन मुख बागा॥
   पैर बिन निरति करां बिन बाजै, जिभ्या हीणा गावै।
   गावणहार के रूप न रेखा, सतगुरु होइ लखावै॥
   पंखी का खोज मीन का मारग कहै कबीर बिचारी।
   अपरंपार पार परसोतम वा मूरति की बलिहारी॥—क ग्रं., पद 165
2. अवधू जोगी जगथैं न्यारा।
   मुद्रा निरति सुरति करि सींगी नाद न खंडै धारा॥
   बसै गगन मे दुनी न देखै चेतनि चौकी बैठा।
   चढि अकास आसण नहिं छांड़ै पीवै महारस मीठा॥
   परगट कन्या माँहै जोगा दिल मैं दरपन जोवै।
   सहस इकीस छस धागा निहचल नाकै पोवै॥
   ब्रह्म-अगिनि में काया जारै त्रिकुटी संगम जागै।
   कहै कबीर सोई जोगेश्वर सहज सुनि ल्यो लागै॥—क ग्रं., पद 60
3. चर्यापद, 27-2; 17-1 देखिए; पृ. 124 का दोहा भी देखिए।

गये हैं। मुद्रा का बड़ा माहात्म्य है। सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति में कहा गया है कि 'मुद' धातु मोदार्थक और 'रा' धातु दानार्थक है। ये दोनों जीवात्मा और परमात्मा के वाचक है। इन दोनों की एकता विधान करनेवाली यह मुद्रा है, जिसके दर्शन से देवगण प्रसन्न होते हैं और असुरगण भाग जाते हैं। यह साक्षात् कल्याणदायिनी है। इस मुद्रा को कान फाड़कर पहनाया जाता है। इसीलिए इस पवित्र मुद्रा के कारण क्षुरिका या क्षुरी भी महत्त्वपूर्ण हो जाती है। इसीलिए क्षुरिका की महिमा वर्णन के लिए क्षुरिकोपनिपद् रचित हुई है और उस उपनिषद् मे बताया गया है कि एक बार क्षुरिका के स्पर्श से मनुष्य योगी हो जाता है और जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है।[1] नाद को ही अनाहद या शृंगी नाम से कहा गया है। आदेश आत्मा, परमात्मा, और जीवात्मा (?) इन तीनों की सम्भूति या मिलने को कहते हैं।[2] इस प्रकार योगियों के सभी चिह्न असल में आध्यात्मिक वृत्तियों के प्रतीक मात्र हैं। परन्तु अवधूत के लिए सब नियम अवश्य पालनीय नही हैं। वह कही भोगी होकर, कहीं त्यागी होकर, कही नग्न रहकर, कही पिशाच-सा बना हुआ, कही राजा होकर, कही आचारपरायण बनकर, सर्वमय होता हुआ भी सर्वविवर्जित होकर रह सकता है।[3] इसी भाव को बताने के लिए भर्तृहरि ने कहा है कि इस अवधूत मुनि की बाह्य क्रियाएँ प्रशमित हो गयी है। वह न दुःख को दुःख समझता है, न सुख को सुख। वह कही भूमि पर सो सकता है कही पलग पर, कहीं कन्या धारण कर लेता है कहीं दिव्य वसन, कही शाकाहार पर ही दिन गुजार देता है और कही मधुर भोजन पाने पर उसे भी पा लेता है।[4] किन्तु कबीरदास इस प्रकार योग में भोग को पसन्द नही करते। न तो वे बाहरी भेषभाव को पसन्द करते हैं और न सर्वमय होकर सर्वविवर्जित बने रहने के आचार को। योगी तो वह है जो न भीख माँगे, न भूखा सोये, न झोली-पत्र और बटुआ रखे, न अनहद नाद के बजाने से विरत हो, पाँच जने की जमात (गृहस्थी) का पालन भी करे और संसार से मुक्ति पाने की साधना भी जाने। जो ऐसा नही, वह अवधूत योगी कबीर का आदर्श नही हो सकता।[5]

1. गोरक्ष-सिद्धान्त-संग्रह, पृ. 9
2. वही, पृ. 9
3. क्वचिद्भोगी क्वचित्त्यागी क्वचिद्नग्न पिशाचवत् ।
   क्वचिद्राजा क्वचिच्चारी सोऽवधूतो विधीयते ॥—गो सि. सं., पृ. 10
4. क्वचिद्भूमौ शय्या क्वचिदपि च पर्यङ्कशयनः
   क्वचित्कथाधारी क्वचिदपि च माल्याम्बरधरः ।
   क्वचिच्छाकाहारी क्वचिदपि च दिव्यौदनरुचिः
   मुनिः शांतारंभो, गणयति न दुःखं न च सुखम् ।—'वैराग्यशतक'
5. बाबा जागा एक अकेला, जाकै तीरथ ब्रत न मेला ।
   झोली पत्र विभूति न बटवा, अनहद बेन बजावै ।
   माँगि न खाइ न भूखा सोवै, घर-अँगना फिर आवै ॥ →

यद्यपि इन योगियों के सम्प्रदाय के सिद्धों को ही कबीरदास अवधूत कहते हैं तथापि वे साधारण योगी और अवधूत के फर्क को बराबर याद रखते हैं। साधारण योगी के प्रति उनके मन में वैसा आदर का भाव नहीं है जैसा अवधूत के बारे में है। कभी-कभी उन्होंने स्पष्ट भाषा में योगी को और अवधूत को भिन्न रूप से याद किया है। (तु. क. ग्रं., परिशिष्ट, पद 126, पृ. 301)

इस प्रकार कबीरदास का अवधूत नाथपन्थी सिद्ध योगी है।

नाथपन्थियों के सिद्धान्त और कबीर का मत

: 1 :

अब देखना चाहिए कि इस नाथपन्थी अवधूत का मत क्या था और कबीरदास पर उसका कुछ प्रभाव पड़ा था या नहीं।

गोरखनाथ के योगमार्ग में गुरु की बड़ी महिमा गायी गयी है। गुरु ही समस्त श्रेयों का मूल है और एकमात्र अवधूत ही गुरुपद का अधिकारी हो सकता है—वह अवधूत, जिसके वाक्य-वाक्य में वेद निवास करते है, पद-पद मे तीर्थ बसते हैं, प्रत्येक दृष्टि में कैवल्य या मोक्ष विराजमान होता है, जिसके एक हाथ में त्याग है और दूसरे हाथ मे भोग और फिर भी जो त्याग और भोग दोनों में अलिप्त है।[1] और जैसा कि 'सूतसंहिता' मे कहा गया है, वह वर्णाश्रम से परे है और समस्त गुरुओं का साक्षात् गुरु है, न उससे कोई बड़ा है और न बराबर।[2] इस प्रकार के पक्षपात-विनिर्मुक्त योगेश्वर को ही 'नाथ-पद' की प्राप्ति होती है।

→ पांच जनों की जमाति चलावैं, तास गुरु मैं चेला।
कहै कबीर उनि देस सिधाये, बहुरि न इहि जग मेला ॥—क. ग्र., पद 207

1 वचने वचने वेदास्तीर्थानि च पदे पदे।
दृष्टौ दृष्टौ च कैवल्य सोऽवधूत श्रियेऽस्तु नः ॥
एकहस्ते धृतस्त्यागोभोगश्चैककरे स्वयम्।
अलिप्तस्त्यागयोगाभ्यां सोऽवधूत श्रियेऽस्तु नः ॥—गो. सि. सं., पृ. 1

2. अतिवर्णाश्रमी साक्षात् गुरुणा गुरुरुच्यते।
न तत्समोऽधिको वास्मिन् लोकेऽस्त्येव न संशय. ।—अष्ट, पृ. 459

'पक्षपातरहित होने' से मतलब ब्राह्मणत्व आदि आश्रमाभिमान से रहित होने से है। गीता में भगवान् ने कहा है कि मैंने गुण-कर्म विभाग से वर्णों की सृष्टि की है। इस पर से गोरखपन्थी लोगों का कहना है कि सभी वर्ण गुणमूलक हुए और गुणमूलक अभिमान के रहते हुए ब्रह्म-प्राप्ति असम्भव है। आश्रमों को भी ये लोग गुणमूलक ही मानते हैं। इसीलिए आश्रमाभिमान को भी मुक्ति में बाधक मानते हैं। इस प्रकार गुणमय वर्ण और गुणमय आश्रम का अभिमान रखनेवाले को गुरु नहीं बनाया जा सकता। ऐसे के साथ गुरु-शिष्य सम्बन्ध उसी प्रकार निष्फल है जिस प्रकार दो स्त्रियों के सम्बन्ध से पुत्र-प्राप्ति की आशा! (गो. सि. सं, 2-3)

इस अवधूत का परम पुरुषार्थ मुक्ति ही है, पर यह द्वैत और अद्वैत के द्वन्द्व से अतीत है। अवधूत गीता में कहा गया है कि कुछ लोग अद्वैत को चाहते है, कुछ लोग द्वैत को, पर इन दोनों से परे—द्वैताद्वैत-विलक्षण-तत्त्व कोई नही जानता। यह सम-तत्त्व कहलाता है। यदि सर्वगत देव स्थिर, पूर्ण और निरन्तर है तो क्या वह द्वैताद्वैत-विकल्पना महामोह नही है?[1] कबीरदास ने कुछ इसी भाव से मिलता-जुलता पद कहा है।[2] प्रसिद्ध है कि एक बार काशी के पण्डितों मे द्वैत और अद्वैत तत्त्व का शास्त्रार्थ बहुत दिनों तक चलता रहा। जब किसी शिष्य ने कबीर साहब का मत पूछा तो उन्होने जवाब मे शिष्य से ही कई प्रश्न किये। शिष्य ने जो कुछ उत्तर दिया उसका सार-मर्म यह था कि विवदमान पण्डितो में इस विषय मे कोई मतभेद नही है कि भगवान्, रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श से परे है, गुणो और क्रियाओं के अतीत हैं, वाक्य और मन के अगोचर है। कबीरदास ने हँसकर जवाब दिया कि भला उन लड़नेवाले पण्डितों से पूछो कि भगवान् रूप से निकल गया, रस से अतीत हो गया, गुणों के ऊपर उठ गया, क्रियाओं की पहुँच के बाहर हो रहा, वह अन्त मे आकर संख्या में अटक जायेगा? जो सबसे परे है वह क्या संख्या के परे नही हो सकता? यह कबीर का द्वैताद्वैत-विलक्षण समतत्त्ववाद है। नाथपन्थी लोग जोर देकर इस द्वैताद्वैत-विलक्षण समतत्त्ववाद का समर्थन करते है। इस विषय मे कबीरदास का उनसे सीधा सम्बन्ध है। जिस स्वयं-ज्योति सच्चिदानन्द मूर्त्ति की उपासना ये योगेश्वर लोग करते है वह ब्रह्मा भी नही है, विष्णु भी नही है, इन्द्र भी नहीं है, और पृथ्वी-जल-वायु-अग्नि-आकाश भी नही है। वह वेद और यज्ञ भी नही, सूर्य और चन्द्र भी नही, विधि और कल्प भी नही—वह इन सबसे विलक्षण स्वयं-ज्योति

1. अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
   समतत्त्वं न जानाति द्वैताद्वैतविलक्षणम्॥
   यदि सर्वगतो देव. स्थिर. पूर्णो निरन्तर.।
   अहो माया महामोहो द्वैताद्वैतविकल्पना॥—गो सि सं., पृ 11 मे उद्धृत
2. गोरख-राम एको नहि उहवाँ ना वहँ वेद विचारा।
   हरिहर ब्रह्मा ना शिव-शक्ती ना वहँ तिरथ-अचारा।
   माय-बाप-गुरु जाके नाहीं सो धौं दूजा कि अकेला।
   कहहिं कबीर जो अब की बूझे सोइ गुरू हम चेला॥—बीजक, शब्द 43

सत्य रूप है ।[1] यह कबीरदास के राम की भाँति ही सबसे न्यारा निरंजन है ।[2] ब्रह्मा भी अंजन है, विष्णु भी अंजन है, शिव भी, गोपी भी, पुराण भी, विद्या भी, पूजा भी, देवता भी, दान भी, वेश भी, पुण्य भी, तप भी, तीर्थ भी। एकमात्र निरंजन राम है जो सबसे विलक्षण है, सबसे अतीत। कबीरदास के मत से 'नाथ' वह है जो समस्त त्रिभुवन का एकमात्र यती—परब्रह्म है ।[3] यह कथन सिद्ध जालन्धर के वाक्य में कहे हुए उस वचन से मिलता है जिसमें 'नाथ' की द्वैताद्वैत-विलक्षण, समस्त यतियों में श्रेष्ठ, शंकर-स्वरूप कहकर स्तुति की गयी है ।[4]

यह मत वेदान्तियों, सांख्यों, मीमांसकों, बौद्धों और जैनों के मत से अपना वैशिष्ट्य प्रतिपादित करता है। ये लोग श्रुति को साधिका नहीं मानते। (गो. सि. सं., पृ. 22-28; 75-76)। इनके मत से वेद दो प्रकार के हैं : स्थूल और सूक्ष्म। स्थूल वेद यज्ञ-याग का विधान करते है, योगियों को इससे कोई वास्ता नहीं (पृ. 26)। उनका मतलब समस्त वेदों के मूलभूत ओंकारमात्र से है। क्योंकि ओंकार ही वेद का सार है। कबीरपन्थ में भी स्थूल और सूक्ष्म वेद की कल्पना की गयी है जिसकी चर्चा आगे की जायगी। 'ज्ञानचौंतीसा' के आदि में कबीरदास ने मानो इसी मत का समर्थन करते हुए कहा है कि जो ओंकार या प्रणव को जानता है वह उस पराशक्ति को जानता है जो लिखकर मिटा सकती है। अर्थात् जो सब-कुछ करने में समर्थ है। और इसके बाद ही शायद ओंकार पर बहुत अधिक जोर देनेवाले इन योगियों को लक्ष्य करके कहा है कि ओंकार की बात तो

1. न ब्रह्मा विष्णुरुद्रो न सुरपतिसुरा नैव पृथ्वी न चापो,
नैवाग्निर्नापि वायुर्न च गगनतलं नो दिशो नैव कालः।
नो वेदा नैव यज्ञा न च रविशशिनौ नो दिशो नैव कालः।
स्वज्योतिः सत्यमेक जयति तव पदं सच्चिदानन्दमूर्ते ॥—'सिद्धसिद्धान्तपद्धति'

2 राम निरजन न्यारे रे, अंजन सकल पसारा रे।
अजन उत्पत्ति ओ ओंकार, अंजन माँड्या सब विस्तार।
अंजन ब्रह्मा-शंकर-इंद्र, अंजन गोपीसँगि गोविंद॥
अंजन वाणी अजन वेद, अंजन कीया नाना भेद।
अजन विद्या-पाठ पुराण, अजन फोकट कथहिं गियान॥
अंजन पानी अजन देव, अजन की करै अजन सेव।
अजन नाचै अजन गावै, अजन भेष अनत दिखावै॥
अजन कहाँ कहाँ लग केता, दान-पुनि-तप-तीरथ जेता।
कहै कबीर कोई विरला जागै। अजन छाँड़ि निरजन लागै॥—क. ग्रं., पद 336

3 सिध सोई जो साधै इती। नाथ सोई जो त्रिभुवन जती।—क. ग्रं., पद 327

4 वन्दे तन्नाथतेजो भुवनतिमिरहं भानुतेजस्करं वा,
सत्कर्तृ व्यापकं त्वां पवनगतिकरं व्योमवन्निर्भरं वा।
मुद्रानादत्रिशूलैर्विमलरुचिधरं खर्परं भस्ममिश्रं,
द्वैतं वाद्वैतरूपं द्वयत उत परं, योगिनं शंकरं वा॥

सभी किया करते हैं पर इसे समझ सकनेवाले विरले ही हैं।[1]

'गोरक्ष सिद्धान्त-संग्रह' में पुस्तकी विद्या की बड़ी खिल्ली उड़ायी है। इसमें कवेशय गीता की एक कहानी उद्धृत की गयी है। दुर्वासा मुनि सब शास्त्र पढकर महादेव की सभा में गये। वहाँ पर उनके अध्यात्मज्ञान के अभाव को देखकर नारद ने उन्हें 'भारवाही गर्दभ' कहा। अमर्षी दुर्वासा ने सारी पुस्तकें समुद्र में फेंक दी और शिव से अध्यात्म विद्या की भिक्षा माँगी। कबीरदास ने भी पोथी पढ़-पढकर मरनेवाले और फिर भी राम को न जान सकनेवाले ज्ञान-मूढ़ों की कुछ ऐसी ही खिल्ली उड़ायी है।[2] कबीरदास का स्वर बिल्कुल इन योगियों से मिलता-जुलता है। योगियों के पूर्ववर्ती सहजयानी साधकों मे भी यह बात पायी जाती है और और भी टटोला जाय तो यह परम्परा बहुत पुरानी प्रतीत होगी। जो लोग कबीरदास की इस प्रकार की उक्तियों को विदेशी साधकों से प्रभावित बताते हैं वे न जाने क्या सोचते रहते हैं। कबीर ने जब कहा था कि पोथी पढ़-पढ़कर सारा संसार मर गया मगर पण्डित कोई नहीं हुआ, केवल प्रियतम को मिलानेवाला, एक ही अक्षर पढ़नेवाला पण्डित हो जाता है;[3] तो वे गोरखपन्थी योगमार्गियों के ही स्वर में बोल रहे थे—घर-घर में पुस्तक के बोझ ढोनेवाले विद्यमान हैं, नगर-नगर में पण्डितों की मण्डली मौजूद है, वन-वन में तपस्वियों के झुण्ड वर्तमान हैं, किन्तु परब्रह्म को जाननेवाला और उसे पाने का उद्योग करनेवाला कोई नहीं।[4] इस प्रसंग में कबीरदास ने जो नारदादि मुनियों का हवाला दिया है वह क्या कवेशय गीता की उस कहानी के ही आधार पर? (तुल. : क. ग्रं., पद 39)।

"सभी सम्प्रदाय कहते हैं कि ग्रन्थ हजारों की संख्या में है। मैं कहता हूँ कि

1 वो ॐकार आदि जो जानै। लिखिकै मेटै ताहि सो मानै।
वो ॐकार कहै सब कोई। जिन्हि यह लखा सो विरले होई॥
—'ज्ञानचौंतीसा', 1-2

2. तू राम न जपहि अभागा।
वेद पुरान पढ़त अस पांडे खरचंदन जैसे भारा।
राम-नाम-तत समझत नाहीं अति पडे मुखि छारा॥
नारद कहै, व्यास यो भाखै सुखदेव पूछौ जाई।
—क. ग्रं., पद 39

3. पोथी पढ़ि-पढ़ि जग-मुवा, पंडित भया न कोइ।
एकै आखर पीव का, पढै सु पंडित होइ॥
—क. ग्रं., पद 1-94, पृ. 30

4 गृहे गृहे पुस्तकभारभारा पुरे पुरे पंडितयूथयूथः।
वने वने तापसवृन्दवृन्दा न ब्रह्मवेत्ता, न च कर्मकर्ता।
अनेकशतसंख्याभिस्तर्कव्याकरणादिभि।
पतिताः शास्त्रजालेषु प्रज्ञया ते विमोहिता.॥
अनिर्वाच्यपदं वक्तुं न शक्यते सुरैरपि।
स्वात्मप्रकाशरूपं तत् किं शास्त्रे प्रकाश्यते॥
—गो. सि. सं. (पृ. 30) में उद्धृत

यदि मेरी बात मानो तो सभी को कुएँ में फेंक दो। भला जो लोग आधुनिक समय में स्वयं मुक्त नहीं हो सके, वे दूसरे को मुक्ति का उपदेश दे सकते हैं, यह कैसे मान लिया जाय? जो व्यक्ति लोगों को अचरज में डाल देने के लिए, या अभिमानवश या जीविका के लिए, या व्यसन के लिए, या अन्य किसी अभिलषित वस्तु की प्राप्ति के लिए ग्रन्थ लिखा करता है वह परमार्थी पुरुषों के आगे कैसे शोभनीय हो सकता है?" (गो. सि. सं., पृ. 77) इसीलिए योग-बीज में कहा है कि "सैकड़ों तर्क-व्याकरणादि ग्रन्थों से मूढ़ होकर ये ज्ञानमूढ़ लोग शास्त्रों के जाल में बुरी तरह फँस गये हैं। जिस अनिर्वाच्य पद को देवता भी नहीं बता सकते, उसे ये शास्त्र क्या बतायेंगे?" और कबीरदास ने मानो इसी पर मुहर लगाते हुए कहा है कि हे भगवान्, तुम जैसे हो वैसा तुम्हें कोई नहीं जानता। लोग दूसरा ही कहते रहते हैं। चारों वेद के चार मतों में सारा संसार भूला पड़ा है और इस प्रकार श्रुति और स्मृति इन दोनों के विश्वास से जकड़ा हुआ संसार आशा-पाश में व्यर्थ ही उलझा हुआ है। जब ब्रह्मादि देवता और सनकादि भक्त भी इस जाल में उलझे हुए हैं तो मुझ बेचारे की क्या हस्ती है![1]

अद्वैत-मत से नाथ-मत का उत्कर्ष दिखाने के लिए एक कहानी कही गयी है। शंकराचार्य अपने चार शिष्यों सहित नदी-तीर पर बैठे थे। वहाँ कापालिक रूप में भैरव ने कहा कि आप तो संन्यासी हैं, आप मित्र और शत्रु को समान दृष्टि से देखनेवाले हैं, सो कृपया मुझे अपना सिर काट लेने दीजिए ताकि मैं उससे भैरवी की पूजा कर सकूँ। शंकराचार्य जरा सोच में पड़ गये। यदि दे देते हैं तो पराजय होती है; यदि नहीं देते हैं तो शत्रु-मित्र में तुल्यदृष्टिता सिद्ध नहीं होती। शंकर को इस प्रकार शिथिल देखकर उनके एक शिष्य पद्माचार्य ने नृसिंहदेव का स्मरण किया और नृसिंहदेव ने भी तत्काल उग्र भैरव पर आक्रमण किया। तब उग्र भैरव ने कापालिक वेश परित्याग कर अपना असली स्वरूप प्रकट किया और प्रसन्न होकर मेघ गम्भीर ध्वनि में कहा कि, 'अहो अद्वैतवाद आज पराजित हुआ! मैंने चालाक मल्ल की भाँति अपने शरीर की हानि करके भी प्रतिद्वन्द्वी को चित कर दिया। तुम्हारा सिद्धान्त पराजित हुआ। आओ, युद्ध करो।' शंकराचार्य इस ललकार का मुकाबला नहीं कर सके, क्योंकि संन्यासी लोग प्रारब्ध कर्म में विश्वास करते हैं; अर्थात् ये मानते हैं कि ज्ञान-प्राप्ति हो जाने पर संचित और क्रियमाण कर्म तो जले हुए बीज की तरह बेकार हो जाते हैं, पर जिस कर्म का फल मनुष्य भोग रहा है वह प्रारब्ध कर्म तब भी बना रहता है। परन्तु अवधूत लोग

1. जस तू तस तोहि कोई न जान, लोग कहैं सब आनहि आन।
चारि बेद चहुँ मत का विचार, इहि भ्रमि भूमि भूलि पर्यो संसार।
सुरति सुमृति दुइको बिसवास, बाझि परै अस आसा-पास।
ब्रह्मादिक सनकादिक सुरनर, मैं बपुरो धूँ का मे काकर।
जिनि तुम्ह तारौ सोइर्ष तिरई, कह कबीर नांतर बांधे मरई॥
—क ग्र., पद 47

सभी कर्मों को योग-बल से भस्म कर देते है चाहे वह प्रारब्ध हो या संचित हो या क्रियमाण हो। सो, प्रारब्ध कर्मो ने शंकराचार्य को जड़ बना दिया। फिर कापालिक ने योग-माया का आवाहन किया और उसने आकर शंकर के चारों शिष्यों के सिर उतार लिये और उन्हें जलाकर भस्म कर दिया। अब जाकर आचार्य शंकर को ज्ञान हुआ कि वास्तविक शक्ति उनके अद्वैत ज्ञान में नही, बल्कि कापालिकों के योग-मार्ग में है। इसके पूर्व शंकराचार्य ने दक्षिण दिशा मे विष्णु-सेवन और कर्मोपासना का अनुष्ठान किया था, पूर्व मे जाकर वैद्यनाथधाम में शिव-भक्ति की साधना की थी और फिर भी पश्चिम मे जब शक्तिरहित हो गये थे तो भय से व्याकुल होकर 'सौन्दर्यलहरी' आदि शक्ति-स्तोत्र लिखे थे। आखिरकार जब वे उत्तर में आये तो आश्चर्य के साथ देखा कि सारी उत्तर दिशा महासिद्धों से भरी है। यहाँ आचार्य की मुलाकात तारानाथ से हुई। उन्होने पूछा कि 'क्यों जी, तुम्हें तीर्थाटन ही करना है या कुछ अध्यात्म-साधना भी?' शंकर कुछ मतलब नही समझ सके। उनकी जिज्ञासा देखकर सिद्ध तारानाथ ने नाथपन्थ के अनुसार योग का उपदेश दिया। अब शंकराचार्य को वास्तविक ज्ञान हुआ और उन्होंने 'वज्रसूचिकोपनिषद्[1] लिखी और 'सिद्धान्तबिन्दु' नामक योगियों का एक ग्रन्थ भी लिखा। यहाँ यह भूल नही जाना चाहिए कि कापालिक वस्तुतः नाथपन्थी हैं, क्योंकि शाबरतन्त्र मे जिन 12 आचार्यो को और उनके 12 शिष्यों को कापालिक कहा गया है वे वस्तुतः नाथपन्थी ही हैं।[2]

बारह आचार्यो और बारह शिष्यो के इन नामों मे से कुछ की ऐतिहासिकता सन्दिग्ध होने पर भी नागार्जुन, मीननाथ, गोरक्ष और चर्पट आदि सचमुच ऐतिहासिक है। म. म. हरप्रसाद शास्त्री ने जब बौद्ध सहजयान के सिद्धाचार्यो के प्रति विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया तो जाना गया कि बहुत-से सिद्धगण और नाथपन्थ के आचार्य एक ही हैं। आगे चलकर जब इस विषय की और भी चर्चा हुई तो जाना गया कि ये नाम सिर्फ सिद्धों और नाथपन्थियों मे ही समान नही हैं, बल्कि, निरंजन-पन्थियों, तान्त्रिकों और कापालिकों मे भी समान रूप से प्रचलित है। इस सूची में निर्गुण-मत के सन्तों का नाम भी जोड़ दिया जा सकता है। इस

1. वज्रसूची या वज्रसूचिकोपनिषद् का कर्ता कौन है, यह विवादास्पद प्रश्न है। 1921 ई में हड्सन ने इसे नेपाल मे पाया था। वहाँ इस ग्रन्थ के रचयिता अश्वघोष बताये गये, बाद में इसकी एक प्रति नासिक मे पायी गयी जो शंकराचार्य की लिखी बतायी गयी। यह उपनिषदों मे गिनी जाती है और, निर्णयसागर प्रेस ने 108 उपनिषदों का जो संग्रह छापा है, उसमे छपी है। इस पुस्तक में जातिभेद पर तीव्र आक्रमण किया गया है। इसके हिन्दी अनुवाद के लिए 'भारतवर्ष में जातिभेद', पृ 48-50 देखिए।

2. बारह आचार्य ये हैं : आदिनाथ, अनादिनाथ, काल, अतिकाल, कराल, विकराल, महाकाल, कालभैरव, बटुक भूतनाथ, वीरनाथ और श्रीकण्ठ। बारह शिष्य ये हैं : नागार्जुन, जडभरत, हरिश्चन्द्र, सत्यनाथ, मीननाथ, गोरक्षनाथ, चर्पट, अवद्य, वैराग्य, कन्थाधारी, जालन्धर और मलयार्जुन (गो. सि., 13-19)।

प्रकार इस विषय का अध्ययन केवल महत्त्वपूर्ण ही नहीं, काफी मनोरंजक भी सिद्ध हुआ है। दुर्भाग्यवश इस तरफ पण्डितों को जितना ध्यान देना चाहिए, उतना अभी तक नहीं दिया गया है। सुप्रसिद्ध विद्वान् म. म. पं. गोपीनाथ कविराज का कहना है कि हठयोगियों अर्थात् मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ आदि नाथपन्थियों, वज्रयानी और सहजयानी बौद्धों, त्रिपुरा सम्प्रदाय के तान्त्रिकों, नववैष्णवों का नियमित और वैज्ञानिक अध्ययन ऐसी बहुत-सी बातों का रहस्योद्‌घाटन करेगा जो इन सबमें समान रूप से विद्यमान है। महायान बौद्धधर्म और तन्त्रमत का सम्बन्ध बहुत ही महत्त्वपूर्ण है और इस सम्बन्ध में सावधानतापूर्ण और गम्भीर अध्ययन की जरूरत है।

नाथपन्थ के आदि-प्रवर्त्तक आदिनाथ अर्थात् स्वयं शिव माने जाते हैं। मत्स्येन्द्र इन्ही के शिष्य बताये जाते है। इन्ही मत्स्येन्द्रनाथ के कई शिष्य बड़े पण्डित और सिद्ध हुए, जिनके प्रभाव से यह मत सारे भारतवर्ष में प्रतिष्ठित हो गया। इन शिष्यो में सबसे प्रधान गोरखनाथ या गोरक्ष थे! सुप्रसिद्ध तिब्बती ऐतिहासिक तारानाथ (सिद्ध तारानाथ, जिनके शंकराचार्य के साक्षात्कार की किंवदन्ती का ऊपर उल्लेख हो चुका है) का कथन है कि गोरखनाथ पहले बौद्ध थे और बाद में शैव हो गये थे। इसीलिए तिब्बत के लामा लोग गोरखनाथ को बड़ी घृणा की दृष्टि से देखते हैं। गोरखनाथ ने ही योग-मार्ग के अभिनव रूप हठ-योग को प्रतिष्ठित कराया। प्रसिद्ध महाराष्ट्र भक्त ज्ञाननाथ ने अपने को गोरख-नाथ की शिष्य-परम्परा में माना है। उनके कथनानुसार यह परम्परा इस प्रकार है: आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ गोरखनाथ, गाहिनी (गैनी) नाथ, निवृत्तिनाथ, ज्ञाननाथ। ज्ञाननाथ तेरहवी शताब्दी में वर्त्तमान थे। इसलिए गोरखनाथ 11वी-12वी शताब्दी में हुए होंगे। इस प्रसंग में 'गोरक्ष-सिद्धान्त-संग्रह' (पृ. 40) मे बतायी हुई इस गुरु-परम्परा का भी स्मरण कर लिया जा सकता है: श्रीगुरु आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ—सत्पुत्र उदयनाथ-दण्डनाथ-सत्यनाथ-सन्तोपनाथ-कूर्म-नाथ-भवनाथ। उनके गोरक्षनाथ ईश्वर-सन्तान थे। शायद मत्स्येन्द्रनाथ के पुत्र-क्रम से उदयनाथादि उत्तराधिकारी थे और शिष्य थे गोरखनाथ। इनके कई शिष्य बताये जाते हैं, जिनमे वलनाथ, हालीकपाव, सलीपाव, आदि मुख्य थे। बंगाल के राजा गोपीचन्द की माता मयनामती भी इन्हीं की शिष्या थी। हालीकपाव या हाड़िफा हाड़ी नामक अन्त्यज जाति में उत्पन्न हुए थे। वे पहले बौद्ध थे, बाद मे नाथमार्गी हो गये थे। इन्ही का एक और नाम जालन्धरनाथ बताया जाता है। गोपीचन्द जालन्धरनाथ के शिष्य थे। राजा भरथरी या भर्तृहरि भी इन्हीं के शिष्य थे (तु—क. ग्रं., पद 299, पृ. 189)।

इन योगियो की अद्भुत और आश्चर्यजनक करामातों की सैकड़ों कहानियाँ सारे देश में फैली हुई हैं। जान पड़ता है कि आगे चलकर इन योगियों और निर्गुण-मतवादी सन्तो मे लोक पर प्रमुत्व प्राप्त करने की होड़-सी मची हुई थी। कबीर-दास और गोरखनाथ के करामाती दाँव-पेंचों की कहानियाँ काफी प्रसिद्ध हैं।

बंगाल के दिनाजपुर आदि जिलों में गोरक्षमत के अनुवर्त्ती कहे जानेवाले योगियों के 'धमाली' नाम से प्रचलित बहुतेरे अत्यन्त अश्लील गानों का पता लगा है। योगियों के साथ इन अश्लील गानों का सम्बन्ध कैसे हुआ, यह अनुसन्धान करने योग्य प्रश्न है। अपनी 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में, मैंने इस प्रसंग में एक बात की ओर सुधीवृन्द का ध्यान आकृष्ट करना चाहा था। पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार में होली के अवसर पर जो अश्लील और अश्राव्य गान गाये जाते है, उन्हें 'जोगीड़ा' कहते हैं। साधारणत: इस गान के गानेवाले किसी लडके को स्त्रीरूप में सजाकर नाच भी कराते है और बीच-बीच में 'जोगीजी धीरे-धीरे' की आवाज देते रहते हैं। 'जोगीड़ा' गा लेने के बाद 'कबीर' गाते हैं जो अश्लीलता में जोगीड़ों के भी कान काटनेवाले होते है। क्या इन 'जोगीड़ों' और 'कबीर' के साथ योगियों और कबीरपन्थियों की प्रतिद्वन्द्विता की कोई पुरानी स्मृति जुड़ी हुई है या ये अश्लील गान भी किसी समय उलटबाँसियो की भाँति अप्रस्तुत अन्तर्निहित सत्य की ओर इशारा करनेवाले माने जाते थे?

इस प्रसंग मे मेरे मित्र श्री ललितकिशोरसिंहजी 'नटवर' ने एक महत्त्वपूर्ण बात की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट किया है। 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' मे (पृ. 43-44) मैंने गोरखपन्थियों के पदो से मिलते हुए दादू के पदो का हवाला दिया था। 'नटवर' जी ने बताया है कि ये पद बिहार में 'जोगीड़ो' के रूप मे प्रचलित हैं। उन्होने इन पदो को पटना में गाये जाते सुना है। अनुसन्धित्सु पाठको को इस दिशा में खोज करनी चाहिए।

: 2 :

नाथपन्थ में स्मार्त्त आचारों को कोई महत्त्व नही दिया जाता। यह बात उसे स्मार्त्त हिन्दू-धर्म से एकदम विरुद्ध खड़ा कर देती है।

"लोग आचार-आचार कहा करते है। भला यह आचार अत्याचार होकर कैसे निभाता है? भोजन में जो घी देते हो तो वह भी चर्म-मात्र से ही आता है। चलते समय जो पैर मे जूता देते हो, वह भी तो चमड़े का ही है। शयन मे जो स्त्री-संग होता है उसकी तो बातें ही जाने दो'''। सूर्यादि ग्रहण के अवसर पर मिट्टी के बर्त्तन और जल आदि को अशुचि समझकर छोड़ देते हो किन्तु धान्य घृतादि को क्यों नही फेंक देते। बात यह है कि जलाशय मे जल तो बहुत मिल जाता है और कुम्हारो के घर मिट्टी के बर्त्तन भी थोड़े ही दामो में मिल जाते है, तो फिर क्यों न इनको अपवित्र मानकर आचारवान् बन लिया जाय! पर घी और धान्य वगैरा खरीदने में तो बहुत पैसे लगते हैं, फिर इन्हें कैसे अपवित्र मानते? कहाँ तक ऐसी बातें लिखी जायें। सही बात तो यह है कि आचार वस्तु ही कल्पित है। बुद्धिमान लोग इसे बिल्कुल नही मानते। पर यह न समझना चाहिए कि हमारे मत मे आचार बिल्कुल नहीं है। है, मगर विचारपूर्वक। और लोग जैसा आचार पालन करते है वैसा तो हम करते नही, पर जो कुछ करते हैं वह गौण मानकर। उसी को

मुख्य मानकर नहीं।" (गो. सि., पृ. 60-61)। क्या ये युक्तियाँ कबीरदास की युक्तियों की भाँति ही चकनाचूर कर देनेवाली नहीं हैं? फिर बड़े नामी-गरामी पण्डित किस मुँह से कहा करते हैं कि भारतवर्ष में कबीरदास के पहले ऐसी युक्तियाँ अपरिचित थीं और कबीरदास में जो इस प्रकार की युक्तियाँ मिलती हैं वे विदेशी प्रभाव के कारण?

संक्षेप में कहा जाय तो ये लोग आचार का खण्डन करते हैं; द्वैतवाद, अद्वैतवाद और स्मार्त्त आदि मतों में दोष मिलते हैं, गार्हस्थ्य-वर्जन और कर्म-त्याग पर जोर देते है, शिव-शक्ति में अभेद सावित करते हैं, रुद्रादि देवताओं में भगवद्‌बुद्धि नहीं रखते, पौराणिक कहानियों की खिल्ली उड़ाते हैं और यह मानते हैं कि शक्ति सृष्टि करती है, शिव पालन करते हैं, काल संहार करते है, और नाथ मुक्ति देते हैं। नाथ ही एकमात्र शुद्ध आत्मा है, बाकी सभी बद्ध जीव हैं,—शिव भी, विष्णु भी, ब्रह्मा भी (पृ. 70)। न तो ये लोग द्वैतवादियों के 'क्रिया ब्रह्म' में विश्वास करते है और न अद्वैतवादियों के 'निष्क्रिय ब्रह्म' में। द्वैतवादियों के स्थान हैं कैलास और बैकुण्ठ आदि, अद्वैतवादियों का माया सबल ब्रह्म-स्थान है, योगियों का निर्गुण स्थान है; परन्तु बन्धमुक्ति-रहित परमसिद्धान्तवादी अवधूत लोग निर्गुण और सगुण से परे उभयातीत स्थान को ही मानते हैं। क्योंकि नाथ निर्गुण और सगुण दोनों से अतीत परात्पर हैं (पृ. 71)। पाठक इस बात को स्मरण रखें। कबीर-मत के विकास को समझने में यह बहुत आवश्यक होगी।

अद्वैत के भी ऊपर विराजमान निराकार साकार से अतीत, परमशून्य निरंजन-स्वरूप नाथ से शुरू में निराकार ज्योतिनाथ हुए, उसने साकारनाथ, उनकी इच्छा से सदाशिव भैरव और उनसे शक्ति भैरवी उत्पन्न हुई। सदाशिव भैरव से ही विष्णु उत्पन्न हुए, उनसे ब्रह्मा और उनसे यह सारी सृष्टि उत्पन्न हुई। नाथ से दो प्रकार की सृष्टि उत्पन्न हुई—नादरूपा और बिन्दुरूपा। हम आगे नाद और बिन्दु का दार्शनिक अर्थ समझने का प्रयत्न कर रहे है। वहाँ वह सैद्धान्तिक अर्थ है। यहाँ एक बार व्यावहारिक अर्थ भी समझ लिया जाय। नादरूपा सृष्टि शिष्य-क्रम से और बिन्दुरूपा पुत्र-पौत्रादि क्रम से चलती है। नाद से नवनाथ हुए और बिन्दु से सदाशिव भैरव। शब्द-सृष्टि में पहले सूक्ष्मरूपिणी सृष्टि उत्पन्न हुई, फिर स्थूलरूपिणी। सूक्ष्मरूपिणी सृष्टि है प्रणव, महागायत्री, योगशास्त्र; और स्थूलरूपिणी है ब्रह्मगायत्री और वेदत्रयी। योगशास्त्र से तन्त्रशास्त्र हुआ और वेद से स्मृत्यादि शास्त्र हुए (गो. सि., पृ. 72)।

इसका मतलब यह हुआ कि इन योगियों के मत से योगशास्त्र और तन्त्रशास्त्र का सीधा सम्बन्ध है। 'शारदातिलक'[1] नामक प्रसिद्ध तन्त्रग्रन्थ में सृष्टि-तत्त्व को जिस प्रकार समझाया गया है, वह काफी साफ और ऊपर के इस वक्तव्य को समझने में

1 देखिए, 'शारदातिलक' में ज्ञानेन्द्रलाल मजूमदार का Notes on the First Chapter (Introduction).

सहायक है। 'शारदातिलक' में सृष्टि-तत्त्व को समझाते समय कहा गया है कि शिव के दो रूप है : निर्गुण और सगुण। जब शिव का प्रकृति से योग होता है तो सगुण शिव आविर्भूत होते हैं। सगुण शिव से शक्ति उत्पन्न होती है और शक्ति से नाद (पर) और उससे विन्दु (पर) की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार सगुणशिव—शक्ति, परनाद—परविन्दु यह क्रम होता है। यहाँ तक नाद और बिन्दु अव्यक्त रहते हैं, यही से वे व्यक्त होकर प्रकट होते है। ऐसी अवस्था मे परबिन्दु से तीन प्रकार की अभिव्यक्ति होती है : अपर विन्दु, बीज और अपर नाद। इन्ही तीनो से यथाक्रम रुद्र, विष्णु और ब्रह्मा उत्पन्न होते है और फिर सृष्टि का पहिया अविश्रान्त घूमता है।

इसका ध्यान रखना चाहिए कि प्रकृति अर्थात् शक्ति यहाँ सांख्यवादियों के समान जड़ नहीं है। सीधी भाषा मे यो समझाया गया है कि निर्गुण शिव विशुद्ध चैतन्य है और सगुण शिव उपाधियुक्त। उपाधियुक्त चैतन्य से उपाधियुक्त शक्ति उत्पन्न होती है। इन दोनों के संयोग से विश्व मे जो एक विक्षोभ होता है वही नाद है और उस विक्षोभ का क्रियाशील होना ही विन्दु है। इस नाद और विन्दु से सम्पूर्ण विश्व मे व्याप्त विशेषताहीन नाद और बिन्दु का ही ग्रहण होना चाहिए—इसी बात को समझाने के लिए इन्हें परनाद और परविन्दु कहा जाता है। कभी-कभी लोग परमनाद और विन्दु भी कह देते है। इन्ही से अपर या विशेषतायुक्त नाद, बीज और विन्दु उत्पन्न होते है जो क्रमशः इच्छा, ज्ञान और क्रिया के प्रतीक है। अर्थात् अपरनाद इच्छा है, बीज ज्ञान है और अपर विन्दु क्रिया है। इन्हीं से क्रमशः विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र की उत्पत्ति होती है। यह जो (पर) विन्दु से (अपर) नाद और (अपर) विन्दु उत्पन्न हुआ यही उस भूलभुलैयावाले प्रश्न के मूल मे है कि पहले नाद प्रकट हुआ कि विन्दु ? इस प्रकार तन्त्र का निर्गुण शिव कबीर-पन्थ के सत्यपुरुष के बराबर है, सगुण शिव निरंजन पुरुष है और शक्ति आद्याशक्ति है। नाद ही स्वयवेद्य यानी कबीरदास की वाणियो के 'निर्मल वेद' के समान है और बिन्दु उसकी क्रिया। हम आगे चलकर कबीरदास के सृष्टि-तत्त्व को अच्छी तरह समझने का अवसर पायेंगे। यहाँ योगियो और तान्त्रिकों के नाद और विन्दु, निर्गुण और सगुण तथा शक्ति और शिव के रहस्य को हमें अच्छी तरह मन मे रख लेने की जरूरत है। आगे हम कबीर के सृष्टि-तत्त्व को इनकी सहायता से आसानी से समझ सकेंगे। यहाँ इसलिए भी इनकी चर्चा कर रखी गयी कि जब तक हम कबीरदास के सृष्टि-तत्त्व को समझने का अवसर न पा सकें, तब तक बीच में अगर कदाचित् कबीर साहब निम्नलिखित प्रश्न कर बैठें तो हमें सोचने-विचारने की सामग्री मिली रहे :

प्रथमे गगन कि पुहुमी प्रथमे
प्रथमे पवन कि पाँणी।
प्रथमे चन्द कि सूर प्रथमे प्रभु
प्रथमे कौन बिनाणी।
प्रथमे प्राण कि प्यंड प्रथमे प्रभु,
प्रथमे रक्त कि रेतं।

प्रथमे पुरुष की नारि प्रथमे प्रभु
प्रथमे बीज कि खेतं।
प्रथमे दिवस कि रैणि प्रथमे प्रभु
प्रथमे पाप कि पुन्यं।
कहे कबीर जहाँ बसहु निरंजन,
तहाँ कछु आहि कि सुन्यं।

हठयोग की साधना

नाथपन्थ की साधना-पद्धति का नाम हठयोग है। कबीरदास को समझने के लिए इस साधना-पद्धति की जानकारी होनी चाहिए। इनके सिद्धान्तानुसार महाकुण्डलिनी नामक एक शक्ति है जो सम्पूर्ण सृष्टि में परिव्याप्त है। व्यष्टि (व्यक्ति) में व्यक्त होने पर इसी शक्ति को कुण्डलिनी कहते हैं। कुण्डलिनी और प्राण-शक्ति को लेकर ही जीव मातृ-कुक्षि में प्रवेश करता है। सभी जीव साधारणतः तीन अवस्था में रहते हैं : जाग्रत, सुषुप्ति और स्वप्न। अर्थात् या तो वे जागते रहते हैं या सोते रहते हैं या सपना देखते होते हैं। इन तीनों ही अवस्थाओं में कुण्डलिनी शक्ति निश्चेष्ट रहती है। इस समय इसके द्वारा शरीर धारण का कार्य होता है। इस कुण्डलिनी को ठीक-ठीक समझने के लिए शरीर की बनावट की कल्पना करनी चाहिए। पीठ में स्थित मेरुदण्ड जहाँ सीधे जाकर पायु और उपस्थ के मध्यभाग में लगता है वहाँ एक स्वयम्भू लिंग है जो एक त्रिकोण मे अवस्थित है। इसे अग्नि-चक्र कहते हैं। इसी त्रिकोण या अग्निचक्र में स्थित स्वयम्भू लिंग को साढ़े तीन वलयों या वृत्तों में लपेटकर सर्पिणी की भाँति कुण्डलिनी अवस्थित है। इसके ऊपर चार दलों का एक कमल है जिसे मूलाधार चक्र कहते है। फिर उसके ऊपर नाभि के पास स्वाधिष्ठान चक्र है जो छह दलों के कमल के आकार का है। इस चक्र के ऊपर मणि-पूर चक्र है और इसके भी ऊपर हृदय के पास अनाहत चक्र। ये दोनों क्रमश. दस और बारह दलो के पद्मो के आकार के हैं। इसके भी ऊपर कण्ठ के पास विशुद्धाख्य चक्र है जिसका आकार सोलह दल के पद्म के समान है। और भी ऊपर जाकर भ्रूमध्य मे आज्ञा नामक चक्र है जिसके सिर्फ दो ही दल हैं। ये ही षट्चक्र हैं। इन चक्रो के भेद करने के बाद मस्तक में का शून्य चक्र मिलता है जहाँ जीवात्मा को पहुँचा देना योगी का चरम लक्ष्य है। इस स्थान पर जिस कमल की कल्पना की गयी है उसमें सहस्रदल हैं, इसलिए इसे सहस्रारचक्र भी कहते हैं। शून्यचक्र ही

गगन-मण्डल है। इसी को कैलाश भी कहते हैं।[1] कबीरदास ने कभी-कभी जब इसी शरीर में कैलाश के उपस्थित करने की बात कही है तो उनका मतलब सहस्रार-चक्र से ही रहता है। बताया गया है कि सन्तमत में सहस्रारचक्र के भी ऊपर एक अष्टम चक्र—सुरतिकमल—की कल्पना की गयी है। कहते हैं कि सहस्रार तक पहुँचे हुए योगी का चित्त व्युत्थानकाल में अर्थात् समाधि टूटने के बाद फिर संसार का शिकार हो जाता है, पर सुरतिकमल में विश्राम करनेवाले सन्त का चित्त ऐसे खतरे से निश्चिन्त रहता है (विचार., पृ. 154-5)। कभी-कभी सन्तमत-ग्रन्थों में सुरतशब्द-योग को हठयोग से भिन्न माना गया है। पर अधिकांश सन्त-सम्प्रदाय के ग्रन्थ कुण्डलिनी की चर्चा अवश्य करते हैं।

अब मेरुदण्ड में प्राणवायु को वहन करनेवाली कई नाड़ियाँ हैं जिनमें से कुछ का आभास हम साँस लेते समय पाते हैं। जो नाड़ी बायीं ओर है उसे इड़ा और जो दाहिनी ओर है उसे पिंगला कहते हैं। मौजी कबीर ने अनुप्रास मिलाने के लिए इनकी जोड़ी का नाम 'इंगला-पिंगला' बना लिया था। ये दोनों ही बारी-बारी से चलती रहती हैं। इन दोनों के बीच सुषुम्ना नाड़ी है। इसी से होकर कुण्डलिनी शक्ति ऊपर की ओर प्रवाहित होती है। असल में सुषुम्ना के भीतर ही कई सूक्ष्म नाड़ियाँ हैं। सुषुम्ना के भीतर वज्रा, उसके भीतर चित्रिणी और उसके भी भीतर ब्रह्म-नाड़ी है जो कुण्डलिनी शक्ति का असल मार्ग है। इस प्रकार सुषुम्ना वस्तुतः तीन नाड़ियों का एकीभाव है। हिसाब से इड़ा, पिंगला और ये तीन नाड़ियाँ मिलकर पाँच होती हैं। इसीलिए इनको 'पंचस्रोतः' या 'पाँच धाराएँ' कहते भी सुना है (हठ., 3-52)। परन्तु व्यवहारतः इड़ा-पिंगला-सुषुम्ना इन तीनों नाड़ियों की ही चर्चा आती है। इन्हीं तीन नाड़ियों को सिद्धाचार्यों ने 'ललना-रसना-अवधूती' कहा है (बौ. गा. दो., पृ. 9)। अवधूती अर्थात् सुषुम्ना। क्योंकि, जैसा कि 'हठयोग-प्रदीपिका' में कहा है, वैसे तो शरीर में 72 हजार नाड़ियाँ हैं; पर एकमात्र सुषुम्ना ही शाम्भवी शक्ति है, बाकी नाड़ियाँ बेकार ही हैं।[2] कबीरदास के विद्यार्थियों को अच्छी तरह याद रखना चाहिए कि इड़ा या इंगला ही 'गंगा' है, पिंगला ही 'यमुना' है और सुषुम्ना ही 'सरस्वती' है। इन तीनों का जहाँ संगम हुआ है, वही त्रिवेणी या प्रयाग है। कबीरदास कभी-कभी 'शिवसंहिता' आदि हठयोग के ग्रन्थों की भाँति इसी त्रिवेणी में स्नान करने का विधान करते हैं। कबीर की उलटबाँसियों और योगात्मक रूपकों की कुंजी के समान इन पारिभाषिक शब्दों को नहीं भूलना चाहिए।

साधक नाना प्रकार की साधनाओं के द्वारा कुण्डलिनी शक्ति को ऊपर की ओर या ऊर्ध्वमुख उद्बुद्ध करता है। साधारण मनुष्यों में यह कुण्डलिनी अधोमुख

1. अत ऊर्ध्वं दिव्यरूपं सहस्रारं सरोरुहम्।
ब्रह्माण्डव्यस्तदेहस्थं बाह्ये तिष्ठति सर्वदा।
कैलासो नाम तस्यैव महेशो यत्र तिष्ठति॥—शिवसंहिता 5, 151-2
2. द्वासप्ततिसहस्राणि नाडीद्वाराणि पञ्जरे।
सुषुम्ना शाम्भवी शक्तिः शेषास्त्वेव निरर्थकाः।—हठ. 5-18

रहती है, इसलिए वह काम-क्रोध का क्रीतदास बना रहता है। कुण्डलिनी जब उद्बुद्ध होकर ऊपर की ओर उठती है तो उसमें स्फोट होता है जिसे 'नाद' कहते हैं। नाद से प्रकाश होता है और प्रकाश का ही व्यक्त रूप महाविन्दु है। यह विन्दु तीन प्रकार का होता है : इच्छा, ज्ञान और क्रिया। पारिभाषिक तौर पर योगी लोग इन्हीं को कभी सूर्य, चन्द्र और अग्नि कहते हैं और कभी ब्रह्मा, विष्णु और शिव भी कहते हैं। अब, यह जो नाद और विन्दु है वह असल में अखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त अनाहत नाद या अनहद नाद का व्यष्टि में व्यक्त रूप है। अर्थात् जो नाद अनाहत भाव से सारे विश्व में व्याप्त है उसी का प्रकाश जब व्यक्ति में होता है तो उसे नाद कहते हैं। बद्ध जीव श्वास-प्रश्वास के अधीन होकर (इन श्वासों की संख्या दिन-रात के चौबीस घण्टों में 21,600 होती है) निरन्तर इड़ा और पिंगला[1] के मार्ग में चल रहा है। सुषुम्ना का पथ प्रायः बन्द है। यही कारण है कि बद्ध जीव के इन्द्रिय और मन की वृत्ति बहिर्मुख है। जो अखण्ड नाद जगत् के अन्तस्तल में और निखिल ब्रह्माण्ड में निरन्तर ध्वनित हो रहा है उसे वह नहीं सुन पाता। परन्तु जब क्रिया-विशेष से सुषुम्ना-पथ उन्मुक्त हो जाता है और कुण्डलिनी शक्ति जाग उठती है, तो प्राण स्थिर होकर शून्य पथ से निरन्तर उस अनाहत ध्वनि या अनाहत नाद को सुनने लगता है। अनुभवी लोगों ने बताया है कि पहले तो शरीर के भीतर समुद्रगर्जन, मेघगर्जन और भेरी, झर्झर आदि का-सा शब्द सुनायी देता है, फिर मर्दल, शंख, घण्टा की हल्की-सी आवाज सुनायी देती है और अन्त में किंकिणी, वंशी, भ्रमर और वीणा के गुंजार-सी मधुर ध्वनि सुनायी देने लगती है। जिस प्रकार मकरन्द-पान में मत्त भौंरा गन्ध की ओर ताकता भी नहीं, उसी प्रकार योगी का नादासक्त चित्त नाद में ही रम जाता है, वह दुनिया के किसी और विषय की परवा भी नहीं करता।[2]

परन्तु ज्यों-ज्यों मन विशुद्ध और स्थिर होता जाता है, त्यों-त्यों इन शब्दों का सुनायी देना बन्द हो जाता है; क्योंकि चिदात्मक आत्मा उस समय अपने स्वरूप में स्थिर हो जाता है और फिर बाह्य प्रकृति से उसका कोई सरोकार नहीं रहता। यह नाद मूलतः एक होकर भी औपाधिक सम्बन्ध के कारण, अर्थात् भिन्न-भिन्न उपाधियों से युक्त होने के कारण सात स्वरों में विभक्त है। शास्त्र में जिसे प्रणव या ओंकार

1. इड़ा गंगा पुरा प्रोक्ता पिंगला चार्कपुत्रिका।
मध्या सरस्वती प्रोक्ता तासां संगोऽति दुर्लभः।
ब्रह्मारंध्रमुखे तासां संगमः स्यादसंशयः।
तस्मिन् स्नाते स्नातकानां मुक्तिः स्यादविरोधतः॥ शिव 7-131

2. आदौ जलधि-जीमूत-भेरी-झर्झर-संभवः।
मध्ये मर्दल-शंखोत्था. घंटाकाहलजास्तथा॥
अन्ते तु किंकिणी-वंश-वीणा भ्रमरनिस्वनः।
इति नानाविधाः शब्दाः श्रूयन्ते देहमध्यगाः॥
मकरन्दं पिबन् भृंगो गंधं नापेक्षते यथा।
नादासक्तं तथा चित्तं विषयान्न हि कांक्षति॥

कहते है, यही उपाधिरहित शब्द-तत्त्व है। किसी-किसी साधक ने तथा वैयाकरणों ने इसी को 'स्फोट' कहा है। यह स्फोट अखण्ड सत्ता-रूप ब्रह्मतत्त्व का वाचक है। स्फोट को ही शब्दब्रह्म और सत्ता को ही ब्रह्म कहा गया है। यह ध्यान मे रखने की बात है कि स्फोट वाचक शब्द है और सत्ता वाच्य। इस प्रकार वाच्य (ब्रह्मसत्य) को प्रकाशित करनेवाला वाचक (स्फोट या नाद) भी ब्रह्म ही है। इसका मतलब यह हुआ कि ब्रह्म ही ब्रह्म का प्रकाशक है। इस सम्बन्ध को लेकर भी सन्तो ने कितने ही गूढ़ रूपकों की रचना की है। यह शब्द मूलाधार से उठता है और सहस्रार में जाकर लय हो जाता है। हठयोग की प्रक्रिया को समझने के पहले यह सब जान लेना आवश्यक है।

लेकिन हठयोग असल मे लक्ष्य नही है। इसे राजयोग का सोपान ही बताया गया है, यद्यपि पक्का हठयोगी इसके सिवा अन्य किसी योगी की बात सुनना ही नही चाहता। शुरू-शुरू मे हठयोग का उद्देश्य शरीर-शुद्धि और मन का सम्मार्जन ही समझा गया था, पर नाथपन्थ मे काया-साधन से ही मुक्ति मानी जाने लगी। देह-शुद्धि के लिए हठयोगी क्रियाओं का विशाल ठाठ है; धौति है, वस्ति है, नेति है, त्राटक है, नौलि है, कपालभाति है। इन्हें षटकर्म कहते है। फिर आसनो, मुद्राओं, प्राणायामों, ध्यानों और समाधि का विराट् आडम्बर है। और वैसे तो सभी सिद्धि के सोपान हैं, पर सिद्धासन के समान आसन नही है, खेचरीमुद्रा के समान मुद्रा नहीं है, केवल के समान प्राणायाम नही है और नाद के समान समाधि नही है।[1] सिद्धासन मे नाभि के नीचे मेढ़स्थान पर बायी एड़ी और ऊपर दाहिनि एड़ी रखनी पड़ती है, ठुड्डी स्थिर होती है और साधक स्थिर होकर भ्रूमध्य मे ध्यान लगाता है(हठ., 1-37)। प्राणायाम तीन प्रकार का होता है - रेचक (साँस का छोड़ना), पूरक (साँस का भरना) और कुम्भक (साँस का रोकना)। असल प्राणायाम कुम्भक ही है और यह दो प्रकार का होता है : जब रेचक और पूरक की सहायता ली जाती है तब इसे 'सहित' कहते हैं पर जब उन दोनो की सहायता के बिना ही यह प्राणायाम सिद्ध हो जाता है तो इसे 'केवल' कहते है। इसी की सहायता से कुण्डलिनी शक्ति उद्‌बुद्ध होती है।

कबीरदास की उलटबांसियों के विद्यार्थी के कुछ काम की चीज खेचरी मुद्रा है। इसमें योगी जीभ को उलटकर कपाल-कुहर मे प्रविष्ट करता है और उसकी दृष्टि भ्रूवो मे निबद्ध होती है (हठ., 3-32)। बड़ी साधना और आयास के बाद यह मुद्रा प्राप्त होती है, पर एक बार यदि आधे क्षण के लिए भी यह प्राप्त हो गयी अर्थात् योगी अपनी जीभ को ऊपर की ओर उलटकर कपाल कुहर मे स्थिर कर सका तो समस्त विषों और व्याधियों से मुक्त हो जाता है। इसी मुद्रा

1. नासनं सिद्धसदृशं न कुम्भः केवलोपमः।
न खेचरी-समा मुद्रा न नादसदृशो लयः ॥—हठ., 1-45

रहती है, इसलिए वह काम-क्रोध का क्रीतदास बना रहता
उद्बुद्ध होकर ऊपर की ओर उठती है तो उससे स्फोट होत:
है। नाद से प्रकाश होता है और प्रकाश का ही व्यक्त रूप म
तीन प्रकार का होता है : इच्छा, ज्ञान और क्रिया। पारि
लोग इन्हीं को कभी सूर्य, चन्द्र और अग्नि कहते हैं और
शिव भी कहते हैं। अब, यह जो नाद और बिन्दु है वह अ
व्याप्त अनाहत नाद या अनहद नाद का व्यष्टि मे व्यक्त
अनाहत भाव से सारे विश्व मे व्याप्त है उसी का प्रकाश
उसे नाद कहते हैं। बद्ध जीव श्वास-प्रश्वास के अधीन
दिन-रात के चौबीस घण्टों मे 21,600 होती है) नि
मार्ग मे चल रहा है। सुषुम्ना का पथ प्राय: बन्द है।
के इन्द्रिय और मन की वृत्ति बहिर्मुख है। जो अस
और निखिल ब्रह्माण्ड में निरन्तर ध्वनित हो रहा है
जब क्रिया-विशेष से सुषुम्ना-पथ उन्मुक्त हो जात
उठती है, तो प्राण स्थिर होकर शून्य पथ से निर
हत नाद को सुनने लगता है। अनुभवी लोगों ने
भीतर समुद्रगर्जन, मेघगर्जन और भेरी, झर्झर
फिर मर्दल, शंख, घण्टा की हल्की-सी आवा
वंशी, भ्रमर और वीणा के गुंजार-सी मधु
प्रकार मकरन्द-पान में मत्त भौंरा गन्ध
योगी का नादासक्त चित्त नाद में ही रम
की परवा भी नही करता।[2]

परन्तु ज्यों-ज्यो मन विशुद्ध और
सुनायी देना बन्द हो जाता है; क्योंकि
हो जाता है और फिर बाह्य प्रकृति
मूलतः एक होकर भी औपाधिक
से युक्त होने के कारण सात स्वर

है।[1] इस मनोन्मनी अवस्था में वायु भीतर संचरित हुआ रहता है, मन स्थिर हो गया होता है और सही बात तो यह है कि मन के सुस्थिर होने को ही मनोन्मनी अवस्था (कबीरदास के शब्दों मे 'उन्मुनि रहनी') कहते है।[2]

राजयोग, समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, लय, तत्त्व, शून्य, अशून्य, परमपद, अमनस्क, अद्वैत, निरालम्ब, निरंजन, जीवन्मुक्ति, सहजा और तुर्या : ये सब एक ही समाधि के वाचक शब्द है (ह. 4-3-4)। यह वह अवस्था है जब मन और प्राण एकीभूत हो जाते है और जब चचल मन स्थिर और वशवर्त्ती हो जाता है। इन्द्रियों का स्वामी मन है, मन का मारुत, मारुत का लय (लौ) और लय का नाद। सो यह (लौ) मोक्ष है। मन और प्राण के लौ लगने पर कोई एक अभूतपूर्व आनन्द मिलता है (हठ. 4, 29-30)। इसीलिए 'हठयोगप्रदीपिका' में कहा है कि आत्मा को शून्य में करके और शून्य को आत्मा में करके योगी निश्चिन्त हो जाय। शून्य अर्थात् समाधि—जबकि आत्मा छह चक्रों को भेदकर सहस्रार या शून्य-चक्र में अवस्थित होता है। ऐसी अवस्था मे उनके भीतर भी शून्य है, बाहर भी शून्य, आसमान मे जैसे कोई सूना घडा रखा हो! परन्तु असल में वह भीतर से पूर्ण होता है, बाहर से भी पूर्ण होता है—समुद्र मे जैसे भरा घड़ा डुबाकर रखा गया हो!

अन्तः शून्यो बहिः शून्य.
शून्य कुम्भ इवाम्बरे।
अन्तः पूर्णो बहिः पूर्णो
पूर्णः कुम्भ इवार्णवे॥—हठ., 5-55

कबीरदास ने मानो इसी भाव का अनुवाद करते हुए कहा है.

जल में कुंभ कुभ मे जल है,
बाहर-भीतर पानी।
फूटा कुंभ जल जलहि समाना
यह तथ कहो गियानी॥
आदे गगना अन्ते गगना
मध्ये गगना भाई।
कहै कबीर करम किस लाग
झूठी एक उपाई॥—क. ग्रं., पद 44

ऊपर जो गंगा-यमुना-सरस्वती-त्रिवेणी-कैलास-सूर्य-चन्द्र-गोमांसभक्षण-

1. एक सृष्टिमय बीजं, एका मुद्रा च खेचरी।
एको देवो निरालंब, एकावस्था मनोन्मनी॥—हठ, 3-53
2. मारुते मध्य-संचारे
मनः स्थैर्यं प्रजायते।
यो मनः सुस्थिरीभाव.
सैवावस्था मनोन्मनी॥—हठ 2-42

वारुणी-पान-सोमरस आदि पारिभाषिक शब्द आये हैं, वे विशेष रूप से स्मरणीय हैं; क्योंकि आगे इनकी चर्चा अनेक अवसरों पर विशेष आवश्यक होगी।

निरंजन कौन है ?

मध्ययुग के योग, मन्त्र और भक्ति के साहित्य में 'निरंजन' शब्द का बारम्बार उल्लेख मिलता है। नाथपन्थ में भी 'निरंजन' शब्द खूब परिचित है। साधारण रूप मे 'निरंजन' शब्द निर्गुण ब्रह्म का और विशेष रूप में शिव का वाचक है। नाथपन्थ की भाँति एक और प्राचीन पन्थ भी था, जो निरंजन-पद को परमपद मानता था। जिस प्रकार नाथपन्थी नाथ को परमाराध्य मानते थे, उसी प्रकार ये लोग 'निरंजन' को। आजकल निरंजनी साधुओं का एक सम्प्रदाय राजपूताने मे वर्त्तमान है। कहते है, इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक स्वामी निरानन्द निरंजन भगवान् (निर्गुण) के उपासक थे। पर आजकल के निरंजन-मत के अनुयायी बहुत-कुछ रामानन्दी वैरागियों के समान राम-सीता के उपासक है; शालिग्राम-शिला और गोमती-चक्र को मान्य समझते हैं ('भारतवर्षीय उपासक सम्प्रदाय', द्वितीय भाग, पृ. 189)। श्री क्षितिमोहन सेन ने लिखा है कि उड़ीसा में अब भी वह निरंजन-पन्थ जी रहा है जिसने निर्गुण साधना को प्रभावित किया था। यहीं से इस पन्थ की शिक्षाएँ मध्यदेश और पूर्वी प्रान्तो में पहुँची थी। पश्चिमी भारत मे भी इसका प्रभाव अभी तक विद्यमान है ('मिडिएवल मिस्टिसिज्म', पृ. 707)। हाल की खोजों से पता चला है कि बंगाल के पश्चिमी हिस्सों तथा बिहार के पूर्वी जिलों में आज भी एक धर्ममत है जिसके देवता निरंजन या धर्मराज है। मैंने अपनी नयी पुस्तक 'कबीरपन्थ' मे दिखाया है कि एक समय यह धर्मसम्प्रदाय झारखण्ड और रीवां तक प्रचलित था। बाद में चलकर यह मत कबीर-सम्प्रदाय मे अन्तर्भुक्त हो गया और उसकी सारी पौराणिक कथाएँ कबीर-मत मे गृहीत हो गयी, परन्तु उनका स्वर बदल गया। बंगाल में धर्म-पूजा-विधान का एक काफी बड़ा साहित्य उपलब्ध हुआ है। शुरू-शुरू मे धर्म-ठाकुर या निरंजन देवता को बौद्धधर्म के त्रिरत्न में से एक रत्न (=धर्म) का अवशेष समझा गया था, पर अब इस मत में सन्देह भी किया जाने लगा है (दे. सुकुमार सेन और पंचानन मण्डल सम्पादित 'रुपारामेर धर्म-मंगल' की भूमिका)। कबीरपन्थ के अध्ययन से निरंजन का सम्बन्ध बुद्ध से था, ऐसा भी अनुमान होता है (दे. 'विश्व-भारती पत्रिका', खण्ड 5, अंक 3 में मेरा लेख)। नाथपन्थ मे निरंजन की महिमा खूब गायी गयी है। हठयोगी जब नादानु-

सन्धान का सफल अभ्यासी हो जाता है तो उसके समस्त पाप क्षीण हो जाते हैं, उसके चित्त और मारुत निरंजन में लीन हो जाते है।[1] यह योगी का परम साध्य है, क्योंकि जब तक ज्ञान निरंजन के साक्षात्कार तक नहीं उठता तभी तक इस संसार के विविध जीवों और नाना पदार्थों मे भेद-दृष्टि बनी हुई है।[2] एक विशेष पद तक पहुँचने पर निरंजन का साक्षात्कार होता है। ऐसी हालत मे वह समस्त उपाधियों या विशेषताओ में हीन हो जाता है और तभी वह अपने को अखण्ड ज्ञान-रूपी निरंजन कह सकता है।[3] 'गोरक्ष-सिद्धान्त-संग्रह' (पृ. 33) में पद्मपुराण की कपिल-गीता से एक वचन उद्धृत किया गया है, जिसमे कहा गया है कि बिन्दु-सयुक्त ओकार का योगी लोग नित्य ध्यान करते है। इसके भीतर जो तत्त्व है उसे सद्गुरु ही बता सकते है, दूसरा कोई नही। ओकार मे पाँच खण्ड होते हैं—(1) तारक, (2) दण्ड, (3) कुण्डली, (4) अर्द्धचन्द्र, और (5) बिन्दु। इन पाँचो मे पाँच देवताओं का निवास है। तारक में ब्रह्मा, दण्ड मे विष्णु, कुण्डली मे रुद्र, अर्द्धचन्द्र मे ईश्वर और सबसे ऊपरवाले बिन्दु मे सदाशिव का वास है। इसके भी ऊपर निरंजन है, जो सृष्टि, स्थिति और प्रलय के कारण हैं। यही परम तत्त्व है जो सद्-गुरु की कृपा के बिना समझ मे नही आ सकता, क्योंकि, यदि सद्गुरु की कृपा न हो तो विषय-त्याग दुर्लभ है, तत्त्व-दर्शन दुर्लभ है, सहजावस्था दुर्लभ है।[4] इससे स्पष्ट है कि निरजन का साक्षात्कार ही परम पद है। स्वयं कबीरदास की उक्तियों मे से ऐसी ढूँढ़ी जा सकती हैं जिनमे उन्होने निरंजन को परमाराध्य समझा है। पर आगे चलकर कबीर-पन्थ मे निरंजन की बड़ी दुर्गति है। निरंजन वहाँ पक्का शैतान बना दिया गया है। इस शब्द का ऐसा विकास कुतूहलजनक है। कबीरदास के नाम पर जो दर्जनों ग्रन्थ प्रचलित है, उनमें निरंजन की इस दुर्दशा के समर्थक पद प्रचुर मात्रा में हैं।

'कबीर मन्सूर' में बताया गया है कि सत्यपुरुष समस्त जगत् का उत्पन्नकर्ता

1. सदा नादानुसंन्धानात् क्षीयन्ते पापसंचयः।
निरंजने विलीयेते निश्चितं चित्त-मारुतौ ॥ ह्ठ. 4-10
2. यावन्नोत्पद्यते ज्ञानं साक्षात्कारे निरजने।
तावत्सर्वाणि भूतानि दृश्यते विविधानि च ॥ शिव. 2-48
3. निखिलोपाधिहीनो वै यदा भवति पूरुषः।
तदा विवक्षतेऽखण्ड-ज्ञान-रूपी निरंजन ॥ शिव. 1-68
4 ईश्वर उवाच—ओंकारं विन्दुसंयुक्त नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
तस्मिन्मध्यें स्थितं तत्त्व प्रदर्शयति सद्गुरु. ॥
तारकं च भवेद् ब्रह्मा दण्डकं विष्णुरुच्यते।
कुण्डल्या हि तथा रुद्रोऽर्द्धचन्द्रे स ईश्वरः ॥
निरंजनस्तदतीत उत्पत्तिस्थितिकारणम्।
दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम् ॥
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरो करुणां विना ॥
—कपिलगीता (पद्मपुराणान्तर्गत)

है। वह कभी गर्भ में नहीं आता—सबसे अतीत, सबसे परे, सबसे ऊपर। कबीर साहब उसी सत्यपुरुष के अनागत-वक्ता (भविष्यवक्ता) हैं। इनमें सब गुण वे ही है जो उस सत्यपुरुष में है। वस्तुतः वे उससे अभिन्न है और संसार के त्राणकर्त्ता हैं। यही कबीर साहब सत्ययुग में 'सुकृति' नाम से, त्रेता युग में 'मुनीन्द्र' नाम से, द्वापर मे 'करुणामय स्वामी' नाम से और कलिकाल में 'कबीर' नाम से अवतीर्ण हुए है।

तो, सत्यपुरुष ने स्वयं ही जो अपना स्वरूप उत्पन्न किया वह कबीर साहब हैं। इन्ही कबीर साहब के द्वारा ब्रह्म-सृष्टि (जिसकी चर्चा आगे आ रही है) को सूक्ष्म वेद दिया गया। वह वेद निर्दोष और निष्कलंक था, पर दुर्भाग्यवश सदा ऐसा नही रह सका। कारण यह है : सत्यपुरुष ने सृष्टि के लिए छह पुत्र उत्पन्न किये थे—(1) सहज, (2) अंकुर, (3) इच्छा, (4) सुहंग (=सोऽहं), (5) अचिन्त (=अचिन्त्य), और (6) अक्षर। ये छहों बड़े तेजस्वी और तपस्वी हुए। सारा जगत् उस समय जल से परिपूर्ण था और उसमे सत्यपुरुष ने अपनी सातवी सन्तान, एक अण्डे को छोड़ दिया। यह अण्डा अक्षर-पुरुष के पास, जो उस समय तपोमग्न था, आकर फूटा और उसमे से दुर्दमनीय कालपुरुष निरंजन पैदा हुआ, जिसे पिता ने पहले से ही असंख्य युगपर्यन्त अखण्ड राजभोग की अनुज्ञा दे दी थी। इसी अण्डे को मन्वादि शास्त्रों मे *'हिरण्य-गर्भ' कहा गया है। यह कालपुरुष* बड़ा प्रचण्ड, अभिमानी और प्रतापी हुआ। इसी के नाम नाना शास्त्रो में नाना भाव से आये है। कुछ नाम ये है : काल, कैल, अंकार, ओंकार, निरंकार, निर्गुण, ब्रह्म, ब्रह्मा, धर्मराय, खुदा, अल्लाह, करीम, अद्वैत केशव, नारायण, हरि, विश्वम्भर, वासुदेव, जगदीश, जगन्नाथ, परमेश्वर, ईश, विश्वनाथ, खालिक, रब रब्बिल, आलामी, हक इत्यादि।

पिता (सत्यपुरुष) की आज्ञा से इसी निरंजन ने इस सृष्टि का जाल पसारा। इस सारी सृष्टि को बनाने के मसाले को एक कूर्मजी ने बड़ी सावधानी से अपने पेट में छिपा रखा था। कूर्मजी का आकार कछुए का है और वे सृष्टि के *आधार हैं। इनका आकार भी निरंजन से दूना है।* खैर, निरंजन तो सृष्टि करने का निश्चय कर चुका था। वह कूर्मजी से मसाले के लिए लड़ पड़ा। कूर्मजी ऐसे दुर्दान्त को सृष्टि का मसाला क्यो देने लगे? लड़ाई हो गयी। चालाक निरंजन ने कूर्मजी के तीन सिर चबा डाले और फिर तो रास्ता साफ हो गया। कूर्मजी के पेट में पड़ी हुई सामग्री दिख गयी। निरजन ने उसे चुरा लिया और इस भवजाल को खड़ा करने में समर्थ हो गया। बेचारे कूर्मजी को सत्यपुरुष की आज्ञा बाद में मालूम हुई और वे चुप हो रहे।

अब सृष्टि को पैदा करने के लिए कालपुरुष (निरंजन) ने आद्याशक्ति या माया को उत्पन्न किया और उसके सयोग से सत्त्व-प्रधान ब्रह्मा, रजोगुण-प्रधान विष्णु और तमोगुण-प्रधान शिव की सृष्टि की। ज्योंही ये तीन देवता उत्पन्न हुए, वह अन्तर्धान होकर अपने लोक मे चला गया। जाती बार माया से कहता गया कि

इन पुत्रों को मेरा पता मत बताना। सो, इन्होंने बाद में जब आद्याशक्ति या माया से पूछा कि तू कौन है, तेरा पति कौन है, हम लोग कौन है और हमारे पिता कौन हैं, तो माया ने जवाब दे दिया कि वही उनकी पिता है; वही माता और वही पत्नी भी! तीनों देवता इस उत्तर से सन्तुष्ट नहीं हुए। बताया गया है कि स्वयं कबीरदास ने पहली रमैनी में इस तत्त्व की ओर इशारा कर दिया है :

तब बरम्हा पूछा महतारी । को तोर पुरुष कवन तैं नारी ।।

इस पर माया ने उत्तर दिया :

हम तुम तुम हम और न कोई । तुमहिं पुरुष हमही तोर जोई ।

—'बीजक', प्रथम रमैनी

इधर जब निरंजन अपने लोक में जाकर समाधिस्थ हुआ था तो उसने सूक्ष्म वेद को हृदय में धारण कर लिया था। उसकी सूक्ष्म बातें तो भीतर ही रह गयी, पर जो स्थूल अंश था वह उसकी नाक से सांस के साथ ही गिर गया। यही 'त्वचा-ज्ञान' वाला प्रचलित वेद है। इसमें रस नहीं, केवल छिलका-भर ही है, इसीलिए कबीरपन्थी लोग इसे 'त्वचा-ज्ञान' कहते हैं। यह स्थूल अंश ही आजकल वेद के नाम पर चल रहा है। जब ब्राह्मण लोग भक्ति-गद्गद स्वर में कहते है कि उस परम-पुरुष को नमस्कार है जिसके नि.श्वास ही वेद हैं और इन वेदों से ही जिसने इस जगत् का निर्माण किया है[1] तो वे असल मे इस धूर्त्त निरंजन की स्तुति करते हैं। बेचारे जानते भी नही कि कितने धोखे में हैं !

सूक्ष्म वेद के यों जो चार वेद-पुत्र हुए सो 'दोषी तथा पाखण्डी निरंजन के संसर्ग' से हुए और इसीलिए इनमे कलुष का रह जाना कुछ आश्चर्य की बात नही। निरंजन खूब जानता है कि एक बार यदि लोगों को सूक्ष्म वेद का ज्ञान हो जाय तो कोई उसे पूछेगा भी नही, इसीलिए वह बड़ी होशियारी से संसार को अपने जाल में फँसाये हुए है। किन्तु कबीरदास जब इस संसार मे भलेमानुसो के उद्धार के लिए प्रकट हुए, तो उन्होंने चारो सूक्ष्म वेदों को फिर से पृथ्वी-वासियों के निकट प्रकट कर दिया। इस प्रकार कबीर साहब की :

1. कूट-वाणी ही सूक्ष्म ऋग्वेद है,
2. टकसार-वाणी ही सूक्ष्म यजुर्वेद है,
3. मूकज्ञान-वाणी ही सूक्ष्म सामवेद है, और
4. बीजक-वाणी ही सूक्ष्म अथर्ववेद है।

और आजकल जो वेद के नाम पर पुस्तकें चल रही हैं वे ओ३म् से निकली हैं। ओ३म् की माता कुण्डलिनी है, कुण्डलिनी महामाया है, महामाया नागिन है और इसीलिए ये स्थूल वेद जहरीली नागिन के जहर से आपाद-मस्तक सिक्त हैं ! कहते हैं, इसी महामाया नागिन को लक्ष्य करके कबीर साहब ने कहा है :

1. यस्य निश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।
निर्ममे तमहं वन्दे ज्ञानरूपं जनार्दनम् ।।

अन्तरजोत सवद एक नारी। हरि ब्रह्मा ताके त्रिपुरारी ॥

—'बीजक', प्रथम रमैनी

इस प्रकार आद्या, ब्रह्मा, विष्णु और शिव ने चार खान और चौरासी लाख योनियों की सृष्टि की है। आद्या ने अण्डज, ब्रह्मा ने पिण्डज, विष्णु ने ऊष्मज (ऊष्मज) और शिव ने स्थावर सृष्टि की। फिर इनकी शक्तियाँ बनीं, नरक बने, स्वर्ग बने और तीनों लोक इन्हीं की पूजा में व्यस्त हो रहे। गोया ये ही परम दैवत हों! क्वचित् कोई अगर निरंजन को जान गया तो वह अपने को धन्य समझने लगा; परन्तु निरंजन भी तो अत्यन्त निचला स्तर है। यह निरंजन बराबर महात्माओं के मार्ग में विघ्न खड़ा करता रहता है, बराबर ज्ञानप्राप्ति से उन्हें वंचित करने की चेष्टा कर रहा है। अब तक कई बार तो कबीर साहब से ही उसकी मुठभेड़ हो चुकी है। यद्यपि यह माया का स्वामी है, पर निष्कलुष तो नहीं है। वेद बेचारे करें तो क्या? उन्हें निरंजन के ऊपर के किसी की खबर भी तो हो! लेकिन इस व्यापार का सबसे मनोरंजक अंग यह है कि जिस प्रकार निरंजन ने सत्यपुरुष का नाम लोप करके अपनी ही पूजा चलानी चाही थी, उसी प्रकार उसके गुरुमार पुत्रों ने अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु और शिव ने निरंजन का नाम भी लोप कर देना चाहा। उन्होंने संसार में अपनी ही पूजा फैलायी। सचमुच ही निरंजन का नाम मद्धिम पड़ गया।

हम लोग जिस कर्मलोक पृथ्वी पर निवास कर रहे हैं, उसके नीचे सात पाताल या नरक हैं। सबसे नीचे जो है उसका नाम पाताल है। उसके ऊपर क्रमशः तलातल, रसातल, महातल, सुतल, वितल, अतल—ये लोक हैं। इनके ऊपर हमारी पृथ्वी है। (1) इसके ऊपर देवताओं और सिद्धों की पुरी है—साधारणतः इसे स्वर्ग कहा जाता है। फिर निम्नलिखित नवलोक एक के ऊपर दूसरे क्रम से विराजित हैं। (2) ब्रह्म अंश का स्थान, जहाँ सालोक्य मुक्ति होती है, (3) विष्णु का वैकुण्ठ, जहाँ सामीप्य मुक्ति मिलती है, (4) निरंजन का झाँझरी-द्वीप, जहाँ सारूप्य मुक्ति मिलती है, (5) अक्षर का आरण्य-द्वीप, जहाँ सायुज्य मुक्ति की व्यवस्था है, (6) अचिन्त का अचिन्त्य-द्वीप, (7) सोऽहं का सुहंग-द्वीप, (8) इच्छा-पुरुष का इच्छा-द्वीप, (9) अंकुर-पुरुष का अंकुर-द्वीप, और (10) सहज-पुरुष का सहज-द्वीप। इन सबके ऊपर सत्यपुरुष का सत्यलोक है, जो परम धाम है, जहाँ से समय-समय पर सत्यपुरुष की अनुज्ञा पाकर सद्गुरु कबीर अवतीर्ण हुआ करते हैं। देवताओं और सिद्धों के स्थान के ऊपर की नौ पुरियों को मुसलमानी शास्त्र के साथ सामंजस्य लगाकर क्रमशः (1) नासूत, (2) मलकूत, (3) जबरूत, (4) लाहूत, (5) हाहूत, (6) बाहूत, (7) माहूत, (8) राहूत, (9) जाहूत कहा गया है।[1]

1 जुलमन नासूत मलकूत में फिरिस्ते नूर बहनाल जबरूत में जी।
लाहूत में नूर जम्मार पहिचानिये हवक बरतान हाहूत में जी॥
बरा बाहूत माहूत मुर्शिद पार है जो रूप राहूत में जी।
कहत कबीर अविगति आहूत में खुद खाविन्द आहूत में जी॥—विश्व, पृ. 243

यहाँ यह उल्लेख-योग्य है कि कुछ सूफियों के अनुसार साधक को चार लोकों को पार करना होता है। ये चार लोक 'आलम' नाम से प्रसिद्ध है। नासूत(मानव), मलकूत (अदृश्य लोक), जबरूत (उच्चतम लोक) और लाहूत (परम लोक) : ये चार आलम है। पर कुछ दूसरे सूफी पाँच मानते है। ये लोग इस सूची मे 'सम लोक' या 'आलमे मिशाल' को और जोड़ देते है। दारा शिकोह ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'मजमुल बहरईन' (दो समुद्रो का संगम) नामक ग्रन्थ मे उपर्युक्त चार आलमों के साथ वेदान्तियो की चार अवस्थाओ—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय की समानता बतायी है।[1] यह ठीक समझ मे नही आया कि कबीर-पन्थ के नौ लोक इन्ही चार आलमों का विस्तार है या किसी सूफी सम्प्रदाय मे सचमुच ही नौ लोकों की कल्पना है। महाराज विश्वनाथसिंहजू देव ने 'हाहूत' को इस्लाम-सम्मत पाँचवाँ स्थान बताया है, जहाँ केवल मुहम्मद साहब की ही गति थी।[2] हम नही कह सकते कि उनका वक्तव्य किसी शास्त्रीय ग्रन्थ के आधार पर है या नही, पर उन्होने 'पनाह अता' नामक किसी मुसलिम कवि की एक कविता प्रमाण-स्वरूप उद्धृत की है, जो काफी मनोरजक है।[3] इनके परिचय मे उन्होने इतना ही कहा है, "पीरान पीर साहब के पास पहुँचे है, ऐसे जे है सलेल के मालिक पनाह अता तिनको कवित्त।"

इस सारे भवजाल को जिसने सिर पर धारण किया है, वह शेषनाग है जो स्वयं शूकर पर आरूढ है। शूकर भी एक गौ पर चढे है और गौजी भी कूर्मजी पर। यही वह कूर्मजी है जिनको श्रीसत्पुरुष ने सृष्टि बनाने की सामग्री दी थी और वे उसे बड़ी सावधानी से सँभाल रहे थे! इन्ही की तीन गर्दने काटकर निरंजन ने सृष्टि की सामग्री प्राप्त की थी। निरजन के साथ कबीरदास के जो झगड़े होते रहे है, उनकी बात यहाँ नही उठायी जा रही है; क्योकि उससे अनावश्यक विस्तार होगा, पर इतना पाठक को हमेशा याद रखना चाहिए कि कबीर साहब ने सदा ज्ञानियो और भक्तो को निरंजन के जाल मे छुड़ाने का प्रयत्न किया है। इस कलिकाल मे ही अब तक वे लगभग एक दर्जन बार आ चुके हैं। इसी निरंजन के धोखे से बचने के लिए कबीरदास के मुख से यह कहलवाया गया है.

1 MAJAMUL BAHARAIN Ep. M. Mahfuzal Huqo, B.A.S Calcutta, 1929, p. II

2 विश्र, पृ 262

3 देह नासूत गुरं मलकूत और जीव जबरूत की रूह बखानै।
अरबी मे निराकार कहै जेहि लाहूतै मालिकै मंजिल ठानै।
आगे हाहूत लाहूत है जाहूत खुद खाविन्द लाहूत मैं जानै।
सोई श्रीराम पनाह गवै जग-नाह पनाह अता यह मानै।
तजै वर्म नासूत लहि निरखै तब मलकूत।
तहाँ न मरै न बीछुरै जात न तहँ जमदूत॥

अवधू निरंजन जाल पसारा।
स्वर्ग-पाताल-जीव-मृत मण्डल तीन लोक विस्तारा।
ब्रह्मा-विस्नु-सिव प्रकट कियो है ताहि दियो सिर भारा॥
ठाँव ठाँव तीरथ-व्रत थाप्यौ ठगने को संसारा।
माया मोह कठिन विस्तारा आपु भयौ करतारा॥
सतगुरु सब्द को चीन्हत नाही कैसो होय उबारा।
जारि-भूंजि कोइला करि डारै फिर फिर लै अवतारा॥
अमरलोक जहाँ पुरुष विराजै तिनका मूँदा द्वारा।
जिन साहब से भये निरंजन सो तो पुरुष है न्यारा॥
कठिन काल तें बाँचा चाहो गहो सब्द टकसारा।
कहै कबीर अमर करि राखौ मानो सब्द हमारा॥

—शब्द, पृ. 34

कबीरदास ने कितनी ही बार कहा है कि जो कुछ पिण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड में है। पिण्ड में ब्रह्माण्ड और ब्रह्माण्ड मे पिण्ड है। ऊपर जो ब्रह्माण्ड का विचार किया गया है तदनुसार पृथ्वी के ऊपर के दस मुकामों की स्थिति इस प्रकार हुई :

संख्या	मुकामो के नाम	हिन्दू-समशील नाम[1]	मुसलमानी समशील नाम
1	सत्यलोक	गो-लोक	
2	सहज-द्वीप	(द्वितीय) सत्यलोक	आहूत
3	अंकुर-द्वीप	विष्णुलोक	राहूत
4	इच्छा-द्वीप	शिवलोक	साहूत
5	सोऽहं-द्वीप	शक्तिलोक	बाहूत
6	अचिन्त द्वीप	कौमारलोक	हाहूत
7	अरण्य-द्वीप	(प्रथम) सत्यलोक	लाहूत
8	झांझरी-द्वीप	तप.लोक	जबरूत
9	वैकुण्ठ	जनलोक	मलकूत
10	दह्यांश	भुव.लोक	नासूत
	पृथ्वी	भूलोक	आलमे-फानी

1. तु. श्रीमौमिन्नरुवाच—
महर्लोकः स्थितेरूर्ध्वमेककोटिप्रमाणतः।
कोटिद्वयेन विख्यातो जनलोको व्यवस्थितः॥
चतुष्कोटिप्रमाण तु तपो लोको विराजितः।
उपरिष्टात्ततः सत्यमष्टकोटिप्रमाणतः॥
आयुःप्रमाण कौमार कोटियोऽस्तगम्भरम्।
तदूर्ध्वोपरिगव्यानमुमालोकं गुणनिष्ठितम्॥

→

पृथ्वी के नीचे सात नरक-लोक है। इन सबकी कल्पना पदतल-एड़ी-गिट्ट-पिण्डली-जानु-जंघा और तड़ागी मे की गयी है, अर्थात् मानव-देह (पिण्ड) मे आधार-चक्र के नीचे सातों नरक हैं। आधार-चक्र पृथ्वी का समकक्ष है। उसके ऊपर 11 अन्य चक्रों की कल्पना की गयी है। अब तक हम योगियों के सात चक्र ही जानते आये है। इन सात चक्रों में कई नये जोड़कर दो उद्देश्य सिद्ध किये गये हैं। एक तो पिण्ड और ब्रह्माण्ड की समशीलता की रक्षा और दूसरा योगियो से कबीर-पद का अतिशय उत्कर्ष साधन। ये चक्र इस प्रकार है :

13 अक्षर-भगवान्
12 ब्रह्मरन्ध्र-देह
11 अलख-निरंजन
10 पूर्णगिरि
9 आज्ञा चक्र
8 बलवान् चक्र
7 विशुद्ध-शक्ति चक्र
6 अनाहत चक्र
5 मनोमहाराज चक्र
4 मन.पौरुप चक्र
3 कुण्डलिनी देवता
2 स्वाधिष्ठान चक्र
1 आधार चक्र

इन समस्त में अतीत सत्यपुरुष का स्थान है। मध्ययुग मे इन चक्रों को बढ़ाकर दिखाने की प्रवृत्ति दिखायी देती है। प्रायः प्रत्येक सिद्धपुरुष के सम्प्रदाय में यह प्रवृत्ति लक्ष्य की जा सकती है। इन चक्रों को भेद करना परम सिद्धि का प्रमाण माना जाता था। फिर भी सामान्य रूप मे यह कहा जा सकता है कि स्वयं सिद्ध-पुरुष लोग चक्रभेद की अपेक्षा भक्ति को ही श्रेष्ठ समझते थे। कबीर की ही भांति गुरु नानकदेव ने भी कहा था कि, "जो ब्रह्माण्डे सोई पिण्डे, जो खोजे सो पावे।" जिस प्रकार ब्रह्माण्ड के तीन स्तर हैं : अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक, उसी प्रकार पिण्ड के भी। इनकी जैसी सुन्दर विवेचना श्री सन्त पूर्णसिंहजी ने की है, वह केवल सिख सम्प्रदाय के ही नहीं, कबीरदास के लोकसंस्थान और पिण्ड-ब्रह्माण्डैक्य को समझने मे भी बड़ी सहायक है। उसके आवश्यक अंशों को हम संग्रह कर रहे हैं।

सप्त अधोलोकों का ब्योरा तो वही है जो हम पहले दे चुके है, अर्थात् एड़ी से लेकर तड़ागी तक के सात अंगों मे सात नरकों की कल्पना की गयी है। मध्य-लोक में सात लोक हैं जो मानव-देह के सात चक्रों में प्रतीक-रूप से स्थिर है : (1) चतुर्दल मूलाधार चक्र में भूलोक; (2) पटदल स्वाधिष्ठान चक्र में भुवलोक;

→ शिवलोक तदूर्ध्वं तु प्रकृत्या च समागतम्।
···तदूर्ध्वं सर्वतत्त्वानां कार्यकारणमानिनाम्॥
निलय परमं दिव्यं महावैष्णवसञ्ज्ञकम्।
··तदूर्ध्वं तु परं दिव्य मत्यमन्यद व्यवस्थितम्॥
न्यासिना योगिनां स्थान भगवद्भाविनात्मनाम्।
महार्गभुर्मोद्वेञ्ज सर्वशक्तिसमन्वित॥
तदूर्ध्वं तु स्वय भातं गोलोकं प्रकृतेः परम्।—विश्व., पृ. 240 मे सदाशिवसंहिता के वचन

(3) दशदल मणिपूर चक्र मे स्वर्लोक [इसी से थोड़ा हटकर अष्टदल चक्र है जिस पर मन भरमा करता है।]; (4) द्वादश दलवाले अनाहत चक्र में महर्लोक; (5) षोडशदल विशुद्ध चक्र मे जनलोक; (6) द्विदल आज्ञाचक्र मे तपलोक; और (7) अनिक दल सहस्रार-चक्र मे सत्यलोक। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि यह पहला सहस्रार-चक्र है। साधारण योगियों की यहीं तक गति होती है।

इसके बाद इस पिण्ड मे ब्रह्माण्ड की ही भाँति ऊर्ध्वलोक है: (1) ब्रह्माण्डी मन का स्थान—जो षट्दल कमल के आकार का है और जहाँ त्रैलोक्यपति महान् देव का वासस्थान है; (2) शिव शक्ति-समवाय-स्थान जिसे प्रथम शून्य, मध्यशून्य या महाशून्य पद कहते है; (3) निरालम्ब पुरी—अन्त.शून्य पद; (4) शब्द-ब्रह्मस्थान—प्रणव तथा बिन्दुपदाधार; (5) निजपद—32 दल का श्वेत कमल या भँवर गुफा; (6) गुरुपद—निरंकार देश; (7) दूसरा सहस्रार-चक्र या पूर्ण पद।

यह जो द्वितीय सहस्रार पद है वह भी अन्तिम पद नही है। बहुत-से योगी तो प्रथम सहस्रार को ही परमपद मान लेते हैं, पर जो गोरखनाथ जैसे सिद्ध है वे दूसरे सहस्रार तक पहुँच जाते है। पर यह भी सब-कुछ नही है! नानकदेव इसके भी ऊपर कई स्थानों को पार कर महामहिमावती विहंगमपुरी में जा सके थे, जो देश-काल के परिच्छेद से शून्य पारावार रहित अकथ (अवाच) पद है। विशेष विस्तार के लिए 'प्राण.', प्रस्तावना, पृ. 75-84 देखना चाहिए।

अस्तु, यह तो अवान्तर बात हुई। प्रासंगिक यह है कि कबीरदास ने पृथ्वी के ऊपर दस मुकाम माने है, वे दस मुकाम जिस प्रकार ब्रह्माण्ड में है उसी प्रकार पिण्ड में भी![1] स्वयं कबीर साहब ने इनका साक्षात्कार किया था, इसका प्रमाण उनकी वाणियो मे है:

चला जब लोक को शोक सब छाँड़ि कै हंस को रूप सद्गुरु बनाई।
भृंग ज्यों कीट को पलटि भृंगी किया आप सम रंग दे-ले उड़ाई॥
छोड़ मासूत-मलकूत को पहुँचिया विष्णु की ठाकुरी देख जाई।
इन्द्र कुबेर जहाँ रंभा निरत है देव तेतीस कोटि रहाई॥ 1॥
छोड़ि वैकुंठ को हंस आगे चला शून्य मे ज्योति जहाँ जगमगाई।
ज्योति-परकाश मे निरख निःतत्त्व को आप निर्भय हो भय मिटाई॥
अखिल निर्गुन जेहि वेद अस्तुति करें तीनहूँ देव को है पिताई।
भगवान तिनके परे सेत मूरति धरे भाग को आन तिन को रहाई॥ 2॥

1 खेल ब्रह्माण्ड का पिंड मे देखिया जगत की भर्मना दूरि भागी।
बाहर-भीतरा एक आकाशवत सुषुमना डोरि तहँ उलटि लागी॥
पवन को उलटि करि शुन्न मे घर किया धरिया मे अधर भरपूर देखा।
कहै कब्बीर गुरु पूर की मेहर सो त्रिकुटी मद्ध दीदार पेखा॥
—शब्द., पृ. 105

चार मुक्काम पर खण्ड सोरह कहै अण्ड को घोर ह्यति रहाई।
अण्ड के परे स्थान अचिन्त को निरखिया जब उहाँ जाई॥
सहस औ द्वादशै रुह संग में करत कल्लोल अनहद बजाई।
तासु के बदन की कौन महिमा कहौ भासती देह अति नूर लाई॥ 3 ॥
महल कचन-बने मनिस तामे जड़े बैठ तहँ कलस आखड छाजै।
अचिन्त के परे स्थान सोहग का हस छत्तीस तहवाँ बिराजै॥
नूर का महल औ नूरक भूम्य है तहाँ आनन्द सो द्वद्व भाजै।
करत कल्लोल बहु भाँति के सग यक हंस सोहग के जो समाजै॥ 4 ॥
हंस जब जात पट्चक्र को वेधिकै सात मुक्काम मे नजर फेरा।
सोहग के परे सुरति इच्छा कही सहस बामन जहँ हस हेरा॥
रूप की राशि ते रूप उनको बना नही उपमा इन्द्रजो निवेरा।
सुरति से भेंटि के शब्द को टेकि चढि देखि मुक्काम अकूर केरा॥ 5 ॥
शून्य के बीच मे विमल बैठक जहाँ सहज स्थान है गैबकेरा।
नवो मुक्काम यह हस जब पहुँचिया पलक विलम्ब ह्वाँ कियो डेरा॥
तहाँ से डोरि क्रम तार ज्यो लागिया ताहि चढ़ि हस गो दे दरेरा।
भये आनन्द से फन्द सब छोड़िया पहुँचिया जहाँ सतलोक मेरा॥ 6 ॥
हसनी हंस सब गाय बज्जाय के साजि के कलश वहि लैन आये।
युगन युग बीछुरे मिले तुम आइकै प्रेम करि अग सो अग लाये॥
पुरुप ने दर्शन जब दीन्हिया हस कौ तपनि बहु जनम की तब नसाये।
पलटि के रूप जब एक के कीन्हिया मनहुँ तब भानु षोडस उगाये॥ 7 ॥
पुहुप के दीप पीयूप भोजन करे शब्द की देह जब हंस पाई।
पुहुप के सेहरा हस और हंसिनी सच्चिदानन्द सिर छत्र छाई॥
दिपै बहु दामिनी दमक बहु भाँति की जहाँ घन शब्द को घुमड़ लाई।
लगे जहाँ बरषने गरज घन घेरि के उठा तहँ शब्द धुनि अति सोहाई॥ 8 ॥
सुनै सोइ हंस तहँ यूथ के यूथ ह्वै एक ही नूर इक रग रागै।
करत बीहार मनभामिनी मुक्ति मे कर्म और भर्म सब दूरि भागै॥
रक और भूप कोई परखि आवै नही करत कल्लोल बहु भाँति पागै।
काम औ क्रोध मद लोभ अभिमान एक छाँड़ि पाखण्ड सत शब्द लागै॥ 9 ॥
पुरुष के बदन की कौन महिमा कहाँ जगत मे ऊपमा कछु न पाई।
चन्द्र औ सूरगण ज्योति लागै नही एक ही नक्षत्र परकाश भाई।
पान परवान जिन वंश का पाइया पहुँचिया पुरुप के लोक जाई॥
कहै कब्बीर यहि भाँति सो पाइहौ सत्य की राह सो प्रगट गाई॥ 10 ॥

—विश्व., पृ. 239-40; क. मन., पृ. 576

ध्यान मे देखा जाय तो नाथपन्थी योगियों के सूक्ष्म वेद (दे. ऊपर, पृ. 241), द्वैताद्वैतविलक्षण (दे ऊपर, पृ. 223-24), निरंजनपद (दे. ऊपर, पृ. 238), नाथपन्थ (दे. ऊपर, 'हठयोग की साधना' अध्याय) आदि के भीतर ही ऐस

उद्भट कल्पना के बीज वर्तमान थे। यह सारा बखेड़ा असल में एक बड़ी पुरानी परम्परा का विकास मालूम पड़ता है। कबीरदास के नाम पर चलनेवाले बहुत-से पद इस कल्पना के पोषक बताये जा सकते है। हमने पहले ही एक वाणी मे लक्ष्य किया है (ऊपर, पृ. 243-44) कि निरंजन एक महाठग है और उसने सारे जगत् को धोखा देने के लिए यह जाल पसार रखा है। स्वयं 'बीजक' में इस आशय के पद ढूंढे जा सकते हैं, जिनमे बताया गया है कि अलख निरंजन के बाँधने से सारा जगत् बँधा हुआ है।[1] उसी ने नाना प्रकार के चक्र बनाये हैं जिनमें संसार चक्र मार रहा है, उसी ने वेदो और शास्त्रो का, तीर्थों और व्रतो का, दान और पुण्य का चक्का चलाया है। 'बीजक' की इक्कीसवी रमैनी के अन्त मे एक साखी उद्धृत की गयी है, "मैं ही सिरजाता हूँ, मैं ही मारता हूँ, मैं ही जलाता हूँ (या जीर्ण करता हूँ), मैं ही खाता हूँ, मैं ही जल और स्थल मे रमा हुआ हूँ—मेरा ही नाम निरंजन है।"[2] इन सबसे यह साबित होता है कि निरंजन कोई सचमुच ही वैसा पदार्थ है जैसा हम देख आये है। शास्त्रीय विचार के टीकाकार श्री विचारदास ने इस जगह निरंजन का अर्थ 'यम' किया है। परन्तु एक बार यदि हम चित्त से निरंजन की ऊपर बतायी कल्पना हटा दें तो कम-से-कम 'बीजक' के इन पदो से निरंजन का अर्थ सर्वशक्तिमान निर्दोष ब्रह्म किया जा सकता है। उसे शैतान समझने की बिल्कुल जरूरत नही।

फिर बीजक के 114वें शब्द के अनुसार भी आदिपुरुष-निरंजन-त्रिदेव आदि की परम्परा का समर्थन होता है और यह भी समर्थित होता है कि कबीरदास सचमुच ही इस विपत्ति-सागर से मनुष्यो का उद्धार करने का दावा करते थे।[3] परन्तु

1 अलख निरंजन लखइ न कोई। जेहि बँधे बँधा सब लोई।
जिहि झूठे बँधा सो अयाना। झूठा बचन साचि करि माना।
बँधा बँधा कौन बेवहारा। करम बिवरजित बसै निनारा।
षट आश्रम षट दरसन कीन्हा। षटरस वस्तु खोट सब चीन्हा।
चारि बिरछि छव साख बखानै। विद्या अगिनित गनै न जानै।
औरो आगम करै विचारा। ते नहि सूझै वार न पारा।
जप-तीरथ-व्रत कीजै पूजा। दान-पुन्न कीजै बहु दूजा।
साखी मंदिल तो है नेह का मति कोइ पैठे धाय।
जो कोइ पैठे धाइके बिना सिर सेती जाय।।—रमैनी 22

2 मैं सिरजौं मैं मारहूँ, मैं जारो मैं खाँव।
जल-थल मे मैं रमि रह्यो, मोर निरंजन नाँव।।—रमैनी 21 की साखी

3 'सार' शब्द से बाँचिहो मानहु इतबारा हो।
आदि पुरुष इक वृच्छ है निरंजन डारा हो।
तिरि देवा साखा भये पत्ता संसारा हो।
ब्रम्हा वेद सही कियो सिव जोग पसारा हो।
विस्नु माया उतपति किया उरले ब्यवहारा हो।
तीन लोक दसहूँ दिसा जम रोकिन द्वारा हो।

प्राचीन पोथियों में पाये गये पदों को पढ़ने से ऐसा लगता है कि निरजनवाली पौराणिक कल्पना चाहे जितनी प्राचीन परम्परा का विकसित रूप क्यो न हो, कवीरदास उसे ज्यों-का-त्यों नही मानते थे। वे ब्रह्म या निरंजन को शैतान तो मानते ही नहीं थे, उल्टे उसे परम काम्य समझते थे। वस्तुतः जैसा कि इस अध्याय के आरम्भ में ही वताया जा चुका है, निरंजन या धर्मराय को परम दैवत समझने-वाला सम्प्रदाय बाद मे जिस समय कबीरपन्थ मे अन्तर्भुक्त हुआ था, उसी समय निरंजन की महिमा घटाने का प्रयत्न किया गया होगा। यह तो हम पहले ही देख चुके है कि कबीरदास द्वैताद्वैत-विलक्षणवाद में योगियों से प्रभावित थे (ऊपर, पृ. 223-24), फिर यह भी निश्चित है कि वे उस परम सहजावस्था को महान् पद समझते थे जहाँ अल्लाह या राम की गम नही होती।[1] कई पदो से स्पष्ट है कि काल से उनका मतलब निरंजन से नहीं है और ब्रह्म न तो उनकी दृष्टि मे ठग ही है और न ब्रह्मज्ञान हेय ही।[2]

कबीर-ग्रन्थावली मे एक ऐसा पद है जिससे पता चलता है कि भिन्न-भिन्न चक्रो में देवताओं के निवास का जो विवरण कबीरदास ने किया है, वह अपेक्षाकृत सहज है और सर्वाश मे ऊपर बतायी हुई व्यवस्था के अनुकूल नही है। षट्दल-कमल मे काम का अभाव बताया गया है और शायद 'मन के मोहन बीठुला' या बिट्ठल भगवान् का वह निवासस्थान है। अष्टदल कमल मे श्रीरंग केलि करते हैं, पर द्वादशदल-विहारी भगवान् के रूप का स्पष्ट उल्लेख नही किया गया। यह जरूर बताया गया है कि त्रिवेणी-स्नान के (देखिए ऊपर, पृ 233) बाद सनकादिक का साथ हो जाता है, अर्थात् शायद वैकुण्ठ-विहारी विष्णु का स्थान नजदीक आ जाता है। फिर गगन-गुफा मे अनन्ततार का दर्शन बताया गया है और षोडशदल

→ कीर भये सव जीयरा लिए विप के चारा हो।
जोति-सरूपो हाकिमा जिन अमल पसारा हो।
करम की बसी लायके पकर्‌यो जग सारा हो।
अकल मिटावौं तासुको पठवौं भव पारा हो।
कहहिं कबीर निरभय करौ परखो टकसारा हो॥ —'बीजक', शब्द 114

1. सुर नर मुनि अरु औलिया, ए सब वेलैं तीर।
अलह राम की गम नही, तहँ घर किया कबीर॥—स क सा., पृ 64

2 अब मैं पाइबौ रे पाइबौ ब्रह्म गियान।
सहज समाधैं सुखमैं रहिबौ, कोटि कलप विश्राम।

× × ×

आपैं में तब आपा निरख्या अपन पैं आपा बूझ्या।
आपैं कहत सुनत पुनि अपना अपन पैं आपा बूझ्या।
अपनैं परचैं लागी तारी अपन पैं आपसमानां।
कहु कबीर जे आप विचारैं मिटि गया आवन-जाना॥—क. ग्रं., पद 6

प्रचलित पौराणिक परम्परा को स्वीकार करते है, अपने विशेष मत की पुष्टि के लिए उसमे सगति बैठाते है और अपने उपास्य देव को सबके सिर पर बैठा देते है। विष्णु को भजनेवाले शिव को विष्णु का दास बनाते है और शिव को भजनेवाले विष्णु को शिव का भक्त और फिर शक्ति के उपासक शिव की छाती पर काली का कराल ताण्डव देखकर भाव-विह्वल हो उठते है! यह चिर-परिचित घटना है। निरजन बेचारे को जरा कडा दण्ड मिला है। वह ईश्वर से शैतान हो गया है—अवश्य ही कबीरदास के हाथो नही, बल्कि उनके चेलों की कृपा से! परन्तु इस प्रकार की मनोरजक परिणति तक कई अन्य शब्दो को भी जाना पड़ा है। दुर्गतो की जमात मे निरजन अकेला नही है।

सबसे अधिक मनोरजक है शून्य और सहज, नाद और बिन्दु तथा खसम और घरनी। शून्य और सहज तो भारतीय साहित्य के अत्यधिक मनोरंजक शब्दो मे से है। बौद्ध महायान सम्प्रदाय के दार्शनिको की दो शाखाएँ है। एक मानती है कि संसार मे सब-कुछ शून्य है, किसी की कोई सत्ता नही और दूसरी शाखावाले मानते है कि जगत् के सभी पदार्थ बाहरी तौर पर असत् होने पर भी चित् के निकट सत् है। असत् अर्थात् सत्ता-रहित या 'नॉन एक्जिस्टेंट' और सत् अर्थात् सत्तवान् या 'एक्जिस्टेंट'। इन दोनो शाखाओ मे से पहली को शून्यवाद कहते है और दूसरी को विज्ञानवाद। नागार्जुन ने शून्य की व्याख्या करते हुए कहा है कि इसे शून्य भी नही कह सकते, अशून्य भी नही कह सकते और दोनो (=शून्याशून्य) भी नही कह सकते। फिर यह भी नही कह सकते कि यह शून्य भी नही है और अशून्य भी नही है। इसी भाव की प्राप्ति के लिए 'शून्य' का व्यवहार होता है।[1] इस प्रकार यह सिद्धान्त बहुत कुछ अनिर्वचनीयतावाद का रूप ग्रहण कर लेता है। हमने ऊपर देखा है (पृ 232) कि नाथपन्थी लोग अपने सबसे ऊपरी सहस्रार चक्र को 'शून्य-चक्र' कहते है। उनके मत मे जब जीवात्मा नाना प्रकार की यौगिक क्रियाओं द्वारा इस चक्र मे पहुँचता है तो वह समस्त द्वन्द्वों से ऊपर उठता है और 'केवल' रूप मे विराजता है। यही शून्यावस्था है जिसमें आत्मा को और किसी प्रकार की अनुभूति नही होती, न सुख की, न दुःख की; न राग की, न द्वेष की; न हर्ष की, न अमर्ष की। इन समस्त द्वन्द्वो से रहित केवलावस्था को शून्यावस्था कहना अनुचित नही है। पर स्पष्ट ही यह अर्थ बौद्ध अर्थ मे कुछ दूर हट गया है। मजेदार बात यह है कि योगी लोग इस केवल 'शून्यावस्था' को 'शून्याशून्य-अवस्था' भी कहते हैं और इस प्रकार शब्दो मे नागार्जुन के बताये हुए परम लक्ष्य को ज्यों-का-त्यों स्वीकार करते हुए भी अर्थ मे एकदम भिन्न हो गये है।

यह जो केवलावस्था है वह और भी पुराने काल मे सम्बद्ध है। सहजयानी सिद्ध लोग इसी केवलावस्था को बार-बार शून्य पद से पुकारते है (चर्या, 13-1, 17-2,

1 शून्यमिति न वक्तव्य अशून्यमिति वा भवेत्।
उभयं नोभय नैव प्रज्ञप्त्यर्थं तु कथ्यते॥

28-5, 31-1 इत्यादि)। इन सहजयानी सिद्धों ने प्राय: 'शून्य' और 'सहज' शब्द का व्यवहार एक साथ किया है। यह परम्परा, अर्थात् 'शून्य' और 'सहज' का साथ व्यवहार करना, नाथपन्थी योगियों में ज्यों-की-त्यों चली आयी है और कबीरदास आदि सन्तों ने भी इस परम्परा को लुप्त होने नहीं दिया है। कबीरदास प्राय: 'सहज-शून्य' का एक ही साथ प्रयोग करते हैं और कितनी ही जगह उन्होंने एक ही अर्थ में भी प्रयोग किया है। हम पहले ही देख आये हैं कि सहजावस्था जो नाथपन्थियों की चरम साधना है, इस शून्यावस्था से भिन्न नहीं है। यही बात सहजयानी सिद्धों के विषय में भी कही जा सकती है। इस मत में चार प्रकार के आनन्द माने गये हैं—प्रथमानन्द, परमानन्द, विरमानन्द और सहजानन्द। परन्तु योगियों के 'सहजानन्द' से सहजयानियों के 'सहजानन्द' का तात्त्विक भेद है। योगी को जहाँ इस अवस्था में आत्मोपलब्धि होती है, वह आत्माराम हो जाता है अर्थात् अपने में आप ही रमने लगता है, वहाँ सहजयानी को इस अवस्था में इन्द्रिय-बोध के लोप हो जाने का तो अनुभव होता ही है, अपने-आपको जानने की स्थिति भी लुप्त हो जाती है। वहाँ वह केवल एक ऐसी अवस्था में पहुँच जाता है, जिसे किसी शब्द से कहकर नहीं समझाया जा सकता, जो अनुभवैकगम्य है। सरहपाद यही बात बताने के लिए कह गये हैं :

> इन्दिअ जत्य विलअ गउ, णट्ठिउ अप्प सहावा।
> सो हले सहज न तनु फुड़, पुच्छहि गुरु पावा॥

कबीरदास के आविर्भाव के अव्यवहित पूर्वकाल में एक ऐसी भी अवस्था बीती है जब सहजयानी सिद्ध लोग शून्य को धनात्मक बताने के लिए एक अन्य शब्द का व्यवहार करने लगे थे। यह शब्द है 'सुखराज' या 'महासुख'। इतना वे भी मानते थे कि सर्वज्ञ भगवान् बुद्धदेव ने इस शब्द का कभी प्रयोग नहीं किया और भाव की प्रज्ञप्ति के लिए भी कुछ नहीं कहा। वस्तुत: 'सुखराज' अर्थात् धनात्मक 'सुख' की कल्पना बौद्ध धर्म में बहुत परवर्ती घटना है। परन्तु साथ ही इस मत के माननेवाले बुद्धदेव के मौन का अपने पक्ष की पुष्टि में ही उपयोग करते थे। उनका कहना था कि यद्यपि भगवान् बुद्ध सर्वज्ञ थे तथापि वे इस महासुखराज के विषय में मौन रह गये, वह इसलिए कि यह वाणी से परे था, 'जय हो इस कारणरहित सुखराज की, जो जगत् के नाशवान् चंचल पदार्थों में एकमात्र स्थिर वस्तु है और सर्वज्ञ को भी इसकी व्याख्या करते समय वचन-दरिद्र हो जाना पड़ा था।'—

> जयति सुखराज एष कारणरहित: सदोदितो जगतां।
> यस्य च निगदन-समये वचनदरिद्रो बभूव सर्वज्ञ:॥

सो यह सुखराज ही सार है, यही शून्यावस्था है; क्योंकि इसका न आदि है, न अन्त है, न मध्य है। न इसमें अपना ज्ञान रहता है, न पराये का। न यह जन्म है, न मोक्ष, न भव, न निर्वाण। इसी अपूर्व महासुखराज को सरहपाद ने इस प्रकार कहा है :

आइ ण अन्त ण मज्झ णउ णउ भव णउ णिव्वाण।
एहु सो परम महासुह णउ पर णउ अप्पाण॥

—ज. डि. ले., पृ. 13

किस प्रकार यह सहज मत वाद मे चलकर सहजिया वैष्णव सम्प्रदाय मे बदल गया, यह साधना के इतिहास मे बडी मनोरंजक कहानी है, पर हम उधर नही जा सकते, क्योकि वह कबीरदास के बाद की घटना है।

कबीरदास ने 'शून्य' और 'सहज' से जिस प्रकार की समाधि की बात कही है वह योगियों की सहजावस्था से भिन्न है। वे उस सन्त को अपना सारा जप-तप दलाली मे भेंट कर देने को तैयार थे जो उन्हें सहज सुख के योग्य बना दे, जो उन्हें एक बूंद की राम-रस चखा दे। यह राम ही उनकी सहजावस्था का सुख है।[1] इस 'राम-रस' का आस्वादन उन्होने सहज-शून्य मे किया था। इसी 'राम-रस' से शिव सनकादिक मत्त हो गये थे। इड़ा और पिंगला की भट्ठी बनायी, उसमें ब्रह्म-अग्नि जला दी, सूर्य और चन्द्र से दसों दरवाजे बन्द कर दिये और उल्टी गंगा बहाकर पानी की व्यवस्था की, तब जाकर पाँचों प्राणों को साथ लेकर 'राम-रस' चुआया गया और कबीरदास ने छककर पान किया। सद्गुरु न मिले होते तो वह विचित्र रस सम्भव न होता।[2] खैर, कबीरदास भाग्यशाली थे, उन्हें राम-रस का चस्का लग गया और वे दिन-रात इस महारस में बुद्द बने रहे। इस प्रकार कबीरदास हद्द छोड़कर बेहद्द मे पहुँच सके थे और वहाँ 'शून्य' सरोवर में आप्राण मज्जन करके ऐसे महल मे विश्राम कर सके थे जहाँ मुनिजन भी नही पहुँच पाते।[3] सहजावस्था भी कबीरदास के मत से वह है जहाँ भक्त सहज ही भगवान् को पा सके। पुत्र-कलत्र और वित्त का त्याग करना कृच्छ्रता है, कोई एक ऐसा योग है जिसमें ये चीजें स्वयं छूट जाती हैं। कबीरदास ने इसी अनासक्ति योग को अपनाया था और उन्हें अपने

1. है कोउ सन्त सहज सुख उपजै जाको जप-तप देउँ दलाली।
एक बूंद भरि देइ राम-रस, ज्यूं भरि देइ कलाली। इत्यादि।
—क. ग्रं., पद 155

2 बोलो भाई राम की दुहाई।
इह रस सिव-सनकादिक माते पीवत अजहूं न अघाई।
इला प्यंगुला भाटी कीन्ही, ब्रह्म अगनि परजारी।
ससिहर सूर द्वार दस मूंदे लागी जोग जुग तारी।
मन मतिवाला पीवै राम-रस दूजा कछू ना सुहाई।
उलटी गंगा नीर बहि आया अमृत धार चुआई।
पंच जनें सो संग करि लीन्हें चलत खुमारी लागी।
प्रेम-पियालै पीवन लागै सोवत नागिनि जागी।
सहज सुनि मैं जिन रस चाख्या सतगुरथैं सुधि पाई।
दास कबीरा इहि रस माता कबहूं उछकि न जाई॥—क. ग्रं., पद 74

3 हद छाँडि बेहद गया, किया सुन्नि असनान।
मुनिजन महल न पावई, तहाँ किया विश्राम॥—क. ग्रं., 5-11, पृ. 13

पुत्र और कलत्र की ममता और अर्थ-काम की चिन्ता सहज ही चली गयी थी—वे 'एकमेक' होकर राम से सहज ही मिल सके थे :

सहजें सहजें सब गए, सुत बित कामिणि-काम।
एकमेक ह्वै मिलि रह्यौ, दास कबीरा राम॥
सहज सहज सब कोई कहै, सहज न चीन्है कोइ।
जिन्ह सहजें हरिजी मिलें, सहज कहीजै सोइ॥

—क. ग्रं. 21,3-4, पृ. 42

किन्तु हमने ऊपर देखा है कि कबीरपन्थी लोगों ने इस 'सहज' शब्द का भी लोक-विशेष के अर्थ में ही प्रयोग किया है। कबीरदास ने यद्यपि यहाँ सहज ही हरि को पा लिया था, पर कबीर के शिष्यों को यह पसन्द नहीं था कि उन्हें सहज ही छोड़ दिया जाय। सो सहज शून्य की नैरात्म्य, कैवल्य, महासुख, राम रस निर्झर से होती हुई सहज लोक तक पहुँचने की यात्रा बड़ी ही मनोरंजक है। फिर भी इतना तो सन्तोष किया ही जा सकता है कि उस परिणति के पश्चात् भी सहजलोक में वास करनेवाला सहज पुरुष निरंजन-जैसा ठग और धोखेबाज नहीं बताया गया है और वह सत्यलोक-रूप परमपद से बस एक ही सीढ़ी नीचे है।

'खसम' शब्द और भी मनोरंजक है। सिद्धों के गानों और दोहों में यह कई जगह आया है। सरोजवज्र की निम्नलिखित चौपाई में यह दो बार आया है। एक जगह केवल 'खसम' है और दूसरी जगह 'खसम-सहावें' या 'खसम-स्वभावेन' के रूप में है :

सब्ब रूअ तहि खसम करिज्जइ।
खसम सहावें मण वि धरिज्जइ॥

दुर्भाग्यवश इस चौपाई पर अद्वयवज्र की टीका खण्डित मिली है। आखिरी पंक्ति का अर्थ उन्हें 'मनश्च खसमस्वभावेन धार्यते' अर्थात् 'मन भी खमस स्वभाव से धारण किया जाता है' इस प्रकार किया है। परन्तु इसके बाद की चौपाई की टीका में जो कुछ लिखा है, उससे कोई सन्देह नहीं रह जाता कि 'खसम' वस्तुतः सहजयानी लोगों की सहजावस्था या शून्यावस्था का वाचक शब्द है। 'खमस' का शब्दार्थ भी 'शून्य के समान' या 'आकाश के समान' (नाथपन्थियों के शब्द 'शून्योपम' और 'गगनोपम' से तुलना कीजिए) है। अद्वयवज्र लिखते हैं कि, "तथा सोऽपि खसमस्वरूपं मनः तस्मिन्मनः क्रियते। एवं यः करोति स उत्तमः पुरुष सहजस्वभावे रम्यते क्रीडत इति यावत्।" अर्थात् आकाश के समान व्यापक मन में जो साधक अपने मन को लीन कर देता है वह उत्तम पुरुष निश्चय ही स्वभाव से क्रीड़ा करता है।—'सहजाम्नाय-पंजिका', पृ. 110-111

इसी तरह शबरपाद के निम्नलिखित पद में 'खसमे-समतुला' शब्द आया है :

हेरिपे मेरि तइला बाड़ी-खसमे समतुला
षुकड़ए सेरे कपासु फुटिला।

टीकाकार ने यहाँ 'खसमे समतुला' का अर्थ 'प्रभास्वरतुल्यमृता' अर्थात् 'अत्यन्त

उज्ज्वल' किया है। जान पड़ता है कि सहजयानी लोगों में इस शब्द का प्रयोग शून्यावस्था और नैरात्म्य-भाव के लिए किया जाता था। इस भाव के व्यंजक जितने भी पुराने शब्द योगियों और तान्त्रिकों के साहित्य मे बच रहे है उनका अर्थ थोड़ा बदल गया है। नैरात्म्य का स्थान 'भावाभावविनिर्मुक्तावस्था' ने ले लिया है, अर्थात् बौद्ध लोग जहाँ इन शब्दों से आत्मा के लुप्त होने का भाव लिया करते थे (नैरात्म्य), वहाँ योगी और तान्त्रिक लोग एक ऐसी अवस्था का अर्थ समझने लगे जिसमे साधक को न भाव का अनुभव होता है, न अभाव का—न तो वह 'है' को महसूस करता है और न 'ना' को (भाव-अभावविनिर्मुक्त-अवस्था)। यही योगियो की दुर्लभा सहजावस्था है। ध्यान देने की बात है कि इस अवस्था के लिए योगियों ने 'खसम' शब्द के तुल्यार्थ 'गगनोपम' शब्द का व्यवहार किया है। 'अवधूत-गीता' मे अवधूत की इस गगनोपमावस्था का विस्तारपूर्वक वर्णन है। गगनोपमावस्था (या ख-सम अवस्था) जहाँ द्वैत और अद्वैत, नित्य और अनित्य, सत्य और असत्य, देवता और देवलोक आदि कुछ भी प्रतीत नही होते, जो मायाप्रपंच के ऊपर है, जो दम्भादि व्यापार के अतीत है, जो सत्य और असत्य के परे है, जो ज्ञान-रूपी अमृतपान का परिणाम है :

अद्वैतरूपमखिलं हि कथं वदामि
नित्यं ह्यनित्यमखिलं हि कथं वदामि।
सत्यं ह्यसत्यमखिलं ही कथं वदामि।
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥
ब्रह्मादय· सुरगण: कथमत्र सन्ति
स्वर्गादयो वसतय: कथमत्र सन्ति।
यद्येकरूपममलं परमार्थतत्त्वं
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥
माया-प्रपञ्च रचना न च मे विकार:
कौटिल्यदम्भ-रचना न च मे विकार:।
सत्यानृतेति रचना न च मे विकार:
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्।
न शून्यरूपं न विशून्यरूपं
न शुद्ध रूपं न विशुद्धरूपं।
रूपं विरूपं न भवामि किंचिद्
स्वरूप रूपं परमार्थतत्त्वम् ॥

जब यह शब्द कबीरदास तक पहुँचा तब तक इससे मिलता-जुलता एक अरबी शब्द खसम (=पति) भारतवर्ष की सीमा में पहुँच चुका था। कबीरदास को यह शब्द दो मूलों से प्राप्त हुआ। हठयोगियो के माध्यम से यह आत्मा के शून्यचक्र में पहुँचकर समभाव की अवस्था को प्राप्त होने के अर्थ में आया और मुसलमानी माध्यम से पति के अर्थ मे। हमने पहले ही देखा कि कबीरदास योगियों के

कृच्छ्राचार द्वारा प्राप्त समाधि को बहुत ऊँची अवस्था नहीं मानते थे। मेरुदण्ड पर दुलैंचा डालकर समाधि लगाने को वे कच्चा योग ही समझते थे :

मेरुदण्ड पर डारि दुलैंचा जोगी तारी लावै।
सो सुमेर की खाक उड़ैगी कच्चा योग कमावै।।

'बीजक' के 65वें पद में यह बताया गया है कि योगियों का महाकाल को धोखा देने की धुन में लगे रहना कितना हास्यास्पद है। भला हृदय में भगवद्भक्ति न हो तो शरीर की साधना कहाँ तक साथ दे सकती है ? जो रस बधने में है ही नहीं, उसे टोंटी के रास्ते गिराने का प्रयत्न हास्यास्पद नहीं तो क्या है।——

जरि गौ कन्था धज गौ टूटी । भजि गौ डंडे खपर गौ फूटी।
कहहिं कबीर इ कलि है खोटी। जो रहे करवा सो निकरे टोंटी !!

इसीलिए कबीरदास ने शून्य समाधिवाली गगनोपमावस्था या खसमभाव को क्षणिक आनन्द ही माना है, बड़ी चीज सहज समाधि है, जिसके लिए न डण्डे की जरूरत है, न कन्था की, न मुद्रा आवश्यक है, न आसन (ऊपर पृ. 250-51, टि.) यही कारण है कि खसम का अर्थ सब समय उन्होंने 'निकृष्ट पति' समझा। इन्द्रिय-वधुओं का खसम के साथ 'सूतने' अर्थात् यौगिक क्रियाओं द्वारा मुग्ध बने रहने को उन्होंने कुछ इसी अर्थ में प्रयोग किया है। फिर खसम वह पति है जो अपनी पत्नी को वश न कर सके और इन्द्रियों के दास मन को भी, इसीलिए कबीरदास ने कभी-कभी खसम कहा है। कम-से-कम कबीरदास के नाम पर चलनेवाले बहुत-से परवर्ती भजनों में इसका इस दूसरे अर्थ में ही प्रयोग अधिक है। टीकाकारों और भक्तों ने अपनी उर्वर कल्पना के बल पर इस शब्द का अर्थ कभी जीव, कभी मन और कभी परमात्मा भी किया है।

मेरा अनुमान है कि कबीरदास 'खसम' शब्द की पुरानी परम्परा से जरूर वाकिफ थे और उन्होंने जान-बूझकर खसमावस्था की तुलना निकृष्ट पति से की है। उद्देश्य योगियों की कच्चाई बताना था। तिहत्तरवीं रमैनी में यह शब्द इस प्रकार आया है :

जाड़न मरे सुपैदी सौरी, खसम न चीन्हे घरनि भै बौरी।
साँझ-सकारा दियना बारै, खसम छोटि सुमिरै लगवारै।।

ठीक इसी प्रकार की युक्तियाँ सिद्धों की वाणियों में से खोजी जा सकती हैं। सिद्ध लोग 'घरणि' या घरनी का अर्थ तीन वृत्तियों में से कोई एक समझते हैं। यद्यपि इन तीन वृत्तियों के नाम उस जमाने की नीच समझी जानेवाली जातियों के नाम पर हैं, पर वे बौद्ध तान्त्रिक साधना की बहुत ऊँची अवस्थाओं की द्योतिका हैं। सहजमत की तीन वृत्तियाँ (या मार्ग) ये हैं : (1) अवधूती, (2) चाण्डाली, (3) डोम्बी या बंगाली। अवधूती में द्वैत-ज्ञान बना रहता है, चाण्डाली में द्वैत-ज्ञान के बने रहने को कह भी सकते हैं, नहीं भी कह सकते; पर डोम्बी या बंगाली में विशुद्ध अद्वैत-ज्ञान ही विराजा करता है। एक का रास्ता इड़ा मार्ग से है; दूसरी का पिंगला मार्ग से और तीसरी का सुषुम्ना से। भूसुकपाद ने इसीलिए अपने को सम्बोधित

करके कहा है कि 'ऐ भुसुक, तूने चण्डालिनी घरनी को तो अपना लिया, अब आज बंगालिन घरनी भी बना ले और इस प्रकार सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्त खसम-भाव को प्राप्त हो':

आजि भुसु बंगाली भइली, णिअ घरणी चाण्डाली लइली।

इस प्रकार इस साहित्य मे 'घरणी' शब्द प्रायः ही तीन वृत्तियों के अर्थ मे संकेतित है। इस अर्थ के प्रकाश मे कबीरदास की ऊपरवाली रमैनी का विचार किया जाय तो अर्थ बहुत साफ हो जाता है। खसम-भाव को पहचाननेवाली वृत्ति सुषुम्ना वाहिनी है, अन्य मार्ग जो द्वैतज्ञानमूलक है, उन्हें यह वृत्ति पहचानती नही।

इसी प्रकार निम्नलिखित साखी मे भी खसम-भाव की अपेक्षा भक्तिप्रतिपाद्य भगवद्भाव को श्रेष्ठ बताया है:

भोरैं मूलि खसम कैं, कबहुँ न किया विचार।
सतगुरुसाहिब बताइया पूरबला भरतार॥

परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि या तो कभी-कभी कबीरदास स्वयं खसम शब्द परम्परासमर्थित अर्थ मे प्रयोग नही करते थे या फिर ऐसे पद कबीरदास के नाम पर बाद में चल पड़े होगे। 'बीजक' में ही खसम शब्द का ऐसा प्रयोग पाया जाता है, जिसका बहुत खीच-तान करने पर भी 'खसमावस्था' अर्थ नही किया जा सकता।[1] उदाहरणार्थ,

भाई, मैं दूनो कुल उजियारी
बारह खसम नैहर खायो, सोरह खायो ससुरारी। इत्यादि

—शब्द, 62

हमने यह पहले ही देखा है कि कबीरदासजी ने शून्य-सहज में 'राम-रस' पाने का अनुभव किया था। अपने-आपको खसमावस्था या गगनोपम भाव के ऊपर उठाकर प्रेम-प्रवण 'हरिरस' की ओर उन्मुख करने के लिए वे जो कुछ कहते हैं उससे तो खसम शब्द का पुराना अर्थ ही समर्थित होता है:

धीरौ मेरे मनवाँ तोहिं धरि टाँगौ, तैं तो कियो मेरे खसमसूँ खांगौं।
प्रेम की जेवरिया तेरे गले बाँधूँ, तहाँ लै जाऊँ जहाँ मेरे माधौ॥
काया नगरी पैसि किया मैं बासा, हरि-रस छाँड़ि विषै-रसि माता।
कहै कबीर तन-मन का ओरा, भाव-भगति हरसूँ गँठ-जोरा।

इस प्रकार 'सहज' और 'शून्य' की भाँति 'खसम' और 'घरनी' की परिणति भी साधना-साहित्य की एक मनोरंजक घटना है।

1 प. चन्द्रबली पाण्डेय ने साप्ताहिक 'आज' मे एक लेख 'खसम की खोज' नाम से लिखा था। इसमें उन्होंने दिखाना चाहा है कि खसम शब्द का अर्थ कबीरदास की वाणियो मे 'निकृष्ट पति' नही होना बल्कि पति, स्वामी आदि साधारण अर्थ मे ही होता है। पाण्डेयजी नही मानते कि कबीरदास के इस शब्द के प्रयोग मे कोई जटिलता है। पाण्डेयजी के लेख में जानने योग्य बातें हैं, पर मुझे अपना मत परिवर्तन करने की कोई आवश्यकता नहीं मालूम हुई।

योगपरक रूपक और उलटवाँसियाँ

कबीरदास के नाम पर बहुत-से योगपरक रूपक और उलटवाँसियों का पाया जाना बड़े भारी भ्रम और विवाद का विषय बन गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से न देख सकने के कारण अनेक पण्डित इसके वास्तविक रहस्य को नहीं समझ सके। कबीरदास जिस वंश में उत्पन्न हुए थे उसमें योग-चर्चा अत्यन्त मामूली धर्म-चर्चा के समान थी। बाहर भी योगियों का बहुत जबर्दस्त प्रभाव था। इन योगियों की अद्भुत क्रियाएँ साधारण जनता के लिए आश्चर्य और श्रद्धा का विषय थीं। परन्तु इन योगियों का किसी भी विषय में साधारण जनता से साम्य नहीं था। बल्कि ये लोग गर्वपूर्वक घोषणा करते फिरते थे कि वे तीन लोक से न्यारे हैं। सारी दुनिया भ्रम में उल्टी बही जा रही है, सही रास्ते पर वे ही लोग हैं, जो हठयोग के सिद्धान्तों और व्यवहारों को मानते है। 'गोरक्ष-सिद्धान्त-संग्रह' में कहा गया है :

"एक योग-सम्प्रदाय के सिवा अन्य सभी मतों की बात उल्टी है। नाथ का अंश नाद है, नाद का अंश प्राण और उधर शक्ति का अंश बिन्दु है और बिन्दु का अंश शरीर। इससे स्पष्ट है कि नाद और प्राण बिन्दु और शरीर से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, अर्थात् पुत्र-क्रम की अपेक्षा शिष्य-क्रम अधिक मान्य है। दुनिया के लोग ठीक इसके उल्टे चलते हैं। उनकी दृष्टि में पुत्र-क्रम ही अधिक मान्य है और शिष्य-क्रम अल्प-मान्य। परन्तु नाथपन्थी लोग शिष्य-क्रम को प्रधान मानते हैं, और यही ठीक भी है। दुनिया का क्रम है : धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष; ब्रह्मचर्य-गार्हस्थ्य-वानप्रस्थ-संन्यास; शृंगार-हास्य-करुण-रौद्र-वीभत्स-भयानक-अद्भुत-शान्त; पृथ्वी-जल-तेज-वायु-आकाश; ब्रह्मा-विष्णु-शिव इत्यादि अर्थात् सब उल्टा!! क्योंकि जो श्रेष्ठ है उसको पहले स्थान देना चाहिए, अश्रेष्ठ या कम श्रेष्ठ को बाद में। इस प्रकार वास्तविक क्रम बिलकुल उल्टा होगा; यथा मोक्ष-काम-अर्थ-धर्म; संन्यास-वानप्रस्थ-गार्हस्थ्य-ब्रह्मचर्य; शान्त-करुण-अद्भुत-वीर-रौद्र-हास्य-भयानक-वीभत्स-शृंगार इत्यादि। यही योग-सम्प्रदाय की रीति है, यही [illegible]।" (पृ. 58-59) इस साम्प्रदायिक वृत्ति का परिणाम यह हुआ कि योगी और तान्त्रिक लोग दुनिया से उल्टी बात कहने के अभ्यस्त हो गये। [illegible] यह है कि [illegible] कहते गये उनकी प्रतिष्ठा बढ़ती ही गयी, यही [illegible]। और वे लोग अधिकाधिक उत्साह से डंके की चोट सीधी बात को भी उल्टी करके, अटपट करके, रूपक बनाकर कहते गये। तुम कहते हो, [illegible] और जीवन देता है [illegible] है, वही तो मृत्यु का कारण है। चन्द्रमा से जो कुछ अमृत झरता है [illegible] ही चट कर जाता है—इसलिए सूर्य बन्द कर देना योगी का [illegible]

1 यत् किंचित्स्रवते चन्द्रात् [illegible]।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यः [illegible] ॥ [illegible]

क्योंकि जो आकाश में तप रहा है वह वास्तव में सूर्य नहीं है, असल में सूर्य नाभि के ऊपर रहता है और चन्द्रमा तालु के नीचे (हठ., 3-78)। तुम कहते हो गोमांस भक्षण महापाप है? वारुणी पीना निषिद्ध है? भोले हो तुम। यही तो कुलीन का लक्षण है, क्योंकि 'गो' जिह्वा का नाम है और उसे तालू में उलटकर ब्रह्मरन्ध्र की ओर ले जाना ही 'गोमांस-भक्षण' है। तालु के नीचे जो चन्द्र है उससे जो सोमरस नामक अमृत झरा करता है वही अमर वारुणी है। इसका पाना तो बड़े पुण्य का फल है! (हठ, 3-46, 48)। तुम कहते हो बाल-विधवा सम्मान और पूजा की वस्तु है। सारे समाज को उसके सम्मान की और रक्षा की जिम्मेदारी लेनी चाहिए? —एकदम उल्टी बात है। क्योंकि गंगा और यमुना की मध्यवर्ती पवित्र भूमि में वास करनेवाली एक तपस्विनी बाल-विधवा है, उसका बलात्कारपूर्वक ग्रहण करना ही तो विष्णु के परमपद को प्राप्त करने का सही रास्ता है! कारण स्पष्ट है। गंगा इड़ा है, यमुना पिंगला। इन दोनों की मध्यवर्तिनी नाड़ी सुषुम्ना में कुण्डलिनी नामक बालरण्डा को जबर्दस्ती ऊपर उठा ले जाना ही तो मनुष्य का परम लक्ष्य है।[1] तुम कहते हो कि पंचम-वर्णी अवधूत बनकर मन्त्र-तन्त्र करने से सिद्धि मिलेगी —बेतुकी बात है यह। अपनी घरनी को लेकर जब तक केलि नहीं करते तब तक बोधि-प्राप्ति की आशा बेकार है। इसी तरुणी घरनी के बिना जप-होम सब व्यर्थ है! क्योंकि घरनी तो असल में महामुद्रा है, उसके बिना निर्वाण-पद कैसे मिल सकता है।[2]

योगियों, सहजयानियों और तान्त्रिकों के ग्रन्थों से ऐसी उलटवाँसियों का संग्रह किया जाये तो एक विराट् पोथा तैयार हो सकता है। परन्तु हमें अधिक संग्रह करने की जरूरत नहीं। इस प्रकरण में जो प्रसंग उपस्थित किया जा रहा है उसी को सुनकर धैर्य सम्हाल रखना आसान काम नहीं है।

सहजयानियों में इस प्रकार की उल्टी बानियों का नाम 'सन्ध्या-भाषा' प्रचलित था। म. म. हरप्रसाद शास्त्री के मत से 'सन्ध्या-भाषा' से मतलब ऐसी भाषा से है जिसका कुछ अंश समझ में आये और कुछ अस्पष्ट लगे, पर ज्ञान के दीपक से जिसका सब स्पष्ट हो जाय। इस व्याख्या में 'सन्ध्या' शब्द का अर्थ 'साँझ' मान लिया गया है और यह भाषा अन्धकार और प्रकाश के बीच की—सन्ध्या की भाँति

1 गंगायमुनयोर्मध्ये बालरण्डा तपस्विनी।
बलात्कारेण गृह्णीयात् तद्विष्णोः परमं पदम्॥
इडा भगवती गंगा पिंगला यमुना नदी।
इडापिंगलयोर्मध्ये बालरण्डा च कुण्डली॥ हठ., 3-101, 2

2. एक्क न किज्जइ मन्त न तन्त। णिअ घरणी लेइ केलि करन्त॥
णिअ घर घरणी जाव ण मज्जइ। ताव कि पचवण्ण विहरिज्जइ॥
एस जप-होमे मण्डल-कम्मे। अनुदिन अच्छसि काहिउ धम्मे।
तो विणु तरुणि निरन्तर नेहे। बोहि कि लाभइ एण वि देहे।
—कृष्णाचार्य का दोहा; बौद्ध., पृ. 131-2 और

ही कुछ स्पष्ट और अस्पष्ट बतायी गयी है। किन्तु ऐसे बहुत-से विद्वान् हैं जो उक्त भाषा का यह अर्थ स्वीकार नहीं करना चाहते। एक पण्डित ने अनुमान भिड़ाया है कि इस शब्द का अर्थ सन्धि-देश की भाषा है। सन्धि-देश भी, इस पण्डित के अनुमान के अनुसार, वह प्रदेश है जहाँ बिहार की पूर्वी सीमा और बंगाल की पश्चिमी सीमा मिलती हैं। यह अनुमान स्पष्ट ही बे-बुनियाद है, क्योंकि इसमें मान लिया गया है कि बंगाल और बिहार के आधुनिक विभाग सदा से इसी भाँति चले आ रहे हैं। म. म. पं. विधुशेखर भट्टाचार्य का मत है कि यह शब्द मूलतः 'सन्धा भाषा' है, 'सन्ध्या-भाषा' नहीं। अर्थ अभिसन्धि-सहित या अभिप्राययुक्त भाषा है। आप 'सन्धा' शब्द को संस्कृत 'सन्धाय' (=अभिप्रेत्य) का अपभ्रष्ट रूप मानते हैं। बौद्ध-शास्त्र के किसी-किसी वचन ने सहजयान और वज्रयान में यह रूप धारण किया है। असल में, जैसा कि भट्टाचार्य महाशय ने सिद्ध कर दिया है, वेदों और उपनिषदों में से भी ऐसे उदाहरण खोज निकाले जा सकते हैं कि जिनमें सन्धा भाषा जैसी भाषा के प्रयोग मिल जाते हैं। परन्तु बौद्ध धर्म की अन्तिम मात्रा के समय यह शब्द और वह शैली अत्यधिक प्रचलित हो गयी थी और साधारण जनता पर इसका प्रभाव भी बहुत अधिक था।

हमने ऊपर जिस योग-सिद्धान्त की चर्चा की है उससे ही स्पष्ट है कि योगियों के पारिभाषिक शब्दों में उल्टी बानी को प्रभावशाली और अद्भुत बना देने की शक्ति है। हठयोग-प्रदीपिका, शिव-संहिता और घेरण्ड-संहिता आदि ग्रन्थों में वर्तमान रूप में निम्नलिखित विषयों के लिए निम्नलिखित संकेत कहे गये हैं। कबीरदास तथा अन्य परवर्ती सन्तों की उलटबाँसियों और योगपरक रूपकों को समझने में ये उपमान (या संकेत) काम के सिद्ध हुए हैं। नीचे उनका संग्रह किया जा रहा है :

चित्त—भ्रमर (हठ., 4-89), अग्नि (हठ., 4-97)
मन—मत्त गजेन्द्र (हठ., 4-90), मृग (हठ., 4-91) पारद (हठ., 4-95)
अन्तःकरण—(हठ., 4-98)
अन्तरंग (अन्तःकरण)—कुरंग (हठ., 4-96), हरिण (हठ., 93)
वायु—सिंह, गज, व्याघ्र, (हठ., 3-15)
ब्रह्मनाड़ी—बिल (हठ., 3-11)
नाद—शिकारी (हठ., 4-92), बन्धन (हठ., 4-94), [illegible] (हठ., [illegible]
उन्मनी—कल्पलता
इड़ा—सूर्य-अंग (हठ., 3-15), [illegible] (शिव., 5-100), [illegible]
3-102)
पिंगला—चन्द्र-अंग (हठ., 3-15), यमुना (हठ., 3-[illegible]
(शिव., 5-123)
सुषुम्ना—शून्य पदवी (हठ., [illegible]), [illegible], [illegible]
शाम्भवी, मध्यमार्ग (हठ., 3-4), [illegible]

सरस्वती (शिव., 4-123)
कुण्डलिनी—कुटिलागी, भुजगी, शक्ति, ईश्वरी, कुण्डली, अरुन्धती (हठ., 3-97), वालरण्डा (हठ., 3-101)
मूलधारपद्म (नाभि के ऊपर)—सूर्य (शिव., 5-106)
ब्रह्मरन्ध्र (तालु के नीचे)—चन्द्र (शिव , 5-103)
चन्द्र का रस —सोम-रस, अमर-वारुणी (शिव., तथा हठ., 3, 46-48)
ब्रह्मरन्ध्र— त्रिवेणी (शिव., 5-132), शून्य, कमल, कूप, गगन इत्यादि।[1]

परन्तु रूपको और उलटवाँसियो को समझने के लिए केवल ऊपर बताये हुए शब्द ही पर्याप्त नही है। वस्तु धर्म के साथ जिस किसी भी उपमान का साधर्म्य हो सकता है उसे ही अतिशयोक्ति-अलकार की शैली पर उस वस्तु का वाचक मान लिया गया है। उदाहरणार्थ, चित्त चञ्चल है, इसलिए हरिण-मच्छ आदि कई चाञ्चल्य-धर्मी उपमानो को चित्त का वाचक मान लिया गया है। इसी तरह संसार मे विपयी लोग डूब जाते है, इसीलिए वह सागर का समान-धर्मा है, जिसमें एक बार पड जानेवालो को मार्ग नही मिलता। फिर वह गहन वन के समान भी है, जहाँ पद-पद पर हिंस्र जन्तुओ के समान कुवृत्तियों का भय है। इस प्रकार संसार के लिए 'सागर' और 'वन' पर्यायवाची हो गये है।

योगियो के उक्त शब्दो के साथ कबीरदास के अपने शब्द भी मिले हुए हैं। 'विलैया', 'मूसा', 'पूत', 'वाँझ माता' आदि शब्द योगियों के साहित्य मे नही मिलते। कम-से-कम मुझे देखने को नही मिले। इन स्थानों पर उद्देश्य माया और जीव से होता है। इस प्रकार श्री विचारदासजी ने अपनी विद्वत्तापूर्ण पुस्तक में इन शब्दों को सकेतित माना है।

मन —मच्छ, माछ, मीन, जुलाहा, साउज, सियार, रोझ, हस्ती, मतंग, निरंजन आदि।
जीवात्मा—पुत्र, पारथ, जुलाहा, दुलहा, सिंह, मूसा, भौरा, योगी आदि।
माया— माता, नारी, छेरी, गैया, विलैया।
ससार— सागर, वन, सीकस।
नरातन— यौवन, दिवस, दिन।
इन्द्रिय— सखी, सहेलरी इत्यादि।

—विचार., पृ. 40

श्री विचारदासजी का दावा है कि ये शब्द सम्प्रदाय मे स्वीकृत हैं। परन्तु उन्होने भी यह दावा नही किया कि ये ही सब कुछ हैं। इनके अतिरिक्त और भी बहुत-से शब्द हैं जिनकी चर्चा उन्होने विस्तार-भय से नही की है। परन्तु

1 खोज की जाय तो कबीरदास के पदो मे इन शब्दों से मिलते-जुलते संकेतित बहुत-से शब्द ढूँढ़े जा सकते है। उदाहरणार्थ, विहगम (क. ग्रं., पद 6); मृग (पद 9); चित्त (पद 9); गंगा-यमुना (पद 14 और 18), बेलि (पृ. 26, साखी 58, 3-4); सूर्य (पद 6, 18, 173); चन्द्र (पद 6, 18, 173); त्रिवेणी (पद 4, 18) इत्यादि भूरिशः पाये जा सकते है।

यह बात अच्छी तरह से समझ लेनी चाहिए कि अतिशयोक्ति अलकार की शैली पर कहे जाने पर भी वे स्वयं अतिशयोक्ति अलंकार नही है। इनमें कुछ का तो तत्तत् शास्त्र में संकेतितार्थ निश्चित ही है। अर्थात् वहाँ उपमेयोपमान भाव की कल्पना ही नही की गयी। उदाहरणार्थ, जब इडा और पिंगला को गंगा और यमुना कहा गया है तो प्रस्तुत गंगा-यमुना में (उपमान मे), अप्रस्तुत इडा-पिंगला के (उपमेय के) अर्थ का 'निगिरण-पूर्वक अध्यवसान' नही है, जबकि ऐसा होना ही अतिशयोक्ति अलंकार का बीज है,—बल्कि वहाँ गंगा शब्द का संकेतितार्थ ही इड़ा है और पिंगला शब्द का सकेतितार्थ ही यमुना है। इस प्रकार जितनी उलटवाँसियाँ हैं उनमे साधारण तौर से विपरीत भाव दिखाने पर भी योग-शास्त्रीय परिभाषाओं का ही व्यवहार है। परन्तु यही बात रूपकों के बारे में ठीक नही है ('रूपक' से यहाँ अलकार रूपक का विशिष्ट अर्थ न लेकर सामान्य अर्थ ही लेना चाहिए)। अधिकांश रूपकों में प्रस्तुत अर्थ का निगिरण सचमुच ही हुआ है जिसका परिणाम यह हुआ कि टीकाकारों की कल्पना को यथेष्ट स्वाधीनता मिल गयी है। एक ही पद में आये हुए एक ही शब्द को भिन्न-भिन्न टीकाकारो ने भिन्न-भिन्न अर्थो मे ग्रहण किया है। इस तरह ऊपर श्री विचारदास द्वारा बताये सकेतो को साम्प्रदायिक संकेत मान भी लें तो इनके अतिरिक्त बहुतेरे शब्द रह जाते हैं जिनके लिए अलग-अलग कल्पना की गुंजाइश रह जाती है।

परम्परा निस्सन्देह किसी तत्त्व के समझने का उत्तम साधन है, पर परम्परा का ऐतिहासिक विकास और भी अधिक महत्त्वपूर्ण साधन है। सहजयानी सिद्धों, नाथपन्थी योगियों और निर्गुण मत के सन्तो के सांकेतिक शब्दों की तुलना करने पर हम निस्सन्देह इस परिणाम पर पहुँचते है कि दूसरी श्रेणी के संकेतितार्थो में—अर्थात जहाँ प्रस्तुतार्थ का अप्रस्तुतार्थ द्वारा निगिरण हो गया होता है, वहाँ धर्म ही संकेत का कारण है, धर्मी नही। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो जब ये सिद्ध, योगी और सन्त लोग मन को मच्छ या हरिण कहते है तब 'मन' से संकेतित चांचल्य-धर्म होता है, चांचल्यधर्मी हरिण नहीं। वह हरिण किसी अन्य साधर्म्यवश किसी अन्य वस्तु का द्योतक भी हो सकता है। 'हरिण' या 'मच्छ' शब्द से साधर्म्य के प्रसंगवश कई पदार्थ ग्रहण किये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ हरिण का भीतियुक्त स्वभाव कभी कमजोर साधक का द्योतक हो सकता है।

अधिक निश्चित उदाहरण के लिए भूसुकपाद का यह पद लिया जाय :

अपणा माँसे हरिणा वैरी। खनह न छाड़अ भूकुअहेरी॥
तिण न छुअइ हरिण पिवइ न पाणी। हरिणा हरिणीर निलअ न जाणी।

(हरिण=चित्त, आखेटिक=स्वयं भूसुकपाद [साधक], हरिणी=ज्ञान-मुद्रा।)

इसमें 'हरिण' 'हरिणी' शब्द, जो भिन्न-भिन्न अर्थों मे प्रयुक्त हुए हैं वे दो भिन्न

धर्मों के कारण, यह बात टीकाकार ने साफ-साफ स्वीकार की है।[1] धर्म भी एक अर्थगत है, दूसरा शब्दगत। चित्त को हरिण इसीलिए कहा गया है कि वह चाचल्यधर्मी है और ज्ञानमुद्रा को हरिणी इसीलिए कहा गया है कि वह विपपान और भवग्रह आदि को हरण करती है और भूसुकपाद अपने को आखेटिक इसीलिए कहते है कि उनमे गुरु के वचनरूपी बाणो से चित्त-चांचल्य को वेध सकने योग्य आखेटकत्व धर्म विद्यमान है।

इसी प्रकार कृष्णाचार्य का पद है .

मारिअ सासु ननँद घरे शाली।
माअ मारिअ कान्ह भइल कपाली ॥

[सास = स्वास, ननँद = इन्द्रिय, मा = काया, कपाली = स्वयं कृष्णाचार्य (= साधक)[2]।]

इन शब्दो मे साधर्म्य की प्रधानता ही संकेत का कारण समझी गयी है। उदाहरणो की सख्या और भी बढायी जा सकती है। स्वयं कबीरदास ने भी कभी जीवात्मा को दूल्हा कहा है और कभी मन को ही इस शब्द से स्मरण किया गया है। कभी उनके राम भी इस दूल्हापद को सुशोभित करते है। अगर सर्वत्र 'दुलहा' मे एक ही धर्म का आरोप होता तो ऐसा होना सम्भव नही था।

'निरंजन' शब्द के बारे में जो साम्प्रदायिक विचार बाद में प्रतिष्ठित हुआ था, उसे देखते हुए निरंजन को मन का वाचक समझ लेना कुछ आश्चर्य की बात नही है। हम पहले ही देख चुके है कि न तो परम्परा ही और न कबीरदास की पुरानी बानियाँ ही निरजन को मन (या भगवान् के अतिरिक्त और कोई वस्तु) समझने का समर्थन करती है। कबीरदास ने तो स्पष्ट रूप में 'निरंजन' से निरुपाधि निर्गुण गोविन्द को सम्बोधित किया है—गोविन्द जिसका कोई रूप नही, रेख नही, मुद्रा नही, माया नही, जो मुद्रा भी नही, पहाड़ भी नही—सबसे विलक्षण, सबसे अतीत[3]। कबीरदास संसार को ही अजन समझते है; उत्पत्ति भी, परिवर्त्तन भी, आवागमन भी, योग भी—सब कुछ अंजन है, सब-कुछ कलुप है। निरंजन या

1. अपणेत्यादि। अतएव स्वयं कृतविद्यामात्सर्यदोषेण चाचल्यतया पुन स एव चित्तहरिण सवपा वद्धवैरी। क्षणमपि चित्तहरिण विहाय भूसुकपाद आखेटिक. सद्गुरु-वचन-बाणेनैन प्रहरति। विपपान भवग्रहान् हरति खण्डयति। हरिणीति सन्ध्याभापया सब ज्ञानमुद्रा नैरात्मा।

—चर्या., पृ. 12 13

2 चर्या, 11-5, पृ 21-22

3 गोव्यदे, तू निरजन, तू निरजन तूं निरजन राया।
तेरे रूप नाही, रेख नाही, मुद्रा नाही माया ॥
समन्द नाही, सिखर नाही धरती नाही गगना।
रवि-ससि दोउ एकै नाही, बहत नाही पवना ॥
नाद नाही, ब्यद नाही, काल नाही काया।
जनते जन ब्यब न होते तब तूंहि राम राया ॥ इत्यादि

—क. ग्रं., पद 219

निष्कलुष अकेले राम हैं जो सब घट में समाये हुए है। एक अन्य पद में तो निरंजन से मन लगाने का उपदेश देकर उन्होंने मानो साफ घोषणा कर दी है कि निरंजन कोई और है, मन कुछ और[1]। फिर भी यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि कबीर के उत्साही चेलों ने 'निरंजन' को जिस सीमा तक घसीटा उसके आधार पर सम्प्रदाय में 'निरंजन'[2] का अर्थ मन हो जाना बहुत अन्याय नहीं है।

इतनी नीरस चर्चा के बाद हम कबीरदास की बहुतेरी उलटबाँसियों और अधिकांश योगपरक रूपकों के समझने योग्य अवस्था में आ गये हैं। जहाँ शास्त्रीय संकेतों का ग्रहण किया गया है (अर्थात् गंगा, यमुना, सरस्वती, त्रिवेणी, वाराणसी, सूर्य, चन्द्र, सोमरस, वारुणी, मदिरा, गोमांस, ब्रह्मपथ, भुजंगी, नागिन, बिल, अमृत, श्मशान, बेलि, लता, शून्य, गगन आदि), वहाँ तो विशेष सुविधा है। हम आँख मूँदकर असली रहस्य को समझ सकते हैं। इस प्रकार, पूत के (जीव के) पहले बाँझ माता का (माया का) जन्म, बाँबी का (ब्रह्मनाडी का) भुजंग को ग्रास कर जाना (क. ग्रं., पद 162); किसी विचित्र बेलि का (उन्मनी का) लहलहाना और (विषय-वारि से) सींचने पर कुम्हला जाना और आकाश (शून्य-चक्र) में फल देना (क. ग्रं., पृ. 86, साखी 58-3); चन्द्र (तालु के नीचे) और सूर्य के (नाभि के ऊपर) खम्भों में बकसाल की (कुण्डलिनी की) डोरी बाँधकर झूलती हुई सखियों की (इन्द्रियों की) क्रीड़ा से दुलहिन का (मन का) आकर्षित होना; नीचे से ऊपर को बहती हुई गंगा-यमुना (इड़ा-पिंगला—मूलकमल [नाभिकमल] के घाट पर और संगम त्रिवेणी के पास है) और उनमें षट्चक्र की गगरी का भरा जाना (क. ग्रं., पद 18), धागे के (ध्यान के) टूटने से गगन का (शून्य समाधि का) विनष्ट होना और शबद का गायब हो जाना (क. ग्रं., पद 32); जहाँ सूर्य और चन्द्र का प्रकाश नहीं जाता वहाँ (अर्थात सहस्रार-चक्र में) आनन्द-रूप का दर्शन पाना, (क. ग्रं., पद 31); शून्य में अनाहत तूर्य का बजना (क. ग्रं., पद 7); डाइन का (माया का) कुत्ते पर (मन पर) डोरा डालना, पाँच कुटुम्बियों का (तत्त्वों का); शब्द का बजना, रोझ, मृग या शशक का (मन का) पारधी को (जीव को) घेर लेना (क. ग्रं., पद 9) आदि बातें अत्यन्त सरल हो जाती है।

परन्तु बहुत-सी बातें फिर भी अनुमान-सापेक्ष रह जाती है, क्योंकि उनका संकेत निश्चित नहीं है और कौन-सा धर्म उनमें आरोपित करना उचित है, यह

1. अंजन अलप निरंजन सार। यहै चीन्हि नर करहु विचार।
अंजन उतपति बरतनि लोई। बिना निरंजन मुक्ति न होई॥
अंजन आवै अंजन जाइ। निरंजन सब घटि रह्यौ समाइ।
जोग-ध्यान-तप सबै विकार। कहै कबीर मेरे राम आधार॥
—क. ग्रं., पद 337

2. ना हज जाऊँ ना तीरथ-पूजा। एक पिछाण्यां तो क्या दूजा॥
कहै कबीर भरम सब भागा। एक निरंजन सूँ मन लागा॥
—क. ग्रं., पद 338

सम्पूर्णतया श्रोता पर निर्भर करता है। बहुत वार केवल संख्यावाचक विशेषण ही अर्थावगम का कारण होता है। पांच कुटुम्ब (क. ग्रं., पद 9) में 'पांच' शब्द का आना ही सूचित करता है कि या तो ये पाँच इन्द्रियाँ है या पाँच तत्त्व। प्रसंगानुसार यह निश्चित करने मे विशेष कठिनाई नही पड़ती कि वे तत्त्व ही हैं। ऊपर जो योगशास्त्रीय सिद्धान्त बताये गये है, और, और भी आगे चलकर जो भक्ति-सम्बन्धी सिद्धान्त कहे जायेंगे, उन्हे ध्यान मे रखकर अर्थ करनेवाला कल्पनाशील श्रोता कोई भी सिद्धान्त-सम्मत अर्थ उनमे से निकाल सकता है। एक पद 'बीजक' से उद्धृत किया जा रहा है। यह पद 'कबीर-ग्रन्थावली' में भी थोड़े पाठान्तर के साथ है। प्रधान पाठ-भेद यह है कि जहाँ 'बीजक' मे 'सन्तो' सम्बोधन है, वहाँ 'कबीर-ग्रन्थावली' मे 'अवधूत'। कहना नही होगा कि इस सम्बोधन-भेद से अर्थ मे बडा अन्तर आ जाता है। पहले लक्ष्य कर चुके है कि कबीरदास सन्तों को सम्बोधन करके अपना मत व्यक्त करते है, पर अवधूत को सम्बोधन करके उसके मत का खण्डन करते है। मुझे 'कबीर-ग्रथावली' वाला पाठ (क ग्रं., पृ. 141-142) ठीक जँचता है। अप्रासगिक होने पर भी यहाँ स्मरण करा दिया जा सकता है कि 'बीजक' का पाठ भी आँख मूँदकर नही ग्रहण करना चाहिए। पद इस प्रकार है :

सन्तो, जागत नीद न कीजै[1]।
काल न खाय, कल्प नहिं ब्यापै, देह जरा नहिं छीजै ॥
उलटि गंग समुद्रहिं सोखै ओ' सूर गरासै।
नवग्रह मारि रोगिया बैठे जल मे बिंब प्रकासै ॥
बिनु चरनन को दस दिसि धावै, बिन लोचन जग सूझै।
ससा सो उलटि सिंह को ग्रासै, ई अचरज कोउ बूझै ॥
औंधे घडा नही जल डूबै, सूधे सो घट भरिया ॥
जेहि कारण नर भिन्न भिन्न, करु गुरुप्रसाद तें तरिया ॥
पैठि गुफा मे सब पग देखै, बाहर कछुक न सूझै।
उलटा बान पारिधिहि लागे, सूरा होय सो बूझै ॥
गायन कहै, कबहुँ नहिं गावै, अनबोला नित गावै।
नटवर बाजी पेखनी पेखै, अनहद हेतु बढ़ावै ॥
कथनी-बदनी निजुकै जोहै, ई सब अकथ कहानी।
धरती उलटि आकासहिं बेधै, ई पुरुषहि की बानी ॥
बिनां पियाला अंमृत अचवै, नदी नीर भरि राखै।
कहै कबीर सो जुग जुग जीवै, राम-सुधारस चाखै ॥

—'बीजक', शब्द 2

1. 'कबीर-ग्रन्थावली' का पाठ इस प्रकार है :
अवधू, जागत नीद न कीजै।
काल न खाइ कल्प नहीं ब्यापै, देही जुरा न छीजै।

शेष पृ. 70 पर→

इस पद के सांकेतिक शब्दों का यही अभिप्राय है. इस बात को भिन्न-भिन्न टीकाकारों के अर्थ पर से तुलना करना मनोरंजक सिद्ध होगा :

सांकेतिक शब्द	अभिप्राय		
	विश्वनाथ	विचारदास	शास्त्रीय परम्परा
1. उल्टी गंगा	संसारमुखी रामरूपी गंगा का ब्रह्म-मुखी होना	ब्रह्माण्ड में चढ़ायी हुई श्वास	इड़ा
2. समुद्र	संसार	सन्ताप	संसार (भव)
3. शशि	एक जीवात्मा को मानना	इड़ा	इड़ा या नाभि के ऊर्ध्व भाग का सूर्य
4. सूर्य	नाना निरंजनादि ईश्वरनको मानिबेको ज्ञान	पिंगला	पिंगला या तालु के अधोभाग का चन्द्र
5. नवग्रह	वैशेषिक के नौ पदार्थ	नवद्वार	×
6. जल	राम	ब्रह्माण्ड	×
7. बिम्ब	शुद्ध साहब का अंश	ब्रह्मज्योति	×
8. रोगिया	ग्रह-ग्रस्त संसारी	योगी	×
9. मृग	अहंब्रह्म विचार	मन	संसारी
10. सिंह	'तैं' (मूढ़)	जीवात्मा	मन
11. औंधा घड़ा	साहब की ओर पीठ किया हुआ मनुष्य	बहिरंग-वृत्ति	जीवात्मा
12. सूधा घड़ा	साहब की ओर मुख किया हुआ मनुष्य	अन्तरंग-वृत्ति	जगत्-मुख शरीर उद्बुद्ध कुण्डलीक शरीर
13. गुफा	शरीर	गगन-गुफा	?
14. उलटा बाण	सुरति (जो जगत् मुख, ब्रह्म-मुख, ईश्वर-मुख और जीवात्मा मुख है)	श्वास	प्राणवायु
15. पारधी	पार्थिव परम पुरुष	(बीर) मन	मन
16. नटवर बाजी	निर्गुण ब्रह्म को देखना नट की बाजी के समान धोखा है	(नटवर बाज) = अनाहत नाद	×
17. धरती	जड़ माया	पिण्डाण्ड	मूलाधार
18. आकाश	ब्रह्म	ब्रह्माण्ड	शून्यचक्र
19. प्याला	स्थूल-सूक्ष्मादि पंच शरीर	अन्यान्य साधना	इन्द्रिय
20. अमृत	साहब के प्रति प्रेम	निजानन्द रूप अमृत	अमरवारुणी
21. नदी	जगत्	आत्माकार वृत्ति	नाड़ी
22. नीर	राम		श्वास
23. राम-सुधारस	राम-प्रेम	आनन्दामृत	सहजामृत

इनकी तुलना करने से स्पष्ट ही जान पड़ेगा कि टीकाकारों ने काफी स्वाधीन कल्पना से काम लिया है। ऊपर की दो टीकाओ मे से विचारदासजी की टीका 'विश्वनाथसिंहजी की अपेक्षा परम्परा के अधिक नजदीक है। वस्तुतः जिन शब्दों का सकेतितार्थ शास्त्रीय परम्परा से समर्थित है उनके ही विषय मे निश्चित रूप से कहा जा सकता है; बाकी जितने भी संकेत-शब्द हैं उनका तद्‌गत धर्म के अनुसार ऐसा कोई भी ,अर्थ किया जा सकता है (और किया भी गया है) जो प्रसंग के अनुकूल हो और कबीरदास के सिद्धान्त के विरुद्ध न हो। इसका मतलब यह हुआ कि यदि कबीरदास के सिद्धान्त का ज्ञान करना है तो योगरूपक और उलटबांसियाँ बहुत कम सहायता कर सकती है, क्योंकि वे अपनी व्याख्या के लिए स्वयं सिद्धान्तो की अपेक्षा रखती है। ऊपर के टीकाकारो में श्रीविश्वनाथसिंहजूदेव साकेतवासी राम को ही कबीर का प्रतिपाद्य समझते हैं जबकि श्रीविचारदासजी निर्गुण निराकार ब्रह्म को। दोनो विचार कबीर के नही हो सकते। फिर भी अपने-अपने सिद्धान्त की पुष्टि के लिए दोनो ने अपने मनोऽनुकूल अर्थ लगा लिये हैं। इसीलिए यह दृढतापूर्वक कहा जा सकता है कि कबीरदास के सिद्धान्तो की जानकारी के लिए उनकी सीधी-सादी वाणियाँ और पद ही सहायक हो सकते है। किसी भी योगपरक रूपक और उलटवांसी का अर्थ करते समय दो बातों का ध्यान रखना परमावश्यक है—(1) शास्त्रीय परम्परा, और (2) कबीरदास का व्यक्तिगत मत। पहले विषय की चर्चा हमने पिछले अध्यायो मे कर ली है, जो थोड़ा बाकी है उसकी अगले अध्याय मे कर लेगे। परन्तु दूसरी बात का कहना जरा कठिन है। शास्त्रीय परम्परा वंशागत प्रभाव और परिपार्श्विक अवस्थाओ की छलनी से छानकर ही हम कबीर-

→ पृ 268 का शेष

उलटी गगा समुद्रहि सोखै ससिहर सूर गरासै।
नवग्रिह मारि रोगिया बैठे जलमैं ध्यंब प्रकासै।
डाल गह्यांथैं मूल न सूझैं मूल गह्यां फल पावा।
बंबई उलटि शरप कौ लागी धरणि महारस खावा।
बैठि गुफा मैं सब जग देख्या, बाहरि कछू न सूझै।
उलटैं धनकि पारधी मारयौ यहु अचरज कोई बूझै।
औंधा घड़ा न जल मैं डूबै सूधा सू भर भरिया।
जाकौ यहु जग घिणकरि चालै ता प्रसादि निस्तरिया।
अम्बर बरसै धरती भीजै, यहु जांणं सब कोई।
धरती बरसैं, अम्बर भीजै बूझै बिरला कोई॥
गांवणहारा कदे न गावै अणबोल्या नित गावै।
नटवर पेखि पेखना, पेखै अनहद बैन बजावै।
कहणी-रहणी निज तन जाणैं यहु सब अकथ कहाणी।
धरती उलटि अकासहि ग्रासै यहु पुरषा की बाणी।
बाझ पियालैं अंमृत सोख्या नदी-नीर भरि राख्या॥
कहै कबीर ते बिरला जोगी धरणि महारस चाख्या॥

—क. ग्रं., पद 162

दास के व्यक्तित्व का कुछ अनुमान लगा सकेंगे। अगले अध्यायो मे उस तरफ हमारा प्रयत्न रहेगा।

योगशास्त्रीय मतो का यह जो ऊपर ब्यौरा दिया गया है, उसकी सहायता से ही हम कबीर के योगपरक रूपको और उलटवाँसियो का अर्थ समझ सकते हैं। तब प्रश्न हो सकता है कि क्या कबीरदास वही मानते थे जो हठयोगी लोग माना करते थे ? ऊपर हमने कई बार कहा है कि कबीरदास योगियो के द्वारा प्रभावित तो बहुत हैं, पर वे स्वय वही नही हैं जो योगी हैं। हम यहाँ फिर एक बार कहते है कि कबीरदास यौगिक क्रियाओ को भी बाह्याचार ही मानते थे। वे उन सारी क्रियाओं को सहजावस्था की प्राप्ति का कारण नही मानते थे। उनके मत से उन क्रियाओ के द्वारा प्राप्त शून्यभाव (या ख-सम भाव) शराबी के नशे की भाँति अस्थायी है। योग-द्वारा प्राप्त सम-भाव है तो ठीक, पर शाश्वत नही है। शाश्वत है सहज समाधि, सहज भजन। अनहदनाद बजता ठीक है, पर वही परम सत्य नही है, चरम वह है जो उसे बजाता[1] है। जो तोड़ भी सकता है और जोड़ भी सकता है, जो बना भी सकता है और बिगाड भी सकता है। वह षड्-दर्शन का विषय नही है और न छियानबे पाखण्डो की पहुँच के भीतर है और न जप-तप-पूजा-अर्चा का ही विषय है। शास्त्र लिख-लिखकर लोगो ने लोगों को धोखा ही दिया है। कबीरदास का कहना है कि योगी हो या जंगम, सब झूठी आशा ले-लेकर ही अपनी साधना कर रहे है। जो चरम सत्य और परम तत्त्व है वह भक्ति से ही मिल सकता है।[2] कैसा विपरीत है यह तमाशा ! अनहदनाद की दुराशा में फँसकर ये योगी वहाँ चले गये जहाँ शून्य है, जहाँ कुछ भी नही है ! निरालम्ब शून्य में भटकनेवाले [illegible] जीव (योगी) ने किसी ऐसे लाज बचावनहारे की परवा तक न की, [illegible] हाथ भी छोड़ दिया और खुद बेहाथ हो गया ! संसार सशय का शिकार है। [illegible]-अहेरी सबको मार रहा है। भलेमानसो, राम का सुमिरन करो। [illegible] पकड़ रखी है, कौन जाने कहाँ और कब दे मारेगा ! —

1. बाजै जन्त्र नाद-धुनि हुई, जो बजावै सो और [illegible]
वाजी नाचै कौतिग देखा, जो नचावै सो किन्हूँ [illegible]।

2 भाई रे विरले दोस्त कबीर के, यहु तत बार [illegible]। — [illegible] 230-31
भागण - घडण - संभारण - समृथ ज्यूँ [illegible]।
आलम-दुनी सबै फिरि खोजी हरि-बिन [illegible]।
छह-दरसन-छ्यानबे-पाखण्ड आकुल [illegible]।
जप-तप-संजम-पूजा-अरचा जोतिग [illegible]
कागद लिखि लिखि जगत भुलाना [illegible]
कहै कबीर जोगी अरु जंगम [illegible]।
गुरु-प्रसाद रटो चातिग ज्यौं [illegible]

अनहद-अनुभव की करि आसा।
देखौ यह विपरीत तमासा!
इहै तमासा देखहु (रे) भाई।
जहवाँ सुन्न तहाँ चलि जाई!
सुन्नहि बाँध सुन्नहि गयऊ।
हाथा छोड़ि बेहाथा भयऊ॥
ससय सावज सब संसारा।
काल-अहेरी साँझ-सकारा॥
सुमिरन करहू राम का, काल गहे कर केस।
ना जानो कब मारिहै, का घर का परदेस॥

—'बीजक', रमैनी 19

* * *

यह अनहद को बजानेवाले, शरणागत-रक्षक काल-अहेरी का नियामक अपरम्पार महिमाशाली राम कौन है?

ब्रह्म और माया

सभी परम्पराएँ इस बात का समर्थन करती हैं कि कबीरदास का रामानन्द के साथ सम्बन्ध था। कबीरदास ने स्वयं स्वीकार किया है कि रामानन्द ने उन्हें चेताया था; पर क्या चेताया था और स्वयं क्या चेते हुए थे इस विषय में नाना मुनियों के नाना मत है। पं रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि "तत्त्व-दृष्टि से रामानुजाचार्यजी के मतावलम्बी होने पर भी अपनी उपासना इन्होंने अलग की। इन्होंने उपासना के लिए बैकुण्ठ-निवासी विष्णु का स्वरूप न लेकर लोक में लीला-विस्तार करनेवाले उनके अवतार राम का आश्रय लिया। इनके इष्टदेव राम हुए और मूल-मन्त्र राम-नाम।···कर्म के क्षेत्र में शास्त्र-मर्यादा इन्हें मान्य थी, पर उपासना के क्षेत्र में किसी प्रकार का लौकिक प्रतिबन्ध ये नहीं मानते थे। सब जाति के लोगों को एकत्र कर राम-भक्ति का उपदेश ये देने लगे और राम-नाम की महिमा सुनाने लगे।···इनकी उपासना दास्य-भाव की थी···(इन्होंने) ब्रह्म-सूत्र पर आनन्द-भाष्य, श्रीमद्भगवद्गीता-भाष्य, वैष्णव-मतांतर-भास्कर, श्रीरामार्चना-पद्धति आदि कई ग्रन्थों की रचना की, जिनमें से अब बहुतों का पता नहीं लगता।" (शुक्ल. पृ. 122-24)। खेद है कि शुक्लजी ने यह नहीं लिखा है कि ऊपर बतायी हुई

पुस्तकों में जो लापता है वह कौन-कौन है और जो बची है वे कौन है तथा अपना उक्त मत शुक्लजी ने किन पुस्तकों के आधार पर स्थिर किया है। उन्होंने 'श्रीरामानन्दविग्विजय' और 'वैष्णवमतान्तर-भास्कर' से दो श्लोक अपनी पुस्तक में उद्धृत किये है और इसलिए यह अनुमान किया जा सकता है कि इस मत को शुक्लजी ने इन्ही दो पुस्तको के आधार पर स्थापित किया होगा। मुझे ये पुस्तकें देखने को नही मिली है। पर कुछ पण्डितो का दावा है कि रामानन्दजी और चाहे जिस दृष्टि से रामानुज के मतावलम्बी क्यों न रहे हों, तत्त्वदृष्टि से वे उनके मतावलम्बी ही नही थे। कुछ दूसरे पण्डित ठीक इनके विरुद्ध मत का प्रतिपादन करते है, वे तत्त्वदृष्टि से तो रामानन्द को रामानुज का अनुयायी मानते है, पर उपासना-पद्धति में एकदम अलग। इसमें कोई सन्देह नही कि सारी परम्पराएँ रामानन्द का रामानुज-सम्प्रदाय से सम्बन्ध बताती है, पर साथ ही कुछ ऐसी दलीलें भी उपस्थित की गयी है जिनसे इस अनुमान की पुष्टि होती है कि दोनों आचार्यों का सम्बन्ध दूर का ही था। कहा गया है कि रामानन्द के प्रवर्तित सम्प्रदाय मे राम और सीता को जिस प्रकार एकमात्र परमाराध्य माना जाता है, उस प्रकार रामानुज के प्रवर्तित श्रीवैष्णव सम्प्रदाय मे नही। श्रीवैष्णव लोग सभी अवतारों की उपासना करते हैं। फिर रामानन्दी लोगों में जो मन्त्र प्रचलित है, वह भी रामानुज-सम्प्रदाय के मन्त्र से भिन्न है। उनका तिलक भी यद्यपि रामानुजी मत के तिलक से मिलता-जुलता है फिर भी हू-ब-हू वही नही है, थोडा भिन्न है। स्वयं रामानन्दजी त्रिदण्डी सन्यासी नही थे, यह भी सिद्ध किया गया है। फिर और भी एक विचारणीय बात है। रामानन्दी सम्प्रदाय का नाम हू-ब-हू वही नही है जो रामानुजीय सम्प्रदाय का। इस प्रकार नीचे लिखी तालिका से स्पष्ट हो जायगा कि दोनो सम्प्रदायों में सभी महत्त्वपूर्ण बातों मे भेद है :

	रामानुजीय	रामानन्दीय
सम्प्रदाय	श्रीवैष्णव सम्प्रदाय	श्रीसम्प्रदाय
मन्त्र	ओ३म नमो नारायणाय	ओं रामाय नमः
भाष्य	श्री-भाष्य	आनन्द-भाष्य

फिर भी परम्परा से रामानन्द का सम्बन्ध रामानुजीय सम्प्रदाय से सिद्ध है। इसका समाधान इस प्रकार किया है : अनुमान कर लिया गया है कि तमिल देश में बहुत पुराने जमाने से कोई राम-सम्प्रदाय चला आ रहा था, जो कभी श्रीवैष्णवों मे अन्तर्भुक्त हो गया था। रामानन्द उसी सम्प्रदाय के आचार्य थे। कहा गया कि ऐसा मान लेने से सभी बातो की सन्तोषजनक मीमासा हो जाती है।[1] पहले एक संशय खड़ा करके फिर उसका समाधान करने का प्रयत्न भारतीय साधना और साहित्य के इतिहास मे यह अकेला नही है।

इधर पं. वैष्णवदासजी द्विवेदी न्यायरत्न, वेदान्ततीर्थ ने 'कल्याण' मे एक लेख

1 फर्क्हर, पृ. 324-6

लिखा है। उसमें रामानन्दाचार्य के आनन्द-भाष्य के आधार पर बताया गया है कि आचार्य ने (रामानन्द ने) विशिष्टाद्वैत मत को ही ब्रह्म-सूत्र-सम्मत बताया है। अर्थात् तत्त्व-दृष्टि से वे रामानुज के मत को ही मानते थे। इस प्रकार "रामानन्दाचार्य ने अनन्य भक्ति को ही मोक्ष का अव्यवहितोपाय माना है, प्रपत्ति को मोक्ष का हेतु माना है, कर्म को भक्ति का अंग माना है, जगत् का अभिन्न निमित्तोपादानकारण ब्रह्म को माना है। जीवों का परस्पर भेद और नानात्व माना है। तथैव जीवों का स्वरूपत. अणुत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व और ज्ञातृत्व और नियत्व इत्यादि माना है। जीवों का ब्रह्म से भेद माना है। वियोपकारिका वर्णाश्रम-व्यवस्था को स्वीकार किया है। विवर्तवाद का[1] बारम्बार प्रत्याख्यान किया है। 'नारदपाचरात्र' को बहुधा प्रमाण-रूप से स्वीकार किया है। 'निर्विशेष-ब्रह्म' का अनेक स्थलों पर निरास करके 'सविशेष-ब्रह्म' का प्रतिपादन किया है। 'सत्ख्यातिवाद'[2] को स्वीकार किया है और वेदों का अपौरुषेयत्व माना है।"[3] इस मत के लिए आनन्द-भाष्य के उद्धरण उद्धृत किये गये हैं, किन्तु आनन्द-भाष्य की प्रामाणिकता के बारे मे इधर काफी सन्देह प्रकट किया गया है।

परन्तु एक दूसरी दलील जो फर्कुहर ने पेश की है, काफी वजनदार है। कहा जाता है कि रामानन्द ही पहले-पहल 'अध्यात्म-रामायण' और 'अगस्त्य-सुतीक्ष्ण-संवाद' अपने साथ ले आये थे और इस बात मे तो कोई सन्देह ही नही कि उनके सम्प्रदाय मे इन ग्रन्थो का आज भी बहुत समादर है। प्रसिद्ध राम-भक्त गोसाईं तुलसीदासजी के 'रामचरित-मानस' पर 'अध्यात्म-रामायण' का प्रभाव सबको मालूम है। आज भी रामानन्दी वैष्णव इन ग्रन्थों को सम्प्रदायमान्य ग्रन्थ मानते हैं, और यह आश्चर्य की बात है कि ये ग्रन्थ विशिष्टाद्वैत की अपेक्षा शांकर मत की ओर अधिक झुके हैं (तु. 'अध्यात्म-रामायण', 1,32-51)। म. म. पं. गिरिधर शर्माजी ने सप्रमाण सिद्ध किया है कि गोस्वामीजी ने रामायण में अद्वैत मत को ही मान्य समझा है ('तुलसी-ग्रन्थावली', नि. 63-130)। इस प्रकार यह अनुमान असगत नही जँचता कि रामानन्दजी के मत मे भक्ति ही सबसे बड़ी चीज थी, तत्त्ववाद नही। उनके शिष्यो में और सम्प्रदाय मे अद्वैत-वेदान्त का पूर्ण समादर

1. 'परिणामवाद' अर्थात् अव्यक्त प्रकृति से उत्तरोत्तर विकार या परिणाम द्वारा सृष्टि का विकास अपने-आप होता है, ऐसा सांख्य-शास्त्र का मत है। 'आरम्भवाद', अर्थात् 'ईश्वर की इच्छा से परमाणु द्वारा सृष्टि होती है', ऐसा न्यायशास्त्र का मत है। इन दोनो के विरुद्ध अद्वैत-वेदान्ती 'विवर्तवाद' को मानते हैं—अर्थात् जगत् ब्रह्म का विवर्त या कल्पित रूप है, ऐसा मानते हैं। सीपी को यदि कोई भ्रमवश चांदी समझ ले तो चांदी को सीपी का विवर्त कहा जायगा। रामनुजीय मत मे 'परिणामवाद' को माना जाता है। दूध का विकृत रूप दही है। वह अन्य वस्तु तो हो जाता है, पर यह नहीं कहा जा सकता कि वह दूध से भिन्न ही है। परिणामवाद और विवर्तवाद को 'सत्कार्यवाद' या 'सत्ख्यातिवाद' कहते हैं और आरम्भवाद को 'असत्कार्यवाद'। माध्यवेदान्ती भी नैयायिकों की भांति 'असत्कार्यवादी' हैं।
2. वही।
3. 'हिन्दुत्व', पृ. 684-87

है, तथापि वे स्वयं विशिष्टाद्वैतवाद के प्रचारक थे। इसी तरह उनके शिष्यों में केवल एक बात को छोड़कर अन्य बातो मे काफी स्वतन्त्रता का परिचय पाया जाता है। वह बात है भक्ति—अनन्य भक्ति। उनके कितने ही शिष्य उनकी भाँति वर्णाश्रम-व्यवस्था को नही मानते, जीवो का ब्रह्म से भेद नही मानते और कितने ही यह तक नही मानना चाहते कि दिव्य गुणो से भगवान् का सगुणत्व भी सिद्ध होता है और सम्पूर्ण वेदान्त-शास्त्र सगुण ब्रह्म का ही प्रतिपादक है (1, 1-2)। केवल एक ही बात उनके सर्व शिष्यो मे समान भाव से समादृत है. अनन्य भक्ति ही मोक्ष का अव्यवहित उपाय है। प्रपत्ति या शरणागति ही मोक्ष का परम साधन है।

ऐसी हालत मे यह प्रश्न बहुत कुछ गौण हो जाता है कि कबीर ने जो कुछ रामानन्द से चेता था वह रामानन्द के चेते हुए ज्ञान का कौन-सा रूप है। रामानन्द के प्रधान उपदेश अनन्य भक्ति को कबीर ने शिरसा स्वीकार कर लिया था। बाकी तत्त्वज्ञान को उन्होने अपने संस्कारो, रुचि और शिक्षा के अनुसार एकदम नवीन रूप दे दिया था। अब तक हम उनके सस्कारों की चर्चा करते आये हैं जिनका प्रभाव उनके पदो और साखियो मे है और खूब सम्भव है, जिनका ज्ञान उन्हे रामानन्दजी के सत्संग से प्राप्त हुआ था। यही ज्ञान कबीरदास को अक्खड़ सिद्धों और योगियो की परम्परा से अलग कर देता है। कबीर के विद्यार्थी के लिए इसका बहुत महत्त्व है।

यह स्मरण रखना चाहिए कि जब हम शंकर, रामानुज और रामानन्द के वेदान्तमत की चर्चा करते है तो हमारा मतलब एक पूरे तत्त्ववाद (फिलासॉफिकल सिस्टम) से होता है; किन्तु कबीर की वाणियाँ वह चीज नही है। वेदान्त-मत को पाँच मोटे विभागों मे बाँट लिया जा सकता है: धर्मविज्ञान (थियॉलॉजी), सृष्टि-तत्त्व (कास्मोलॉजी), अन्तःकरणविज्ञान (साइकोलॉजी), मोक्षविज्ञान (लिबरेशन) और जन्मान्तर-व्यवस्था। इनमें प्रथम और अन्तिम के विषय में तो कबीरदास ने स्पष्ट भाषा में अपना मत व्यक्त किया है, पर बाकी तीन के विषय मे उनका मत अनुमान-सापेक्ष ही है।

वेदान्तशास्त्र के अनुसार मनुष्य का सबसे बड़ा लक्ष्य या पुरुषार्थ मोक्ष है—मोक्ष अर्थात् छुटकारा। यह संसार दु:खरूप है और मोक्ष ब्रह्म-स्वरूप ही है। अन्य दर्शनों की भाँति वेदान्त इसे प्राप्य नही मानता। कहा गया है कि मनुष्य जब जान जायेगा कि वह क्या है और उसके आत्मा का यह आत्मा से—अर्थात् परमात्मा से क्या सम्बन्ध है तो वह छूट जायगा। क्योंकि वह तो छूटा नहीं रहा है, उसका कारण अज्ञान है या फिर गलत ज्ञान है। इसीलिए सही ज्ञान ही छुटकारा है। इस सही ज्ञान को 'विद्या' कहते हैं। इसलिए 'विद्या' का [illegible] विषय है 'आत्मा' का 'ब्रह्म' का ज्ञान। यही कारण है कि इस विद्या को 'आत्मविद्या', 'आत्मज्ञान' 'ब्रह्मविद्या' और 'ब्रह्मज्ञान' शब्द से पुकारते हैं।

यह जो ब्रह्म की जानकारी है वह [illegible] की होती है। [illegible] कारी या 'परा विद्या' कहते हैं और [illegible] पहले प्रकार की जानकारी [illegible]

सहायक है, इसका एकमात्र फल मोक्ष है। दूसरी जानकारी (अपरा विद्या) का लक्ष्य ब्रह्मोपासना है। इससे कर्म-समृद्धि होती है, सुख और कल्याण (अभ्युदय) प्राप्त होते है और धीरे-धीरे मुक्ति भी मिल सकती है (क्रममुक्ति)। पहली विद्या का विषय परब्रह्म है, दूसरी का अपरब्रह्म।

श्रुतियो के परिशीलन से स्पष्ट ही जान पड़ता है कि ऋषियो के मस्तिष्क मे ब्रह्म के दो स्वरूप थे   एक गुण, विश्लेषण, आकार और उपाधि से परे—निर्गुण, निर्विशेष, निराकार और निरुपाधि, और दूसरा इन सब बातों से युक्त अर्थात् सगुण, सविशेष, साकार और सोपाधि। पहला परंब्रह्म है और दूसरा अपरंब्रह्म। आपात दृष्टि से ऐसा जान पड़ता है कि यह बात एकदम असंगत है कि एक ही वस्तु एक ही साथ सगुण भी हो और निर्गुण भी, साकार भी हो और निराकार भी, सविशेष भी हो और निर्विशेष भी, सोपाधि भी हो और निरुपाधि भी। इसके उत्तर मे वेदान्ती लोग कहते है कि ब्रह्म अपने-आपमे तो निर्गुण, निराकार, निर्विशेष और निरुपाधि ही है, परन्तु अविद्या या गलतफहमी के कारण, या उपासना के लिए हम उसमे उपाधियो या सीमाओ का आरोप करते है। वस्तुतः सोपाधिक ब्रह्म भ्रममात्र है, ठीक उसी तरह तो नही जिस तरह सीपी को चांदी समझना समझनेवाले का भ्रम-मात्र है, असल मे वह आर्यभ्रम है; फिर भी गलती से यदि कोई सीपी को चांदी समझ ले तो भी सीपी सीपी ही रहेगी, चांदी नही हो जायगी। इसी प्रकार निर्गुण और निरुपाधि ब्रह्म को जब हम गलती से सगुण और सोपाधि मान लेते है तब भी वस्तुत. हमी भ्रम मे होते है, ब्रह्म तो निर्गुण का निर्गुण और निरुपाधि का निरुपाधि ही बना रहता है। इसीलिए जो 'परं निर्गुण' ब्रह्म है, उसे श्रुतियां बार-बार इस प्रकार प्रकट करती है. "वह मोटा भी नही, पतला भी नही; छोटा भी नही, बड़ा भी नही; लोहित भी नही, स्नेह भी नही; छायायुक्त भी नही, अन्धकार भी नही; वायु भी नहीं, आकाश भी नही…" इत्यादि (बृहदारण्यक 3-8-8); या "यह भी नहीं, वह भी नही,—नेति-नेति" (वही 2-3-6); या "वह शब्द-रहित, स्पर्श-रहित, रूपरहित, व्ययरहित, रसरहित, गन्धरहित है" (कठ. 3-15), इत्यादि। किन्तु ये सभी बातें अतद्व्यावृत्ति रूप से कही गयी है, अर्थात् इस प्रकार के कथन का अर्थ यह है कि 'परब्रह्म' समस्त ज्ञात वस्तुओ, गुणो और विशेषणो से विलक्षण है। कबीरदास ने इस शैली का आश्रय करके भगवान् के विषय मे अनेक पद गाये हैं।[1]

भावरूप से कहने के लिए वेदान्ती लोग दो-तीन शब्दों का व्यवहार करते है। सर्वाधिक प्रचलित शब्द है, सत् और चित्। इन दो शब्दों से वेदान्ती बताना चाहते

1 तुल —रामकै नाइ नीसान बाबा। ताका मरम न जाने कोई।
भूख-त्रिपा-गुण वाकै नाही। घट-घट अन्तरि सोई॥
भेद-विवर्जित भेद-निवर्जित पापपुन्य।
ग्यान-विवर्जित ध्यान-विवर्जित विवर्जित आस्थूल सुन्य॥
भेष-विवर्जित भीख-विवर्जित त्रिवर्जित उर्धभक रूप।
कहै कवीर तिहुँ-लोक-विवर्जित ऐसा तत्त अनूप॥—क. ग्रं, पद 210

है कि 'ब्रह्म है' (सत्) और वह 'चैतन्यस्वरूप' (चित्) है। जिस प्रकार नमक के ढेले में बाहर से भीतर तक सर्वत्र नमकीनी ही नमकीनी है, उसी प्रकार ब्रह्म भी शुरू से आखिर तक केवल चैतन्य ही चैतन्य है। इन दो भावरूपों के अतिरिक्त एक और भावरूप भी परवर्ती वेदान्त-ग्रन्थों में महत्त्वपूर्ण स्थान अधिकार कर सका है। वह है आनन्द। अर्थात् ब्रह्म आनन्दस्वरूप है। किसी-किसी पण्डित ने कहा है कि शुरू के ग्रन्थों में इस बात को इतना महत्त्वपूर्ण नहीं समझा गया है। शायद इसलिए कि वह दुःखाभाव का ही रूप है; क्योंकि श्रुति में ही कहा गया है कि व्यावहारिक रूप में ब्रह्म-भिन्न सब-कुछ दुःखरूप है (बृह. 3-4-2)। इसका मतलब यह हुआ कि जो कुछ हम देख रहे हैं, ब्रह्म उससे भिन्न है और जो कुछ हम देख रहे हैं वह दुःखरूप है इसलिए ब्रह्म दुःखाभाव रूप है।

लेकिन श्रुति में ब्रह्म को और भी दो प्रकार से कहा गया है: (1) 'वह सब-कुछ करनेवाला है, सब कामनाओं से भरा-पूरा है; सब रसों का आधार है, सर्व-गन्धमय है"...इत्यादि (छान्दोग्य 3-14); फिर "अग्नि इसका सिर है, सूर्य-चन्द्र आँखें हैं, दिशाएँ कान हैं"...इत्यादि। (मुण्डक 2-1-4)। इन वाक्यों में स्पष्ट ही ब्रह्म में सीमाओं का और गुणों का आरोप किया गया है। यह इसलिए कि यहाँ लक्ष्य ज्ञान नहीं, उपासना है। ब्रह्म का इस प्रकार [illegible] और सगुणरूप विचार करनेवाले का उद्देश्य ज्ञान नहीं होता, उपासना हुआ करती है। ऐसा करने से मोक्ष या निःश्रेयस की सिद्धि नहीं होती, अभ्युदय या स्वर्ग की प्राप्ति होती है। इससे स्वर्ग मिलता है, अमृत नहीं। परन्तु जो लोग उत्तम ज्ञान के अधिकारी नहीं हैं, वे इस मार्ग से चलकर भी धीरे-धीरे मुक्ति पा लेते हैं। (2) कभी-कभी ब्रह्म को श्रुति में 'छोटे-से-छोटा', 'अंगुष्ठ मात्र', 'हृदय-गुहा-वासी' और 'वामन' आदि भी कहा गया है। ऐसा कहने का अभिप्राय [illegible] से होता है।

गीता में भगवान् ने प्रकृति को अपने ही अधीन बताया है और कहा है कि मेरे द्वारा नियोजित होकर ही प्रकृति इस सचराचर सृष्टि को प्रसव करती है (गीता, 9-10)। वेद-बाह्य बौद्धादि सम्प्रदाय के लोग यह मानते हैं कि यह चेतन सत्ता साधना के द्वारा जब प्रकृति के बन्धनों से मुक्त होती है तो उसी प्रकार लुप्त हो जाती है जिस प्रकार दीपक की लौ, परन्तु इस बात में वे भी विश्वास करते हैं कि शरीर और इन्द्रियादि की अपेक्षा वह वस्तु अधिक स्थायी है। वह सैकड़ों जन्म ग्रहण करने के बाद सैकड़ों शरीरों और इन्द्रियों से युक्त हो लेने के बाद 'निर्वाण' की अवस्था को अर्थात् बुझ जाने की अवस्था को प्राप्त होती है।

सांख्यशास्त्रियों के मत से पुरुष अनेक हैं और प्रकृति उन्हें अपने मायाजाल में बांधती है। पुरुष विशुद्ध चेतन-स्वरूप, उदासीन और ज्ञाता है। जब तक उसे अपने इस स्वरूप का ज्ञान नहीं हो जाता, तभी तक वह प्रकृति के जाल में फँसा रहता है। यह दृश्यमान जगत् वस्तुतः प्रकृति का ही विकास है। प्रकृति सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों की साम्यावस्था का नाम है। सारे दृश्यमान जगत् को सांख्यवादी प्रधानतः चार भागों में बाँटते हैं (1) प्रकृति, (2) प्रकृति-विकृति, (3) विकृति, (4) न-प्रकृति-न-विकृति। चौथा 'पुरुष' है जो न प्रकृति ही है और न उनका विकार ही (सांख्यकारिका 3)। बाकी तीन में 'प्रकृति' तो अनादि ही है। प्रकृति से 'महान्' या 'बुद्धितत्त्व' उत्पन्न होता है, उससे 'अहंकार' और उससे पाँच 'तन्मात्र' (अर्थात् शब्द-तन्मात्र, स्पर्श-तन्मात्र, रूप-तन्मात्र, रस-तन्मात्र, गन्ध-तन्मात्र) उत्पन्न हुए हैं। एक तरफ तो महान् या बुद्धितत्त्व मूल प्रकृति का विकार है और दूसरी तरफ अहंकार की प्रकृति भी है। इसी प्रकार अहंकार और पंच-तन्मात्र भी एक तरफ तो क्रमशः 'महान्' और अहंकार के विकार हैं और दूसरी तरफ क्रमशः पंच-तन्मात्र और पंचमहाभूतादिकों की प्रकृति भी है। यही कारण है कि सांख्यशास्त्री इन्हें प्रकृति-विकृति कहते हैं। इस तरह महान्, अहंकार और पंच-तन्मात्र ये सात तत्त्व प्रकृत-विकृत हुए। इनमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (कान, त्वचा, आँख, रसना, नाक) और पाँच कर्मेन्द्रियाँ (हाथ, पाँव, जीभ, पायु, उपस्थ) हैं। इन दस इन्द्रियों, मन और पाँच महाभूतों (अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) को विकृति कहते हैं। इन्हीं पचीस तत्त्वों से सारी सृष्टि बनी है। किन्तु वेदान्ती लोग प्रकृति और उनके विकार-स्वरूप 23 पदार्थों की स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानते। उनका मत है कि वस्तुतः एक परब्रह्म ही वास्तविक सत्ता है। हम अज्ञानवश इस नाम-रूपात्मक जगत् को वास्तविक समझने लगते हैं।

जो हो, इस विषय में भारतीय दार्शनिकों में प्रायः कोई मतभेद नहीं कि आत्मा नामक एक स्थायी वस्तु है जो बाहरी दृश्यमान जगत् के विविध परिवर्तनों के भीतर से गुजरता हुआ सदा एक-रस रहता है। ये सभी पण्डित स्वीकार करते हैं कि जब तक ज्ञान नहीं हो जाता, तब तक यह आत्मा जन्म-कर्म के बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता। अब प्रश्न यह है कि यदि पुरुष या आत्मा उदासीन है या दुःख-सुख से परे है और चित्स्वरूप है, तो जन्म और कर्म के बन्धन में पड़ता कैसे है और

मृत्यु के बाद एक जन्म का कर्म-फल दूसरे जन्म में ढोकर ले क्योंकर जाता है ? जो निर्गुण है, उसे आधार बनाकर पाप और पुण्य के फल कैसे दूसरे जन्म मे पहुँच जाते है। क्योंकि यह तो सभी मानते है कि कर्म-फल जड हैं, अत उनमे इच्छा नही होती, इसलिए यह तो साफ प्रकट है कि इच्छापूर्वक आत्मा का पीछा नही कर सकते। फिर यह कैसे सम्भव है कि इस जन्म का कर्म-फल दूसरे जन्म मे मिलता ही हो ? सीधा जवाब यह है कि ईश्वर इस व्यवस्था को इस ढंग से चला रहा है, परन्तु यह उत्तर युक्तिवादी दार्शनिकों को पसन्द नही है। वे उसका और कोई कारण बताते है। देखा जाय, यह बात कैसे सम्भव होती है ?

इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए शास्त्रकारो ने लिंग-शरीर की बात बतायी है। यह तो निश्चित है कि आत्मा एक शरीर से दूसरे मे संक्रमित होता है। गीता मे भगवान् ने कहा है कि जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्र को छोड़कर नया धारण करता है, उसी प्रकार आत्मा जीर्ण शरीर को त्यागकर नवीन शरीर धारण करता है (गीता 2-22)। इसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् में बताया गया है कि जोंक जिस प्रकार एक तृण से दूसरे पर जाते समय पहले अपने शरीर का अगला हिस्सा रखती है और फिर बाकी हिस्से को खीच लेती है, उसी प्रकार आत्मा पुराने शरीर को छोडकर नये शरीर मे प्रवेश करता है (बृहदारण्यक 4-43)। इसमे केवल इतना ही जाना जा सकता है कि आत्मा स्वय ही दूसरे शरीर मे प्रवेश करता है, पर उदाहरण से सिद्धान्त निकालना ठीक नही, क्योंकि उदाहरण केवल क्रिया के एक अंश के लिए ही प्रयुक्त होता है। उपनिषदों में बार-बार कहा गया है कि आत्मा के साथ सूक्ष्म या लिंग-शरीर भी जाता है। बृहदारण्यक मे बताया गया है कि यह आत्मा विज्ञान, मन, प्राण, श्रोत्र, पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, तेजस्, अति-तेजस्, काम, अकाम, क्रोध, अक्रोध, धर्म और अधर्म इत्यादि सब-कुछ लेकर निर्गत होता है। यह जैसा करता है, वैसा ही फल पाता है (बृहदाण्यक 4-4-5)। इसका अर्थ यह हुआ कि आत्मा के साथ-ही-साथ समस्त धर्माधर्म तथा तन्मात्रगत बँधे होते है। सांख्यकारिका (40) में करीब-करीब इन सभी बातो को एक शब्द मे 'लिंग-शरीर' कहा गया है। बताया है कि प्रकृति के विकार-स्वरूप तेईस तत्त्वों में अन्तिम पाँच तो अत्यन्त स्थूल है, बाकी अठारहो तत्त्व मृत्यु के समय पुरुष के साथ-ही-साथ निकल जाते है। जब तक पुरुष ज्ञान प्राप्त किये बिना मरता है, तब तक ये तत्त्व उसके साथ-साथ लगे होते है। अब, यह तो स्पष्ट ही है कि इन अठारह तत्त्वों मे से प्रथम तेरह अर्थात् बुद्धि, अहंकार, मन और दसों इन्द्रिय तो प्रकृति के गुण-मात्र है, उनकी स्थिति के लिए किसी ठोस आधार की जरूरत है। वे बिना आधार रह ही नही सकते। वस्तुतः पंचतन्मात्रों को मृत्यु के समय आत्मा का अनुसरण करते जो बताया गया है, वह इसीलिए कि वे तन्मात्र उक्त तेरह तत्त्वों को वहन करने का सामर्थ्य रखते है—ये अपेक्षाकृत ठोस है। जब तक मनुष्य जीता होता है, तब तक तो उसका स्थूल शरीर इन गुणों का आश्रय होता है, पर जब वह मर जाता है तब पंचतन्मात्र ही इन गुणों के वाहक होते हैं (सांख्यकारिका 41)। उपनिषदो

में इसी बात को और ढंग से कहा गया है। इनके अनुसार प्रकृति या माया कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है, केवल ब्रह्म या आत्मा का ही नाम रूपात्मक स्वरूप है। बदलनेवाली वस्तु नाम और रूप है और स्थिर शाश्वत वस्तु आत्मा है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार हार, अँगूठी, कंकण आदि में बदलनेवाली वस्तु नाम और रूप है, पर स्थिर वस्तु सोना है। नाम-रूप का आवरण सर्वत्र एक-सा ही नहीं है। कहीं वह गाढ़ा है, कहीं पतला। इसके भी नाना स्तर है। जड़ है, चेतन है; फिर चेतन की भी लाखों योनियाँ हैं। इन सब योनियों में मनुष्य-योनि श्रेष्ठ है। आत्मा के दो आवरण है। पहला आवरण तो शुक्र-शोणित-निर्मित शरीर है। इसी को उपनिषदों में अन्नमय-कोष कहा गया है। दूसरा आवरण अधिक सूक्ष्म है। उसमें क्रमशः प्राणमय, मनोमय, ज्ञानमय और आनन्दमय कोष हैं (तैत्तिरीय 2,1,5,3,2,6)। इसका अर्थ यह है कि स्थूल शरीर की अपेक्षा प्राण सूक्ष्म है, उनकी अपेक्षा मन, उनकी अपेक्षा बुद्धि और इन सबकी अपेक्षा सूक्ष्म आत्मा है। भगवान् ने गीता में कहा है कि इन्द्रियगण पर (सूक्ष्म) है, पर इनसे भी सूक्ष्म मन है और उससे भी सूक्ष्म बुद्धि है और इस बुद्धि से भी सूक्ष्म जो कुछ है, वही वह (आत्मा) है (गीता 3,42)। स्थूल अन्नमय कोष को छोड़कर बाकी जो सब कोष है उन्हें, इन्द्रियों और पंचतन्मात्रों को वेदान्ती लोग सूक्ष्म या लिंग-शरीर कहा करते हैं।[1] जब मनुष्य के बाद स्थूल देह से आत्मा का विच्छेद हो जाता है, तब भी लिंग-शरीर से उसका छुटकारा नहीं होता। गीता में कहा गया है कि आत्मा उसी प्रकार प्रकृतिस्थ मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियों को खींचकर अपने साथ ले जाता है, जिस प्रकार वायु पुष्पादि आश्रय से गन्ध को (गीता 15, 7-8)। इस प्रकार शास्त्रकारों का सिद्धान्त है कि मृत्यु के बाद आत्मा के साथ-ही-साथ एक लिंग-शरीर जाता है, जो समस्त कर्मफलात्मक संस्कारों को साथ ले जाता है। इस लिंग-शरीर में जिन अठारह तत्त्वों का समावेश है, उनमें बुद्धि-तत्त्व ही प्रधान है। वेदान्ती लोग जिसे 'कर्म' कहते हैं, उसी को सांख्यवादी बुद्धि का 'व्यापार', 'धर्म' या 'विकार' कहते हैं। इसी को सांख्यकारिका में 'भाव' कहा गया है। जिस प्रकार फूल में गन्ध और कपड़े में रंग लगा रहता है, उसी प्रकार यह 'भाव' लिंग-शरीर में लगा रहता है (सांख्यकारिका 40)।

यह कह सकना कठिन है कि यह जगत् कब उत्पन्न हुआ था अर्थात् इस नाम-

1. वेदान्त में कई प्रकार से यह बात बतायी गयी है। कहीं इसके ये सत्रह अवयव बताये गये हैं: पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, बुद्धि, मन और पाँच प्राण (वेदान्त-सार 13)। फिर आठ पुरियों का उल्लेख है। यह पुर्यष्टक ही लिंग-शरीर बताया गया है। आठ पुरियाँ ये हैं: (1) पाँच ज्ञानेन्द्रिय, (2) पाँच कर्मेन्द्रिय, (3) मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त, (4) प्राण, (5) पाँच भूत-सूक्ष्म या तन्मात्र, (6) अविद्या, (7) काम, (8) कर्म (सुरेश्वराचार्य का 'पंचीकरण वार्तिक' 32-37)। इसका और अन्य विधानों का सामंजस्य रामतीर्थ-लिखित वेदान्तसार (13) की विद्वन्मनोरंजनी टीका में देखना चाहिए।

रूपात्मक जड़-जगत् की स्थिति कब से है। यह अनादि है, इसलिए यह कर्म-प्रवाह भी अनादि है। वृहदारण्यक उपनिषद् मे नाम और रूप के साथ कर्म की भी गणना है (वृहदारण्यक 1, 6-1)। वेदान्ती लोग यद्यपि इसे सांख्यवादियो की भाँति स्वतन्त्र तत्त्व नहीं मानते, तथापि कर्म-प्रवाह को तो अनादि मानते ही है। आत्मा को जब अपनी और प्रकृति या माया की वास्तविक सत्ता का ज्ञान हो जाता है, तभी वह कर्म-बन्ध से मुक्त हो जाता है। भगवान् ने गीता मे कहा है कि ज्ञान की अग्नि समस्त कर्मो को भस्मसात् कर देती है और ज्ञान से बढ़कर कोई वस्तु पवित्र नही है (गीता 4-37-28)। उपनिषदो मे ब्रह्म को सत्य-स्वरूप और आनन्द-स्वरूप कहा गया है। (तैत्तिरीय 3, 1; वृहदारण्यक 3-6-22)। ऐसा मानने के कारण समूचा हिन्दू-साहित्य ज्ञान को एक विशेष दृष्टिकोण से देखता है। वह यह नही मानता कि ज्ञान की प्राप्ति मे मनुष्य नित्य अग्रसर होता जा रहा है, उसकी दृष्टि मे चरम ज्ञान अपने-आपमे ही है। यद्यपि ज्ञान अनन्त है, पर उनका अपना वास्तविक रूप भी वैसा ही है। इसलिए चरम और अनन्त ज्ञान को पाना असम्भव तो है ही नही, उसके साध्य के भीतर ही है। हिन्दू-साहित्य मे इसीलिए नित्य नवीन ज्ञान के अनुसन्धान के प्रति एक प्रकार की उदासीनता का भाव है। वह उस विद्या को विद्या ही नही मानता जो मुक्ति का कारण न हो,[1] जो मनुष्य को कर्म-बन्धन से छुटकारा न दिला दे। इस बात ने भी सारे हिन्दू-साहित्य को प्रभावित किया है।

शास्त्रकारों ने कर्म को समझने के लिए कई प्रकार के भेद किये हैं। 'मनुस्मृति' में कहा गया है कि कायिक, वाचिक और मानसिक—ये तीन प्रकार के कर्म है और उनकी गति भी उत्तम, मध्यम और अधम भेद से तीन प्रकार की होती है (मनु. 12-3)। शातातप ने सैंकड़ो प्रकार के पापों, उनके फलस्वरूप प्राप्त होनेवाले रोगों का उल्लेख किया है और उनके प्रायश्चित्त का भी विधान किया है। पुराणो में कर्मविपाक के विषय मे बहुत-कुछ कहा गया है। गरुडपुराण मे विस्तृत रूप से अनेक कर्म और तज्जन्य प्राप्त फलों का उल्लेख हैं। शास्त्रो मे साधारणतः तीन प्रकार के कर्म बताये गये है : सचित, प्रारब्ध और क्रियमाण। मनुष्य ने जो कुछ कर्म किया है, उसे 'सचित कर्म' कहते है। जिस पुराने कर्म के फल को वह भोग रहा है उसे 'प्रारब्ध कर्म' कहते है। जो कुछ वह नये सिरे से करने जा रहा है, उसे 'क्रियमाण कर्म' कहते हैं। ज्ञान होने पर संचित कर्म तो नष्ट हो जाते है, पर प्रारब्ध कर्म को भोगना ही पड़ता है। ज्ञान की अग्नि से संचित कर्म जलकर दग्ध बीज की तरह निष्फल हो जाते है और ज्ञानी प्रारब्ध कर्मो के संस्कारवश उसी प्रकार शरीर धारण किये रहता है, जैसे कुम्हार का चलाया हुआ चक्र दण्ड उठा लेने पर भी वेगवश कुछ देर चलता रहता है (साख्यकारिका 67)। इन बातों मे स्वर्ग और नरक के विचार भी सम्मिलित हैं। कर्मबन्ध के दार्शनिक रूप के साथ स्वर्ग-नरक के पौराणिक विचारो का सामंजस्य भी किया गया है। साधारणतः पुण्य कर्म से आत्मा का कुछ

1. सा विद्या या विमुक्तये।

दिन तक स्वर्ग मे रहना और फिर पुण्य क्षीण होने पर मर्त्यलोक में आ जाना (गीता 9, 20-21) और इसी तरह पाप-भोग के लिए कुछ दिन नरक में जाना और भोग लेने के बाद फिर मर्त्यलोक मे आ जाने की बात भी कही गयी है। सांख्यकारिका मे बताया गया है (का 41) कि धर्म (पुण्य) के द्वारा ऊर्ध्वगमन, अधर्म (पाप) के द्वारा अधोगमन होता है। ज्ञान से मोक्ष और अज्ञान से बन्धन होता है। महाभारत मे एक विचित्र बात बतायी गयी है (स्वर्गारोहण पर्व 3, 14) कि जो आदमी अधिक पुण्यशाली होता है, वह पहले अपने स्वल्प पापो को भोगने के लिए नरक मे जाता है और फिर स्वर्ग मे; और जो आदमी अधिक पापी होता है, वह इसी प्रकार अपने स्वल्प पुण्यो को भोगने के लिए पहले स्वर्ग में जाता है और फिर नरक मे। कुछ विद्वानो का विचार है कि स्वर्ग-नरक-विचार और मोक्ष-विचार, ये दोनो दो जाति के भारतीय मनीषियो की चिन्ता के परिचायक हैं। पहले विचार वैदिक ऋषियो के है और दूसरे वेद-बाह्य आर्येतर मुनियो के। उपनिषद् काल मे ये दोनो विचार मिलने शुरू हुए और काव्य-काल मे पूर्ण रूप से मिलकर एक जटिल पर-लोक-व्यवस्था मे परिणत हो गये।

यह त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही माया है। पर जो माया चैतन्य-रूप ब्रह्म को ईश्वर-रूप मे प्रकट करती है वह सत्त्व-गुण-प्रधान है, अर्थात् उसमें रजोगुण और तमोगुण का प्राय अभाव है। कुछ वेदान्ती आचार्य प्रकृति को दो प्रकार की मानते है विशुद्ध सत्त्वप्रधान और अविशुद्ध सत्त्वप्रधान। पहली को 'माया' कहते हैं, दूसरी को 'अविद्या'। पहली ईश्वर की उपाधि है, दूसरी जीव की (पंचदशी 1, 15-16)। इसलिए कहा जा सकता है कि माया ही संसार को चला रही है, क्योकि मायोपाधिक चैतन्य ही ईश्वर है। इसी भाव को लक्ष्य करके कबीरदास ने कहा था कि यह रघुनाथ की माया ही है जो शिकार खेलने निकली है और साम्प्रदायिक जालो मे फँसाकर मुनि, पीर, जैन, जोगी, जंगम, ब्राह्मण और संन्यासी को मार रही है।[1] स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि कबीरदास का यहाँ 'रघुनाथ' से तात्पर्य वेदान्तियो के परब्रह्म से है। परन्तु कबीरदास के पदो से जान पड़ता है कि उन्होने 'माया' को 'अविद्या' से अलग करके नही देखा। वेदान्त-ग्रन्थो में माया और अविद्या की एकात्मकता के पोषक वाक्य बहुत-से मिल सकते हैं। सो माया ही कबीरदास

1 तू माया रघुनाथ की खेलण चली अहेडे।
चतुर चिकारे चुणि चुणि मारे कोई न छोड्या नेड़े।
मुनिवर पीर दिगम्बर मारे जतन करता जोगी।
जगल-महि के जंगम मारे तूंर फिरै बनवन्ती।
वेद पढ़ता ब्राह्मण मारा सेवा करता स्वामी।
अरथ करता मिसर पछाड़्या तूंर फिरै मैमती॥
सापित कै तूं हरता-करता हरिभगतन की चेरी॥
दास कबीर राम कै सरने ज्यूं लागी त्यूं तोरी॥

—क. ग्रं., पद 187

के मत से जीवों को भरमा रही है। वही उन्हें भी भुलवाने पहुँची थी। कबीर ने होशियारी से जवाब दिया था कि 'माया बहन, तू यहाँ से चली जा, कबीर फँसनेवाला जीव नही है। तुझे तो पाट-पटम्बर चाहिए और बेचारा कबीर कमीनी जाति का जुलाहा है।' माया सहज ही छोडने की नही। उसने जवाब दिया, 'भई, मै तो अपना काम करती ही जाऊँगी। अपने साहब को मुझे लेखा तो देना ही पड़ेगा।' कबीर बोले, 'माया रानी, पत्थर नही भीज सकता। कबीर नही डिगेगा। जिस मच्छ की तू मच्छी है वह मेरा रखवाला है। जरा भी तेरी ओर नजर डालूँ तो वह नाराज हो जाय। तू और जगह जा।'[1]

और भी आगे बढ़कर कबीर-पन्थ मे एक और अध्याय जोड़ा गया था। निरजन-विषयक विचार हम देख चुके है। माया इसी निरंजन की शक्ति है। ब्रह्माण्ड मे जो माया है, पिण्ड मे वही कुण्डलिनी है। कुण्डलिनी का ही नाम माया है, आद्याशक्ति है, नागिन है, ठगिनिया है, और भी कई नाम है। इसी नागिन का फुफकार प्रणव है। इसी तरह ब्रह्माण्ड मे जो वस्तु निरजन है, वही पिण्ड मे मन है। इसी को 'नाग' कहते हैं। इसी 'नाग' और 'नागिन' ने मिलकर यह सारा प्रपंच खड़ा किया है। इसी नागिन की जहरीली फुफकार जो प्रणव है उसकी उपासना मे दुनिया भटक रही है। इन्हे जो मार सकता है वही विजयी होता है (कबीर मन्सूर, पृ. 625)।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, यह कबीर-पन्थ का नया अध्याय है, क्योकि कबीरदास के पदो मे ओंकार या प्रणव की महिमा खूब गायी गयी है। ज्ञान-चौतीसा के आरम्भ मे ही जो यह बताया गया[2] है कि ओंकार का जप तो सभी करते हैं, पर उसका मर्म बिरला ही कोई जानता है, उसका सीधा-सादा अर्थ यही है कि लोग बिना समझे-बूझे, ऊप ी मन से या दिखावे के लिए इसका जाप करते है। पर इस पद के साम्प्रदायिक व्याख्याकार 'मर्म' शब्द का दूसरा ही अर्थ कर लेते है। 'मर्म' का वास्तविक अर्थ महिमा नही, बल्कि वास्तविक 'जहरीलापन' है! टीकाकार क्या नही कर सकते ?

कबीरदास ने माया के सम्बन्ध मे जो कुछ कहा है, वह वस्तुतः वेदान्त द्वारा निर्धारित अर्थ मे ही। खूब सम्भव है कि कबीरदास ने भक्ति-सिद्धान्त के साथ ही माया सम्बन्धी उपदेश भी रामानन्दाचार्य से ही पाया था, इसीलिए वे बराबर भक्त को माया-जाल से अतीत समझते है। यहाँ इतना और कह रखा जाय कि कबीरदास के 'निर्गुण ब्रह्म' मे 'गुण' का अर्थ सत्त्व, रज आदि गुण हैं, इसलिए 'निर्गुण ब्रह्म' का अर्थ वे निराकार निस्सीम आदि समझते है, निर्विषय नही।

ऊपर की चर्चा पर से यदि किसी नतीजे तक पहुँचा जा सकता है तो वह यही

1 क. ग्र., पद 270

2 वो ऊँकार आदि जो जानै। लिखिकै मेटै ताहि सो मानै ॥
वो ऊँकार कहै सब कोई। जिन्हि यह लखा सो बिरलै होई ॥—'बीजक', ज्ञानचौतीसा-1

है कि (1) आचार्य रामानन्द ने अपने शिष्यों को किसी वेदान्तिकवाद का बन्धन नहीं लगाया था। वे स्वयं यद्यपि विशिष्टाद्वैतवादी थे, पर अद्वैतवादी भक्तिग्रन्थों को बड़े सम्मान की दृष्टि से देखते थे। उनके लिए भक्ति ही बड़ी चीज थी, फिर चाहे वह निर्गुण की हो या सगुण की, द्वैत-भाव से हो या अद्वैत-भाव से। (2) उनकी उपदिष्ट भक्ति भिन्न-भिन्न रुचि, विद्या और संस्कारवाले शिष्यों में नाना रूप में प्रकट हुई, और (3) कबीरदास के पदों से, जैसा कि हम देखेंगे, एकेश्वरवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, अद्वैतवाद, द्वैताद्वैतविलक्षणवाद आदि कई परस्परविरोधी मतों के समर्थन हो सकते हैं पर इस विरोध का कारण कबीरदास के विचारों की अस्थिरता नहीं है बल्कि यह है कि वे भगवान् को अनुभवैकगम्य और निखिलातीत तथा समस्त ऐश्वर्यों और विभूतियों का आधार समझते थे। इसलिए लौकिक दृष्टि से जो बातें परस्परविरोधी दीखती हैं, अलौकिक भगवत्स्वरूप में सब घट जाती हैं। यह बात भक्ति की दुनिया में नयी नहीं है। भक्त लोग एक ही साथ भगवान् के लिए कई परस्परविरोधी विशेषणों का व्यवहार करते हैं। 'लघुभागवतामृत' (पृ 317) में बताया गया है कि प्राकृत विशेषणों से भगवान् के अचिन्त्य रूप का बोध दुष्कर है। यही कारण है कि उनमें ऐसे अनेक विशेषणों का प्रयोग किया जाता है जो लौकिक दृष्टि से परस्परविरोधी जँचते हैं। इस अन्तिम बात की विवेचना करने का अवसर हम आगे के अध्याय में भी पायेंगे।

निर्गुण राम

कई बार कबीरदास के आलोचकों ने आश्चर्य प्रकट किया है कि उन्होंने निर्गुण राम की उपासना कैसे बतायी। वेदान्त-ग्रन्थों में ब्रह्मज्ञान के कई प्रकार के अधिकारी बताये गये हैं। उत्तम अधिकारी ब्रह्म के चैतन्यघन स्वरूप की उपलब्धि करके जीते-ही-जीते मुक्त हो जाता है, अर्थात् ज्ञान प्राप्त होने के बाद यद्यपि उसका शरीर कुछ दिनों तक आहार, निद्रा आदि विकारों का वशवर्ती रहता है पर वस्तुतः उसका आत्मा छुटकारा पा गया होता है। जिस प्रकार कुम्हार का चक्का डण्डे के घूर्णन-वेग के हटा लेने पर भी पुराने वेग के कारण कुछ और देर तक घूमता है उसी प्रकार जीवन्मुक्त का शरीर कुछ और काल तक चलता रहता है, पर असल में उसका आत्मा मुक्त हो गया होता है। "जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्था-रूप जो माया है वही त्रैलोक्य का कारण है। जो कुछ दिख रहा है,वह सभी इस माया के कारण। किन्तु, परब्रह्म के दर्शन के बाद माया की मरीचिका जाती

रहती है और जगत् असत्य भासने लगता है। सकल-वस्तु-स्वरूप वह परब्रह्म नाम रूप और क्रिया से रहित है। किन्तु जो इस जगत् की माया के बल से सृष्टि करता है वह ईश्वर है। वही ईश्वर सब-कुछ में प्रविष्ट हो रहा है" ('आत्मज्ञान' 4-5)। उत्तम अधिकारी इस तत्त्व को शम-दम-नियम-संयमादि के अभ्यास के द्वारा आयत्त कर लेता है (पंच 9-20), परन्तु बुद्धि की अत्यन्त मन्दता के कारण या साधनों के अभाववश जो व्यक्ति उत्तम अधिकारी नहीं हो सकता, वह क्या करे? क्या वह सगुण की ही उपासना करे और 'परं निर्गुण ब्रह्म' की आशा छोड़ दे? पंचदशी में विद्यारण्य स्वामी ने उत्तर में कहा है कि नहीं, वह निर्गुण तत्त्व की उपासना करे। यदि कहो कि जो वाणी और मन के गोचर है ही नहीं उसकी उपासना कैसे हो सकती है, तो उल्टे तुम्हीं से प्रश्न किया जा सकता है कि जो वस्तु वाणी और मन के परे है, अर्थात् जिस तक न तो वाणी पहुँच पाती है और न मन, उसका अनुभव भी तो सम्भव नहीं है, उसका जान लेना भी तो सम्भव नहीं दीखता। फिर यदि यह सम्भव है तो उपासना क्यों सम्भव नहीं है?[1] विद्यारण्य स्वामी के कथन में ही कबीर के आलोचकों का उत्तर पाया जा सकता है, क्योंकि उन्होंने अत्यन्त स्पष्ट भाषा में कहा है कि निर्गुण ब्रह्मतत्त्व की उपासना असम्भव नहीं है (9, 55)।

कुछ साम्प्रदायिक पण्डितों की ओर से इस प्रकार के 'रहस्योद्घाटन' का दावा किया गया है कि सन्त-मत के प्रवर्त्तक आदिगुरु कबीर साहब के विचार है कि जो मन्दाधिकारी सत्त्वशुद्धि के अभाव में आत्म-विचार नहीं कर सकता, वह निर्गुण ब्रह्मोपासना भी नहीं कर सकता, क्योंकि महावाक्यजन्य परोक्षज्ञान से होनेवाली ब्रह्मोपासना मन की कल्पना है। इस कारण उससे हृदय के विकार अहंकारादि की निवृत्ति नहीं हो सकती, प्रत्युत महा अहंकार की उत्पत्ति होती है जो कि वासना-वाले मन्दाधिकारियों को हानि पहुँचा सकती है। जो हृदय वासना-पंकिल है, उसमें ब्रह्मदेव की प्रतिष्ठा किस प्रकार हो सकती है? अतः विकारों को दूर करने के लिए भी विषयानित्यता और परिणाम-विरसता (अर्थात् विषय अनित्य है और परिणाम में विरस है) इत्यादिक विचार ही उपयुक्त हैं।...कामनादिक विकारवाले पुरुष पूर्वोक्त विचार के बिना ब्रह्मोपासना से आत्मसाक्षात्कार नहीं कर सकते, अतः विकार-निवृत्ति के लिए विचार करने की अनुमति सद्गुरु ने इस प्रकार दी है:

कहु विचार जिहि सब दुख जाई। परिहरि झूठा केर सगाई॥

1. अत्यन्तबुद्धिमान्द्याद्वा सामग्र्या वाप्यसंभवात्।
यो विचारं न लभते ब्रह्मोपासीत सोऽनिशम्॥
निर्गुण ब्रह्मतत्त्वस्य न ह्युपास्तेरसंभवः।
सगुण ब्रह्मणीवात्र प्रत्ययावृत्तिसंभवात्॥
अवाङ्मनसगम्यं तन्नोपास्यमिति चेत्तदा।
अवाङ्मनसगम्यस्य वेदनं न च संभवेत्॥
वागाद्यगोचराकारमित्येवं यदि वेत्त्यसौ।
वागाद्यगोचराकारमित्युपासीत नो कुतः॥—पंच. 9, 54-57

और

भव अति गरुआ दुख-करि भारी। कर जिय जतन जो देखु विचारी॥

तथा

खरा-खोट जिन्ह नहिं परखाया। चहत लाभ तिन्ह मूल गँवाया॥

इत्यादि।

वस्तुतः यम-नियमादि अनुष्ठानपूर्वक किये जानेवाले संसारानित्यादि विचार से सत्त्व-शुद्धि हो जाने पर ब्रह्मोपासना की आवश्यकता नहीं रहती।[1] इस प्रसंग मे विद्यारण्य स्वामी के इस मत पर शंका प्रकट की गयी है:

यावच्चिन्त्यस्वरूपत्वाभिमानः स्वस्य जायते।
तावद्विचिन्त्य पश्चाच्च तथैवामृति धारयेत्।[2] —पंच. 9-78

इस देश मे विद्यारण्य स्वामी के भक्तों और समर्थकों की कमी नहीं है। वे विद्वान् और समर्थ भी है। निश्चय ही वे इस शंका का जवाब दे लेंगे। हमे यहाँ उस उलझन मे पड़ने की कोई ज़रूरत नही है। पर कबीरदास के नाम पर प्रचलित पदो और साखियो का सीधा-सादा अर्थ करने पर हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि निस्सन्देह कबीरदास ने आत्म-विचार को बहुमान दिया है, पर जो लोग उसके अधिकारी नहीं है उनके लिए 'निर्गुण राम' के जपने का उपदेश भी दिया है। निर्गुण राम के जप का अर्थ वही है जो महावाक्यो के चिन्तन का अर्थ है। नाम-जप का महावाक्य-चिन्तन से इतना अन्तर जरूर है कि नाम-जप करनेवाला जहाँ विचार से बिलकुल शून्य रह सकता है, वहाँ महावाक्यो का मनन करनेवाला किसी-न-कि[सी] कोटि के विचार मे लगा ही रहेगा। महावाक्यो के स्मरण से अपने में ब्रह्मत्वाभिमा[न] होने का मतलब ही यह है कि अपने को ब्रह्म समझते रहने का अभ्यास करना। हमने पहले ही लक्ष्य किया है कि कबीरदास 'भाई' सम्बोधन के द्वारा साधारण सांसारिक जीवो को सम्बोधन करते है और उसे अपना व्यक्तिगत उपदेश देते हैं—हे भाई, निर्गुण राम का जप करो। अविगति की गति लखना सहज नही है (तुल.—अवाङ्मानसगम्यस्य वेदनं न च सम्भवेत्—पंच. 9-56)। वेद और पुराण, स्मृति और व्याकरण, शेष, गरुड़ और कमला भी जिसे नहीं जान सके (उसे जानने की चेष्टा करना साहस का कार्य है) सो, कबीरदास की सलाह है कि हरि की छाया

1. विचार., पृ. 21-23
2. उपनिषदो मे 'मैं ही ब्रह्म हूँ' (बृह. 4-10), 'वह तू ही है' (छान्दोग्य, 6-7-8) आदि महावाक्यो से ब्रह्म के साथ जीव की अभिन्नता बतायी गयी। यह अभिन्नता जानने की चीज है। ज्ञान से ही वह प्राप्त होती है। पर जो व्यक्ति इस ज्ञान को प्राप्त नही कर सका है उसके लिए यह विधान किया गया है कि वह तब तक इन महावाक्यो का मनन करता हुआ अपने को ब्रह्म से अभिन्न समझने का प्रयत्न करता रहे जब तक कि उसे अपने मे ब्रह्मत्व का अभिमान (—मानना) न हो जाय। उक्त उद्धरण मे इसी विचार का विरोध किया गया है।

पकड़ो—उन्हीं की शरण में जाओ।[1] अरे ओ पगले, भूला-भूला क्यों फिर रहा है? कामनाओं का त्याग कर, हरि का नाम जप, वही अभयपद का दाता है, कबीरा कोरी की यह बात गाँठ बाँध ले।[2] इस राम के साथ विषयों का कुछ अग्नि-तृण का-सा सम्बन्ध है। यह कहना कि पहले वासनाएँ हट जायें तभी राम आयेंगे, तो 'वासना-पंकिल हृदय में ब्रह्मदेव की प्रतिष्ठा' सम्भव नहीं है, विषयों को राम से जबरदस्त समझने के समान है। कम-से-कम कबीरदास वासना को राम की अपेक्षा जबरदस्त मानने को तैयार नहीं थे। एक बार उनके राम—उनके निर्गुण ब्रह्म जिसके हृदय में आ जाते हैं, वह अनायास ही मति-बुद्धि पा जाता है। लालच और विषय-रस में आपादमस्तक डूबे हुए व्यक्तियों से वे ललकारते हुए कहते हैं कि 'भाई, तरे वही जिन्होंने राम-रस का आस्वादन किया। बकवादी तो डूब मरे, क्योंकि उन्होंने राम को कभी याद ही नहीं किया।[3] ए मेरे मन, तू अविनाशी हरि का भजन कर। उन्हें छोड़कर और कहीं न जा। अगर तू विषय-रूप दीप के पास फिर रहा है तो निश्चय मान कि तू पतिंगा होकर जल जायगा। जिस प्रकार भ्रमरी के ध्यान में मगन कीट खुद भी भ्रमरी बन जाता है, उसी प्रकार तू राम-नाम में ऐसी लौ लगा कि स्वयं राममय हो जा (तुल.—पंचदशी 9। 78)। देख भाई, यह संसार बड़ा गुरु-गम्भीर है, इस संसार-सागर में चारों ओर विकार की लहरें तरंगायित हो रही हैं, तुझे आर-पार कुछ भी नहीं सूझता। अरे ओ मेरे मनसाराम, इच्छा के इस अपार भवसागर के लिए एकमात्र नैया राम है। बाबा, उसी की शरण जा, फिर देख यह महान् संसार-समुद्र बछड़े के खुर के समान छोटा हो जाता है कि नहीं।'[4]

1 निर्गुन राम जपहु रे भाई। अविगति की गति लखी न जाई॥
चारि बेद जाके सुमृत पुराना। नौ ब्याकरना मरम न जाना॥
सेसनाग जाके गरुड़ समाना। चरन-कँवला कँवला नहि जाना॥
कहै कबीर जाके भेद नाही। निज जन बैठे हरि की छाहीं॥—क. ग्रं., पद 49

2 परिहरि काम राम कहि बौरे सुनि सिख बन्धू मोरी।
हरिको नाव अभैपददाता कहै कबीरा कोरी॥—क. ग्रं., पद 346

3 रसना राम गुन रमि रस पीजै। गुन अतीत निरमोलिक लीजै॥
निरगुन ब्रह्म कथौ रे भाई। जा सुमिरत सुधि-बुधि-मति पाई॥
विष तजि राम न जपसि अभागे। का बूड़े लालच के लागे॥
ते सब तिरे रामरसस्वादी। कहै कबीर बूड़े बकवादी॥—क. ग्रं., पद 375

4. अब कहु राम नाम अविनासी। हरि तजि जियरा [illegible] न [illegible]॥
जहाँ जाहु तहाँ होहु पतंगा। अब जनि [illegible]॥
राम-नाम लौ लाय सु लीन्हा। भ्रिंगी [illegible]॥
भव अति गरुआ दुख करि भारी। [illegible]॥
मन की बात है लहरि बिकारा। [illegible]॥
साखी-इच्छा के भव-सागरै, [illegible]।
कहे कबीर हरि-शरन गहु, [illegible]॥—'बीजक', रमैनी [illegible]

राम के इस परम प्रसाद और अनुग्रह की याद दिलानेवाले पद में क्या यहीं कहा गया है कि वासना-पंकिल हृदयवाला मन्दाधिकारी, जिसे विशाल भव-समुद्र मे आर-पार कुछ भी नही दिखायी दे रहा, जो चारों ओर तरंगायित विषय-वीचि को देखकर हतबुद्धि हो रहा है, निर्गुण उपासना का पात्र नही है? बल्कि उल्टे इस पद मे क्या यह नही बताया गया कि अज्ञानपूर्वक ध्यान करने से भी आदमी परमपद पा लेता है? आखिर कीट-भ्रमरी का प्रसिद्ध उदाहरण इसी बात को बताने के लिए ही तो प्रयुक्त होता है। फिर यह क्या आश्चर्य का विषय नही है कि इस पद को उपासना के प्रत्याख्यान मे प्रमाणस्वरूप पेश किया गया है? कबीरदास ने राम-नाम की अपरम्पार महिमा-वर्णन के प्रसंग में द्विधारहित भाषा में कहा है कि गणिका और अजामिल जैसे अज्ञानी पापी भी पार हो गये।[1]

परन्तु यह राम या हरि कौन है? परंब्रह्म, अपरंब्रह्म, ईश्वर या और कुछ? इसमे तो कोई सन्देह नही कि हरि, गोविन्द, राम, केशव, माधव आदि पौराणिक नामो को कबीरदास क्वचित् कदाचित् ही सगुण अवतार के अर्थ मे व्यवहार करते है। एकदम नही करते, ऐसा नही कहा जा सकता। पर जब वे अपने परम उपास्य को इन नामो से पुकारते है तो सगुण अवतारों से उनका मतलब नही होता। उनका 'अल्लाह' अलख निरंजन देव है जो सेवा से परे है; उनका 'विष्णु' वह है जो संसार-रूप मे विस्तृत है, उनका 'कृष्ण' वह है जिसने संसार का निर्माण किया है; उनका 'गोविन्द' वह है जिसने ब्रह्माण्ड को धारण किया है; उनका 'राम' वह है जो सनातन तत्त्व है, उनका 'खुदा' वह है जो दस दरवाजो को खोल देता है, 'रब' वह है जो चौरासी लाख योनियों का परवरदिगार है; 'करीम' वह है जो इतना सब कर रहा है, 'गोरख' वह है जो ज्ञान से गम्य है; 'महादेव' वह है जो मन को जानता है; 'सिद्ध' वह है जो इस चराचर दृश्यमान जगत् का साधक है; 'नाथ' वह है जो त्रिभुवन का एकमात्र यति या योगी है—जगत् के जितने साधक हैं, सिद्ध हैं, पैगम्बर है, वे इस एक की ही पूजा करते है। अनन्त है इसके नाम, अपरम्पार उसका स्वरूप। वही कबीरदास का भगवान् है (क. ग्रं., पद 327)। यह राम निरजन है, उसका रूप नही, रेखा नही, वह समुद्र भी नहीं, पर्वत भी नही, धरती भी नही, आकाश भी नही, सूर्य भी नही, चन्द्र भी नही, पानी भी नही, पवन भी नही,··· समस्त दृश्यमान पदार्थों से विलक्षण, सबसे न्यारा (क. ग्रं., पद 299), वह समस्त वेदो से अतीत, भेदो से अतीत, पाप और पुण्य से परे, ज्ञान और ध्यान का अविषय, स्थूल और सूक्ष्म से विवर्जित, भेख और भीख के अगम्य, डिम्भ और रूप से अतीत—अनुपम त्रैलोक्यविलक्षण परम तत्त्व है (क. ग्रं., पद 220)।

जैसा कि शुरू में ही कहा गया है, कबीरदास उत्तम अधिकारी के लिए इस 'अवाङ्मानसगोचर' परंब्रह्म की उपासना को बहुत महत्त्व नही देते। परन्तु वे इस

1. अजामिल-गज-गनिका पतित करम कीन्हां।
तेऊ उतरि पार गये राम-नाम लीन्हां ॥—क. ग्रं., पद 320

बात में खूब सावधान है, वे बार-बार याद दिला देते है कि यह जो उपासना बतायी जा रही है वह सगुण अवतार की नही है वरन् 'निर्गुण राम' की है। इस प्रसग में कुछ वृद्ध पण्डितों के विचारो की जानकारी आवश्यक है। उनके विचारों का सारांश यह है कि "निर्गुण और सगुण के विषय में जो विचार-परम्परा पुराणवादियों और वेदान्तवादियों की देखी जाती है, पद-पद पर वे (कबीरदास) उसी का अनुसरण करते दृष्टिगत होते है। कोई पुराण ऐसा नहीं है जिसमे परमात्मा का वर्णन इसी रूप मे न किया गया हो। पुराणो का सगुणवाद जैसा प्रबल है वैसा ही निर्गुणवाद भी। वे भी वेदान्त के भावो से प्रभावित है और वैष्णव पुराणो में उनका बड़ा ही हृदयग्राही विवेचन है। परन्तु वे जानते है कि निर्गुणवाद के तत्त्वों को समझना कतिपय तत्त्वज्ञो का ही काम है, इसलिए, उनमे सगुणवाद का ही विस्तार है, क्योंकि वह बोध-सुलभ है। बिना उपासना किये उपासक सिद्धि नही पाता। उपासना-सोपान पर चढकर ही साधक उस प्रभु के सामीप्य लाभ का अधिकारी बना है जो ज्ञान-गिरा-गोतीत है। उपासना के लिए उपास्य की प्रयोजनीयता अविदित नहीं। यदि उपास्य अचिन्तनीय अव्यक्त है अथवा ज्ञान का विषय नही, तो उसमे भावो का आरोप नही हो सकता। ऐसी अवस्था मे भक्ति किसकी होगी? प्रेम किससे किया जायेगा? और किनके गुणो का मनन-चिन्तन करके मनुष्य अपनी आत्मा को उन्नत बना सकेगा? इन्ही बातों पर दृष्टि रखकर परमात्मा के सगुण रूप की कल्पना है। जो यह समझता है कि बिना सगुणोपासना किये हम परमात्मा के निर्गुण-स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेंगे वह उसी जिज्ञासु के समान है जो विश्व-नियन्ता का तो परिचय प्राप्त करना चाहता है, किन्तु यही नही जानता कि विश्व क्या है। पुराण सगुण-पथ का पथिक बनाकर निर्गुण प्राप्ति कराते हैं, किन्तु बड़ी बुद्धिमत्ता और विवेक के साथ। यही कारण है कि मुख से निर्गुणवाद का गीत गाने-वाले भी अन्त में पुराण-शैली की परिधि के अन्तर्गत हो जाते है। चाहे कबीर साहब हों अथवा पन्द्रहवी सदी के दूसरे निर्गुणवादी, उन सबके मार्गदर्शक गुप्त रूप से पुराण ही है[1]।"

विचारणीय यह है: कबीरदास के उन पदों का जिनमें उन्होने बारम्बार 'दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना। राम नाम कर मरम है आना।'—जैसी बातें कहकर पुराणप्रतिपादित सगुण ब्रह्म का प्रत्याख्यान करना चाहा है। क्या ऐसा अर्थ भी लगाया जा सकता है कि मुँह से विरोध करते रहने पर भी कबीरदास असल में पुराण-विरोधी नहीं थे? तुलसीदासजी ने ऐसा नहीं समझा था। राम-चरित-मानस मे 'दशरथ-सुत' वाली उक्ति उद्धृत करके ही उन्होंने उसका सीधी भाषा में प्रत्याख्यान किया है। उनके मत से इस प्रकार कथन करनेवाले वेद और पुराण-प्रतिपादित सद्धर्म के जाननेवाले नही थे। बालकाण्ड में पार्वती ने शिव से पूछा:

1. हि. भा. सा. वि., पृ. 199-200

राम सो अवध-नृपति-सुत सोई । की अज अगुण अलख गति कोई ॥
जो नृप तनय तो ब्रह्म किमि, नारिबिरह मति भोरि ।
देखि चरित महिमा सुनत, भ्रमति बुद्धि अति मोरि ॥ 108 ॥

इसके उत्तर में गोस्वामी तुलसीदासजी ने शिवजी के मुख से जो उत्तर दिलवाया है, वह ध्यान से सुनने लायक है :

एक बात नहिं मोहि सुहानी । जदपि मोहवस कहेहु भवानी ॥
तुम्ह जो कहा राम कोउ आना । जेहि श्रुति गाव धरहिं मुनि ध्याना ॥
कहहिं-सुनहिं अस अधम नर, ग्रसे जे मोह पिसाच ।
पापंडी हरिपद-बिमुख, जानहिं झूठ न साँच ॥114॥
अग्य अकोविद अंध अभागी । काई विषय मुकुर-मन लागी ॥
लंपट कपटी कुटिल बिसेखी । सपनेहु संत-सभा नहिं देखी ॥
कहहिं ते वेद-असम्मत बानी । जिन्हके सूझ लाभु नहिं हानी ॥
मुकुर मलिन अरु नयनबिहीना । रामरूप देखहिं किमि दीना ॥
जिन्हके अगुन न सगुन विवेका । जल्पहिं कल्पित वचन अनेका ॥
हरिमाया बस जगत भ्रमाही । तिन्हहिं कहत कछु अघटित नाही ॥
बातुल भूत-बिवस मतवारे । ते नहिं बोलहिं वचन बिचारे ॥
जिन्ह कृत महामोह-मद पाना । तिन्ह कर कहा करिअ नहिं काना ॥
अस निज हृदय बिचारि, तजि संसय भजु रामपद ।
सुनु गिरिराज कुमारि, भ्रमतम-रविकर वचन मन ॥115॥

× × ×

राम सच्चिदानन्द दिनेसा । नहिं तहँ मोहनिसा लवलेसा ॥
सहज-प्रकास-रूप भगवाना । नहिं तहँ पुनि बिग्यान बिहाना ॥
हरख-बिषाद ज्ञान-अज्ञाना । जीव-धर्म अहमिति-अभिमाना ॥
राम ब्रह्म-व्यापक जग जाना । परमानंद परेस पुराना ॥
पुरुष प्रसिद्ध प्रकास-निधि, प्रकट परापरनाथ ॥
रघुकुल-मनि मम स्वामि सोइ, कहि सिव नायेउ माथ ॥

× × ×

एहि बिधि जग हरि-आश्रित रहई । जदपि असत्य देत दुख अहई ॥
जौं सपनें सिर काटै कोई । बिनु जागें दुख दूरि न होई ॥
जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई । गिरिजा सोइ कृपालु रघुराई ॥
आदि-अन्त कोउ जासु न पावा । मति-अनुमानि निगम अस गावा ॥
बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना । कर बिनु करम करइ बिधि नाना ॥
आननरहित सकल-रस-भोगी । बिन बानी बकता बड़ जोगी ॥
तन बिनु परस नयन बिनु देखा । ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेसा ॥
अस सब भाँति अलौकिक करनी । महिमा जासु जाइ नहिं बरनी ॥

जेहि इमि गावहिं वेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दसरथ-सुत भगतहित, कोसलपति भगवान ॥118॥

इस उद्धरण के मोटे टाइप के शब्दों पर ध्यान देकर देखा जाय तो कोई सन्देह नहीं रह जाता कि तुलसीदास के मन में 'दशरथ सुत तिहुँ-लोक-बखाना, राम-नाम कर मरम है आना' वाली कबीर-पन्थियों की उक्ति ही थी। बार-बार 'दशरथ-सुत,' 'नृपसुत', 'नृपतनय', 'कोउ आना' आदि पद अचानक नहीं आ गये है, जान-बूझकर और सोच-समझकर ले आये गये है। इससे यह तो निश्चित है कि तुलसीदासजी इस मत को श्रुतिसम्मत या पुराणमार्गी नहीं मानते थे। इतना ही नहीं, वे इसे अज्ञानजन्य पाखण्ड ही समझते रहे। यह दूसरी बात है कि उनका समझना ठीक था या नहीं, प्रकृत प्रसंग यह है कि गोस्वामीजी ने द्विधाहीन और सकोचहीन भाषा मे इस प्रकार के विचारों को वेद-पुराण-बाह्य माना है।

इस प्रकार कबीरदास के मत को वेद-पुराण-सम्मत न तो गोस्वामीजी जैसे विरोधियों ने माना है और न उनके पक्के अनुयायी शिष्यों ने। एक के मत से यह प्रबल पाखण्ड था और दूसरे के मत से स्वयं वेद-पुराण ही पाखण्ड थे। इन उभय कोटियों मे चाहे जो भी असमानता हो, इस बात में कोई सन्देह नहीं कि दोनों ही यह स्वीकार करते है कि वेद-पुराण में वही नहीं है जो कबीरदास ने कहा है। फिर जो लोग कबीरदास को एकदम उपनिषद् का सोलह आना अनुयायी समझते है और घोषणा करते है कि "यद्यपि कबीरदास ने मुक्ति का साक्षात् साधन निर्विशेष आत्म-तत्त्वज्ञान को ही माना है तथापि परम्परा-मुक्ति के साधन सात्त्विक पूजा तथा अवतारोपासना, योग-जप-तप-संयम-तीर्थ-व्रत-दानादिको की व्यर्थता उन्होंने कही नहीं लिखी, किन्तु धर्मध्वजी पाखण्डियो के द्वारा की हुई उनकी दुरुपयोगिता का ही खण्डन किया है," वे लोग क्या कहना चाहते है, वे ही जानें। कबीरदास ने तो ज़ोरदार भाषा मे और साफ़-साफ़ आचार-मात्र का प्रत्याख्यान किया है, फिर चाहे वह परम्परासमर्थित हो या व्यक्तिविशेष के उर्वर मस्तिष्क से उद्भावित।

कबीरदास के राम पुराण-प्रतिपादित अवतार नहीं थे, यह निश्चित है। वे न तो दशरथ के घर उतरे थे और न लंका के राजा का नाश करनेवाले हुए; न तो देवकी की कोख से पैदा हुए थे और न यशोदा ने उन्हें गोद खेलाया था; न तो वे ग्वालों के संग घूमा करते थे और न उन्होंने गोवर्धन पर्वत को धारण ही किया था; न तो उन्होंने वामन होकर बलि को छला था और न वेदोद्धार के लिए वराहरूप धारण करके धरती को अपने दाँतों पर ही उठाया था; न वे गण्डक के शालिग्राम है, न वराह, मत्स्य, कच्छप आदि वेषधारी विष्णु के अवतार; न तो वे नरनारायण के रूप में बदरिका आश्रम मे ध्यान लगाने बैठे थे और न परशुराम होकर क्षत्रियों का ध्वंस करने गये थे; और न तो उन्होंने द्वारिका में शरीर छोड़ा था और न वे जगन्नाथ-धाम मे बुद्ध-रूप मे ही अवतरित हुए। कबीरदास ने बहुत विचार करके कहा है कि ये सब ऊपरी व्यवहार है। जो संसार में व्याप्त हो रहा

है वह राम इनकी अपेक्षा कहीं अधिक अगम अपार है।[1] उसको दूर खोजने की जरूरत नहीं, वह सारे शरीर में भरपूर हो रहा है; लोहू झूठ है, चाम झूठ है, सत्य है वह राम जो इस सारे शरीर में रम रहा है।[2]

यह कहना कि "कबीरदास कभी तो अद्वैतवाद की ओर झुकते दिखायी देते हैं और कभी एकेश्वरवाद की ओर, कभी वे पौराणिक सगुणभाव से भगवान् को पुकारते हैं और कभी निर्गुणभाव से; असल में उनका कोई स्थिर तात्त्विक सिद्धान्त नहीं था," केवल अश्रद्धाप्रसूत है। ऐसी बातें वही लोग कहते हैं जो शुरू में ही मान बैठते हैं कि कबीरदास एक अशिक्षित जुलाहे थे और उल्टी-सीधी अटपटी बानियों से साधारण जनता पर 'प्रभाव जमाना चाहते थे!' ऐसे कथनों का उत्तर देना बेकार है। बिना श्रद्धा-भक्ति लिये जिन किसी भक्त के कथनों को क्यों न पढ़ा जाय, इस प्रकार के निष्कर्ष निकाल लिये जा सकते हैं। वस्तुतः कबीरदास का एकेश्वरवाद उस प्रकार का था ही नहीं जैसा मुसलमानी धर्म में स्वीकृत बताया जाता है। इस मत के अनुसार ईश्वर समस्त जगत और जीवों से भिन्न और परम समर्थ है। कबीरदास ने स्पष्ट शब्दों में लोगों को सावधान किया है कि वह ब्रह्म व्यापक है, सबमें एक भाव से व्याप्त है; पण्डित हो या योगी, राजा हो या प्रजा, वैद्य हो या रोगी, वह सबमें आप रम रहा है और उसमें सब रम रहे हैं। यह जो नाना भाँति का प्रपंच दिखायी दे रहा है, अनेक घट और अनेक भाण्ड दिख रहे हैं, सब-कुछ उसी का रूप है।[3] सारा खलक ही खालिक है और खालिक ही खलक

1 ना साहिब के लागौं साया। दुख-सुख मेटि जो रह्यौ अनाया।
ना दशरथघरि औतरि आवा। ना लंका का रांव सतावा।
देवै कूख न औतरि आवा। ना जसवै ले गोद खेलावा।
ना वो ग्वालन के संग फिरिया। गोवरधन ले ना कर धरिया।
बावन होय नहीं बलि छलिया। धरनी वेद लेन उधरिया।
गंडक सालिगराम न कोला। मच्छ कच्छ ह्वै जलहि न डोला।
बद्री बैठा ध्यान नहिं लावा। परसराम है खत्री न सतावा।
द्वारमती शरीर न छाड़ा। जगन्नाथ ले प्यंड न गाड़ा।
कहै कबीर बिचार करि, ये ऊले ब्यवहार।
याहीथैं जे अगम है, सो बरति रह्या संसार।—क. ग्रं., पृ 242-43

2 कहै कबीर बिचारि करि, जिनि कोई खोजै दूरि।
ध्यान धरौ मन सुद्ध करि, राम रह्या भरपूरि॥
कहै कबीर बिचार करि, झूठा लोही चाम।
जा या देहि रहित है, सो है रमिता रांम॥—क. ग्रं., पृ 243

3 जबहीं आतम तत्त बिचारा।
तब निरबैर भया सबहिनथैं काम क्रोध गहि डारा।
ब्यापक ब्रह्म सबनिमैं एकै, को पंडित को जोगी।
राणा-राव कवनसूं कहिये, कवन बैद को रोगी।

है।[1] मैं और तू, तू और मैं, सब-कुछ वे ही है। वह आप-ही-आप सब घटो में रम रहा है (पद, 203)।

वस्तुत. जब कबीरदास निर्गुण भगवान् का स्मरण करते है तो उनका उद्देश्य यह होता है कि भगवान् के गुणमय शरीर की जो कल्पना की गयी है वह रूप उन्हे मान्य नही है। परन्तु 'निर्गुण' से वे केवल एक निषेधात्मक भाव ग्रहण करते हो सो बात भी नही है। वस्तुत वे भगवान् को सत्त्व, रज और तमोगुणो से अतीत मानते है और इसी गुणातीत रूप को निर्गुण शब्द से प्रकट करते है। हे सन्तो, मैं धोखे की बात किससे कहूँ। गुण ही मे निर्गुण है और निर्गुण मे गुण · इस सीधे रास्ते को छोड़कर कहाँ बहता फिरा जाय? लोग उसे अजर कहते है, अमर कहते है, पर असल बात कोई कहता ही नही। वस्तुत. वह अलख है, अगम्य है। निषेधात्मक विशेषण केवल धोखे है। यह तो ठीक है कि उसका कोई स्वरूप नही है, कोई वर्ण नही है, पर यह और भी अधिक ठीक है कि वह सब घट मे समाया हुआ है (और इसीलिए सभी रूप उसके रूप है और सभी वर्ण उसके वर्ण है, फिर उसे अरूप या अवर्ण कैसे कहे?)। पिण्ड और ब्रह्माण्ड की बातें कही जाती है, पर चाहे पिण्ड हो और चाहे ब्रह्माण्ड, सभी देश और काल में सीमित है पर उसका न तो आदि है और न अन्त। फिर उसे पिण्ड और ब्रह्माण्ड मे व्याप्त कह ही दिया गया तो उसका ठीक-ठीक परिचय मिल गया? सही बात यह है कि वह पिण्ड से भी परे है, ब्रह्माण्ड से भी परे है। कबीरदास कहते हैं कि उनका हरि इन सबसे परे है। वह अगुण और सगुण दोनो के ऊपर है, अजर और अमर दोनों के अतीत है, अरूप और अवर्ण दोनो के परे है, पिण्ड और ब्रह्माण्ड दोनो के अगम्य है। यही कबीरदास का निर्गुण राम है।[2]

इतना ही नही, वह भाव और अभाव दोनों से परे है, अर्थात् न तो यही कहा जा सकता है कि वह भाव रूप है और न यही कहा जा सकता है कि वह अभाव रूप है, 'भावाभावविनिर्मुक्तः' है।[3] फिर उसे किसी पक्षविशेष के द्वारा भी नही

→ इनमैं आप आप सबहिनमैं आप आपसूं खेलै।
नाना भाँति घड़े सब भाँडे रूप धरे धरि मेलै।
सोचि-विचारि सबै जग देखा, निरगुण कोई न बतावै।
कहै कबीर गुणी अरु पंडित मिलि लीला जस गावै।—क. ग्र., पद 186

1. लोका जानि न भूलौ भाई।
खालिक खलक खलक मे खालिक, सब घट रह्यौ समाई।—वही, पद 5

2 संतो, धोखा कासूं कहिये।
गुनमैं निरगुन, निरगुनमैं गुन, बाट छाडि क्यूं बहिये।
अजर-अमर कथै सब कोई अलख न कथणा जाई।
नाति स्वरूप-वरण नहिं जाके घटि-घटि रह्यौ समाई।
प्यंड-ब्रह्मण्ड कथै सब कोई वाकै आदि अर अन्त न होई।
प्यंड-ब्रह्मण्ड छाडि जे कहियै कहै कबीर हरि सोई।।—क. ग्र., पद 180

3. कह्या न उपजै उपजा नहिं जाणै भाव अभाव बिहूना।
उदै अस्त जहाँ मति बुधि नाही सहजि राम ल्यौ लीना।।—क. ग्रं., पद 179

समझाया जा सकता। न तो वह द्वैत पक्ष का विषय है, न अद्वैत पक्ष का प्रतिपाद्य। असल मे सयाना साधु वही है जो निष्पक्ष भाव से उसको भजता है। जैसे तिनके से तिनका बँधा होता है वैसे ही लोग एक-दूसरे से बँधे हुए है। जिसे आत्मदृष्टि प्राप्त है वही ठीक-ठीक देख पाता है। वह जानना एकमेक होकर जानना है, एक-मेक अर्थात् प्रेम-प्रीति से भरे मन को परम प्रीति के एकमात्र आश्रय भगवान् में लीन कर देना। इसे ठीक-ठीक कहकर नही समझाया जा सकता। यह पूर्ण की पूर्ण दृष्टि से पूर्ण को ही देखना है।[1] वह अद्वैतवादी की भाँति चिदात्मक ब्रह्म-सत्ता मे चैतन्य का विलय नही है, बल्कि जैसा कि स्वयं कबीर ने ही कहा है, सहज-भाव से एकमेक होकर राम से मिल रहना है। सहज भी ऐसा 'सहज' नही—परम प्रेमाश्रय भगवान् से सहज ही मिल रहना सहज है।[2]

फिर उसे न तो भीतर कहा जा सकता है, न बाहर। कहो तो सद्गुरु लज्जित होगे, क्योकि सद्गुरु रूप मे वह भीतर ही बैठा है और समस्त जगत् को जो हम देख रहे है और पहचान रहे है वह इसीलिए कि वह भीतर बैठा हुआ दिखा रहा है और पहचनवा रहा है, सद्गुरु को हम बाहर कैसे कहे? फिर अगर भीतर कहें तो सारा ससार—समूची बाह्य रूप मे दृश्यमान सृष्टि झूठी हो जाती है। असल मे वह बाहर से भीतर तक ऐसा व्याप्त हो रहा है कि कहकर समझाया नही जा सकता। न तो वह दृष्टि का विषय है (बाह्य) और न मुष्टि का (आन्तर)। वह अलख है, अगम है, अगोचर है। उसे पुस्तक में लिखकर प्रकट नही किया जा सकता। उसे वही भली-भाँति जानते है जो पहचानते है। जो नही जानते वे कहने पर विश्वास ही नही करेंगे।[3]

1. पपा पपीके पेपणै सब जगत भुलाना।
निरपप होई हरि भजै सो साध सयाना।
ज्यूं परसूं पर बाँधियाँ यूं बधे सब लोई।
जाकै आतम द्रिष्टि है साचा जन है सोई।
एक एक जिनि जाणिया तिनही सच पाया।
प्रेम-प्रीति ल्यौलीन मनते बहुरि न आया।
पूरे की पूरी द्रिष्टि पूरा करि देखै।
कहै कबीर कछु समुझि न परई, या कछु बात अलेख॥—क. ग्रं., पद 181

2 सहजै सहजै सब गये सुत-वित-कामिणि-काम।
एकमेक है मिलि रह्या दासि कबीरा राम॥
सहज सहज सब कोई कहै, सहज न चीन्हे कोइ।
जिन्ह सहजै हरिजी मिलै, सहज कहीजै सोइ।—वही, पृ. 43, साखी 408

3. ऐसा लो तत ऐसा लो, मैं केहि विधि कथौं गभीरा लो।
बाहर कहौं तो सतगुरु लाजै भीतर कहौं तो झूठा लो।
बाहर-भीतर सकल निरंतर गुरपरतापै दीठा लो।
दृष्टि न मुष्टि न अगम अगोचर पुस्तक लिखा न जाई लो।
जिन पहिचाना तिन भल जाना कहै न को पतियाई लो॥ इत्यादि।—रा., शब्द 28
पद पर हणवत नामक नाथ-सिद्ध के नाम पर मिलता है।

कुछ लोग उपासना तक तो मान लेते हैं, पर प्रार्थना की बात उनकी समझ में नही आती। स्व. कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इस प्रसग मे जो कुछ लिखा है वह विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। यह कहना ही बेकार है कि वे ब्रह्म को निराकार और गुणातीत मानते थे। परन्तु किसी-किसी वैदान्तिक आचार्य की भाँति उसे निष्क्रिय नही मानते थे। अपने एक प्रवचन के सिलसिले मे उन्होने कहा था (जिसका प्रामाणिक विवरण बाद मे 'शान्ति-निकेतन' नामक प्रबन्ध-संग्रह में छपा था) कि "कुछ लोग कहते हैं कि उपासना में प्रार्थना का कोई स्थान नही है--उपासना केवल-मात्र ध्यान है--ईश्वर के स्वरूप को मन-ही-मन उपलब्ध करना है। यह बात मैं स्वीकार कर लेता यदि जगत् मे अपनी इच्छा का कोई प्रकाश न देख पाता। हम लोहे से प्रार्थना नही करते, पत्थर से प्रार्थना नही करते—उसी के निकट अपनी प्रार्थना प्रकट करते हैं जिसमे इच्छा-वृत्ति हो। ईश्वर यदि केवल सत्य-स्वरूप होते, केवल अव्यर्थ नियमों के रूप मे ही उनका प्रकाश होता तो उनके निकट प्रार्थना करने की बात हमारे मन मे स्वप्न मे भी नही आती। परन्तु कहा गया है वे 'आनन्दरूपम् अमृतम्' है, कहा गया है वे इच्छामय, प्रेममय, आनन्दमय है, इसीलिए सिर्फ 'विज्ञान' के द्वारा हम उन्हे नही जानते, इच्छा के द्वारा ही इच्छा-स्वरूप और आनन्द-स्वरूप को जानना पड़ता है···

"हमारे भीतर इस इच्छा का निकेतन हृदय है। हमारा वह इच्छामय हृदय क्या शून्य मे प्रतिष्ठित है ? उसकी पुष्टि मिथ्या से होती है ? उसका गम्य स्थान क्या व्यर्थता के बीच मे है ? फिर भला यह विचित्र उपसर्ग (इच्छा-हृदय) कहाँ से आया ? किस उपाय से वह मुहूर्त-भर के लिए यहाँ टिका हुआ है ? जगत् मे क्या सिर्फ एक ही धोखा है, और वह धोखा हमारा हृदय है ? कभी नही। हमारा यह इच्छारसमय हृदय जगद्व्यापी इच्छा-रस की नाड़ी के साथ बँधा हुआ है। वही से वह आनन्द-रस पाकर जी रहा है, न पाने से उसका प्राण निकल जाता है—वह अन्न-वस्त्र नही चाहता, विद्या-शक्ति नही चाहता, चाहता है अमृत, चाहता है प्रेम। जो कुछ चाहता है, उसे इसीलिए चाहता है कि वह वस्तु क्षुद्र-रूप से संसार में और चरम-रूप से उन (भगवान्) मे वर्त्तमान है—नही तो किसी रुद्ध द्वार पर सिर पटककर मरने के लिए उसका जन्म नही हुआ है। हृदय अपने को जानता है, इसीलिए यह भी निश्चय रूप से जानता है कि उसकी एक परिपूर्ण कृतार्थता अन्तर मे वर्त्तमान है। इच्छा केवल उसी की ओर है, यह बात नही है, दूसरी ओर भी है···दूसरी ओर भी इच्छा न होती तो वह निमेष-भर के लिए भी इधर नही रह सकती थी, एक कण-भर भी इधर ऐसी बची न रहती जिससे निश्वास-प्रश्वास रूप प्राण-क्रिया भी चल सकती। इसीलिए उपनिषदो ने इतना जोर देकर कहा है कि—कोह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनंदो न स्यात् एष ह्येवानन्दयति।—कौन शरीर की चेष्टा करता और कौन जी सकता था, यदि आकाश मे वह आनन्द न होता, वे ही आनन्द के दाता हैं !

"दो इच्छाओं के बीच दूती का कार्य करती है प्रार्थना। यह प्रार्थना-दूती दो

समझाया जा सकता। न तो वह द्वैत पक्ष का विषय है, न अद्वैत पक्ष का प्रतिपाद्य। असल में सयाना साधु वही है जो निष्पक्ष भाव से उसको भजता है। जैसे तिनके में तिनका बँधा होता है वैसे ही लोग एक-दूसरे से बँधे हुए हैं। जिसे आत्मदृष्टि प्राप्त है वही ठीक-ठीक देख पाता है। वह जानना एकमेक होकर जानना है, एक-मेक अर्थात् प्रेम-प्रीति से भरे मन को परम प्रीति के एकमात्र आश्रय भगवान् में लीन कर देना। इसे ठीक-ठीक कहकर नहीं समझाया जा सकता। यह पूर्ण की पूर्ण दृष्टि से पूर्ण को ही देखना है।[1] वह अद्वैतवादी की भाँति चिदात्मक ब्रह्म-सत्ता में चैतन्य का विलय नहीं है, बल्कि जैसा कि स्वयं कबीर ने ही कहा है, सहज-भाव से एकमेक होकर राम से मिल रहना है। सहज भी ऐसा 'सहज' नहीं—परम प्रेमाश्रय भगवान् में सहज ही मिल रहना सहज है।[2]

फिर उसे न तो भीतर कहा जा सकता है, न बाहर। कहो तो सद्गुरु लज्जित होंगे, क्योंकि सद्गुरु रूप में वह भीतर ही बैठा है और समस्त जगत् को जो हम देख रहे हैं और पहचान रहे हैं वह इसीलिए कि वह भीतर बैठा हुआ दिखा रहा है और पहचनवा रहा है, सद्गुरु को हम बाहर कैसे कहें ? फिर अगर भीतर कहें तो सारा संसार—समूची बाह्य रूप में दृश्यमान सृष्टि झूठी हो जाती है। असल में वह बाहर से भीतर तक ऐसा व्याप्त हो रहा है कि कहकर समझाया नहीं जा सकता। न तो वह दृष्टि का विषय है (बाह्य) और न मुष्टि का (आन्तर)। वह अलख है, अगम है, अगोचर है। उसे पुस्तक में लिखकर प्रकट नहीं किया जा सकता। उसे वही भली-भाँति जानते हैं जो पहचानते हैं। जो नहीं जानते वे कहने पर विश्वास ही नहीं करेंगे।[3]

1 पखा पखीके पेखणें सब जगत भुलाना।
निरपख होई हरि भजै सो साध सयाना।
ज्यूं परसूं पर बाँधियाँ यूं बधे सब लोई।
जाके आतम द्रिष्टि है साचा जन है सोई।
एक एक जिनि जाणिया तिनहीं सच पाया।
प्रेम-प्रीति ल्यौलीन मनते बहुरि न आया।
पूरे की पूरी द्रिष्टि पूरा करि देखै।
कहै कबीर कछू समुझि न परई, या कछु बात अलेख॥—क. ग्रं., पद 181

2 सहजैं सहजैं सब गये सुत-बित-कामिणि-काम।
एकमेक है मिलि रह्या दासि कबीरा रांम॥
सहज सहज सब कोई कहै, सहज न चीन्है कोइ।
जिन्ह सहजैं हरिजी मिलैं, सहज कहीजै सोइ।—वही, पृ 43, साखी 408

3 ऐसा लो तत ऐसा लो, मैं केहि विधि कहौं गभीरा लो।
बाहर कहौं तो सतगुरु लाजै भीतर कहौं तो झूठा लो।
बाहर-भीतर सकल निरंतर गुरुपरतापैं दीठा लो।
दृष्टि न मुष्टि न अगम अगोचर पुस्तक लिखा न जाई लो।
जिन पहिचाना तिन भल जाना कहै न को पतियाई लो॥ इत्यादि।—रा., शब्द 28
यह पद हणवत नामक नाथ-सिद्ध के नाम पर मिलता है।

कुछ लोग उपासना तक तो मान लेते है, पर प्रार्थना की बात उनकी समझ मे नही आती। स्व. कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इस प्रसंग में जो कुछ लिखा है वह विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। यह कहना ही बेकार है कि वे ब्रह्म को *निराकार और गुणातीत मानते थे। परन्तु किसी-किसी वेदान्तिक आचार्य की* भाँति उसे निष्क्रिय नही मानते थे। अपने एक प्रवचन के सिलसिले मे उन्होने कहा था (जिसका प्रामाणिक विवरण बाद मे 'शान्ति-निकेतन' नामक प्रबन्ध-संग्रह में छपा था) कि "कुछ लोग कहते है कि उपासना मे प्रार्थना का कोई स्थान नही है--उपासना केवल-मात्र ध्यान है--ईश्वर के स्वरूप को मन-ही-मन उपलब्ध करना है। यह बात मैं स्वीकार कर लेता यदि जगत् में अपनी इच्छा का कोई प्रकाश न देख पाता। हम लोहे से प्रार्थना नही करते, पत्थर से प्रार्थना नही करते—उसी के निकट अपनी प्रार्थना प्रकट करते है जिसमे इच्छा-वृत्ति हो। ईश्वर यदि केवल सत्य-स्वरूप होते, केवल अव्यर्थ नियमो के रूप मे ही उनका प्रकाश होता तो उनके निकट प्रार्थना करने की बात हमारे मन मे स्वप्न में भी नही आती। परन्तु कहा गया है वे 'आनन्दरूपम् अमृतम्' हैं, कहा गया है वे इच्छामय, प्रेममय, आनन्दमय है, इसीलिए सिर्फ 'विज्ञान' के द्वारा हम उन्हे नहीं जानते, इच्छा के द्वारा ही इच्छा-स्वरूप और आनन्द-स्वरूप को जानना पड़ता है'''

"हमारे भीतर इस इच्छा का निकेतन हृदय है। हमारा वह इच्छामय हृदय क्या शून्य में प्रतिष्ठित है? उसकी पुष्टि मिथ्या से होती है? उसका गम्य स्थान क्या व्यर्थता के बीच मे है? फिर भला यह विचित्र उपसर्ग (इच्छा-हृदय) कहाँ से आया? किस उपाय से वह मुहूर्त-भर के लिए यहाँ टिका हुआ है? जगत् मे क्या सिर्फ एक ही धोखा है, और वह धोखा हमारा हृदय है? कभी नही। हमारा यह इच्छारसमय हृदय जगद्व्यापी इच्छा-रस की नाड़ी के साथ बँधा हुआ है। वहीं से वह आनन्द-रस पाकर जी रहा है, न पाने से उसका प्राण निकल जाता है—वह अन्न-वस्त्र नही चाहता, विद्या-शक्ति नही चाहता, चाहता है अमृत, चाहता है प्रेम। जो कुछ चाहता है, उसे इसीलिए चाहता है कि वह वस्तु क्षुद्र-रूप से संसार मे और चरम-रूप से उन (भगवान्) मे वर्तमान है—नही तो किसी रुद्ध द्वार पर सिर पटककर मरने के लिए उसका जन्म नहीं हुआ है। हृदय अपने को जानता है, इसीलिए यह भी निश्चय रूप से जानता है कि उसकी एक परिपूर्ण कृतार्थता अन्तर मे वर्तमान है। इच्छा केवल उसी की ओर है, यह बात नही है, दूसरी ओर भी है'''दूसरी ओर भी इच्छा न होती तो वह निमेष-भर के लिए भी इधर नही रह सकती थी, एक कण-भर भी इधर ऐसी बची न रहती जिससे निश्वास-प्रश्वास रूप प्राण-क्रिया भी चल सकती। इसीलिए उपनिषदो ने इतना जोर देकर कहा है कि—कोह्येवान्यात् क. प्राण्यात् यदेष आकाश आनंदो न स्यात् एष ह्येवानन्दयति।—कौन शरीर की चेष्टा करता और कौन जी सकता था, यदि आकाश में वह आनन्द न होता, वे ही आनन्द के दाता है!

"दो इच्छाओ के बीच दूती का कार्य करती है प्रार्थना। यह प्रार्थना-दूती दो

इच्छाओं के मध्यवर्ती विच्छेद के ऊपर व्याकुल वेश में खड़ी है। इसीलिए असाधारण साहस के साथ वैष्णव भक्त ने कहा है कि जगत् के विचित्र सौन्दर्य के भीतर भगवान् की वंशी जो नाना सुरों में बज रही है वह सिर्फ हमारे लिए उनकी प्रार्थना है। हमारे हृदय को वे इसी अनिर्वचनीय संगीत के द्वारा पुकार रहे हैं। इसीलिए तो यह सौन्दर्य-संगीत हमारे हृदय की विरह-वेदना को जगा देता है।[1]... उनकी ऐसी पुकार पर भी क्या हमारे मन की प्रार्थना नहीं जागेगी? वह क्या उनके विरह की धूलि-आसन पर लोटकर रो नहीं उठेगी? असत्य अन्धकार और मृत्यु के निरानन्द निर्वासन के अभिसार की यात्रा के समय यह प्रार्थना-दूती ही क्या अपनी कम्पित दीपशिखा को लेकर हमारा रास्ता दिखाती हुई आगे-आगे नहीं चलेगी? जितने दिन तक हमारे पास हृदय है, जितने दिन तक प्रेमस्वरूप भगवान् अपने नाना सौन्दर्यों द्वारा इस जगत् को आनन्द-निकेतन के रूप में सजा रहे हैं, तब तक उनसे मिलन हुए बिना मनुष्य की वेदना कैसे दूर होगी? तब तक ऐसा कौन सन्देह-कठोर ज्ञानाभिमान है जो मनुष्य की प्रार्थना को अपमानित करके लौटा सके?"[2]

इसी त्रिगुणातीत, द्वैताद्वैतविलक्षण, भावाभावविनिर्मुक्त, अलख, अगोचर, अगम्य, प्रेमपारावार भगवान् को कबीरदास ने 'निर्गुण राम' कहकर सम्बोधन किया है। वह समस्त ज्ञान तत्त्वों से भिन्न है फिर भी सर्वमय है। वह अनुभवैकगम्य है, केवल अनुभव से ही जाना जा सकता है। इसी भाव को[3] बताने के लिए कबीरदास ने बार-बार 'गूंगे का गुड़'[4] कहकर उसे याद किया।

वह किसी भी दार्शनिक वाद के मानदण्ड से परे है, तार्किक बहस के ऊपर है, पुस्तकी विद्या से अगम्य है, पर प्रेम से प्राप्य है, अनुभूति का विषय है, सहज भाव

1 इस भाव के साथ कबीरदास के निम्नलिखित पद की तुलना की जा सकती है :
सतिगुरु हो महाराज मोपै साँई रंग डारा।
सब्द की चोट लगी मेरे मन मे बेध गया तन सारा॥
औषध-मूल कछू नहिं लागै क्या करै बैद बिचारा।
सुरनर-मुनीजन-पीर-औलिया कोई न पावै पारा॥
साहेब कबीर सर्व रंग रँगिया रँग से रँग न्यारा॥— शब्दा, 9
2 शान्तिनिकेतन, विश्वभारती संस्करण, 1341 बंगाब्द, प्रथम खण्ड, पृ. 105-8
3 बाब अगम अगोचर, कैसा, ताते कहि समुझावों ऐसा।
जो दीसै सो तो है वो नाही, है सो कहा न जाई॥
सैना-बैना कहि समुझाओ गूंगे का गुड़ भाई।
दृष्टि न दीसै मुष्टि न आवै बिनसै नाहिं नियारा॥
ऐसा ग्यान कथा गुरु मेरे पंडित करो बिचारा॥—शब्दा., शब्द 29
4 अविगत अकथ-अनूपम देख्या कहतां कह्या न जाई।
सैन करै मन ही मन रहसै गूंगै जानि मिठाई॥—क. ग्रं., पृ. 6
अकथ कहाणी प्रेम की कछू कही न जाई।
गूंगेकेरी सरकरा बैठे मुसुकाई।—क. ग्रं., पद 156
सैना बैना कहि समुझाओ गूंगे का गुड़ भाई।—शब्दा, शब्द 29, इत्यादि

से भावित है, यही कबीरदास का निर्गुण राम है। भक्त लोग इस राम को जानते है और राम भी भक्तों को पहचानते है। नैन की व्यथा बैन जानती है, बैन की वेदना श्रवण। पिण्ड का दुख प्राण जानता है, प्राण का दुख मरण। आस का दुःख प्यास को मालूम है, प्यास का दुख पानी को। कबीरदास का निश्चित विश्वास है कि इसी प्रकार राम भक्त के दुःख को जानते है[1]।

बाह्याचार

जिन दिनों कबीरदास का आविर्भाव हुआ था उन दिनों हिन्दुओं में पौराणिक मत ही प्रबल था। परन्तु यह साधारण गृहस्थो का धर्म था। देश मे और भी नाना भाँति की साधनाएँ प्रचलित थीं। कोई वेदपाठी था, तो कोई उदासी; कोई ऐसा न था जो दीन बना फिर रहा था, तो कोई दान-पुण्य मे ही व्यस्त था; कोई मदिरा के सेवन को ही चरम साधना मानता था, तो कोई तन्त्र-मन्त्र-औषधादि की करामात से ही सिद्ध बना फिरता था; कोई सिद्ध था, कोई तीर्थव्रती था और कोई धूम्रपान से शरीर को काला बना रहा था। सब थे, पर कोई राम-नाम मे लीन नहीं था। सद्गुरु (=रामानन्द ?) की कृपा से कबीरदास को यह महामन्त्र मिल गया था।[2] उस समय मुनि थे, पीर थे, दिगम्बर थे, योगी थे, जगम थे,

1. जन की पीर हो राजा राम जानैं कहूँ काहि को मानैं।
नैन का दुख बैन जानैं बैन का दुख श्रवनां॥
प्यंड का दुख प्रान जानैं प्रान का दुख मरना।
आस का दुख प्यास जानैं प्यास का दुख नीर।
भगति का दुख राम जानैं कहैं दास कबीर॥—क. ग्र., पद 286
2. ऐसो देखि चरित मन मोह्यो मोर,
तार्थे निस बासुरि गुन रमौं तोर।
इक पढ़हि पाठ, इक भ्रमैं उदास, इक नगन निरन्तर, रहै निवास।
इक जोग जुगति तन हूहि खीन, ऐसे राम नाम सगि रहै न लीन।
इक हूँहि दीन एक देही दान, इक करै कलापी सुरापान।
इक तन-मंत्र औषध (ब) बान, इक सकल सिद्ध राषै अपान।
इक तीरथ-ब्रत करि काय जीति, ऐसे राम-नामसूँ करै न प्रीति।
इक धोम घोटि तन होहि स्याम, यूं मुकुति नहीं बिन रामनाम।
सतगुर तत्त कह्यो बिचार, मूल गह्यो अनभै बिस्तार।
जुरा मरण थै भये धीर, राम कृपा भई कहि कबीर।—क. ग्र., पद 386

वेदपाठ, तीर्थस्थान, व्रतोद्यापन, छूआछूत, अवतारोपासना, कर्मकाण्ड इत्यादि सबके विरुद्ध कबीरदास ने लिखा है, पर कहीं भी उनकी गूढ़ व्याख्याओं को या इनकी पृष्ठभूमि के तत्त्ववाद को उल्लेखयोग्य नहीं समझा। वस्तुत सारा हिन्दू-धर्म उनकी दृष्टि मे एक बाह्याचारबहुल ढकोसला-मात्र था। उन्होंने योगमार्ग को भी ढकोसला ही समझा था, पर हमने पिछले अध्यायों मे देखा है कि इस विषय का वर्णन वे रस लेकर करते है और उसकी छोटी-छोटी विशेषताओं की भी जानकारी रखते है। परन्तु हिन्दू-मत या तत्त्ववाद की ओर न तो उनकी वैसी जिज्ञासा ही है और न निष्ठा ही। 'बीजक' मे करीब एक दर्जन पद सीधे 'पण्डित' या 'पाण्डे' को सम्बोधन करके कहे गये है। इनमें से कई पद बहुत मामूली परिवर्त्तन के साथ 'कबीरग्रन्थावली' मे भी आये हैं। इन पदों मे वे पण्डित से तरह-तरह के प्रश्न पूछते है। कहते हैं, छूत कहाँ से आ गयी ? पवन, वीर्य और रज के सम्बन्ध मे गर्भाशय में गर्भ रहता है, फिर वह अष्टकमलदल के नीचे से उतरकर पृथ्वी पर आता है, ऐसी हालत मे यह छूत कैसे आ गयी ? यही वह धरती है जिसमे चौरासी लाख योनि के प्राणियों का शरीर सड़कर मिट्टी हो गया। इस एक ही पाट पर परमपिता ने सबको बिठाया है तो फिर छूत कैसे रही ?···इत्यादि।[1] यह तर्क निश्चय ही युक्तिसंगत है, पर जिस 'पण्डित' से यह प्रश्न पूछा जाता है वह इसका बहुत सीधा जवाब जानता है। उस सीधे जवाब को प्रश्नकर्त्ता ने एकदम भुला दिया है। गलत हो या सही, 'पण्डित' यह विश्वास करता है कि छूत उसकी सृष्टि नहीं है बल्कि एक अनादि कर्म-प्रवाह का फल है। वह विश्वास करता है कि प्राणिमात्र जन्म-कर्म के एक दुर्वार प्रवाह मे बहे जा रहे है। अगर उसे सचमुच निरुत्तर करना है तो या तो उसे उस अनादि कर्म-प्रवाह की युक्ति के भीतर से समझना चाहिए या फिर जन्म-कर्म-प्रवाह के इस विश्वास को ही निर्मूल सिद्ध कर देना चाहिए। यह अत्यन्त मोटी-सी बात है। पर कबीरदास के निकट 'पण्डित' या 'पाण्डे' इतना अदना-सा और उपेक्षणीय जीव था कि उन्होंने कभी इस रहस्य को समझने की कोशिश नहीं की।

इसी प्रकार वे पूछते है, "पण्डित, सोधकर बताओ तो सही, किस प्रकार आवागमन छूट सकता है और धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष ये सब फल किस दिशा में बसते है ? अगर गोपाल के बिना संसार का कोई स्थान ही नहीं है तो भला लोग नरक कैसे

1. पंडित, देखहु मन महँ जानी।
कहु धौं छूति कहाँ ते उपजी तबहिं छूति तुम मानी।
बादे बदे रुधिर के संगे घट ही महँ घट सपचै।
अस्ट कँवल होय पुहुमी आया छूति कहाँ ते उपजै।
लख चौरासी नाना बासन सो सभ सरि भौ माटी।
एकै पाट सकल बैठाये छूति लेत धौं काकी।
छूतिहि जेवन छूतिहि अँचवन छूतिहि जगत उपाया।
कहहि कबीर ते छूति बिवरजित जाके संग न माया।—बीजक, शब्द 41

सम्बन्धी उनका ज्ञान सत्संग करके बटोरा हुआ नही था। वस्तुत. योगमत, द्वैताद्वैत-विलक्षण-परमात्म-विश्वास, निर्गुण-निराकार की भावना, समाधि, सहजावस्था, खसम-स्वभाव आदि का सम्पूर्ण ज्ञान उन्हे अपनी कुल-परम्परा और कुल-गुरु-परम्परा से प्राप्त हुआ था। पौराणिक हिन्दू मत को दूर पर बैठे हुए दर्शक की भाँति ही उन्होने देखा था। इस बात की उन्होने कोई परवा ही नही की कि उसके भीतर भी कोई आध्यात्मिक तत्त्व है या नही।

हमने ऊपर लक्ष्य किया है कि बाह्याचारमूलक जिन धार्मिक कृत्यो का खण्डन कबीरदास ने किया है, लगभग उन सभी का खण्डन उनके पूर्ववर्ती हठयोगियो ने उसी प्रकार की चकनाचूर करनेवाली भाषा मे किया है। लेकिन यह परम्परा और भी पुरानी तथा और भी व्यापक है। योगियो के भी पूर्ववर्ती सहजयानी सिद्धो ने भिन्न-भिन्न मत के बाह्याचार का वैसा ही जोरदार खण्डन किया है। सरोरुहपाद कहते हैं कि "ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से पैदा हुए थे, जब हुए थे तब हुए थे। इस समय तो वे भी वैसे ही पैदा होते है जैसे दूसरे लोग, तो फिर ब्राह्मणत्व कहाँ रहा ? यदि कहो कि संस्कार से ब्राह्मणत्व होता है तो चाण्डाल को भी संस्कार देकर क्यो नही ब्राह्मण हो जाने देते ? अगर कहो कि ये लोग हाथ में कुस-जल लेकर घर बैठे हवन करते है; यदि आग में घी डाल देने से मुक्ति होती हो तो क्यो नही सबको डालने देते ? होम करने से मुक्ति हो या नहीं, धुआँ लगने से आँखो को कष्ट जरूर होता है[1] !" इसी प्रकार नग्न साधुओ को लक्ष्य करके सरोरुहपाद कहते है कि "ये लोग कपट माया फैलाकर लोगों को ठगा करते है। तत्त्व तो ये जानते ही नही। मलिन वेश धारण किये फिरते है और शरीर को व्यर्थ ही कष्ट देते है। नगे घूमते है और केश उखड़वा (लुंचन) देते हैं। यदि नग्न दिगम्बर को मुक्ति मिलती हो तो स्यार-कुत्तों की मुक्ति पहले होनी चाहिए। यदि नग्न दिगम्बर को मुक्ति होती हो तो ऐसे बहुतो की मुक्ति हो जानी चाहिए जिन्हें लोभ है ही नही। यदि पिच्छी ग्रहण करने से मुक्ति होती हो तो मयूर इसका प्रथम अधिकारी है। यदि उञ्छ भोजन से मुक्ति होती हो तो हाथी-घोड़ो की मुक्ति पहले होनी चाहिए।"[2] जैन लोगों में भी इस प्रकार के बाह्याचारो के खण्डन की प्रवृत्ति मामूली नही थी। मुनि रामसिंह के

1 ब्रह्मणेहि म जाणन्त हि भेऊ। एवइ पढिअउ ए च्चउ वेऊ ॥ 1 ॥
मट्टी पाणी कुस लइ पढन्त। घरहिं वइसी अग्गि हुणन्त ॥
कज्जे विरहइ हुअवह होमे। अक्खि डहाविअ कडुएँ धुम्मे ॥ 2 ॥—ज हि ले, पृ. 9
इसी पर अद्वयवज्र की टीका देखिए (वही, पृ 52-54)

2. दीहणक्ख जइ मलिणो वेसें। णग्गल होइ उपाडिअ केसें ॥
खवणेहि जाण विडंविअ वेसें। अप्पण बाहिअ मोक्ख उवेसें ॥ 6 ॥
जइ णग्गा विअ होइ मुत्ति ता सुणह सिआलह।
लोमुप्पाडणे अत्थि-सिद्धि ता जुवइ णिअम्बह ॥ 7 ॥
पिच्छी-गहणे दिट्ठि मोक्ख ता मोरह चमरह।
उञ्छे भोअणें होइ जाण ता करिह तुरंगह ॥ 8 ॥—वही, पृ. 10
और इसी पर अद्वयवज्र की टीका, पृ. 61-2

जाने है ? देखो भाई, जो नहीं जानता उसके लिए नरक है, स्वर्ग है, परन्तु जो हरि को जानता है उसके लिए कुछ भी नहीं है[1]।" कहना बेकार है कि इस तत्त्व से पण्डित अपरिचित नहीं है। वह भी जानता है कि यह स्वर्ग और नरक की कल्पना अविद्या की उपज है, पर वह कितने ही प्रकार के अधिकारियों के अस्तित्व में विश्वास करता है। उसे निरुत्तर करने के लिए इस अधिकारी-भेद के सिद्धान्तों की ही जड़ खोदनी चाहिए थी। इस प्रकार कबीरदास का 'पण्डित' वह पत्राधारी अध-कचरा ब्राह्मण है जो ब्राह्मण-मत के अत्यन्त निचले स्तर का नेता है।

जहाँ-जहाँ भी कबीरदास ने पण्डित के बाह्याचार का खण्डन किया है वहाँ उसे नितान्त अदना आदमी समझके किया है। वे यह जानते ही नहीं कि पण्डित के पास भी तत्त्वज्ञान है, मोक्ष और अपवर्ग की व्याख्या है, व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्ता पर बहस है, स्थूल और सूक्ष्म की मर्यादा है, कर्म और बन्ध की धारणा है। यह वे कल्पना भी नहीं करते कि पण्डित ऐसे प्रश्नों पर अपने शास्त्रों में विचार भी किया करता है।

यहाँ इस कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि कबीरदास ने बाह्याचारों की व्यर्थता समझने में गलती की है। यहाँ इसी बात का उल्लेख किया जा रहा है कि कबीरदास ने 'पण्डित' या 'पाण्डे' को कैसा समझा था या कैसा देखा था। शास्त्रीय आतंक-जाल को छिन्न करके और लोकाचार के जंजाल को ढाहकर वे सहज ही सहज सत्य तक पहुँच सके थे, इसमें कोई सन्देह नहीं। यहाँ केवल इतना ही प्रकृत है कि कबीर-दास का 'पण्डित' बहुत अदना आदमी है, स्वर्ग और नरक के सिवा और कुछ जानता ही नहीं, जात-पाँत और छुआछूत का अन्ध उपासक है, तीर्थ-स्नान और व्रत-उपवास का ठूंठ समर्थक है—तत्त्वज्ञानहीन, आत्म-विचारविवर्जित, विवेकबुद्धिहीन, अट्ट गँवार।

अब एक बार योगमार्ग के सूक्ष्म ज्ञान के साथ ब्राह्मण-मत के इस अल्पज्ञान की कल्पना की जाय तो उस 'सत्संग सिद्धान्त' का महल बालू की भीत पर खड़ा दिखायी देगा जिसे इतना प्रचारित किया गया है। कहा गया है कि कबीरदास मुसलमान वंश में पैदा होकर भी 'सत्संग' के बल पर हिन्दू शास्त्रीय मतों को इतना जान सके थे। यह सिद्धान्त वस्तुतः किसी दृढ़ प्रमाण पर आधारित नहीं है। यह कहना तो अनुचित है कि कबीरदास सत्संगी नहीं थे—जरूर ही रहे होंगे, पर हिन्दू-धर्म-

1 पंडित, सोधि कहहु समुझाई, जाते आवागवन नसाई।
अरथ-धरम अरु काम-मोच्छ-फल, कवन दिसा बस भाई॥
उत्तर कि दक्खिन पूरब कि पच्छिम, सरग-पताल कि माहीं।
बिनु गोपाल ठौर नहिं कतहूँ, नरक जात धौं काहीं॥
अनजाने को सरग-नरक है, हरि जाने को नाहीं।
जेहि डरते सब लोग डरतु हैं, सो डर हमरे नाहीं॥
पाप-पुन्न की संका नाहीं, सरग-नरक नहिं जाहीं।
कहहिं कबीर सुनहु हो संतो, जहँ पद तहाँ समाहीं॥—'बीजक', शब्द 42

सम्बन्धी उनका ज्ञान सत्संग करके बटोरा हुआ नही था। वस्तुत: योगमत, द्वैताद्वैत-विलक्षण-परमातम-विश्वास, निर्गुण-निराकार की भावना, समाधि, सहजावस्था, खसम-स्वभाव आदि का सम्पूर्ण ज्ञान उन्हे अपनी कुल-परम्परा और कुल-गुरु-परम्परा से प्राप्त हुआ था। पौराणिक हिन्दू मत को दूर पर बैठे हुए दर्शक की भाँति ही उन्होने देखा था। इस बात की उन्होने कोई परवा ही नही की कि उसके भीतर भी कोई आध्यात्मिक तत्त्व है या नही।

हमने ऊपर लक्ष्य किया है कि वाह्याचारमूलक जिन धार्मिक कृत्यो का खण्डन कवीरदास ने किया है, लगभग उन सभी का खण्डन उनके पूर्ववर्ती हठयोगियों ने उसी प्रकार की चकनाचूर करनेवाली भाषा मे किया है। लेकिन यह परम्परा और भी पुरानी तथा और भी व्यापक है। योगियो के भी पूर्ववर्ती सहजयानी सिद्धों ने भिन्न-भिन्न मत के वाह्याचार का वैसा ही जोरदार खण्डन किया है। सरोरुहपाद कहते है कि "ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से पैदा हुए थे, जब हुए थे तब हुए थे। इस समय तो वे भी वैसे ही पैदा होते है जैसे दूसरे लोग, तो फिर ब्राह्मणत्व कहाँ रहा ? यदि कहो कि संस्कार से ब्राह्मणत्व होता है तो चाण्डाल को भी सस्कार देकर क्यो नही ब्राह्मण हो जाने देते ? अगर कहो कि ये लोग हाथ में कुस-जल लेकर घर बैठे हवन करते है; यदि आग मे घी डाल देने से मुक्ति होती हो तो क्यों नही सबको डालने देते ? होम करने से मुक्ति हो या नही, धुआँ लगने से आँखो को कष्ट जरूर होता है[1] !" इसी प्रकार नग्न साधुओं को लक्ष्य करके सरोरुहपाद कहते हैं कि "ये लोग कपट माया फैलाकर लोगों को ठगा करते है। तत्त्व तो ये जानते ही नही। मलिन वेश धारण किये फिरते है और शरीर को व्यर्थ ही कष्ट देते हैं। नगे घूमते है और केश उखड़वा (लुचन) देते है। यदि नग्न दिगम्बर को मुक्ति मिलती हो तो स्यार-कुत्तों की मुक्ति पहले होनी चाहिए। यदि नग्न दिगम्बर को मुक्ति होती हो तो ऐसे बहुतो की मुक्ति हो जानी चाहिए जिन्हे लोभ है ही नही। यदि पिच्छी ग्रहण करने से मुक्ति होती हो तो मयूर इसका प्रथम अधिकारी है। यदि उञ्छ भोजन से मुक्ति होती हो तो हाथी-घोडो की मुक्ति पहले होनी चाहिए।"[2] जैन लोगो मे भी इस प्रकार के वाह्याचारो के खण्डन की प्रवृत्ति मामूली नही थी। मुनि रामसिंह के

1 ब्रह्मणेहि म जाणन्त हि भेऊ। एवइ पढिअउ ए च्चउ बेऊ ॥ 1 ॥
मट्टी पाणी कुस लइ पढन्त। घरहि बइसी अग्गि हुणन्त ॥
कज्जे विरहइ हुअवह होमे। अक्खि डहाविअ कडुएँ धुम्मे ॥ 2 ॥——ज. डि. ले., पृ. 9
इसी पर अद्वयवज्र की टीका देखिए (वही, पृ. 52-54)

2 दीह णक्ख जइ मलिणो वेसें। णग्गल होइ उपाडिअ केसें ॥
खवणेहि जाण विडबिअ वेस। अप्पण वाहिअ मोक्ख उवेसें ॥ 6 ॥
जइ णग्गा विअ होइ मुत्ति ता सुणह सिआलह।
लोमुप्पाडणे अत्थि-सिद्धि ता जुअइ णिअम्बइ ॥ 7 ॥
पिच्छी-गहणे दिट्ठि मोक्ख ता मोरह चारह।
उञ्छे भोअणें होइ जाण ता करिह तुरंगह ॥ 8 ॥—वही, पृ. 10
और इसी पर अद्वयवज्र की टीका, पृ. 61-2

पाहुड-दोहों मे बाह्याचारों की इसी प्रकार की धज्जियाँ उड़ायी गयी हैं। बाह्याचार और भेष की व्यर्थता दिखाने के लिए उन्होंने उसे साँप की केंचुली की उपमा दी है। जिस प्रकार ऊपर आवरण के बदलने से सर्प का जहर नहीं जाता, उसी प्रकार बाह्यवेश के परिवर्तन से चित्त-शुद्धि नहीं होती।[1] एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ तक घूम आने से अधिक-से-अधिक बाहरी शरीर की धुलाई हो जाती है, भीतरी शुद्धि उससे कैसे हो सकती है?[2] मूर्ख लोग मनुष्य के बनाये देवालयों को खोज-खोजकर मरते हैं, परन्तु हृदय के उस देवालय को नहीं देखते जहाँ सचमुच के शिव विराजित हैं।[3] ओ पण्डित, पोथी पढ-पढकर तेरा तालू सूख गया, भला ऐसा भी एक अक्षर तो पढ के देख जिससे शिवपुरी मे तुझे आसन मिल सके[4]; झूठा है यह कलह, बेकार है यह टण्टा, किसने छूत मानूँ और किसकी पूजा करूँ? जहाँ देखता हूँ वहाँ एक ही आत्मा है[5], इत्यादि। ऐसे भावो के दर्जनों दोहे पाहुड़-दोहा से संग्रह किये जा सकते हैं। ये दोहे भी सन् ईसवी की प्रथम सहस्राब्दी के अन्त्य भाग के हैं। अर्थात् लगभग उसी समय के हैं जबकि सहजमत के बौद्ध गान और दोहे लिखे जा रहे थे।

इस प्रकार कबीरदास ने बाह्याचारमूलक धर्म की जो आलोचना की है, उसकी एक सुदीर्घ परम्परा थी। इसी परम्परा से उन्होंने अपने विचार स्थिर किये थे। इनके समय मे एक और भी प्रधान धर्ममत भारतवर्ष मे आ चुका था। उसमे भी बाह्याचार की प्रबलता थी। कबीरदास ने स्वयं इस धर्म द्वारा प्रभावित वंश में जन्म ग्रहण किया था। इसलिए उसकी आचार-बहुलता से वे भी परिचित थे। परन्तु मुल्ला और काजी को भी वे 'पण्डित' के समान ही अदना और हीनवीर्य समझते रहे। ऐसा नहीं जान पड़ता कि उन्होंने मुसलमान धर्म के बाह्याचारों के सिवा उसके किसी अंश की गहरी जानकारी प्राप्त करने की चेष्टा की हो। उन्होंने सुन्नत, बाँग

1 सप्पि मुक्की कंचुलिय जं विसु तं ण मुएइ।
भोयहं भाउ ण परिहरइ लिंगग्गहणु करेइ ॥ 15 ॥

2 तित्थइं तित्थ भमंतयहं किण्णेहा फल हूव।
बाहिरु सुद्धउ पाणियहं अब्भिंतर किम हूव ॥ 162 ॥
तित्थइं तित्थ भमेहि वढ धोयउ चम्मु जलेण।
एहु मणु किम धोएसि तुहुं मइलउ पाव मलेण ॥ 163 ॥

3 मूढा जोवइ देवलइं लोयहिं जाइं कियाइं।
देह ण पिच्छइ अप्पणिय जहिं सिउ संतु ठियाइ ॥ 180 ॥

4 बहुयइं पढियइं मूढ पर तालू सुक्कइ जेण।
एक्कु जि अक्खरु तं पढहु सिवपुरि गम्मइ जेण ॥ 97 ॥

5 कासु समाहि करउं को अंचउं।
छोपु अछोपु भणिवि को वंचउं ॥
हल सहि कलहु केण सम्माणउ।
जहिं जहिं जोवउ तहिं अप्पाणउ ॥ 139 ॥

सभी दोहे 'पाहुड-दोहा' (प्रो. हीरालाल जैन-सम्पादित), कारंजा (बरार), 1943 से लिये गये हैं।

और कुरबानी आदि की खरी आलोचना की है। पर चाहे मुसलमानी धर्म के बाह्याचार का खण्डन हो या हिन्दू मत के, उन्होने अपने पूर्ववर्त्ती अक्खड़ योगियो की भाँति महज खण्डन के लिए खण्डन नही किया। उनका केन्द्रीय विचार भक्ति था। वे भक्ति को प्रधान मानते थे। उसके रहने पर बाह्याचार का होना, न होना गौण बात है। ऐसा जरूर है कि वे भक्ति की प्राप्ति के बाद बाह्याचारो का स्वय नष्ट हो जाना जैसी बात पर विश्वास करते है। उनके मत से भक्ति और बाह्याडम्बर का सम्बन्ध सूर्य और अन्धकार का-सा है। एक साथ दोनो नही रह सकते। काजी किताब पढ़ते-पढ़ते मर गया, पर तत्त्व कुछ नही समझ सका। कबीरदास कहते है कि यद्यपि उनका शरीर मुसलमानी आचार से सस्कृत बनाया जाकर मुसलमान बना लिया गया, पर वस्तुत: यह सस्कार बाह्य और अधूरा है। उन्हे इस सस्कार द्वारा मार्जित होने का अफसोस नही था। वे तो भक्ति की टेक गहे हुए थे और काजी झख मारके भी उनको उस मार्ग से विचलित नही कर सकता। एक बार भक्ति की टेक गह ली तो कोई भी बाह्याचार रास्ता रोकके खडा नही हो सकता।[1] पण्डितो ने कहा है कि कबीरदास की भक्ति मे सूफी साधना का प्रभाव है। उनकी प्रेम-विरह-सम्बन्धी उक्तियों में इस प्रभाव का अस्तित्व दिखाया गया है। यह बात ठीक हो सकती है। यद्यपि कबीरदास के खुद के वचनो के बल पर कहा जा सकता है कि प्रेम-भक्ति का बीज उन्हे अन्यत्र से मिला था, पर सूफी साधकों से उनका प्रभावित होना असम्भव नही है। परन्तु जो लोग उन्हे मुसलिम प्रभावापन्न सुधारक मानते है, वे बहुत ही उथले प्रमाणों पर उड़ती-उड़ती बातें करते है। कबीरपन्थियों का और कोई दावा ठीक हो या नही, उनका यह दावा सोलह आने संगत है कि कबीरदास मुसलमान नही थे, क्योंकि मुसलमानी वंश मे जन्म और लालन-पालन होना ही किसी को मुसलमान नहीं बना देता। जन्म से वे मुसलमान रहे हों या नहीं, विश्वास में वे एकदम मुसलमान नही थे। उनके ऊपर मुसलमानी सस्कृति और धर्म-विश्वास का कोई गहरा असर नही पड़ा था। और उन्होने कही भी अपने को मुसलमान नही कहा। मुसलिम धर्म-साधना से उनका सम्बन्ध नाममात्र को ही था। पर मुसलमान-वंश मे प्रतिपालित होने के कारण उनमें एक प्रकार का साहसिक भाव आ गया था और उस दार्शनिक तर्क-जाल से वे मुक्त थे जो उनके पूर्ववर्त्ती सिद्धों और योगियों को अभिभूत किये हुए था। इसलिए वे सहज बात को सहज ढंग से—बिना अपर-

1. काजी कौन कतेब बखानै।
पढ़त पढ़त केते दिन बीते गति एकै नहि जानै॥
सकति से नेह पकरि करि सुनति यह न बदू रे भाई।
जोर खुदाइ तुरक मोहि करता तौ आपै कटि किन जाई॥
हौं तौं तुरक किया करि सुन्नति औरतिनी का कहिये।
अधर सरीरा नारि न छूटै आधा हिन्दू रहिये॥
छाँडि कतेब राम कहि काजी खून करत हौ भारी।
पकरी टेक कबीर भगति की काजी रहै झख मारी॥—क ग्रं, पद 59

पक्ष की कल्पना किये--कह सके थे। यह मुसलिम-परिवार में पालित होने का उत्तम फल था। नहीं तो जिन खण्डनात्मक विचारों के लिए उन्हें मुसलिम-प्रभावापन्न सुधारक माना जाता है उनकी परम्परा बहुत पुरानी थी।

पण्डितों ने एकेश्वरवाद और अद्वैतवाद की बहस उठाकर यह साबित करने की कोशिश की है कि कबीरदास का अमुक विषय में एकेश्वरवादी मत मुसलमानी भाव का सूचक है। सही बात है कि जब कबीरदास राम और रहीम की एकता की बात करते है तो उनका मतलब भारतीय परम्परा के 'अद्वैत ब्रह्म' को सामी धर्म के 'पैगम्बरी खुदा' के साथ घुला देना नही होता। वे अत्यन्त सीधी-सी बात अत्यन्त सीधे तौर पर कहते है कि सृष्टि के रचयिता भगवान् को यही मानते हो तो दो की कल्पना व्यर्थ है। एक ही परमतत्त्व को राम और रहीम कह देने से वह दो नही हो जायगा। माला और तसबीह पर जप करने के कारण यह वस्तु भिन्न नही हो जायगी जो उपास्य है। इस कथन का यह तात्पर्य नही कि सृष्टि के रचयिता को उपादान कारण या निमित्त कारण जो भी कहो, दोनो एक ही बात है, या जगत् को ब्रह्म का परिणाम कहो या विवर्त्त कहो, दोनो एक ही बात है; या खुदा को प्रकृति का कारण मानो या प्रकृति के साथ उसका अनिर्वचनीय सम्बन्ध मानो, दोनो मे कोई फर्क नही है। बिलकुल नही। इस कथन का तात्पर्य यह है कि साधारण जनता, जो दार्शनिक विवाद की खबर कुछ भी नही रखती, जिस सर्वसामर्थ्य-युक्त परमात्मा मे विश्वास करती है वह एक ही है। उसके सृष्टि-रचना के प्रकार से कोई बहस नही है, सृष्टि और प्रकृति के साथ उसके सम्बन्ध को लेकर शास्त्रार्थ नही है, सही बात यह है कि नाम के बदलने से वस्तु नही बदल जाती। एक समाज का 'भोंदू'[1] मोटे तौर पर जिस परमात्मा की कल्पना करता है, वह दूसरे समाज के 'भोंदू' की कल्पना मे भिन्न नही है। यही कारण है कि कबीरदास ने उसी अंश पर जोर दिया है जो सर्व-साधारण की समझ के भीतर है :

हमरे राम रहीम करीमा,
कैसो अलह राम सति सोई।
बिसमिल मेटि बिसंभर एकै,
और न दूजा कोई॥

यदि यह एकेश्वरवाद है तो अद्वैतवाद या विशिष्टाद्वैतवाद या कोई और वाद क्यों नहीं है? स्वयं कबीरदास अपने को इन 'भोंदुओं' के लिए निर्दिष्ट पद्धति से ऊपर देखते थे। वे भगवान् के सभी नामो से एक वस्तु का ध्वनित होना तो मानते

1 अरे भाइ दोइ कहाँ से मोहि बताओ।
बिचिही भरम का भेद लगाओ।
जोनि उपाइ रची द्वै धरनी, दीन एक बीच भई करनी।
राम रहीम जपत सुधि गई, उनि माला उनि तसबी लई।
कहै कबीर चेत रे भोंदू, बोलनिहारा तुरक न हिन्दू।—क. ग्रं., पद 56

थे, पर शायद अच्छी तरह ही जानते थे कि इन नामों से अलग-अलग तरह के विचार उलझे हुए हैं। राम कहते ही 'दशरथ-सुत' का याद आ जाना सम्भव है और अल्लाह के साथ बांग देता हुआ मुल्ला ग्रथित है, इसलिए स्वय वे उस परमात्मा को नामातीत भी मानते थे। जिस प्रकार उसका कोई रूप नहीं है, उसी प्रकार कोई नाम भी नही है; कबीरदास की लौ इसीलिए उस परमतत्त्व पर लगी हुई थी जिसके यहाँ अल्लाह या राम किसी की गम नही है--जो भगवत्सम्बन्धी तत्तत् उद्भट कल्पनाओं की पहुँच के बहुत ऊपर है---

अलह राम की गम नही,
तहाँ कबीर रहा ल्यौ लाय।

किन्तु प्रश्न है कि आखिर वह कौन-सी वस्तु है जिसने कबीरदास को इतना महिमाशाली बना दिया है ? हमने अब तक देखा है कि उनके अधिकांश विचार एक पुरानी दीर्घ परम्परा की देन हैं। यह नही कि कोई बात परम्परा से आने के कारण ही हीन हो जाती है---सत्य, दया-धर्म, करुणा-भाव आदि बातें अनादिकाल से समादृत है, फिर भी आज का सत्यवादी, दयावान और कारुणिक व्यक्ति इस परम्परा-विहित महत्त्व का अधिकारी होने के कारण हीन या कम महत्वपूर्ण नहीं होता। कबीरदास ने अगर महान् आदर्श पुरानी परम्परा से लिया है तो इसलिए कबीर का महत्त्व कम नही हो जाता। इस अध्ययन का उद्देश्य भी ऐसा कुछ दिखाना नही है, पर कबीरदास का पाठक जानता है कि उनके पदों मे उसे एक कोई अनन्य-साधारण बात मिलती है, जो सिद्धों और योगियों की अक्खड़ता-भरी उक्तियो में नहीं है, जो वेदान्तियो के तर्क-कर्कश ग्रन्थों में नही है, जो समाज-सुधारकों की 'हाय-हाय' मे भी नही है। कोई अनन्यसाधारण बात। वह क्या है ? फिर वह वस्तु भी क्या है जिसे रामानन्द से पाकर कबीर-जैसा मस्तमौला फक्कड़ हमेशा के लिए उनका कृतज्ञ हो गया ? दोनों का एक ही उत्तर है। वह बात भक्ति थी। वह योगियों के पास नही थी, सहजयानी सिद्धो के पास नही थी, कर्मकाण्डियों के पास नही थी, 'पण्डितों' के पास नही थी, 'मुल्लाओ' के पास नहीं थी, 'काजियों' के पास नही थी। इसी परमाद्भुत रत्न को पाकर कबीर कृतकृत्य हो रहे। भक्ति भी किसकी ? राम की ! राम-नाम रामानन्द का अद्वितीय दान था। उनके पहले उत्तराखण्ड मे राम विष्णु के अवतार जरूर समझे जाते थे, पर 'परात्पर परंब्रह्म' नही माने जाते थे। इस त्रिगुणातीत मायाधीश परंब्रह्म-स्वरूप राम की भक्ति को रामानन्द ही ले आये। राम और उनकी भक्ति---ये ही रामानन्द की कबीर को देन हैं। इन्ही दो वस्तुओं ने कबीर को योगियों से अलग कर दिया, सिद्धों से अलग कर दिया, पण्डितों से अलग कर दिया, मुल्लाओं से अलग कर दिया। इन्ही को पाकर कबीर 'बीर' हो गये---सबसे अलग, सबमे ऊपर, सबमे विलक्षण, सबमे सरस, सबमे तेज !

ऊपर बतायी हुई बाह्याचारबहुल शुष्क साधना की मरुभूमि में कबीर खड़े थे। वे सहज ही गल जानेवाले जीव नही थे। उनकी भेदक दृष्टि से वेश और भूषा क

व्यर्थता छिप नहीं सकती थी, थोथा तर्क और कुटिल तत्त्वज्ञान उन्हें भरमा नहीं सकता था, कूट वचन और मधुर शब्दजाल उन्हें फँसा नहीं सकते थे। वे सर्वत्र एक विचित्र प्रकार का अभाव अनुभव कर रहे थे। सारा संसार अपनी-अपनी आग में जल रहा था। ऐसा कोई नहीं मिलता था जिससे लगकर वे रह सकें। कसाला यह था कि जिसमें हृदय की बात कहते वही डंक मार देता, निर्भय भाव से, निःशंक होकर जिस आदमी से दिल की बात कही जा सके ऐसा कोई मिल नहीं रहा था।[1] वे व्याकुल भाव से कुछ खोज रहे थे, पर पा नहीं रहे थे; सारा मन और प्राण संशय के विष से जर्जर हो गये थे। हृदय बेचैन था; ऐसा प्रेमी मिल नहीं रहा था जिसके प्रेमपूर्ण संसर्ग से यह सारा-का-सारा हलाहल अमृत हो जाता।[2] ठीक ऐसे ही समय में रामानन्द से उनकी भेंट हुई। यह बहुत अच्छा हुआ जो गुरु मिल गये, नहीं तो बड़ी हानि की सम्भावना थी। कौन जानता है, कबीर भी औरों की तरह माया-रूपी दीपक को अपना पूर्ण लक्ष्य समझकर पतंग की तरह न कूद पड़ते? सारी दुनिया तो ऐसी ही है। कौन है जो इस माया-दीपक का पतंग नहीं बन गया? ऐसे बड़भागी अंगुलियों पर ही गिने जा सकते हैं, जो गुरु की कृपा से उबर जाते हैं। कबीरदास ने सद्गुरु को पाकर अपने को बड़भागी समझा, गुरु की सफलता केवल गुरु के ही महत्त्व पर निर्भर नहीं होती। शिष्य भी ऐसा ही कृती चाहिए। कबीर ऐसे ही शिष्य थे।[3]

अनन्त थी इस सद्गुरु की महिमा, अनन्त था उपकार। अनन्त दृष्टि उन्होंने खोल दी और अनन्त को दिखा दिया। क्या था वह अनन्त? राम-नाम। इस महा-मन्त्र की पटतर देने लायक जगत् में कौन-सी चीज है? हाय, कबीरदास के पास ऐसा कौन-सा धन था जिसे देकर वे गुरु की इस महादान-जन्य कृपा पर अपनी कृतज्ञता प्रकट करते।[4] उन्हें सारा-सूरा तो बहुत मिले थे जो अपनी बाण-विद्या में

1 ऐसा कोई ना मिलै जासो रहिये लागि।
सब जग जलतौं देखिया अपनी अपनी आगि ॥ 5 ॥
ऐसा कोई ना मिलै जासो कहूँ निसंक।
जासों हिरदै की कहूँ सो फिरि मारै डंक ॥ 6 ॥—क. ग्र., पद 66
2 प्रेमी ढूंढत मैं फिरौं प्रेमी मिलै न कोइ।
प्रेमी कौं प्रेमी मिलै तब सब विष अम्रत होइ ॥ 12 ॥—वही, पृ 67
3 भली भई जा गुर मिल्या नहिं तर होती हाणि।
दीपक दिष्टि पतंग ज्यूं, पड़ता पूरी जाणि ॥ 19 ॥
माया दीपक नर पतंग भ्रमि भ्रमि इवै पड़न्त।
कहै कबीर गुरु ग्यान थैं, एक-आध उबरंत ॥ 20 ॥
सतगुरु बपुरा क्या करै जो सिष ही माहैं चूक।
भावै त्यूं प्रमोधि लै, ज्यूं बंसि बजाई फूंक ॥ 21 ॥—क. ग्रं., पद 3
4 सतगुरु की महिमा, अनंत किया उपगार।
लोचन अनंत उघाड़िया, अनंत दिखावणहार ॥ 3 ॥
रामनाम कै पटतरै, देबे कौं कछु नाहिं।
क्या ले गुर संतोषिए, हौंस रही मन माहिं ॥ 4 ॥—वही, पृ 1

दूसरों को घायल कर दें, पर ऐसा कोई नही मिला था जो स्वयं चोट खाये हुए हो। और तब तक रामभक्ति के दृढ होने की आशा ही क्या थी जब तक किसी घायल से मुलाकात न हो जाती ![1] इस बार उन्हें ऐसा घायल मिला—घायल जो, राम के प्रेम का दीवाना था, जो स्वय भगवद्विरह की चोट खा चुका था। इस प्रकार के कराल द्वन्द्व से, संशय और दुविधा से छुडा सकनेवाले युगगुरु रामानन्द ही थे। इस विषय मे उन लोगो को भले ही सन्देह हो जो कबीरदास के नाम उलटा-सीधा मत-मतान्तर चलाना चाहते हो, स्वयं कबीरदास को कोई संशय नही था :

सद्गुरु के परताप ते मिटि गयौ सब दुख-दद।
कह कबीर दुबिधा मिटी, गुरु मिलिया रामानन्द ॥

—स. क. सा., 1.8

क्या हुआ जो वे ब्राह्मण थे और कबीरदास जुलाहे; क्या हुआ जो वे काशी के 'आचार्य' थे और कबीरदास कमीनी जाति के 'बन्दे'? प्रेम दूरी नही जानता, भेद नही मानता, जाति नही मानता, कुछ नही देखता। कुमुदिनी पानी में बसती है, चाँद आकाश में, फिर भी जो जिसका मनभावन है वह सदा पास मे ही रहता है। अगर गुरु वाराणसी मे होते और कबीरदास कही समुद्र-पार, तो भी उनका वत्सल स्नेह शिष्य के पास पहुँचकर ही रहता, कबीरदास तो बहुत नजदीक थे—

कमोदिनी जल हरि बसैं, चन्दा बसै अकास।
जो जाही का भावता, सो ताही कै पास ॥
कबीर गुरु बसै बनारसी, सिक्ख समन्दर पार।
बिसार्‍या नहिं बीसरै, जे गुण होइ सरीर ॥

—क. ग्रं., पृ. 67

सो गुरु ने इस राम-नाम के अलौकिक बीज को बो दिया। कबीर ने इसके अंकुर को प्रेम की धारा से सींचा (क ग्रं., पद 216)। धन्य है वह सुन्दरी जिसने वैष्णवपुत्र पैदा किया, जिसने राम-नाम का सुमिरन करके निर्भयता पा ली। सारी दुनिया भटकती ही रह गयी।[2] इस प्रकार सारे ससार को ढूँढ-खोजकर कबीर ने ठोक-बजाकर देख लिया कि हरि बिना इस दुनिया मे अपना कोई नही है।[3] इस राम-नाम की महिमा अपरम्पार है। इस मन्त्र को पाते ही कबीरदास केवड़े के फूल हो गये और भक्त लोग भौंरो की भाँति इस सौरभशाली के चारों ओर एकत्र हो

1 सारा सूरा बहु मिले, घाइल मिलै न कोइ।
घाइल ही घाइल मिलैं, तब राम-भगति दिढ होइ ॥—क. ग्रं., पृ 67
2 कबीर धनि वै सुन्दरी जिन जाया बैस्नो पूत।
राम सुमरि निरभै हुआ, सब जग गया अऊत ॥—वही, पृ. 53
3 कबीर सब जग हंडिया, मंदिल कंधि चढाइ।
हरि बिन आपना कोइ नहिं देखे ठोकि-बजाइ ॥—वही, पृ. 61

व्यर्थता छिप नहीं सकती थी, थोथा तर्क और कुटिल तत्त्वज्ञान उन्हें भरमा नहीं सकता था, कूट वचन और मधुर शब्दजाल उन्हें फँसा नहीं सकते थे। वे सर्वत्र एक विचित्र प्रकार का अभाव अनुभव कर रहे थे। सारा संसार अपनी-अपनी आग मे जल रहा था। ऐसा कोई नहीं मिलता था जिससे लगकर वे रह सकें। कसाला यह था कि जिससे हृदय की बात कहते वही डंक मार देता, निर्भय भाव से, निःशंक होकर जिस आदमी से दिल की बात कही जा सके ऐसा कोई मिल नहीं रहा था।[1] वे व्याकुल भाव से कुछ खोज रहे थे, पर पा नहीं रहे थे; सारा मन और प्राण सशय के विष से जर्जर हो गये थे। हृदय बेचैन था; ऐसा प्रेमी मिल नहीं रहा था जिसके प्रेमपूर्ण संसर्ग से यह सारा-का-सारा हलाहल अमृत हो जाता।[2] ठीक ऐसे ही समय मे रामानन्द से उनकी भेंट हुई। यह बहुत अच्छा हुआ जो गुरु मिल गये, नहीं तो बड़ी हानि की सम्भावना थी। कौन जानता है, कबीर भी औरों की तरह माया-रूपी दीपक को अपना पूर्ण लक्ष्य समझकर पतंग की तरह न कूद पड़ते? सारी दुनिया तो ऐसी ही है। कौन है जो इस माया-दीपक का पतंग नहीं बन गया? ऐसे बड़भागी अंगुलियों पर ही गिने जा सकते हैं, जो गुरु की कृपा से उबर जाते हैं। कबीरदास ने सद्गुरु को पाकर अपने को बड़भागी समझा, गुरु की सफलता केवल गुरु के ही महत्त्व पर निर्भर नहीं होती। शिष्य भी ऐसा ही होना चाहिए। कबीर ऐसे ही शिष्य थे।[3]

अनन्त थी इस सद्गुरु की महिमा, अनन्त था उपकार। अनन्त दृष्टि उन्होंने खोल दी और अनन्त को दिखा दिया। क्या था वह अनन्त? राम-नाम। इस महा-मन्त्र की पटतर देने लायक जगत् मे कौन-सी चीज है? हाय, कबीरदास के पास ऐसा कौन-सा धन था जिसे देकर वे गुरु की इस महादान-जन्य कृपा पर अपनी कृतज्ञता प्रकट करते।[4] उन्हें सारा-सूरा तो बहुत मिले थे जो अपनी बाण-विद्या से

1 ऐसा कोई ना मिलै जासो रहिये लागि।
सब जग जलतौ देखिया अपनी अपनी आगि ॥ 5 ॥
ऐसा कोई ना मिलै जासो कहूँ निसंक।
जासो हिरदै की कहूँ सो फिरि मारै डंक ॥ 6 ॥—क. ग्र., पृ. 66
2. प्रेमी ढूँढ़त मैं फिरौं प्रेमी मिलै न कोइ।
प्रेमी कौं प्रेमी मिलै तब सब विष अमृत होइ ॥ 12 ॥—वही, पृ. 67
3 भली भई जो गुर मिल्या नहिं तर होती हाणि।
दीपक दिष्टि पतंग ज्यूं, पड़ता पूरी जाणि ॥ 19 ॥
माया दीपक नर पतंग भ्रमि भ्रमि इवै पडंत।
कहै कबीर गुरु ग्यान थैं, एक-आध उबरंत ॥ 20 ॥
सतगुरु बपुरा क्या करै जो सिष ही माहैं चूक।
भावै त्यूं प्रमोधि लै, ज्यूं बंसि बजाई फूक ॥ 21 ॥—क. ग्रं., पृ. 3
4 सतगुरु की महिमा, अनंत किया उपगार।
लोचन अनंत उघाड़िया, अनंत दिखावणहार ॥ 3 ॥
रामनाम कै पटंतरै, देबे कौं कछु नाहिं।
क्या ले गुर संतोषिए, हौंस रही मन माहिं ॥ 4 ॥—वही, पृ. 1

गये। जहाँ-जहाँ कबीर की भक्ति गयी वहाँ-वहाँ राम

कबीर भया है केतकी, भँवर भये सब
जहँ-जहँ भगति कबीर की, तहँ-तहँ राम निवास

जन्म-जन्मान्तर से नाना भवचक्र में घूमते हुए कबीरदास जीवन का व्यर्थ भार ढोते-ढोते वे हैरान थे, दुःख के बोझ ने दिया था, वे हारे हुए योद्धा की भाँति संसार को सूना देख रहे थे; समय गुरु का साक्षात्कार हुआ। प्रेमभक्ति के महारस से गुरु था, उन्होंने बड़ी कृपा-पूर्वक वह महारस कबीर को दे दिया। असाधारण रस को पीकर वे धन्य हो गये :

धावत जोनि जनम भ्रमि थाके
अब दुखकें हम हार्‌यौ रे
कहि कबीर गुरु मिलत महारस
प्रेम-भगति बिस्तार्‌यौ रे

कबीरदास मनुष्य थे, पर इस प्रेम-रस के पान से देवता हो गये; है उस महागुरु की, जिसने मनुष्य को देखते-देखते देवता बना दिया!

बलिहारी गुर आपणें द्यौं-हाड़ी कै बार।
जिनि मानिष तैं देवता, करत न लागी बार

और इस प्रकार द्रविड़ देश में उपजी हुई जिस भक्ति को खण्ड में ले आये थे उसे कबीर ने सप्त द्वीप और नौ खण्डों में

भक्ति द्राविड़ ऊपजी, लाये रामानन्द।
परगट किया कबीर ने, सप्तद्वीप-नवखण्ड ॥

—स. क.

'सन्तो, भक्ति सतो गुरु आनी'

कबीरदास ने बार-बार कहा है कि सद्गुरु भक्ति ले आये हैं।[1] कबीरदास की इस भक्ति की व्याख्या करने का प्रयास बहुतों

1. बीजक. शब्द 1; क. वच., पृ. 125, पद 66
अन्याभिलषिता-शून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥—भ. र. सि. 1.9

तो उन्हें अपढ़ गँवार समझकर इस प्रकार समाधान कर लिया गया है कि उन्हें निर्गुण-सगुण और द्वैत-अद्वैत आदि किसी भी विषय का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं था, या फिर उन्हें सर्वज्ञ सर्वनियन्ता समझकर उनके नाम पर विचित्र-विचित्र बातों का 'सागर' निर्माण किया गया है और मनमानी कथाएँ तैयार करके सम्प्रदाय के लोगों को भुलावा देने का प्रयत्न किया गया है। दोनों ही राहें गलत हैं। प्रथम पक्ष तो यही नहीं समझ पाता कि निर्गुण अद्वैत के साथ भक्ति कैसे चल सकती है? पाठकों ने अब तक देख लिया होगा कि कबीर तात्त्विक दृष्टि से अद्वैतवादी नहीं थे और उनके 'निर्गुण राम' में और वेदान्तियों के पारिभाषिक 'निर्गुण-ब्रह्म' में मौलिक भेद है। फिर भी इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि कबीरदास राम को रूप-रेखा, आकार-प्रकार, द्वैत-अद्वैत, भाव-अभाव से परे समझते थे (देखिए ऊपर, पृ. 293-297)। प्रश्न यह है कि क्या ऐसा रूपातीत भगवान् भक्ति का विषय हो सकता है?

इस प्रश्न का उत्तर बहुत कठिन नहीं है। सर्ववादि-सम्मत मत यह है कि भक्ति भगवद्विषयक प्रेम को ही कहते हैं। (नारद-भक्तिसूत्र, 1-2)। भक्तिरसामृतसिन्धु में इसी बात को इस प्रकार कहा गया है कि अनुकूल भाव से भगवान् के विषय में अनुशीलन करना ही भक्ति है। यह अनुशीलन ज्ञान और कर्म से ढका हुआ नहीं होना चाहिए और न अनुशीलन करनेवाले के हृदय में भगवान् की भक्ति के सिवा और कोई अभिलाषा होनी चाहिए। भगवद्विषयक यह जो अहैतुक या कारणहित प्रेम है, वह न तो निरुपाधिक स्वरूप के लिए असम्भव है और न अद्वैत भावना के विरुद्ध। नारद-पाञ्चरात्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि भगवान् के सर्वोपाधि-विनिर्मुक्त स्वरूप को तत्पर होकर (अर्थात् अनन्य-भाव से) समस्त इन्द्रियों और मन के द्वारा सेवन करना ही भक्ति है।[1] अद्वैत-भावना भक्ति के मार्ग में बाधक नहीं है, इसके प्रमाण हैं तुलसीदास, शंकराचार्य और अन्यान्य बहुतेरे शैव और तान्त्रिक साधक। इस भावना के अनुसार जीव वस्तुतः भगवान् का ही रूप है जो भ्रमवश अपने को पृथक् समझ रहा है। इस अंश की अपने स्वाभाविक रूप में फिर जाने की जो चेष्टा है वह अभेदमूलक आकर्षण है। नदी के प्रवाह का प्रत्येक बिन्दु जो समुद्र की महान् सत्ता में विलीन होने के लिए दौड़ लगा रहा है, वह इसी अभेद-प्रतीति-जन्य प्रेम के कारण।[2] भक्ति के आचार्य मानते हैं कि भगवान्

1. सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।
हृषीकेण हृषीकेश सेवनं भक्तिरुच्यते॥
—भ. र. सि. 1.12

2. तु.—दरियाव की लहर दरियाव है जी,
दरियाव औ लहर भिन्न कोयम।
उठे तो नीर है, बैठता नीर है,
कहो किस तरह दूसरा होयम।

का स्वरूप मानवीय चिन्तन-शक्ति के वश का नहीं है। वह अचिन्त्य है। अनन्त है उसकी शक्ति और अगम्य है उसकी मूर्त्ति। कबीरदास ने इसी बात को समझाने के लिए भगवान् को अविगत-अकल-अनूपम कहा है (क. ग्र., पद 6); अचिन्त्य और अकथ बताया है (पद 36); गूँगे का गुड़ (पद 68) और शर्करा (पद 156) कहा है।

भक्त लोग मानते हैं कि इस अनन्त अचिन्त्य भगवान् को सच्चिदानन्द कहकर यद्यपि विधिरूप से कथंचित् समझाया जा सकता है (क्योंकि श्रुतियों में नेति-नेति कह-कहकर उसे निषेधरूप में ही समझाया गया है, केवल 'सत्-चित्-आनन्द' कहकर ही उसके विधि-रूप की ओर इशारा किया गया है) फिर भी हम नहीं जानते कि सत्ता (सत्), चैतन्य (चित्) और आनन्द के अतिरिक्त उसमें और क्या है। कितने ही भक्त होते हैं जो उसके अंश-विशेष के साथ ही अपनी अभिन्नता अनुभव करके आत्माराम हो रहते हैं। वे भगवान् के केवल चैतन्य अंश के साथ अपने चित्स्वरूप को अभिन्न समझ लेते हैं। ऐसे ही भक्त अद्वैतवेदान्ती हैं। यद्यपि वे अपने को ज्ञानमार्गी कहते हैं तथापि वे भी वस्तुतः भगवान् के परम प्रेम के ही साधक हैं। एक और प्रकार के साधक हैं जो माया और परम पुरुष को अलग-अलग कर शक्ति और शक्तिमान के भेद को कभी भूलते ही नहीं। ये ऐश्वर्य रूप के उपासक भी वस्तुतः भगवान् के परम प्रेम के ही उपासक हैं। भगवान् का प्रेम एक और अखण्ड है। उसके अंश-विशेष के प्रति आसक्ति प्रकट करने मात्र से उसकी अखण्डता खण्डित नहीं होती। भक्ति के साथ इन साधना-मार्गों का कोई विरोध तो क्या होगा, वे सभी वस्तुतः भक्ति के ही प्रकार हैं। यही दिखाने के लिए श्रीमन् जीवगोस्वामिपाद ने भागवत-सन्दर्भ में पहले ही भगवान् के इस अखण्ड-प्रेमपरिपूर्ण रूप की वन्दना इस प्रकार की है :

यस्य ब्रह्मेति संज्ञां क्वचिदपि निगमे याति चिन्मात्र-सत्ता-
प्यशो यस्यांशकैः स्वैर्विदधति वशयन्नेव माया पुमांश्च।
एकं यस्यैव रूपं विलसति परमव्योम्नि नारायणाख्यं,
स श्रीकृष्णो विधत्तां स्वयमिह भगवान् प्रीतिं तत्पादभाजाम्॥

—भागवत-सन्दर्भ 1.8

जो लोग भक्तिमूलक वाणियों को ऊपर-ऊपर से ही खुरचकर रस निकाल लेना चाहते हैं, उन्हें उस रस का साक्षात्कार नहीं हो सकता। भक्ति भाग्य की

→ उसी के नाम को फेरके लहर धरा,
लहर के कहे क्या नीर खोयम।
जक्त ही फेर सब जक्त है ब्रह्म में,
ग्यान करि देख कब्बीर गोयम।

—क. वच., पृ. 131-2, पद 80

चीज है, प्रेम प्रीति का विषय है, वह उसे नही पा सकता :

भाग विना नहिं पाइये, प्रेम प्रीति की भक्त।
विना प्रेम नहिं भक्ति कछु, भक्ति पर्‌यो सव जक्त ॥
—स क. सा 15 11

भक्ति का साहित्य भी प्रेम की अपेक्षा रखता है।[1]

भक्तों का यह भी दावा है कि वेदान्त मे जिसे 'ब्रह्म-जिज्ञासा' या 'ब्रह्म की जानकारी की इच्छा' कहा गया है वह वस्तुत. भक्ति ही है, क्योंकि कठोपनिषद् मे (2 22) साफ-साफ कहा गया है कि 'परमात्मा मे जिसकी भक्ति-श्रद्धा है उसी से परमात्मा प्रसन्न होते है' और वे जिससे प्रसन्न होते है वही जिज्ञासा आदि के द्वारा उन्हे प्राप्त करता है। और फिर यह अत्यन्त मोटी-सी वात है कि जव तक श्रद्धा और प्रेम अधिक नही हो जाते तव तक जानने की इच्छा (जिज्ञासा) भी नही जागती। इसीलिए मानो वेदान्त-दर्शन के प्रथम सूत्र 'अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा' की कमी को पूरा करने के लिए ही भक्ति-सूत्रकार ने कहा, 'अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा। सा परानुरक्तिरीश्वरे' (अर्थात् ब्रह्म-जिज्ञासा और कुछ नही, ईश्वरविषयक परम अनुरक्ति ही है)। 'वोधसार' मे आचार्य नरहरिपाद ने भी कहा है कि जिसे वेदान्त मे अपरोक्षानुभूति कहते है वह वस्तुत प्रेमलक्षणा भक्ति का ही परिणाम है।[2] और भागवत में अहैतुक निष्काम भक्ति का फल वैराग्य और ज्ञान ही वताया गया है[3], जो वेदान्त का भी लक्ष्य है।

अव यह मानी हुई वात है कि प्रेम आश्रय-भेद से भिन्न हो जाता है। रूप-गोस्वामिपाद ने कहा भी है कि स्वभाव, सस्कार और रुचिवश भक्त लाखो तरह के हो सकते है। इसीलिए भक्ति के अग और भेद भी अनन्त प्रकार के कल्पना किये जा सकते है या फिर एक ही भेद माना जा सकता है। वह इस प्रकार की भक्ति एक ही है, केवल आश्रय-भेद से अनेक प्रकार की दीखती है (भ. र. 2.42-3)। भक्तिशास्त्रीय ग्रन्थो मे जो अश और भेद गिनाये गये है, वे उपलक्षण-मात्र है। वस्तुत जैसा कि गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है, हरि भी अनन्त है, उनकी कथा भी अनन्त है और श्रुति तथा सन्त उसका अनन्त भाँति से भजन भी करते है :

हरि अनन्त हरि-कथा अनन्ता।
बहु प्रकार गावहिं श्रुति-सन्ता।

सो गुरुपदाश्रय प्रभृति जो भेद भक्ति-शास्त्रो मे वताये गये है, वे अन्तिम और

1 नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न वहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम् ॥—अष्टो, पृ. 6

2 अपरोक्षानुभूतिर्या वेदान्तेषु निरूपिता।
प्रेमलक्षणभक्तेः स परिणाम. स एव हि ॥

3. वासुदेवे भगवति भक्तियोग. प्रयोजितः।
जनयत्याशु वैराग्य ज्ञान च यदहेतुकम् ॥—भागवत., 1-2-1

पूर्ण नहीं है। श्रवण-कीर्तन आदि प्रकार भी उपलक्षण भर ही है। भक्ति के लिए केवल एक ही बात आवश्यक है—अनन्यभाव से भगवान् की शरणागति, अहैतुक प्रेम, बिना शर्त आत्मसमर्पण। कबीरदास में इन बातों की चरम परिणति हुई है। वे गोविन्द को बार-बार पुकारकर कहते हैं[1], "हे गोविन्द, मैं तुम्हारी शरण आया हूँ, क्यों नहीं मुझे उबार देते ? वृक्ष के नीचे आदमी छाया के लिए जाता है, अगर उस वृक्ष में ही ज्वाला निकलने लगे तो उपाय ही क्या रह जायेगा ? आदमी पानी पीकर शीतल होने के लिए जलाशय में जाता है, पर अगर वहाँ से आग की लपटें निकलने लगें तो क्या किया जा सकता है ? हे नाथ, कबीर केवल तुम्हीं को जानता है, वह तुम्हारी ही शरण आया है, पर कैसे आश्चर्य की बात है कि तुम्हीं उसे जला रहे हो ! हे गोविन्द, सचमुच ही तुम डरने की चीज बन गये हो। कहाँ तो तुम्हें अपने प्रेम-पीयूष से शरणागत की रक्षा करनी थी, सो तो तुमने की नहीं, उल्टे वियोग की वह्नि में झुलसाने लगे।" (पद-112) "अजी हो गुसाईं, मैं गुलाम हूँ, मुझे बेच दो। यह सारा तन-मन-धन तेरा है और तेरे ही लिए है। राम ही गाहक है, राम ही सौदागर। कबीर ने तो तन और मन निछावर करके अपने-आपको राम पर कुर्बान कर दिया है !"[2] (पद-113) "बालम के बिना कबीरदास की आत्मा तड़प रही है। दिन को चैन नहीं, रात को नींद नहीं। सेज सूनी है, शरीर चर्खा बन गया है। आँखें थक गयी हैं, राह दिखती नहीं। हाय रे बेदरदी पिया, तूने सुध नहीं ली !"[3] "हाय, वह विरह की मारी वियोगिनी पिऊ-पिऊ करके जान दे रही है। किन्तु निर्गुण है वह पीव, निर्मोही है वह भगवान् ! शून्य-सनेही राम ही उसके

1. गोव्यंदे तुम्हथें डरपौं भारी।
सरणाई आयौ क्यूँ गहिये, यह कौन बात तुम्हारी।
धूप-दाझतैं छाँह तकाई, मति तरवर सचपाऊँ।
तरवर माहैं ज्वाला निकसै, तौ क्या लेइ बुझाऊँ।
जे बन जलै त जलकूँ धावै, मति जल सीतल होई।
जल ही माँहि अगनि जे निकसै, और न दूजा कोई।
तारण तिरण तिरण तू तारण, और न दूजा जानौं।
कहै कबीर सरनाई आयौ, आन देव नहि मानौं॥—क. ग्र., पद 112
2. मैं गुलाम मोहि बेचि गुसाईं।
तन-मन-धन मेरा रामजीक ताईं।
आनि कबीरा हाटि उतारा,
सोइ गाहक सोइ बेचनिहारा।
बेचैं राम तो राखै कौन,
राखै राम तो बेचै कौन।
कहै कबीर मैं तन-मन जार्‌या,
साहिब अपना छिन न बिसार्‌या।
3 तलफै बिन बालम मोर जिया।
दिन नहि चैन रात नहि निंदिया, तलफ तलफ कै भोर किया।
तन-मन मोर रहँट-अस डोलै सून सेज पर जनम छिया।

एकमात्र आराध्य है, और कौन है जो उस पतिप्राणा का दर्शनीय वन सके !"[1] "हाय, कबीरदास के वे दिन कब आयेंगे जब उनका जीवन सफल होगा, देह धरने का फल प्राप्त होगा, जब पिया के साथ अंग-में-अंग मिलाकर रभस आलिंगन का मौका मिलेगा, जब वे प्रिय के साथ हिल-मिलकर खेलेंगे, जब उनके शरीर और इन्द्रिय, मन और प्राण प्रियतम में एक-रूप हो जायेंगे। न जाने रामराजा वह कामना कब पूरी करेंगे।"[2] "हाय, विरह की मारी कबीरदास की आत्मा पिया-मिलन की आशा लेकर कब तक खड़ी रहे ? पिया का निवास ऊँचे पर है। वहाँ जाने में कितनी त्रिजक है, कितनी लज्जा ! पैर उठते ही नहीं, उठते है तो तलमला जाते है। सात्त्विक भाव के कम्प और रोमाच से सारा अंग शिथिल हो जाता है, पैर आगे पड़ते ही नही, प्रीति-आशंका से हृदय अस्थिर हो उठता है। हाय, इसने कभी तो उस मधुर मिलन का अनुभव नहीं किया —निपट वारी, निपट अनाड़ी है यह। सँकरा मार्ग है, अटपटी चाल है, मिलन हो तो कैसे हो ? सद्गुरु का उपदेश ही इस विपत्ति-काल में सहारा है।"[3] "अरे ओ परदेशी, पिया को पहचान ले। कुछ समझ में नहीं आता कि तुझे हो क्या गया है, कौन-सी बुरी आदत तूने सीख ली है ? सारी दुनिया का चक्कर मारकर तूने क्या कर लिया, अरे ओ भलेमानस, लाभ की आशा में मूल ही न गँवा दे। झूठे प्रपंच-जाल में भूले हुए भोले, क्यो दूसरों के हाथ बिका हुआ है ? जल्दी अपने असली प्रियतम को पहचान ले। आज-

→ नैन थकित भये पथ न सूझै, साईं बेदरदी सुध न लिया।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, हरो पीर दुख जोर किया।—क वच, पृ 141

1. मैं अबला पिउ पिउ करूँ निर्गुन मेरा पीव।
शून्य सनेही राम बिन, देखूँ और न जीव ॥—स क सा 27-24

2 वे दिन कब आवेंगे भाइ।
जा कारनि हम देह धरी है, मिलिबो अंग लगाइ ॥
हौं जानूं जे हिलि-मिलि खेलूं, तन मन मन प्रान समाइ।
या कामना करो परिपूरन समरथ हो राम राइ ॥
मोहि उदासी माधव चाहै, चितवत रैंनि बिहाइ।
सेज हमारी स्यघ भई है, जब सोऊँ तब खाइ ॥
यहु अरदास दास को सुनिये, तन की तपनि बुझाइ।
कहै कबीर मिलै जै साईं, मिलि करि मंगल गाइ ॥—क ग्र., पद 306

3. पिया-मिलन की आस, रहो कबलौं खरी।
ऊँचे नहिं चढ़ि जाय, मने लज्जा भरी ॥
पांव नहीं ठहराय, चढ़ूं गिर गिर परूं।
फिर फिर चढउँ सम्हारि, चरन आगे धरूँ ॥
अंग अंग थहराइ, तो बहुविधि डरि रहूँ।
करम-कपट मग घेरि, तो भ्रम मे परि रहूँ ॥
वारि निपट अनारि, वे तो झीनी गैल है।
अटपट चाल तुम्हार, मिलन कस होइ है ॥
छोरो कुमति-बिकार सुमति गहि लीजिये।

तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणाः
क्षारं जल का पुरुषा. पिवन्ति।

सो, जिस दिन से महागुरु रामानन्द ने कबीर को भक्ति-रूपी रसायन दी, उस दिन से उन्होंने सहज समाधि की दीक्षा ली, आँख मूँदने और कान रूँधने के टण्टे को नमस्कार कर लिया, मुद्रा और आसन की गुलामी को सलामी दे दी। *उनका चलना ही परिक्रमा हो गया, काम-काज ही सेवा हो गये, सोना ही प्रणाम* बन गया, बोलना ही नाम-जप हो गया और खाने-पीने ने ही पूजा का स्थान ले लिया। हठयोग के टण्टे दूर हो गये, खुली आँखों से ही उन्होंने भगवान् के मधुर मादक रूप को देखा, खुले कानों से ही अनहद नाद सुना, उठते-बैठते सब समय समाधि का आनन्द पाया और अत्यन्त उल्लास के आवेग में उन्होंने घोषित किया :

साधो, सहज समाधि भली।
गुरु-प्रताप जा दिन तें उपजी, दिन-दिन अधिक चली॥
जहँ-जहँ डोलो सोई परिकरमा, जो कछु करो सो सेवा।
जब सोवों तब करो दण्डवत, पूजो और न देवा॥
कहो सो नाम सुनो सो सुमिरन, खाँव-पियो सो पूजा।
गिरह-उजाड़ एक-सम लेखो, भाव न राखो दूजा॥
आँख न मूंदों कान न रूँधो, तनिक कष्ट नहिं धारो।
खुले नैन पहिचानो हँसि-हँसि, सुन्दर रूप निहारो॥
सबद-निरन्तर से मन लागा, मलिन वासना त्यागी।
ऊठत-बैठत कबहुँ न छूटै, ऐसी तारी लागी॥
कह कबीर यह उनमुनि-रहनी, सो परगट करि गाई।
दुख-सुख से कोई परे परमपद, तेहि पद रहो समाई॥

—शब्दा. शब्द 30

धन्य है वे गुरु ! वे सचमुच उस भ्रमरी के समान हैं जो निरन्तर ध्यान का अभ्यास कराकर कीट को भी भ्रमरी (तितली) बना देती है। कीड़ा भ्रमरी हो गया, नयी पाँखें फूट आयी, नया रंग छा गया, नयी शक्ति स्फुरित हुई। उन्होंने जाति नहीं देखी, कुल नहीं विचारा। अपने-आपमें मिला लिया। नाले का पानी गंगा में जाकर गंगा हो जाता है, कबीर गुरु में मिलकर तद्रूप हो गये। धन्य हो गुरो, तुमने चचल मन को पंगु बना दिया, तत्त्व में तत्त्वातीत को दिखा दिया, बन्धन से निर्बन्ध किया, अगम्य तक गति कर दी। केवल एक ही प्रेम का प्रसंग तुमने सिखाया, पर कैसा अचरज है कि इस प्रेममेघ की वर्षा ने यह सारा शरीर भीग गया ! रससिक्त आत्मा में भक्ति का अंकुर लहलहा उठा :

कबीर बादल प्रेम का, हम परि बरस्या आइ।
अंतरि भीगी आत्मा, हरी भई बनराइ॥

जाने कब तक भटकता फिरेगा। भवजाल विकट है, मायाचक्र अनन्त है, साधन-मार्ग दुरधिगम्य है, विघ्नों की वाहिनी रास्ता रोके खड़ी है और गृहस्थ लाचार है। दूसरे (भक्त) ने उसे लापरवा बना दिया। गलती से भी एक बार हरि-नाम जिसने ले लिया उसे कुछ और करने की जरूरत नहीं, विष्णु का तिलक एक बार अगर सिर पर चढ गया तो वैकुण्ठ का दरवाजा खुला है, तुलसी की माला यदि किसी प्रकार मिल गयी तो गोलोक में स्थान निश्चित है। कलियुग सब युगों से अच्छा है, क्योंकि इसमें मानस-पाप का कुछ फल नहीं होता, किन्तु मानस-पुण्य का पूरा फल मिलता है। राम का नाम राम से भी बड़ा है, भय की कोई जरूरत नहीं। योग ने गृहस्थ को जरूरत से ज्यादा संशयालु बना दिया था, भक्ति ने पूरा आशावादी। एक ने मुक्ति को महँगा सौदा बता दिया, दूसरे ने बहुत सस्ता। योग में गलदश्रु भावुकता को कोई स्थान नहीं। जो भक्ति पद-पद पर भक्त को कम्प, आवेग, जड़ता और रोमोद्गम की अवस्था में ले आ देती है वह इस क्षेत्र में अपरिचित थी। और यदि सचमुच ही भाग और विभाग कल्पित है, कल्प-विकल्प बेकार है, संसार मृग-मरीचिका है, परमतत्त्व विभाग और अविभाग से परे है, सूक्ष्म और स्थूल के अतीत है—यदि वह एक-रस है, सम-रस है, तो फिर रोने से होता क्या है? अखण्ड-चैतन्य-स्वरूप अमायिक परमपुरुष के सामने यह विलाप क्यों ? उस गुणहीन, विकारहीन, दया-माया-हीन की पूजा क्या और स्तुति क्या ?[1] निर्ममता और अमायिकता योग की पहली शर्त है। इसीलिए वह अपने अनुयायी को अक्खड़ बना देता है। कबीरदास ने यह अक्खड़ता योगियों से विरासत में पायी थी। संसार में भटकते हुए जीवों को देखकर करुणा के अश्रु से वे कातर नहीं हो आते थे बल्कि और भी कठोर होकर उसे फटकार बताते थे। वे प्रह्लाद की भाँति सर्वजगत् के पाप को अपने ऊपर ले लेने की वाञ्छा से ही विचलित नहीं हो पड़ते थे बल्कि और भी कठोर, और, और भी शुष्क होकर सुरत और निरत का उपदेश देते थे। संसार में भरमनेवालों पर दया कैसी, मुक्ति के मार्ग में अग्रसर होनेवालों को आराम कहाँ, करम की रेख पर मेख न मार सका तो सन्त कैसा :

ज्ञान का गेंद कर सुर्त का डंड कर
खेल चौगान-मैदान माँही।
जगत का भरमना छोड़ दे बालके
आय जा भेप-भगवन्त पाहीं ॥

1. अविवेक-विवेक-विबोध इति, अविकल्प-विकल्प विबोध इति।
यदि चैकनिरन्तरबोध इति, किमु रोदिपि मानस-सर्वसमः ॥
बहुधा श्रुतयः प्रवदन्ति यते, वियदादिरयं मृगतोयसमः।
यदि चैकनिरन्तरसर्वसमः किमु रोदिपि मानस-सर्वसमः ॥
सविभक्ति-विभक्तिविहीन परम अनुकार्य-विकार्य-विहीन परम।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवः यजनं च कथं स्तवनं च कथम् ॥
—'गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह' में अवधूत-गीता के वचन, पृ. 25]

कठिन है। विरोधी के ही अस्त्र से विरोधी को घायल करने की कला में कबीरदास उस्ताद हैं। गगन और पवन के बल पर आतंक जमानेवाले से यह छोटा-सा प्रश्न कितना सहज और फिर भी कितना तिलमिला देनेवाला है : 'गगना-पवना दोनो विनसे कहँ गया जोग तुम्हारा ?'

यह उनकी अनधिकार चर्चा नही थी। वे समाधिगम्य परमपुरुष का साक्षात्कार कर चुके थे, पवन को उलटकर सहस्रारचक्र मे ले जा चुके थे, वहाँ के गगन का अनन्य-साधारण गर्जन सुन चुके थे, अवशेष अमृत-वर्षी पावस का अनुभव कर चुके थे, उस महान् पद को देख आये थे जहाँ कोई विरला ही जा सकता है, जहाँ वेद और कतेब की गम नही है, जहाँ की गगन-गुफा मे किसी गैब की चाँदनी छिटकी हुई है, जहाँ उदय और अस्त का नाम भी नहीं है, जहाँ दिन और रात की पहुँच नही है, जो प्रेम के प्रकाश का समुद्र है, जो सदानन्द का विशाल निर्भर है, जो भ्रम और भ्रान्ति से परे है, जो एक-रस है, ब्रह्म की छौल मे (झूले मे) वे निश्चित रूप से झूल चुके थे :

करत कल्लोल दरियाव के बीच मे,
ब्रह्म की छौल मे हंस झूलै।
अर्ध औ' ऊर्ध्व की पेग बाढी तहाँ,
पलट मन पवन को कँवल फूलै॥
गगन गरजै तहाँ सदा पावस झरै,
होत झनकार नित बजत तूरा।
वेद-कत्तेब की गम्म नाही तहाँ,
कहै कब्बीर कोई रमै सूरा॥
गगन की गुफा तहँ गैब का चाँदना,
उदय और अस्त का नाम नाही।
दिवस औ' रैन तहँ नेक नहि पाइये,
प्रेम-परकास के सिन्धु माही॥
सदा आनन्द दुख-दंद ब्यापै नही,
पूरनानन्द भरपूर देखा।
भर्म और भ्रान्ति तहँ नेक आवै नही,
कहै कब्बीर रस एक पेखा॥

—शब्दा., पृ. 104

परन्तु वे स्वभाव से फक्कड थे। अच्छा हो या बुरा, खरा हो या खोटा, जिससे एक बार चिपट गये उससे जिन्दगीभर चिपटे रहो, यह सिद्धान्त उन्हे मान्य नहीं था। वे सत्य के जिज्ञासु थे और कोई मोह-ममता उन्हे अपने मार्ग से विचलित नही कर सकती थी। वे अपना घर जलाकर हाथ मे मुराड़ा लेकर निकल पड़े थे और उसी को साथी बनाने को तैयार थे जो उनके हाथों अपना भी घर जलवा सके :

भेप-भगवंत की शेप महिमा करे
शेप के सीर पर चरन डारै।
कामदल जीति के कँवलदल सोधि के
ब्रह्म को वेधि के क्रोध मारै॥
पदम-आसन करै पौन परिचै करै
गगन के महल पर मदन जारै।
कहत कव्बीर कोई सन्त-जन जौहरी
करम की रेख पर मेख मारै॥

—शब्दा., पृ. 50

परन्तु अक्खड़ता कबीरदास का सर्वप्रधान गुण नहीं है। जब वे अवधू या योगी को सम्बोधन करते है तभी उनकी अक्खड़ता पूरे चढाव पर होती है। वे योग के विकट रूपों का अवतरण करते है, गगन और पवन की पहेलीं बुझाते रहते है, सुन्न और सहज का रहस्य पूछते रहते है, द्वैत और अद्वैत के सत्त्व की चर्चा करते रहते है और अवधू के अज्ञान पर कुटिल हँसी-सी हँसा करते है :

अवधू, अच्छरहूँ सों न्यारा।
जो तुम पवना गगन चढ़ाओ, करो गुफा में बासा।
गगना-पवना दोनों बिनसैं, कहँ गया जोग तुम्हारा॥
गगना-मद्धे जोती झलके, पानी-मद्धे तारा।
घटिगे नीर बिनसिगे तारा, निकरि गयो केहि द्वारा॥
मेरुदंड पर डारि दुलैंची, जोगी तारी लाया।
सोई सुमेर पर खाक उड़ानी, कच्चा योग कमाया॥
इँगला बिनसैं, पिंगला बिनसैं, बिनसैं सुषमनि नाड़ी।
जब उनमनि की तारी टूटै, तब कहँ रही तुम्हारी॥
अद्वैत-विराग कठिन है भाई, अँटके मुनिवर-जोगी।
अच्छर-लौकी गम्म बतावें, सो है मुक्ति-विरोगी॥
कह अरु अकह दुहूँ तें न्यारा, सत्त-असत के पारा।
कहै कबीर ताहि लख जोगी, उतरि जाय भव-पारा॥

इसी भाषा को योगी समझते थे। ठीक भी है, यदि समाधि-मात्रगम्य निर्मम की भजन-पूजा विहित नहीं है तो योगी से भी तो उलट के उसी शुष्कता और उसी निर्ममता के साथ पूछा जा सकता है कि बाबा, उनमनि तक तो ठीक है, वहाँ तुमने माना कि अक्षर-पुरुष का साक्षात्कार कर लिया, परन्तु फिर? जब समाधि भंग हुई,—जब उनमनि की तारी टूटी, तब? तब तो फिर उसी भवजाल में लौट आये। अब तुम्हारी क्या गति होगी? सो, कबीरदास अवधूत से बात करते समय पूरी अक्खड़ता से काम लेते है और अपने व्यक्तित्व को बहुत ऊँचे उठाकर बोलते है, क्योंकि वे अवधू के इस मनोभाव को पहचानते है। एक बार अगर उसे अपने व्यक्तित्व को ऊपर उठा ले जाने की छूट दे दी गयी तो फिर उससे पार पाना

कठिन है। विरोधी के ही अस्त्र से विरोधी को घायल करने की कला मे कबीरदास उस्ताद हैं। गगन और पवन के बल पर आतंक जमानेवाले से यह छोटा-सा प्रश्न कितना सहज और फिर भी कितना तिलमिला देनेवाला है : 'गगना-पवना दोनों विनसें कहँ गया जोग तुम्हारा ?'

यह उनकी अनधिकार चर्चा नही थी। वे समाधिगम्य परमपुरुष का साक्षात्कार कर चुके थे, पवन को उलटकर सहस्रारचक्र मे ले जा चुके थे, वहाँ के गगन का अनन्य-साधारण गर्जन सुन चुके थे, अवशेष अमृत-वर्षी पावस का अनुभव कर चुके थे, उस महान् पद को देख आये थे जहाँ कोई विरला ही जा सकता है, जहाँ वेद और कतेब की गम नही है, जहाँ की गगन-गुफा मे किसी गैंव की चाँदनी छिटकी हुई है, जहाँ उदय और अस्त का नाम भी नही है, जहाँ दिन और रात की पहुँच नही है, जो प्रेम के प्रकाश का समुद्र है, जो सदानन्द का विशाल निर्झर है, जो भ्रम और भ्रान्ति से परे है, जो एक-रस है, ब्रह्म की छौल मे (झूले मे) वे निश्चित रूप से झूल चुके थे :

करत कल्लोल दरियाव के बीच मे,
ब्रह्म की छौल मे हस झूलै।
अर्ध औ' ऊर्ध्व की पेग बाढ़ी तहाँ,
पलट मन पवन को कँवल फूलै॥
गगन गरजै तहाँ सदा पावस झरै,
होत झनकार नित बजत तूरा।
वेद-कत्तेब की गम्म नाही तहाँ,
कहै कब्बीर कोई रमै सूरा॥
गगन की गुफा तहँ गैंव का चाँदना,
उदय और अस्त का नाम नाही।
दिवस औ' रैन तहँ नेक नहिं पाइये,
प्रेम-परकास के सिन्धु माही॥
सदा आनन्द दुख-दंद व्यापै नहीं,
पूरनानन्द भरपूर देखा।
भर्म और भ्रान्ति तहँ नेक आवै नहीं,
कहै कब्बीर रस एक पेखा॥

—शब्दा., पृ. 104

परन्तु वे स्वभाव से फक्कड़ थे। अच्छा हो या बुरा, खरा हो या खोटा, जिससे एक बार चिपट गये उससे जिन्दगीभर चिपटे रहो, यह सिद्धान्त उन्हे मान्य नही था। वे सत्य के जिज्ञासु थे और कोई मोह-ममता उन्हे अपने मार्ग से विचलित नही कर सकती थी। वे अपना घर जलाकर हाथ मे मुराड़ा लेकर निकल पड़े थे और उसी को साथी बनाने को तैयार थे जो उनके हाथों अपना भी घर जलवा सके :

हम घर जारा आपना, लिया मुराड़ा हाथ।
अब घर जारौं तासु का, जो चलै हमारे साथ ॥

—स. क. सा. 5.8

वे सिर से पैर तक मस्त-मौला थे। मस्त—जो पुराने कृत्यों का हिसाब नहीं रखता, वर्त्तमान कर्मों को सर्वस्व नहीं समझता और भविष्य में सब-कुछ झाड़-फटकार निकल जाता है। जो दुनियादार किये-कराये का लेखा-जोखा दुरुस्त रखता है, वह मस्त नहीं हो सकता। जो अतीत का चिट्ठा खोले रहता है, वह भविष्य का क्रान्तदर्शी नहीं बन सकता। जो इश्क का मतवाला है, वह दुनिया के माप-जोख से अपनी सफलता का हिसाब नहीं करता। कबीर जैसे फक्कड़ को दुनिया की होशियारी से क्या वास्ता? ये प्रेम के मतवाले थे मगर अपने को उन दीवानों में नहीं गिनते थे जो माशूक के लिए सर पर कफन बांधे फिरते हैं, जो बेकरारी की तड़पन में इश्क का चरम फल पाने का भान करते है, क्योंकि बेकरारी उस वियोग में होती है जिसमें प्रिय दूर हो—उसे पाना कठिन हो। पर जहाँ प्यारे से एक क्षण के लिए भी विछोह नहीं, वहाँ तड़पन कैसी? जो गगरी भरी है उसमें छलकन कहाँ? जहाँ द्वैत-भावना ही मिट गयी हो उस अजब मस्ती में बेचैनी कहाँ?

हमन है इश्क मस्ताना, हमन को होशियारी क्या।
रहे आजाद या जग से, हमन दुनिया से यारी क्या।
जो बिछुड़े है पियारे से, भटकते दर-बदर फिरते।
हमारा यार है हम में, हमन को इन्तजारी क्या।
खलक सब नाम अपने को, बहुत कर सिर पटकता है।
हमन गुरुनाम सांचा है, हमन दुनिया से यारी क्या।
न पल बिछुड़े पिया हमसे, न हम बिछुड़ें पियारे से।
उन्ही से नेह लागी है, हमन को बेकरारी क्या।
कबीरा इश्क का माता, दुई को दूर कर दिल से।
जो चलना राह नाजुक है, हमन सिर बोझ भारी क्या ॥

—शब्दा., पृ. 16-17

इसीलिए ये फक्कड़राम किसी के धोखे में आनेवाले न थे। दिल जम गया तो ठीक है और न जमा तो राम-राम करके आगे चल दिये। योग-प्रक्रिया को उन्होंने डटकर अनुभव किया, पर जँची नहीं। उन नकटो के समान चुप्पी साधना उन्हें मालूम न था जिन्होंने इस आशा पर नाक कटा ली थी कि इस बाधा के दूर होते ही स्वर्ग दिखायी देने लगता है। उन्हें यह परवा न थी कि लोग उनकी असफलता पर क्या-क्या टिप्पणी करेंगे। उन्होंने बिना लाग-लपेट के, बिना झिझक और संकोच के ऐलान किया :

आसमान का आसरा छोड़ प्यारे,
उलटि देख घट अपना जी।

तुम आप में आप तहकीक करो,
तुम छोड़ो मन की कल्पना को।

—क. व., पृ. 133, पद 87

आसमान अर्थात् गगन-चन्द्र की परम ज्योति। जो वस्तु केवल शारीरिक व्यायाम और मानसिक यम-दमादि का साध्य है वह परम तत्त्व नहीं हो सकती। योगी लोग एक प्रकार की जड़-समाधि की बात स्वीकार करते हैं जिसमें योगी लक्ष्य-भ्रष्ट होकर जड़ शरीर-विकार को सिद्धि समझने लगता है। परम-पुरुष योग का परम प्रतिपाद्य है, आत्मानन्द है वह योग-कला का विषय नहीं है। केवल शारीरिक और मानसिक कवायद से दीखनेवाली ज्योति जड़ चित्त की कल्पना-मात्र है। वह भी बाह्य है। कबीर ने कहा, और आगे चलो। केवल क्रिया तुच्छ है, ज्ञान चाहिए। बिना ज्ञान के योग व्यर्थ है। केवल पिण्ड में—तथापि गगन-गुफा में या शून्यचक्र में यदि घटघटवासी मिलता है, तो कहीं सिलसिला ही गलत हो गया है। अगर कहते हो कि वह केवल भीतर ही है तो बाहर का यह सारा विश्वब्रह्माण्ड मारे लज्जा के पानी-पानी हो जाता है। क्या गगन-गुफा के बाहर सब-कुछ भगवान् के बाहर है, क्या उसके कण-कण में प्रभु व्याप्त नहीं है, क्या वह व्यर्थ ही बदन में पड़ा हुआ है? पर अगर इसी की ओर ताकें, यही मान लें कि बाहर की सारी दुनिया में ही वह परम-पुरुष रम रहा है और भीतर उससे शून्य है तो यह बात झूठ है। कबीरदास ने कितनी ही बार 'कमल-कुआ में ब्रह्मरस' का पान किया था, गगन से झरते हुए अमृतरस का आस्वादन किया था। यह झूठ है कि यह परम-पुरुष भीतर नहीं है। जो कहता है कि वह भीतर ही है बाहर नहीं, वह सारे बाह्य जगत् को व्यर्थ ही लज्जित करता है और जो कहता है कि वह भीतर है ही नहीं, वह झूठा है। कबीरदास हैरान हैं कि क्या कहकर इस अकथ-कथा को कहें:

ऐसा लो, नहिं तैसा लो।
मैं केहि विधि कथौं, गँभीरा लो।
भीतर कहूँ, तो जगमय लाजै
बाहर कहूँ तो झूठा लो।
बाहर-भीतर, सकल निरन्तर
गुरु-परतापें दीठा लो।

कबीर की यह घर-फूँक मस्ती, फक्कड़ाना लापरवाही और निर्मम अक्खड़ता उनके अखण्ड आत्मविश्वास का परिणाम थी। उन्होंने कभी अपने ज्ञान को, अपने गुरु को और अपनी साधना को सन्देह की नजरों से नहीं देखा। अपने प्रति उनका विश्वास कहीं भी डिगा नहीं। कभी गलती महसूस हुई तो उन्होंने एक क्षण के लिए भी नहीं सोचा कि इस गलती के कारण वे स्वयं हो सकते हैं। उनके मत से गलती बराबर प्रक्रिया में होती थी, मार्ग में होती थी, साधन में होती थी। शायद उनके नाम पर चलनेवाले हजारों भजनों में से एक भी हमारे इस कथन के प्रतिवाद में नहीं उद्धृत किया जा सकता। उनकी अखण्ड आत्मनिष्ठा में एक क्षण के लिए

भी दुर्बलता नहीं दिखायी दी। वे वीर साधक थे, और वीरता अखण्ड आत्म-विश्वास को आश्रय करके ही पनपती है। कबीर के लिए साधना एक विकट संग्राम-स्थली थी, जहाँ कोई विरला शूर ही टिक सकता था। जिसे अपने सिर को उतारकर देने की कला नहीं आती, वह इस मार्ग का राही नहीं बन सकता :

पकरि समसेर मैदान में पैसिये,
देह-परजंत करु जुद्ध भाई।
काट सिर बैरियाँ दाव जहँ का तहाँ,
आय दरबार में सीस नाई॥
करत मतवाल जहाँ संत-जन सूरमा,
घुरत निस्सान तहँ गगन धाई॥
कहै कब्बीर अब नाम सों सुरखरू,
मौज दरबार की भक्ति पाई॥

—शब्दा., पृ. 106

कबीर जिस साईं की साधना करते थे वह मुफ्त की बातों से नहीं मिलता था। उस राम से सिर देकर ही सौदा किया जा सकता था :

साँई सेंत न पाइये, बातां मिलै न कोय।
कबीर सौदा राम सौं, सिर बिन कदै न होय॥

—स. क. सा. 85-86

रामानन्द की प्रेम-भक्ति का यह एक अभूतपूर्व परिणाम हुआ। भक्ति के अश्रु, स्वेद, कम्प आदि महाभाव हो गये। भगवान् का प्रेम बड़ी चीज है, पर उस बड़ी चीज को पाने की साधना भी बड़ी होनी चाहिए। प्रेम का यह व्यापार कुछ खाला का घर नहीं है कि बात-बात पर मचल गये और फरमाइश पूरी हुई। यहाँ तो वही प्रवेश पाने का हकदार है जो पहले सिर उतारकर धरती पर रख दे :

कबीर यहु घर प्रेम का, खाला का घर नाँहि।
सीस उतारे हाथि करि, सो पैसे घर माँहि॥
कबीर निज घर प्रेम का, मारग अगम-अगाध।
सीस उतारि पगतलि धरै, तब निकटि प्रेम का स्वाद॥

—क. ग्रं., पृ. 69

यह प्रेम किसी खेत में नहीं उपजता, किसी हाट में नहीं बिकता, फिर भी जो कोई भी इसे चाहेगा, पा लेगा। वह राजा हो या प्रजा, उसे सिर्फ एक शर्त माननी होगी, वह शर्त है सिर उतारकर धरती पर रख ले। जिसमें साहस नहीं, जिसमें इस अखण्ड प्रेम के ऊपर विश्वास नहीं, उस कायर की यहाँ दाल नहीं गलेगी। हरि से मिल जाने पर साहस दिखाने की बात करना बेकार है, पहले हिम्मत करो, भगवान् आगे आकर मिलेंगे। उथली भावुकता, हिस्टीरिक प्रेमोन्माद और बातूनी इश्क यहाँ बेकार है—अपने अधिगम्य पर अखण्ड विश्वास ही इस प्रेम की कुंजी है—विश्वास, जिसमें संकोच नहीं, द्विधा नहीं, बाधा नहीं :

प्रेम न खेतौं नीपजै, प्रेम न हाट बिकाय।
राजा-परजा जिस रुचे, सिर दे सो ले जाय॥
सूरै सीस उतारिया, छाडी तन की आस।
आगेथैं हरि मुलकिया, आवत देख्या दास॥
भगति दुहेली राम की, नहिं कायर का काम।
सीस उतारै हाथि करि, सो लेसी हरि नाम॥

—क. ग्रं., पृ. 70

कबीरदास भक्त और पतिव्रता को एक कोटि मे रखते थे। दोनो का धर्म कठोर है, दोनो की वृत्ति कोमल है, दोनों के सामने प्रलोभन का दुस्तर जजाल है, दोनों ही काचन-पदधर्मी है—बाहर से मृदु, भीतर से कठोर; बाहर से कोमल, भीतर से परुष। सबकी सेवा मे व्यस्त, पर एक की आराधिका पतिव्रता ही भक्त के साथ तुलनीय हो सकती है। सती की सिन्दूर-रेखा के बदले काजल नही दिया जा सकता और कबीर के नैनो मे भी राम रम गया है, दूसरा नही रम सकता :

कबीर रेख सिंदूर की, काजल दिया न जाइ।
नैन रमइया रमि रहा, दूजा कहाँ समाइ॥

भक्त की यह प्रार्थना केवल सती को ही शोभ सकती है :

नैना अंतर आव तूं, ज्यो ही नैन झँपेउँ।
ना हौ देखौं और कूं, ना तुझ देखन देउँ॥
मेरा मुझ मे कुछ नही, जो कुछ है सो तेरा।
तेरा तुझको सौपतां, क्या लागै है मेरा॥

कबीरदास में यह जो अपने प्रति और अपने प्रिय के प्रति एक अखण्ड अविचलित विश्वास था उसी ने उनकी कविता में असाधारण शक्ति भर दी है। उनके भाव सीधे हृदय से निकलते है और श्रोता पर सीधे चोट करते हैं। जो लोग इस रहस्य को नही जानते वह व्यर्थ ही पाण्डित्य-प्रदर्शन से पाठकों का समय नष्ट करते हैं। प्रेम-भक्ति का यह पौधा भावुकता की आँच से न तो कुम्हलाता ही है और न तर्क के तुषारपात से मुरझाता है। वह हृदय के पाताल-भेदी अन्तस्तल से अपना रस संचय करता है। न आँधी उसे उखाड़ सकती है और न पानी उसे बहा सकता है। इस प्रेम मे मादकता नही है पर मस्ती है, कर्कशता नहीं है पर कठोरता है। असंयम नही है पर मौज है, उच्छृंखलता नहीं है पर स्वाधीनता है, अन्धानुकरण नहीं है पर विश्वास है, उजड्डता नहीं है पर अक्खड़ता है—इसकी प्रचण्डता सरलता का परिणाम है, उग्रता विश्वास का रूप है, तीव्रता आत्मानुभूति का विकास है। यह प्रेम वज्र से भी कठोर है, कुसुम से भी कोमल! इसमें हार भी [illegible] जीत भी जीत है।

हारौं तो हरि नाम है, जो जीतूँ तो दाव।
पारब्रह्म सौं खेलता, जो सिर जाय तो जाव॥

इस सरलता और विश्वास के कारण ही जहाँ वे एक स्थान पर भगवान् के निकट अतिशय विनीत और हतदर्प दीखते हैं वहाँ दूसरे स्थान पर चुनौती देते हुए भी दिख जाते हैं। पर कहीं भी उन्होंने शिकायत नहीं की, मचलने का अभिनय नहीं किया, उपालम्भों की झड़ी नहीं लगायी—महान् की महत् मर्यादा को उन्होंने कभी अपनी ससीमता से गँदला नहीं किया। साईं के प्रति उनकी भक्ति अडिग है। वे राम के कुत्ते के रूप में अपना परिचय देते नहीं लजाते। कबीर राम का कुत्ता है, नाम उसका मुतिया है। राम ने ही इस मुतिया के गले में एक रस्सी बाँध दी है। सो वह जिधर खींचता है, मुतिया भी उधर ही जाता है। जब वह तो-तो करके पुकारता है तो मुतिया भी उसके पास चला जाता है और जब दुर-दुर करता है तो बेचारे मुतिया को भागने के सिवा और चारा ही क्या है? कबीरदास कहते हैं कि भगवान् जैसे रखे वैसे ही रहना श्रेयस्कर है, वह जो दे दे वही खा लेना कर्तव्य है। निरीह सारल्य का यह चरम दृष्टान्त है :

कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाउँ।
गलै राम की जेवड़ी, जित खैंचै तित जाउँ॥
तो तो कर तो बाहुड़ौ, दुरि दुरि करै तो जाउँ।
ज्यूँ हरि राखै त्यूँ रहौ, जो देवै सो खाउँ॥

—क. ग्रं., पृ. 20

आत्मसमर्पण की यह हद है। इतने पर भी मन की प्रतीति नहीं होती कि यह प्रेम-रस पर्याप्त है। क्या जाने उस प्रियतम को कौन-सा ढंग पसन्द हो, कौन-सी वेशभूषा रुचिकर हो। हाय, उस अजब मस्ताने प्रिय का समागम कैसा होता होगा :

मन परतीति न प्रेम रस, ना इस तन मैं ढंग।
क्या जाणौ उस पीव-सूँ, कैसी रहसी रंग।

—क. ग्रं, पृ. 20

इस उक्ति को अपने प्रति अविश्वास समझना गलती होगी। इसमें केवल प्रेमातिशय्य और औत्सुक्य प्रकट हुआ है। भक्त को अपने ऊपर पूर्ण विश्वास है, पर प्रिय की उच्चता और महिमा के प्रति उसका विश्वास और भी अधिक है। अविचल प्रेमी ही यह सोचता है कि उसका प्रेमी कहीं अतृप्त न लौट जाय। अपनी अपूर्णता इस उत्सुकता और आशंका का कारण होती है, अपने प्रति अवज्ञा नहीं।

पता नहीं कि कबीरदास ने 'मुतिया' नाम क्यों पसन्द किया। क्या अनुमान किया जाय कि उनका बचपन का नाम मुतिया था? असम्भव नहीं। पर मुतिया नाम है बड़ा जानदार। इस नाम में ही कुत्ते की सारी निरीहता मानो दुम हिलाती हुई सामने खड़ी हो जाती है। कभी-कभी आश्चर्य होता है कि क्या यह वही आदमी है जो बीसियों बार गगन-गुफा का चक्कर लगा लेने के बाद उधर के कोने-कोने से ऐसा परिचित हो गया कि बड़े-से-बड़े अवधूत को ललकार सकता है, जो शास्त्र और परम्परा के जटिल जाल में घुसकर इस सफाई के साथ उसकी ग्रन्थियाँ

ललकारने की भाषा में ही बोलते थे। सारी परिस्थिति का विश्लेषण न कर सकनेवाले पण्डित इन्हें अटपटी वाणी समझकर सन्तोष कर लेते हैं या फिर घमण्ड और दम्भ समझकर कुछ आश्वस्त-से हो लेते हैं।

जो लोग पौराणिक कथाओं को जानते हैं, उन्हें मालूम है कि करीब-करीब सभी देवताओं और ऋषि-मुनियों के नाम ऐसी कहानियाँ मिलती हैं जिनसे उनके चरित्र की विशुद्धता में सन्देह होता है। पर जो लोग पुराणों के तत्त्ववाद के जानकार हैं वे उनमें भी भगवल्लीला का आभास पाते हैं और उन्हें न तो उक्त कथाओं में अविश्वास होता है और न उन मुनियों या देवताओं के चरित्र के विषय में सन्देह। कबीरदास पौराणिक कथाओं के थोड़े-बहुत जानकार थे, पर तत्त्ववाद के कायल न थे, शायद जानते भी नहीं थे। इसीलिए उन्होंने कथा पर विश्वास करके मुनियों और देवताओं के चरित्र को उसी रूप में स्वीकार किया जिस रूप में लिखा गया है। अपने ऊपर उनका विश्वास प्रबल था और पौराणिक कथाओं ने सुर-नर-मुनि के चरित्रों पर सन्देह करने का अवसर दिया। इसीलिए अत्यन्त सीधी और सहज बात कहते समय भी उनके आत्मविश्वास का आक्रामक रूप प्रकट हो ही गया :

झीनी झीनी बीनी चदरिया।
काहे कै ताना काहे कै भरनी, कौन तार से बीनी चदरिया।
इंगला-पिंगला ताना भरनी, सुसमन तार से बीनी चदरिया॥
आठ कँवल दल चरखा डोलै, पाँच तत्त्व गुन तीनी चदरिया।
साईं को सियत मास दस लागै, ठोक ठोक के बीनी चदरिया॥
सो चादर सुर-नर-मुनि ओढ़िन, ओढि के मैली कीनी चदरिया।
दास कबीर जतन से ओढ़िन, ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया॥

—शब्दा., पृ. 74

इसमें दम्भ का लेश भी नहीं है, घमण्ड का स्पर्श भी नहीं है। है केवल अपने अखण्ड विश्वास और पौराणिक कथानकों की सरलतापूर्ण स्वीकृति। सचमुच ही तो इस पंच तत्त्व और तीन गुण की शरीर-चादर सभी मुनियों और देवताओं ने ओढ़ के मैली कर दी है। पुराण तो ऐसा ही बताते हैं और यह भी सच है कि कबीरदास ने उस चादर को मैली नहीं होने दिया। कबीर की अन्तरात्मा इस महासत्य का अविसंवादी साक्षी है। फिर इसमें दम्भ या घमण्ड कहाँ है ? पर जो कोई इसे पढ़ेगा वह इस आत्मविश्वास के आक्रमणकारी पहलू को लक्ष्य किये बिना नहीं रहेगा। सारी बात कुछ इस लहजे में कही गयी है कि वह आक्रमणमूलक हो गयी है। 'सुर-नर-मुनि' को उँगली दिखाकर कहना और उनकी तुलना में अपने-आपको बैठा देना और फिर उनसे बड़ा बताना निश्चय ही एक ऐसा तीव्र कटाक्ष है जो लक्ष्यभूत श्रोता को चिढ़ाये बिना नहीं रह सकता। पर लक्ष्य करने योग्य है कहनेवाले की लापरवाही। वह इतनी बड़ी चिढ़ा देनेवाली बात कह गया है लेकिन कटुता के साथ नहीं, और प्रत्याक्रमण की चिन्ता के साथ तो बिल्कुल नहीं।

ऐसे थे कबीर। सिर से पैर तक मस्त-मौला; स्वभाव से फक्कड़, आदत से अक्खड़; भक्त के सामने निरीह, भेषधारी के आगे प्रचण्ड; दिल के साफ, दिमाग के दुरुस्त; भीतर से कोमल, बाहर से कठोर; जन्म से अस्पृश्य, कर्म से वन्दनीय। वे जो कुछ कहते थे अनुभव के आधार पर कहते थे, इसीलिए उनकी उक्तियाँ बेधनेवाली और व्यग्य चोट करनेवाले होते थे। उनके पूर्ववर्ती बाह्याचार-विरोधियों ने स्वयं अपने लिए बाह्याचार का आडम्बर बना रखा था, इसलिए उनमें वह मस्ती-भरी लापरवाही नही थी जो कबीर को इतना आकर्षक बनाये हुए है। फिर उनके पूर्ववर्ती सहजयानी बौद्ध और योगी लोग जितनी भी पोथी की निन्दा क्यों न करें, पोथी उनकी पढ़ी होती थी और भीतर-ही-भीतर वे पोथी की महिमा से अभिभूत होते थे। कबीर के समान निर्भीक आत्म-विश्वास के साथ वे कभी नही कह सके कि—

मेरा तेरा मनुआ कैसे इक होइ रे !
मैं कहता हौ आँखिन देखी
तू कहता कागद की लेखी;
मैं कहता सुरझावनहारी
तू राख्यो अरुझाइ रे !

अखण्ड आत्मविश्वास और अहैतुक भक्ति के बिना इतनी सफाई से कोई नही कह सकता कि तू राख्यो अरुझाइ रे ! सहज बात को सहज ही न कह व्यर्थ तर्क-फेनिल बना देना ही क्या अधिकांश 'कागद की लेखी' का कार्य नही है ? कबीर के बहुत दिन बाद एक दूसरे भक्त ने कहा था—शुरू से ही कुछ लोग नाना प्रकार के पारिभाषिक शब्दों में सोचने का अभ्यास कर लेते हैं। इनमें जो जितना ही अधिक कल्पना-प्रवीण होता है उतना ही बड़ा पण्डित माना जाता है, पर सही बात यह होती है कि इस कौशल से वे भगवान् से क्रमशः दूर ही होते जाते हैं और अपनी कल्पनाओं को ही ये तर्क-निष्ठ लोग 'शास्त्र' नाम देते है :

अभ्यासाद्य उपाधिजात्यनुमितिव्याप्त्यादिशब्दावले—
र्जन्मारभ्य सुदूरदूरभगवद्वार्त्ताप्रसंगा अमी।
ये यत्राधिक कल्पनाकुशलिनस्ते तत्र विद्वत्तमाः
स्वीय कल्पनमेव शास्त्रमिति ये जानन्त्यहो तार्किकाः !

—कविकर्णपूर, चैतन्य-चन्द्रोदय (द्वितीय अंक)

और भी बहुत दिन बाद एक और कवि ने अचरज-भरी मुद्रा में व्यर्थ के तर्क-जाल को देखकर हैरान होकर कहा है—उनकी बातें मुझे चक्कर में डाल देती हैं लेकिन तुम्हारी बात मेरी समझ में आ जाती है। तुम्हारा आकाश है और तुम्हारी ही हवा है, यह तो बहुत सीधी-सी बात है :

ओदेर कथाय धाँदा लागे
तोमार कथा आमि बुझि।

तोमार आकाश तोमार वातास,
एइ त सबइ सोजासुजि ॥

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

कबीर 'ज्ञान के हाथी' पर चढ़े हुए थे, पर 'सहज का दुलीचा' डाले बिना नहीं; भक्ति के मन्दिर में प्रविष्ट हुए थे, पर 'खाला का घर' समझकर नहीं; बाह्याचार का खण्डन किया था, पर निरुद्देश्य आक्रमण की मंशा से नहीं; भगवद्विरह की आँच में तपे थे, पर आँखों में आँसू भरकर नहीं; राम को आग्रहपूर्वक पुकारा था, पर बालकोचित मचलन के साथ नहीं—सर्वत्र उन्होंने एकसमता (बैलेंस) रखी थी। केवल कुछ थोड़े-से विषयों में वे समता खो गये थे। अकारण सामाजिक उच्च-नीच मर्यादा के समर्थकों को वे कभी क्षमा नहीं कर सके, भगवान् के नाम पर पाखण्ड रचनेवालों को उन्होंने कभी छूट नहीं दी, दूसरों को गुमराह बनानेवालों को उन्होंने कभी तरह देना उचित नहीं समझा। ऐसे अवसरों पर वे उग्र थे, कठोर थे और आक्रामक थे। पर गुमराह लोगों की गलती दिखाने में उन्हें एक तरह का रस मिलता था। व्यंग्य करने में उन्हें जैसे तृप्ति मिलती थी। निम्नलिखित पद में गंगा नहानेवालियों की कैसी कसकर खबर ली गयी है :

चली है कुलबोरनी गंगा नहाय।
सतुवा कराइन बहुरी भुँजाइन, घूँघट ओटे भसकत जाय।
गठरी बाँधिन मोटरी बाँधिन, खसम के मूँड़े दिहिन धराय।
बिछुवा पहिरिन औठा पहिरिन, लात खसम के मारिन धाय।
गंगा न्हाइन जमुना न्हाइन, नौ मन मैल लिहिन चढ़ाय।
पाँच-पचीस कै धक्का खाइन, घरहुँ की पूँजी आई गँवाय।
कहत कबीर हेत कर गुरु सों, नहीं तोर मुकुती जाइ नसाय॥

—क. वच., पृ. 144

भक्ति के अतिरेक में उन्होंने कभी अपने को पतित नहीं समझा; क्योंकि उनके दैन्य में भी उनका आत्म-विश्वास साथ नहीं छोड़ देता था। उनका मन जिस प्रेम-रूपी मदिरा से मतवाला बना हुआ था वह ज्ञान के गुण से तैयार की गयी थी, इसीलिए अन्धश्रद्धा, भावुकता और हिस्टीरिक प्रेमोन्माद का उनमें एकान्त अभाव था। युगावतारी शक्ति और विश्वास लेकर वे पैदा हुए थे और युगप्रवर्त्तक की दृढ़ता उनमें वर्तमान थी, इसीलिए वे युग-प्रवर्त्तन कर सके थे। एक वाक्य में उनके व्यक्तित्व को कहा जा सकता है : वे सिर से पैर तक मस्त-मौला थे—बेपरवा, दृढ़, उग्र, कुसुमादपि कोमल, वज्रादपि कठोर।

भारतीय धर्म-साधना में कबीर का स्थान

जिस युग में कबीर आविर्भूत हुए थे उसके कुछ ही पूर्व भारतवर्ष के इतिहास मे एक अभूतपूर्व घटना घट चुकी थी। यह घटना इसलाम-जैसे एक सुसगठित सम्प्रदाय का आगमन था। इस घटना ने भारतीय धर्म-मत और समाज-व्यवस्था को बुरी तरह से झकझोर दिया था। उसकी अपरिवर्तनीय समझी जानेवाली जाति-व्यवस्था को पहली बार जबर्दस्त ठोकर लगी थी। सारा भारतीय वातावरण संक्षुब्ध था। बहुत-से पण्डितजन इस संक्षोभ का कारण खोजने मे व्यस्त थे और अपने-अपने ढंग पर भारतीय समाज और धर्म-मत को सँभालने का प्रयत्न कर रहे थे।

सबसे पहले यह समझ लिया जाय कि यह घटना अभूतपूर्व क्यों थी और इसमे नवीनता क्या थी। भारतवर्ष कोई नया देश नही है। बड़े-बड़े साम्राज्य उसकी धूल मे दबे हुए हैं, बड़ी-बड़ी धार्मिक घोषणाएँ उसके वायुमण्डल मे निनादित हो चुकी है, बड़ी-बडी सभ्यताएँ उसके प्रत्येक कोने में उत्पन्न और विलीन हो चुकी है, उनके स्मृति-चिह्न अब भी इस प्रकार निर्जीव होकर खड़े हैं मानो अट्टहास करती हुई विजयलक्ष्मी को बिजली मार गयी हो! अनादिकाल से उसमे अनेक जातियों, कबीलो, नस्लो और घुमक्कड़ खानाबदोशो के झुण्ड इस देश में आते रहे है। कुछ देर के लिए इन्होने देश के वातावरण को विक्षुब्ध भी बनाया है, पर अन्त तक वे पराये नही रह सके है। उनके देवता तैंतीस करोड सिहासनों मे से किसी एक को दखल करके बैठ जाते रहे है और पुराने देवताओ के समान ही श्रद्धाभाजन बन जाते रहे है—कभी-कभी अधिक सम्मान भी पा सके है। भारतीय संस्कृति की कुछ ऐसी विशेषता रही है कि उन कबीलो, नस्लो और जातियो की भीतरी समाज-व्यवस्था और धर्म-मत मे किसी प्रकार का हस्तक्षेप नही किया गया है और फिर भी उनको सम्पूर्ण भारतीय बना लिया गया है। भागवत में ऐसी जातियों की एक पूरी सूची देकर बताया गया है कि एक बार भगवान् का आश्रय पाते ही ये शुद्ध हो गयी है। इनमे किरात है, हूण है, आन्ध्र है, पुलिन्द है, पुक्कस है, आभीर है, शुग है, यवन है, खस है, शक है और भी [illegible] बहुत जातियाँ है जिनका नाम भागवतकार [illegible] भा[illegible] ने अतिथियो को अपना [illegible] सकी थी, इसका [illegible] कि बहुत शु[illegible] [illegible]-साधना वैयक्तिक [illegible] रही है। प्रत्येक [illegible] झुण्ड बाँध [illegible] उत्सव हो सकते [illegible] दार आप [illegible]

श्रेष्ठता की निशानी किसी धर्म-मत को मानना या देव-विशेप की पूजा करना नही बल्कि आचार-शुद्धि और चारित्र्य है। यदि एक आदमी अपने पूर्वजो के बताये धर्म पर दृढ़ है, चरित्र से शुद्ध है, दूसरी जाति या व्यक्ति के आचरण की नकल नही करता बल्कि स्वधर्म में मर जाने को ही श्रेयस्कर समझता है, ईमानदार है, सत्य-वादी है, तो वह निश्चय ही श्रेष्ठ है, फिर वह चाहे आभीर-वंश का हो या पुक्कस-श्रेणी का। कुलीनता पूर्वजन्म के कर्म का फल है, चारित्र्य इस जन्म के कर्म का प्रतीक है। देवता किसी एक जाति की सम्पत्ति नही है, वे सबके हैं और सबकी पूजा के अधिकारी है। पर यदि स्वयं देवता ही चाहते हो कि उनकी पूजा का माध्यम कोई विशेष जाति या व्यक्ति हो सकता है तो भारतीय समाज को इसमे भी कोई आपत्ति नही। ब्राह्मण मातंगी देवी की पूजा करेगा पर मातग के जरिये। क्या हुआ जो मातंग चाण्डाल है! राहु यदि प्रसन्न होने के लिए डोमो को ही दान देना अपनी शर्त रखते है तो डोम ही सही। समस्त भारतीय समाज डोम को ही दान देकर ग्रहण के अनर्थ से चन्द्रमा की रक्षा करेगा! इस प्रकार भारतीय सस्कृति ने समस्त जातियों को उनकी सारी विशेपताओं समेत स्वीकार कर लिया। पर अब तक कोई ऐसा 'मजहब' उसके द्वार पर नही आया था। वह उसको हज़म कर सकने की शक्ति नही रखता था।

'मजहब' क्या है? मजहब एक सघटित धर्म-मत है। बहुत-से लोग एक ही देवता को मानते है, एक ही आचार का पालन करते है, और किसी नस्ल, कबीले या जाति के किसी व्यक्ति को जब एक बार अपने सघटित समूह मे मिला लेते है तो उसकी सारी विशेपताएँ दूर कर उसी विशेष मतवाद को स्वीकार कराते है। यहाँ धर्म-साधना व्यक्तिगत नही, समूहगत होती है। यहाँ धार्मिक और सामाजिक विधि-निषेध एक-दूसरे मे गुंथे होते है। भारतीय समाज नाना जातियो का सम्मिश्रण था। एक जाति का एक व्यक्ति दूसरी जाति मे बदल नही सकता, परन्तु मजहब इससे ठीक उल्टा है। वह व्यक्ति को समूह का अग बना देता है। भारतीय समाज की जातियाँ कई व्यक्तियो का समूह हैं, परन्तु किसी मजहब के व्यक्ति वृहत् समूह के अंग हैं। एक का व्यक्ति अलग हस्ती रखता है पर अलग नही हो सकता, दूसरे का अलग हो सकता है पर अलग सत्ता नही रखता।

मुसलमानी धर्म एक 'मजहब' है। भारतीय समाज-संगठन से बिल्कुल उल्टे तौर पर उसका सगठन हुआ था। भारतीय समाज जातिगत विशेपता रखकर व्यक्तिगत धर्म-साधना का पक्षपाती था, इसलाम जातिगत विशेपता को लोप करके समूह-गत धर्म-साधना का प्रचारक था। एक का केन्द्र-बिन्दु चारित्र्य था, दूसरे का धर्म-मत। भारतीय समाज मे यह स्वीकृत तथ्य था कि विश्वास चाहे जो भी हो, चारित्र्य शुद्ध है तो व्यक्ति श्रेष्ठ हो जाता है, फिर चाहे वह किसी जाति का भी क्यों न हो। मुसलमानी समाज का विश्वास था कि इसलाम ने जो धर्म-मत प्रचार किया है उसको स्वीकार कर लेनेवाला ही अनन्त स्वर्ग का अधिकारी है, जो इस धर्म-मत को नही मानता वह अनन्त नरक मे जाने को बाध्य है। भारतवर्ष को

ऐसे मत से एकदम पाला नहीं पड़ा था। उसने कभी यह विश्वास ही नहीं किया कि उसके आचार और मत को न माननेवाली जाति का कुफ्र तोड़ना उसका परम कर्त्तव्य है। किसी और का परम कर्त्तव्य यह बात हो सकती है, यह भी उसे नहीं मालूम था। इसीलिए जब नवीन धर्म-मत ने सारे संसार के कुफ्र को मिटा देने की प्रतिज्ञा की और सभी पाये जानेवाले साधनों का उपयोग आरम्भ किया तो भारतवर्ष इसे ठीक-ठीक समझ ही नहीं सका। इसीलिए कुछ दिनों तक उसकी समन्वयात्मिका बुद्धि कुण्ठित हो गयी। वह विक्षुब्ध-सा हो उठा। परन्तु विधाता को यह कुण्ठा और विक्षोभ पसन्द नहीं था।

ऐसा जान पड़ता है कि पहली बार भारतीय मनीषियों को एक संघबद्ध धर्माचार के पालन की जरूरत महसूस हुई। इसलाम के आने के पहले इस विशाल जनसमूह का कोई एक नाम तक नहीं था। अब उसका नाम 'हिन्दू' पड़ा। हिन्दू अर्थात् भारतीय, अर्थात् गैर-इसलामी मत। स्पष्ट ही गैर-इसलामी मत में कई तरह के मत थे, कुछ ब्रह्मवादी थे, कुछ कर्मकाण्डी थे, कुछ शैव थे, कुछ वैष्णव थे, कुछ शाक्त थे, कुछ स्मार्त्त थे तथा और भी न जाने क्या-क्या थे। हजारों योजनों तक विस्तृत और हजारों वर्षों में परिव्याप्त इस जनसमूह के विचारों और परम्परा-प्राप्त मतों का एक विशाल जंगल खड़ा था। स्मृति, पुराण, लोकाचार और कुलाचार की विशाल वनस्थली में से रास्ता निकाल लेना बड़ा ही दुष्कर कार्य था। स्मार्त्त पण्डितों ने इसी दुष्कर व्यापार को शिरोधार्य किया। सारे देश में शास्त्रीय वचनों की छानबीन होने लगी। उद्देश्य था कि इस प्रकार का सर्वसम्मत मत निकाल लिया जा सके, श्राद्ध-विवाह की एक ही रीति-नीति प्रचलित हो सके, उत्सव-समारोह का एक ही विधान तैयार हो सके। भारतीय मनीषा का शास्त्रों को आधार मानकर अपनी सबसे बड़ी समस्या के समाधान का यह सबसे बड़ा प्रयत्न था। हेमाद्रि से लेकर कमलाकर और रघुनन्दन तक बहुतेरे पण्डितों ने बहुत परिश्रम के बाद जो कुछ निर्णय किया वह यद्यपि सर्ववादिसम्मत नहीं हुआ, परन्तु निस्सन्देह स्तूपीभूत शास्त्र-वाक्यों की छानबीन से एक बहुत-कुछ मिलता-जुलता आचार-प्रवण धर्म-मत स्थिर किया जा सका। निबन्ध-ग्रन्थों की यह बहुत बड़ी देन थी। जिस बात को आजकल 'हिन्दू-सोलिडैरिटी' कहते हैं उसका प्रथम भित्ति-स्थापन इन निबन्ध-ग्रन्थों के द्वारा ही हुआ था। पर समस्या का समाधान इससे नहीं हुआ।

इस प्रयत्न की सबसे बड़ी कमजोरी इसकी आचार-प्रवणता ही थी। जो नया धर्म-मत भारतीय जन-समाज को संक्षुब्ध कर रहा था वह इस आचार को कोई महत्त्व ही नहीं देता था। उसका संगठन बिलकुल उल्टे किनारे से हुआ था। निबन्ध-ग्रन्थों ने जिस आचार-प्रधान 'एकधर्म'-मत का प्रचार किया उसके मूल में ही सबको स्वीकार करने का सिद्धान्त काम कर रहा था। समस्त शास्त्रीय वाक्यों को नतशिर से स्वीकार करके ही यह असाध्य साधन किया गया था। पर जिस प्रतिद्वन्द्वी से काम पड़ा था वह बहुत वर्जनाग्रही था, अर्थात् वह निर्दयतापूर्वक अन्यान्य मतों को तहस-नहस करने की दीक्षा ले चुका था और धार्मिक वर्जनशीलता ही उसका

मुख्य अस्त्र था। यद्यपि वह समाज धार्मिक रूप में वर्जनशील था, पर सामाजिक रूप में ग्रहणशील था, जबकि हिन्दू-समाज धार्मिक रूप में ग्रहणशील होकर भी सामाजिक रूप में वर्जनशील था। हिन्दू-समाज धार्मिक साधना को स्वीकार कर सकता था, पर किसी व्यक्ति-विशेष को धर्म-मत मे ग्रहण करने का पक्षपाती नहीं था। उधर मुसलमानी समाज व्यक्ति को अपने धर्म-मत मे शामिल कर लेने को परम कर्त्तव्य समझता था; परन्तु किसी विशेष धर्म-साधना को अपने किसी व्यक्ति के लिए एकदम वर्जनीय मानता था। निबन्ध-ग्रन्थों ने हिन्दू को और भी अधिक हिन्दू बना दिया, पर मुसलमानो को आत्मसात् करने का कोई रास्ता नहीं बताया।

इस प्रकार मुसलमानो के आगमन के साथ ही साथ हिन्दू-धर्म प्रधानतः आचार-प्रवण हो गया। तीर्थ, व्रत, उपवास और होमाचार की परम्परा ही उसका केन्द्र-बिन्दु हो गयी। इस समय पूर्व और उत्तर में सबसे प्रबल सम्प्रदाय नाथपन्थी योगियों का था। हमने पहले ही देखा है कि ये लोग शास्त्रीय स्मार्त्त-मत को भी नहीं मानते थे और प्रस्थानत्रयी (अर्थात् उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता) पर आधारित किसी दार्शनिक मतवाद के भी कायल नहीं थे। पर जनता का ध्यान ये आकृष्ट कर सके थे। विविध सिद्धियो के द्वारा वे काफी सम्मान और सम्भ्रम के पात्र बन गये थे। ये गुणातीत शिव या निर्गुण-तत्त्व के उपासक थे। पर इनकी उपासना ध्यान और समाधि के द्वारा होती थी। विविध भाँति की शारीरिक साधनाओं के द्वारा, जिन्हे काया-साधन कहते थे, लोग परम-तत्त्व को पाने के प्रयासी थे। इनमें जो सिद्ध, साधक और अवधूत थे वे घरबारी नही होते थे, पर इनके शिष्यों में बहुत-से आश्रमभ्रष्ट गृहस्थ थे जो योगी जाति का रूप धारण कर चुके थे। हिन्दूधर्म इन आश्रमभ्रष्ट गृहस्थों का सम्मान तो करता ही न था, उल्टे उन्हें तिरस्कार की दृष्टि से ही देखता था। ये आश्रमभ्रष्ट गृहस्थ न तो हिन्दू थे—क्योंकि वे हिन्दुओ के किसी मत या आचार के कायल न थे—और न मुसलमान—क्योंकि इन्होने इसलामी धर्म-मत को स्वीकार नहीं कर लिया था। कुछ काल के इसलामी संसर्ग के बाद ये लोग धीरे-धीरे मुसलमानी धर्म-मत की ओर झुकने लगे, पर इनके संस्कार बहुत दिनो तक बने रहे। जब वे इसी प्रक्रिया मे से गुजर रहे थे उसी समय कबीर का आविर्भाव हुआ था।

यहाँ दो और प्रधान धार्मिक आन्दोलनो की चर्चा कर लेनी चाहिए। पहली धारा पश्चिम से आयी। यह सूफी लोगों की साधना थी। मजहबी मुसलमान हिन्दू धर्म के मर्मस्थान पर चोट नहीं कर पाये थे, वे केवल उसके बाहरी शरीर को विक्षुब्ध कर सकते थे। पर सूफी लोग भारतीय साधना के अविरोधी थे। उनके उदारतापूर्ण प्रेम-मार्ग ने भारतीय जनता का चित्त जीतना आरम्भ किया था। फिर भी ये लोग आचार-प्रधान भारतीय समाज को आकृष्ट नहीं कर सके। उसका सामंजस्य आचार-प्रधान हिन्दूधर्म के साथ नहीं हो सका। यहाँ यह बात स्मरण रखने की है कि न तो सूफी मतवाद और न योगमार्गीय निर्गुण परम-तत्त्व

मुख्य अस्त्र था। यद्यपि वह समाज धार्मिक रूप में वर्जनशील था, पर सामाजिक रूप में ग्रहणशील था, जबकि हिन्दू-समाज धार्मिक रूप में ग्रहणशील होकर भी सामाजिक रूप में वर्जनशील था। हिन्दू-समाज धार्मिक साधना को स्वीकार कर सकता था, पर किसी व्यक्ति-विशेष को धर्म-मत में ग्रहण करने का पक्षपाती नहीं था। उधर मुसलमानी समाज व्यक्ति को अपने धर्म-मत में शामिल कर लेने को परम कर्त्तव्य समझता था; परन्तु किसी विशेष धर्म-साधना को अपने किसी व्यक्ति के लिए एकदम वर्जनीय मानता था। निबन्ध-ग्रन्थों ने हिन्दू को और भी अधिक हिन्दू बना दिया, पर मुसलमानों को आत्मसात् करने का कोई रास्ता नहीं बताया।

इस प्रकार मुसलमानों के आगमन के साथ ही साथ हिन्दू-धर्म प्रधानतः आचार-प्रवण हो गया। तीर्थ, व्रत, उपवास और होमाचार की परम्परा ही उसका केन्द्र-विन्दु हो गयी। इस समय पूर्व और उत्तर में सबसे प्रबल सम्प्रदाय नाथपन्थी योगियों का था। हमने पहले ही देखा है कि ये लोग शास्त्रीय स्मार्त्त-मत को भी नहीं मानते थे और प्रस्थानत्रयी (अर्थात् उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता) पर आधारित किसी दार्शनिक मतवाद के भी कायल नहीं थे। पर जनता का ध्यान ये आकृष्ट कर सके थे। विविध सिद्धियों के द्वारा वे काफी सम्मान और सम्भ्रम के पात्र बन गये थे। ये गुणातीत शिव या निर्गुण-तत्त्व के उपासक थे। पर इनकी उपासना ध्यान और समाधि के द्वारा होती थी। विविध भाँति की शारीरिक साधनाओं के द्वारा, जिन्हें काया-साधन कहते थे, लोग परम-तत्त्व को पाने के प्रयासी थे। इनमें जो सिद्ध, साधक और अवधूत थे वे घरबारी नहीं होते थे, पर इनके शिष्यों में बहुत-से आश्रमभ्रष्ट गृहस्थ थे जो योगी जाति का रूप धारण कर चुके थे। हिन्दूधर्म इन आश्रमभ्रष्ट गृहस्थों का सम्मान तो करता ही न था, उल्टे उन्हें तिरस्कार की दृष्टि से ही देखता था। ये आश्रमभ्रष्ट गृहस्थ न तो हिन्दू थे—क्योंकि वे हिन्दुओं के किसी मत या आचार के कायल न थे—और न मुसलमान—क्योंकि इन्होंने इसलामी धर्म-मत को स्वीकार नहीं कर लिया था। कुछ काल के इसलामी संसर्ग के बाद ये लोग धीरे-धीरे मुसलमानी धर्म-मत की ओर झुकने लगे, पर इनके संस्कार बहुत दिनों तक बने रहे। जब वे इसी प्रक्रिया में से गुजर रहे थे उसी समय कबीर का आविर्भाव हुआ था।

यहाँ दो और प्रधान धार्मिक आन्दोलनों की चर्चा कर लेनी चाहिए। पहली धारा पश्चिम से आयी। यह सूफी लोगों की साधना थी। मजहबी मुसलमान हिन्दू धर्म के मर्मस्थान पर चोट नहीं कर पाये थे, वे केवल उसके बाहरी शरीर को विक्षुब्ध कर सकते थे। पर सूफी लोग भारतीय साधना के अविरोधी थे। उनके उदारतापूर्ण प्रेम-मार्ग ने भारतीय जनता का चित्त जीतना आरम्भ किया था। फिर भी ये लोग आचार-प्रधान भारतीय समाज को आकृष्ट नहीं कर सके। उसका सामंजस्य आचार-प्रधान हिन्दूधर्म के साथ नहीं हो सका। यहाँ यह बात स्मरण रखने की है कि न तो सूफी मतवाद और न योगमार्गीय निर्गुण परम-तत्त्व

ऐसे मत से एकदम पाला नही पड़ा था। उसने कभी यह विश्वास ही नहीं किया कि उसके आचार और मत को न माननेवाली जाति का कुफ्र तोड़ना उसका परम कर्त्तव्य है। किसी और का परम कर्त्तव्य यह बात हो सकती है, यह भी उसे नहीं मालूम था। इसीलिए जब नवीन धर्म-मत ने सारे संसार के कुफ्र को मिटा देने की प्रतिज्ञा की और सभी पाये जानेवाले साधनों का उपयोग आरम्भ किया तो भारतवर्ष इसे ठीक-ठीक समझ ही नहीं सका। इसीलिए कुछ दिनों तक उसकी समन्वयात्मिका बुद्धि कुण्ठित हो गयी। वह विक्षुब्ध-सा हो उठा। परन्तु विधाता को यह कुण्ठा और विक्षोभ पसन्द नहीं था।

ऐसा जान पड़ता है कि पहली बार भारतीय मनीषियों को एक सुबद्ध धर्माचार के पालन की जरूरत महसूस हुई। इसलाम के आने के पहले इस विशाल जनसमूह का कोई एक नाम तक नही था। अब उसका नाम 'हिन्दू' पड़ा। हिन्दू अर्थात् भारतीय, अर्थात् गैर-इसलामी मत। स्पष्ट ही गैर-इसलामी मत में कई तरह के मत थे, कुछ ब्रह्मवादी थे, कुछ कर्मकाण्डी थे, कुछ शैव थे, कुछ वैष्णव थे, कुछ शाक्त थे, कुछ स्मार्त्त थे तथा और भी न जाने क्या-क्या थे। हजारों योजनों तक विस्तृत और हजारों वर्षों में परिव्याप्त इस जनसमूह के विचारों और परम्परा-प्राप्त मतों [illegible]

[illegible]

बीन होने लगी। उद्देश्य था कि इस प्रकार का सर्वसम्मत मत निकाल लिया जा सके, श्राद्ध-विवाह की एक ही रीति-नीति प्रचलित हो सके, उत्सव-समारोह का एक ही विधान तैयार हो सके। भारतीय मनीषा का शास्त्रों को आधार मानकर अपनी सबसे बड़ी समस्या के समाधान का यह सबसे बड़ा प्रयत्न था। हेमाद्रि से लेकर कमलाकर और रघुनन्दन तक बहुतेरे पण्डितों ने बहुत परिश्रम के बाद जो कुछ निर्णय किया वह यद्यपि सर्ववादिसम्मत नहीं हुआ, परन्तु निस्सन्देह स्तूपीभूत शास्त्र-वाक्यों की छानबीन से एक बहुत-कुछ मिलता-जुलता आचार-प्रवण धर्म-मत स्थिर किया जा सका। निबन्ध-ग्रन्थों की यह बहुत बड़ी देन थी। जिस बात को आजकल 'हिन्दू-सोलिडैरिटी' कहते है उसका प्रथम भित्ति-स्थापन इन निबन्ध-ग्रन्थों के द्वारा ही हुआ था। पर समस्या का समाधान इससे नहीं हुआ।

इस प्रयत्न की सबसे बड़ी कमजोरी इसकी आचार-प्रवणता ही थी। जो नया [illegible] कोई

[illegible]

स्वीकार करने का सिद्धान्त काम कर रहा था। समस्त शास्त्रीय वाक्यों को नतशिर से स्वीकार करके ही यह असाध्य साधन किया गया था। पर जिस प्रतिद्वन्द्वी से काम पड़ा था वह बहुत वर्जनाग्रही था, अर्थात् वह निर्दयतापूर्वक अन्यान्य मतों को तहस-नहस करने की दीक्षा ले चुका था और धार्मिक वर्जनशीलता ही उसका

मुख्य अस्त्र था। यद्यपि वह समाज धार्मिक रूप में वर्जनशील था, पर सामाजिक रूप में ग्रहणशील था, जबकि हिन्दू-समाज धार्मिक रूप में ग्रहणशील होकर भी सामाजिक रूप में वर्जनशील था। हिन्दू-समाज धार्मिक साधना को स्वीकार कर सकता था, पर किसी व्यक्ति-विशेष को धर्म-मत में ग्रहण करने का पक्षपाती नहीं था। उधर मुसलमानी समाज व्यक्ति को अपने धर्म-मत में शामिल कर लेने को परम कर्तव्य समझता था; परन्तु किसी विशेष धर्म-साधना को अपने किसी व्यक्ति के लिए एकदम वर्जनीय मानता था। निबन्ध-ग्रन्थों ने हिन्दू को और भी अधिक हिन्दू बना दिया, पर मुसलमानों को आत्मसात् करने का कोई रास्ता नहीं बताया।

इस प्रकार मुसलमानों के आगमन के साथ ही साथ हिन्दू-धर्म प्रधानतः आचार-प्रवण हो गया। तीर्थ, व्रत, उपवास और होमाचार की परम्परा ही उसका केन्द्र-बिन्दु हो गयी। इस समय पूर्व और उत्तर में सबसे प्रबल सम्प्रदाय नाथपन्थी योगियों का था। हमने पहले ही देखा है कि ये लोग शास्त्रीय स्मार्त-मत को भी नहीं मानते थे और प्रस्थानत्रयी (अर्थात् उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता) पर आधारित किसी दार्शनिक मतवाद के भी कायल नहीं थे। पर जनता का ध्यान ये आकृष्ट कर सके थे। विविध सिद्धियों के द्वारा वे काफी सम्मान और सम्भ्रम के पात्र बन गये थे। ये गुणातीत शिव या निर्गुण-तत्त्व के उपासक थे। पर इनकी उपासना ध्यान और समाधि के द्वारा होती थी। विविध भाँति की शारीरिक साधनाओं के द्वारा, जिन्हें काया-साधन कहते थे, लोग परम-तत्त्व को पाने के प्रयासी थे। इनमें जो सिद्ध, साधक और अवधूत थे वे घरबारी नहीं होते थे, पर इनके शिष्यों में बहुत-से आश्रमभ्रष्ट गृहस्थ थे जो योगी जाति का रूप धारण कर चुके थे। हिन्दूधर्म इन आश्रमभ्रष्ट गृहस्थों का सम्मान तो करता ही न था, उलटे उन्हें तिरस्कार की दृष्टि से ही देखता था। ये आश्रमभ्रष्ट गृहस्थ न तो हिन्दू थे—क्योंकि वे हिन्दुओं के किसी मत या आचार के कायल न थे—और न मुसलमान—क्योंकि इन्होंने इसलामी धर्म-मत को स्वीकार नहीं कर लिया था। कुछ काल के इसलामी संसर्ग के बाद ये लोग धीरे-धीरे मुसलमानी धर्म-मत की ओर झुकने लगे, पर इनके संस्कार बहुत दिनों तक बने रहे। जब वे इसी प्रक्रिया में से गुजर रहे थे उसी समय कबीर का आविर्भाव हुआ था।

यहाँ दो और प्रधान धार्मिक आन्दोलनों की चर्चा कर लेनी चाहिए। पहली धारा पश्चिम से आयी। यह सूफी लोगों की साधना थी। मजहबी मुसलमान हिन्दू धर्म के मर्मस्थान पर चोट नहीं कर पाये थे, वे केवल उसके बाहरी शरीर को विक्षुब्ध कर सकते थे। पर सूफी लोग भारतीय साधना के अविरोधी थे। उनके उदारतापूर्ण प्रेम-मार्ग ने भारतीय जनता का चित्त जीतना आरम्भ किया था। फिर भी ये लोग आचार-प्रधान भारतीय समाज को आकृष्ट नहीं कर सके। उसका सामंजस्य आचार-प्रधान हिन्दूधर्म के साथ नहीं हो सका। यहाँ यह बात स्मरण रखने की है कि न तो सूफी मतवाद और न योगमार्गीय निर्गुण परम-तत्त्व

सीमित है, उसकी बुद्धि की दौड़ बहुत मामूली है। परन्तु वे प्रेम से गम्य है 'ज्ञान के अगम्य तुम प्रेम के भिखारी हो।' क्योकि ज्ञान सब मिलाकर हमे हमारी अल्पज्ञता को ही दिखा देता है। पर प्रेम सम्पूर्ण त्रुटियो को भर देता है। पुत्र मे कितनी ही त्रुटियाँ क्यो न हो, माता उसे अपनी छाती से लगा लेती है; क्योकि मातृ-स्नेह सभी कमियो को भर देता है। प्रेमी सम्पूर्ण अभावो को अपने प्रेम से भर देता है, 'जो मिलिये सँग सजन तौ धरक नरक हूँ की न।' क्योकि नरक आखिर कुछ अभावो का ही तो नाम है; दुःख तो सुख का अभाव-मात्र है और अभाव को दूर करने का एकमात्र ब्रह्मास्त्र प्रेम है। दरिद्रता, पीड़ा और अभाव, सब एक ही शब्द के पर्याय है और युग-युगान्तर के कवि और मनीषी अनुभव करके कह गये है कि सम्पूर्ण अभावो को दूर करने की एकमात्र शक्ति प्रेम है—'टूट खाट घर टपकत खटियौ टूट। पिय की बाँह उसिसवाँ सुख की लूट!!' कोई पूछे कि ऐसा क्यो होता है तो इसका भी कोई जवाब नही है। यह भगवान् की माया है। भगवान् के समान ही रहस्यपूर्ण, वैसी ही अनिर्वचनीय। और फिर दुबारा यह प्रश्न हो सकता है, माया क्यों ? क्यो पूर्ण परमात्मा को अपनी सृष्टि के अभाव को दूर करने के लिए इसी विचित्र वस्तु—माया की जरूरत पड़ी ?

इस प्रश्न का उत्तर कठिन है। ज्ञानी इसे भी माया कहता है। विज्ञानी शायद 'इन्स्टिक्ट' कह दे; पर एक नाम दे देने से समस्या हल नही हो जाती। माया है, यह ठीक है। क्योंकि विश्व-जगत् में हम ऐसे-ऐसे रहस्यो को पाते है जो बुद्धि के परे है। हृदय के परे है। वे रहस्य है, माया है। पर 'क्यो है' का कोई उत्तर नही। भक्त इसका उत्तर देता है कि भगवान् परम प्रेममय है और यह सब उनकी लीला है। जो कुछ भी दिखायी दे रहा है, जो कुछ भी घट रहा है और जो कुछ भी घटना सम्भव है, वह सब-कुछ उस परम प्रेममय की लीला है, उसे खेलने में आनन्द मिलता है। वह भक्त की सारी अपूर्णताओ को पूर्ण करता है, इसीलिए वह परम-प्रेम-स्वरूप है। परन्तु भक्त क्यों प्रेम करता है ? क्योकि वह अपने को परिपूर्ण करता है। भगवान् को क्या कमी है जो प्रेम का भिखारी बना रहता है ? भक्त का कहना है कि इसका और कोई कारण नही; यह प्रेम-व्यापार भी एक लीला ही है। लीला क्यों ?—लीला के लिए। लीला के लिए कौन-सी वस्तु ?—लीला ही।—लीला का फल क्या है ?—लीला ही। 'नहि लीलायाः किंचित्प्रयोजन-मस्ति, लीला एव प्रयोजनत्वात्।' जो इस लीला को नही समझता वही भ्रम मे है। लीला भगवान् के आनन्द-स्वरूप का प्रकाश है। उपनिषदो ने बताया है कि आनन्द से भूत-मात्र की उत्पत्ति हुई है। जो कुछ दीख रहा है, जो कुछ घटित और घटमान है वह आनन्द से ही है। अगर यह आनन्द न होता तो उत्पन्न होने पर भी प्राणि-गण जीवित नही रह सकते। आनन्द ही जीवन का आधार है (तैत्तिरीय 3-6)। यदि आकाश के कोने-कोने मे यह आनन्द भरा न होता तो कोई प्राण धारण नही कर सकता था; क्योकि भगवान् आनन्दमय है, रस-स्वरूप है। और फिर भी विशेषता यह कि रस पाकर ही वह आनन्दी होता है। स्वयं रसरूप होकर भी वह

रस का चाहक है, और स्वयं आनन्द-रूप होकर भी वह तब तक आनन्दवान् नहीं होता जब तक उसे रस न मिल जाय। यह विरोधाभास है, पर भक्तों का दावा है कि उन्होंने अनुभव-रूप में साक्षात्कार किया है :

रसो वै स.। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति। को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेव आकाश आनन्दो न स्यात्। (तैत्तिरीय. 2-7)

जो तर्क से इसका अनुसन्धान करना चाहेगा उसके लिए यह बात रहस्य-सी दीखेगी, पर जो प्रेम की दृष्टि से देखेगा उसके लिए इसमें कोई रहस्य नहीं है, कोई असंगति नहीं है और न कोई विरोध ही है। उसके लिए यह भगवान् की लीला है। वह स्वयं इस लीला का जाल पसारे हुए है, इसलिए स्पष्ट ही उसे प्रेम की भूख है। यह पूछना बेकार है कि उसे क्या कमी है जो यह भूख लगी ? क्योंकि यह सब उसकी लीला है। सही इतना ही है कि वह रस पाये बिना आनन्दी नहीं होता—'रसं ह्येवाय लब्ध्वानन्दी भवति।' इसी लीला के लिए प्रेम-भिखारी साईं राह चलते भक्त पर रंग डाल देता है। जो दुनियादार है और जिनकी वृत्तियाँ बहिर्मुखी है वे उस रंग की लीला को अनुभव ही नहीं करते, अपने रास्ते चले जाते है। पर जो अनुभवी है वे व्याकुल हो उठते हैं। उन्हें एक व्याकुल पुकार सुनायी देती है। जैसे प्रियतम ने छेड़खानी करके एक ऐसी पुकार फेंकी है जिसकी चोट सँभालना मुश्किल है। यह पुकार सारे शरीर को वेध डालती है। इसकी कोई औषध नहीं, मन्त्र नहीं, जड़ी नहीं, बूटी नहीं,—बेचारा वैद्य क्या कर सकता है ? इस प्रकार की चोट जिसे लगी वही अभिभूत हो गया। देवता हो या मनुष्य, मुनि हो या राह चलता आदमी, पीर हो या औलिया, एक बार चोट लगने पर अपने को सँभाल रखना कठिन हो जाता है। कबीरदास गवाह है कि साईं के इस रंग का चोट खाया मनुष्य सब रंगों से रँग जाता है और फिर भी इसका रग सब रंगों से न्यारा होता है। स्वयं कबीरदास रँग चुके थे। वे इस अकारण प्रेम-पुकार से घायल हो चुके थे। व्याकुल भाव से सतगुरु के पास इसका उपाय पूछने गये थे :

सतगुरु हो महाराज, मोपैं साईं रंग डारा।
सब्द की चोट लगी मेरे मन में, बेध गया तन सारा।
औषध-मूल कछू नहीं लागैं, का करै बैद बेचारा॥
सुर-नर-मुनिजन पीर-औलिया, कोई न पावे पारा।
साहब कबीर सर्व रँग-रँगिया, सब रँग से रँग न्यारा॥

—शब्दा. 5, पृ. 9

फागुन की ऋतु नजदीक आ जाती है. प्रियतम के रंग डालने से अपने-आपको भूल गया हुआ भक्त व्याकुल भाव से सोचने लगता है—हाय, वह सुख फिर क्या मिल सकेगा ? क्या वह अलबेला साईं फिर मिलेगा ? फिर उसके रग की चोट खाने का सौभाग्य भाग्य में बदा है ? कौन है जो पिया के पास तक पहुँचा सके ? धन्य हैं वे जो प्रिय के साथ एकमेक होकर फाग खेलती हैं, धन्य है वे जो उसकी मनभावती हैं और अभागिन है व[illegible] खीचातानी में ही रह गयी। प्रिय का रूप क्या वर्णन

किया जा सकता है ? प्रेम-दीवानी प्रेमिका उसे अलग से कैसे समझाये ? वह तो उसी मे समा गयी है,—तन्मय हो गयी है। कबीरदास इस फाग-लीला का आनन्द अनुभव कर चुके थे। उनकी गवाही पर हम विश्वास कर सकते हैं कि वह फाग साधारण फाग नहीहै। इस पृथ्वी पर उसकी तुलना मे कोई फाग खड़ा ही नही हो सकता है। वह कहने की चीज नही है, अनुभव करने की चीज है—'अकथ कहानी' है—विरलो के नसीब मे इस परम सुख का अनुभव बदा है :

ऋतु फागुन नियरानी हो,
कोइ पिया से मिलावे ॥
सोई सुदर जाको पिया को ध्यान है,
सोइ पिया की मनमानी,
खेलत फाग अग नहिं मोड़े,
सतगुरु से लिपटानी।
इक इक सखियाँ खेल घर पहुँची,
इक इक कुल अरुझानी।
इक इक नाम विना वहकानी,
हो रही ऐंचातानी ॥
पिय को रूप कहाँ लगि वरनौ,
रूपहिं माहिं समानी।
जो रँग रँगे सकल छवि छाके,
तन-मन सवहि भुलानी।
यों मत जाने यहि रे फाग है,
यह कछु अकथ-कहानी।
कहै कवीर सुनो भाई साधो,
यह गति विरलै जानी ॥

—शब्दा. 22, पृ. 15

यह है लीला। इसका रहस्य समझना कठिन है, क्योकि यह रहस्य का समाधान है। समाधान का समाधान कैसा ? भक्त का दावा है कि यह अनुभव से पायी जाती है। लीला ही लीला का मार्ग है। लीला ही साधन है, लीला ही साध्य है। जो साधक एक बार इसकी मस्ती से वाकिफ हो गया वह आठो पहर मतवाला वना रहता है—नहीं, वह आठों पहर को, सम्पूर्ण काल को निचोडकर उसका रस पीता है। वह आठों पहर मस्ती से मत्त रहता है, ब्रह्म की छौल मे वह जीवन धारण करता है। छौल अर्थात् आनन्द। वह भगवदानन्द की लीला मे ही वास करता है। उसके लिए सत्य को पकडना आसान हो जाता है, क्योकि वह साँच और काँच के ऊपर उठ जाता है। उसका जन्म और मरण का भ्रम भाग जाता है। उसे कोई भय नही होता, दुःख नही होता, वह निर्भय हो जाता है :

आठहूँ पहर मतवाल लागी रहै,
आठहूँ पहर की छाक पीवै।
आठहूँ पहर मस्तान माता रहै,
ब्रह्म की छौल में साध जीवै।
साँच ही कहतु औ साँच ही गहतु है,
काँच को त्याग करि साँच लागा।
कहै कब्बीर यों साध निर्भय हुआ,
जनम और मरन का भ्रम भागा।

—शब्दा., पृ. 103-4

भक्त की भगवान् के साथ यह जो आनन्द-केलि या प्रेम-लीला है, वही मध्य-युग के समस्त भक्तों की साधना का केन्द्र-बिन्दु है। भगवान् के साथ यह रसमय लीला ही भक्त का परम काम्य है—लीला, जिसका कोई प्रयोजन नहीं, फल नहीं, कारण नहीं, आदि नहीं, अन्त नहीं। इसी बात को मध्य-युग के अन्यतम वैष्णव भक्त विश्वनाथ चक्रवर्ती ने कहा था, 'प्रेम ही परम पुरुषार्थ है—प्रेमाः पुमर्थो महान्।' साधारणतः जिनको पुरुषार्थ कहा जाता है वे धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष भक्त के लिए कोई आकर्षण नहीं रखते। और कबीरदास ने इसी बात को और शक्तिशाली ढंग से कहा था :

राता-माता नाम का, पीया प्रेम अघाय।
मतवाला दीदार का, माँगै मुक्ति बलाय॥

—क. वच., पृ. 13

और भक्ति के आदर्श की घोषणा करते हुए द्विधाहीन भाषा में कहा :

भाग बिना नहिं पाइये, प्रेम-प्रीति की भक्त।
बिना प्रेम नहीं भक्ति कछु भक्ति-भर्यो सब जक्त॥
प्रेम बिना जो भक्ति है, सो निज दम्भ-विचार।
उदर भरन के कारने, जनम गँवायो सार॥

—स. क. सा., पृ. 41

परन्तु कबीरदास अपने युग के सगुण-साधना-परायण भक्तों से कुछ भिन्न थे। यद्यपि दोनों की साधना का केन्द्र-बिन्दु यह प्रेम-भक्ति है,—इसे आनन्दकेलि प्रीति, भक्ति, प्रेमलीला आदि जो भी नाम दे दिया जाय,—तथापि एक बात में वे सबसे अलग हो जाते हैं। हमने ऊपर लक्ष्य किया है कि भारतीय मनीषी उन दिनों स्मृति और पुराणग्रन्थों की छानबीन में जुटे हुए थे। उन्होंने प्राचीन भारतीय परम्परा को शिरोधार्य कर लिया था—अर्थात् सब-कुछ मानकर, सबके प्रति आदर का भाव बनाये रहकर अपने चलने का मार्ग तय करना। सगुणोपासक भक्तगण भी सम्पूर्ण रूप से इस पुरानी परम्परा से प्राप्त मनोभाव के पोषक रहे। समस्त शास्त्रों और मुनिजनों को अकुण्ठ चित्त से अपना नेता मानकर उनके वाक्यों की संगति प्रेम-पक्ष में लगाने लगे। इसके लिए उन्हें मामूली परिश्रम नहीं करना पड़ा। समस्त शास्त्रों

का प्रेम-भक्ति-मूलक अर्थ करने में उन्हें नाना अधिकारियों और नाना भजन-शैलियों की आवश्यकता स्वीकार करनी पड़ी, नाना अवस्थाओं और अवसरों की कल्पना करनी पड़ी, शास्त्र-ग्रन्थों के तारतम्य की भी कल्पना करनी पड़ी। सात्त्विक, राजसिक और तामसिक प्रकृति के प्रस्तार से अनन्त प्रकृति के भक्तों और अनन्त प्रणाली के भजनों की कल्पना करनी पड़ी। सबको उन्होंने उचित मर्यादा दी। यद्यपि अन्त तक चलकर उन्हें भागवत महापुराण को ही सर्वप्रधान प्रमाण-ग्रन्थ मानना पड़ा था, पर उन्होंने किसी भी शास्त्र की उपेक्षा या अवहेलना न की। उनकी दृष्टि बराबर भगवान् के परम-प्रेममय रूप और उनकी मनोहारिणी लीला पर निबद्ध रही, पर उन्होंने बड़े धैर्य के साथ अन्यान्य शास्त्रों की संगति लगायी और एक अभूतपूर्व निष्ठा और मर्यादा-प्रेम को समाज में प्रतिष्ठित कराया।

कबीरदास का रास्ता उल्टा था। उन्हें सौभाग्यवश सुयोग भी अच्छा मिला था। जितने प्रकार के संस्कार पड़ने के रास्ते हैं वे प्राय सभी उनके लिए बन्द थे। वे मुसलमान होकर भी असल में मुसलमान नहीं थे, हिन्दू होकर भी हिन्दू नहीं थे, वे साधु होकर भी साधु (=अगृहस्थ) नहीं थे, वे वैष्णव होकर भी वैष्णव नहीं थे, योगी होकर भी योगी नहीं थे। वे कुछ भगवान् की ओर से ही सबसे न्यारे बनाकर भेजे गये थे। वे भगवान् की नृसिंहावतार की मानव-प्रतिमूर्त्ति थे। नृसिंह की भाँति वे नाना असम्भव समझी जानेवाली परिस्थितियों के मिलन-बिन्दु पर अवतीर्ण हुए थे। हिरण्यकशिपु ने वर माँग लिया था कि उसको मार सकनेवाला न मनुष्य हो न पशु; मारे जाने का समय न दिन हो न रात; मारे जाने का स्थान न पृथ्वी हो न आकाश; मार सकनेवाले का हथियार न धातु का हो न पाषाण का—इत्यादि। इसीलिए उसे मार सकना एक असम्भव और आश्चर्यजनक व्यापार था। नृसिंह ने इसीलिए नाना कोटियों के मिलन-बिन्दु को चुना था। असम्भव व्यापार के लिए शायद ऐसी ही परस्पर-विरोधी कोटियों का मिलन-बिन्दु भगवान् को अभीष्ट होता है, कबीरदास ऐसे ही मिलन-बिन्दु पर खड़े थे। जहाँ से एक ओर हिन्दुत्व निकल जाता है और दूसरी ओर मुसलमानत्व, जहाँ एक ओर ज्ञान निकल जाता है, दूसरी ओर अशिक्षा; जहाँ पर एक ओर योगमार्ग निकल जाता है, दूसरी ओर भक्तिमार्ग; जहाँ से एक तरफ निर्गुण भावना निकल जाती है, दूसरी ओर सगुण साधना,—उसी प्रशस्त चौरास्ते पर वे खड़े थे। वे दोनों ओर देख सकते थे और परस्पर-विरुद्ध दिशा में गये हुए मार्गों के दोष-गुण उन्हें स्पष्ट दिखायी दे जाते थे। यह कबीरदास का भगवद्दत्त सौभाग्य था। उन्होंने इसका खूब उपयोग भी किया।

जैसा कि शुरू में ही बताया गया है, कबीरदास ने अपनी प्रेम-भक्तिमूला साधना का अभ्यास एकदम दूसरे किनारे से किया था। यह किनारा सगुण साधकों के किनारे से ठीक उल्टे पड़ता है। सगुण साधकों ने सब-कुछ मान लिया था, कबीर ने सब-कुछ छोड़ दिया था। प्रथम श्रेणी के भक्तों की महिमा उनके अथक परिश्रम और अव्यय धैर्य में है और कबीर की महिमा उसके उत्कट साहस में। उन्होंने सफेद

कागज पर लिखना शुरू किया था। वे उस पाण्डित्य को बेकार समझते थे जो केवल ज्ञान का बोझ ढोना सिखाता है, जो मनुष्य को जड़ बना देता है और भगवान् के प्रेम से वंचित करता है। भगवत्-प्रेम पर उनकी दृष्टि इतनी दृढ़-निबद्ध थी कि इस ढाई अक्षर (प्रेम) को ही वे प्रधान मानते थे :

पढि पढ़ि के पत्थर भया, लिखि लिखि भया जु ईंट।
कहै कबीरा प्रेम की, लगी न एकौ छींट॥
पोथी पढि पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोइ।
ढाई अक्षर प्रेम का, पढ़ै सो पंडित होइ॥

यह प्रेम ही सब-कुछ है, वेद नहीं, शास्त्र नहीं, कुरान नहीं, जप नहीं, माला नहीं, तस्वीह नहीं, मन्दिर नहीं, मस्जिद नहीं, अवतार नहीं, नबी नहीं, पीर नहीं, पैगम्बर नहीं। यह प्रेम समस्त बाह्याचारों की पहुँच के बहुत ऊपर है। समस्त सस्कारों के प्रतिपाद्य से कहीं श्रेष्ठ है। जो कुछ भी इसके रास्ते में खड़ा होता है वह हेय है।

उन्होंने समस्त व्रतों, उपवासों और तीर्थों को एक साथ अस्वीकार कर दिया। इनकी संगति लगाकर और अधिकार-भेद की कल्पना करके इनके लिए भी दुनिया के मान-सम्मान की व्यवस्था कर जाने को उन्होंने बेकार परिश्रम समझा। उन्होंने एक अल्लाह निरंजन निर्लेप के प्रति लगन को ही अपना लक्ष्य घोषित किया। इस लगन या प्रेम का साधन यह प्रेम ही है; और कोई भी मध्यवर्ती साधन उन्होंने स्वीकार नहीं किया। प्रेम ही साध्य है, प्रेम ही साधन— व्रत भी नहीं, मुहर्रम भी नहीं; पूजा भी नहीं, नमाज भी नहीं; हज भी नहीं, तीर्थ भी नहीं :

एक निरंजन अलह मेरा, हिन्दू तुरुक दुहूँ नहिं मेरा।
राखूं व्रत न महरम जांनां, तिसही सुमिरूँ जो रहै निदानां।
पूजा करूँ न निमाज गुजारूँ, एक निराकार हिरदै नमसकारूँ।
नां हज जाऊँ न तीरथ-पूजा, एक पिछाण्या तौ क्या दूजा।
कहै कबीर भरम सब भागा, एक निरंजन-सूं मन लागा।

—क. ग्रं., पद 338

जो ये पीर-पैगम्बर, काजी-मुल्ला, रोजा-नमाज और पश्चिम की भक्ति हैं, ये सभी गलत हैं और वे जो देव और द्विज, एकादशी और दीवाली पूरब की दिशा की भक्ति हैं, वे भी गलत हैं। भला हिन्दुओं के भगवान् तो मन्दिर में रहते हैं और मुसलमानों के खुदा मस्जिद में, पर जहाँ मन्दिर भी नहीं है और मस्जिद भी नहीं है वहाँ किसकी ठकुराई काम कर रही है? कबीरदास ने इन सबको अस्वीकार कर दिया और उन लोगों को भी अस्वीकार कर दिया जो आँख मूंदकर चलना ही पसन्द करते हैं। अपने आत्माराम को ही संगी बनाकर वे निकल पड़े। बोले, 'ओ फकीर, तू अपनी राह चल। मन्दिर में भी मत जा और मस्जिद की ओर भी पग न कर। काहे को टंटे में पड़ता है। तेरे राम-रहीमा केसो-करीमा में तो कोई भेद नहीं है, तेरे लिए तो दोनों एक ही हैं, एकमेवाद्वितीयम्' :

हमारे रांम-रहीम-करीमा, केसौ-अलह-राम सति सोई।
बिसमिल मेटि विसंभर एकै, और न दूजा कोई॥
इनके काजी-मुला पीर-पैगम्वर, रोजा-पछिम-निवाजा।
इनके पूरब-दिसा देव-दिज-पूजा, ग्यारसि-गंग-दिवाजा॥
तुरुक मसीति देहुरै हिन्दू, दुहूंठा रांम खुदाई।
जहाँ मसीति-देहुरा नाही, तहाँ काकी ठकुराई॥
हिंदू-तुरुक दोऊ रह तूटी, फूटी अरु कनराई।
अरध उरध दसहूँ दिस जित तित पूरि रह्या राम राई॥
कहै कवीरा दास फकीरा, अपनी रहि चलि भाई।
हिंदू तुरुक का करता एकै, ता गति लखी ना जाई॥

—क. ग्र., पद 58

परन्तु कवीर यही नही रुके। अगर 'अल्लाह्' शब्द मुस्लिम धर्म का प्रतिनिधित्व करता है और 'राम' शब्द हिन्दू सस्कृति का, तो वे इन दोनो को सलाम कर देने को तैयार है। आखिर कोई-न-कोई शब्द तो व्यवहार करना ही पड़ेगा। पर अगर अरवी-फारसी के शब्द मुस्लिम संस्कृति की और संस्कृत-हिन्दी के शब्द हिन्दू सस्कृति की अवश्य याद दिला देते है, तो कवीरदास इस वुद्धि-भेद को भी पनपने नही देते। ये वेद और कुरान के भी आगे बढ़कर कहते है :

गगन गरजै तहाँ सदा पावस झरै, होत झनकार नित वजत तूरा।
वेद-कत्तेव की गम्म नाही तहाँ, कहै कब्बीर कोई रमै सूरा॥

—शब्दा., पृ. 104

इस प्रकार सव वाहरी धर्माचारों को अस्वीकार करने का अपार साहस लेकर कवीरदास साधना के क्षेत्र मे अवतीर्ण हुए। केवल अस्वीकार करना कोई महत्त्व की वात नहीं है। हर कोई हर किसी को अस्वीकार कर सकता है। पर किसी वड़े लक्ष्य के लिए वाधाओं को अस्वीकार करना सचमुच साहस का काम है। बिना उद्देश्य का विद्रोह विनाशक है, पर साधु उद्देश्य से प्रणोदित विद्रोह शूर का धर्म है। उन्होने अटल विश्वास के साथ अपने प्रेम-मार्ग का प्रतिपादन किया। रूढ़ियों और कुसंस्कारों की विशाल वाहिनी से वह आजीवन जूझते रहे, प्रलोभन और आघात, काम और क्रोध भी उनके मार्ग मे जरूर खड़े हुए होगे, उन्होने उनको असीम साहस के साथ जीता। ज्ञान की तलवार उनका एकमात्र साधन था, इस अद्भुत शमशेर को उन्होने क्षण-भर के लिए भी रुकने नही दिया। वह निरन्तर इकसार बजती रही, पर शील के स्नेह को भी उन्होने नही छोड़ा,—यही उनका कवच था। इन कुसस्कारों, रूढियों और वाह्याचार के जजालो को उन्होने वेदर्दी के साथ काटा। वे सिर हथेली पर लेकर ही अपने भाग्य का सामना करने निकले थे। क्षण-भर के लिए भी उनकी भवें कुंचित नही हुईं, माथे पर वल नहीं पड़ा। वे सच्चे शूर की भाँति जूझते ही रहे :

जीवने यत पूजा हलो न सारा,
जानि हे जानि ताओ हय नि हारा !
ये फुल न फुटिते झरेछे धरणीते
ये नदी मरुपथे हारालो धारा।
जानि हे जानि ताओ हय नि हारा।
जीवने आजो याहा रयेछे पिछे,
जानि हे जानि ताओ हय नि मिछे,
आमार अनागत आमार अनाहत
तोमार वीणा तारे बाजिछे ता'रा।
जानि हे जानि ताओ हय नि हारा।—'गीताजलि'

कबीरदास की साधना भी न तो लोप हो गयी है, न खो गयी है। उनका पक्का विश्वास था कि जिसके साथ भगवान् है और जिसे अपने इष्ट पर अखण्ड विश्वास है उसकी साधना को करोड़-करोड़ काल भी झकझोरकर विचलित नहीं कर सकते·

जाके मन विश्वास है, सदा गुरु है संग।
कोटि काल झकझोरही, तऊ न हो चित भंग॥
—स. क. सा., पृ. 184

भगवत्प्रेम का आदर्श

हमने देखा कि कबीरदास की भक्ति-साधना का केन्द्र-विन्दु प्रेम-लीला है। किन्तु इस लीला का जो स्वरूप कबीरदास ने उपस्थित किया है, वह बहुत व्यापक और विशाल है। भक्ति-रूपी प्रिया के लिए भगवान्-रूपी प्रेमिक ने जो चुनरी सँवार दी है वह मामूली चुनरी नहीं है और उस चुनरी को धारण कर सकने की क्षमता भी मामूली नहीं है। स्वयं प्रिय ही जिस पर प्रसन्न होकर यह चुनरी दे दे वही इसे पा सकता है, वही इसे पहन सकता है—यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः। कैसी है वह चुनरी? अष्टप्रहर-रूपी आठ हाथों की वह बनी है और पंचतत्त्व रूपी पाँच रंगों से रँगी है। समूचा काल उसका उपादान है और समस्त जड़ प्रकृति उसकी प्रकाशिका। काल के महान् उपादान से जो आवरण-पट तैयार हुआ है उसको प्रकाशित करने के लिए पंचतत्त्व ही उपयुक्त रंग है। काल का अनादि-अनन्त प्रवाह सचमुच ही तब तक व्यक्त नहीं हो सकता था जब तक पंचतत्त्वों के द्वारा हम उस पर लकीर खींच-खींचके न देख लें। काल अविभाज्य है, अगणनीय है, अपरिमेय है। ठोस पदार्थों के

द्वारा ही हम उसका विभाग करते है, गणना करते हैं, परिमाप करते है। सूर्य-चन्द्र-तारा-ग्रह-उपग्रह आदि बाह्य वस्तुओं से और मन-बुद्धि आदि अन्त.करण से हम इस अविभाज्य काल का रस ग्रहण करते हैं। इसीलिए काल-रूप सनातन तत्त्व से बनी हुई चुनरी के लिए पंचतत्त्व (और इसीलिए लक्षण से जड़ प्रकृति) ही उपयुक्त रंग है। इस महान् शृंगार-पट के आँचल मे सूर्य, चन्द्र और तारो की जगमग ज्योति का जलना ही उपयुक्त चित्रण-सामग्री है। इस अनादि-अनन्त चुनरी को किसी ने ताने-बाने पर नही बुना—यह सनातन है, चिर नवीन है। पिया ने प्रसन्न होकर जिस प्यारी को यह शृंगार-शाटिका दान की हो, धन्य है वह प्रियतमा, बलिहारी है उस प्रियतम की !

चुनरिया हमरी पिया ने सँवारी,
कोई पहिरै पिय की प्यारी !
आठ हाथ की बनी चुनरिया
पँच रँग पटिया पारी।
चाँद सुरुज जामें आँचल-लागे
जगमग जोति उजारी।
बिनु ताने यह बनी चुनरिया
दास कबीर बलिहारी ॥

यह विशाल परिधेय-पट जिस प्रिय ने दिया है वह अजीब मस्तमौला है। प्रेम उसका सस्ता भी नही है, हल्का भी नहीं है। वह जिसे यह चुनरी देता है उससे बहुत बड़ा मूल्य चुका लेता है। इस चुनरी को पा लेना सौभाग्य की बात है, पर इसको सँभालके रख लेना हिम्मत का काम है। भक्त-गण साक्षी है कि इस महान् दान को जिस व्यक्ति ने हल्का और मुलायम समझा वह हमेशा के लिए गया। भगवान् ने जिस उपहार को प्रेमपूर्वक दिया हो उसे हल्का और मुलायम समझना गलती है। प्रेम जितना ही महान् होगा, उसकी कीमत भी उतनी ही अधिक होगी। यह तो माला नही है, यह उसकी तलवार है। भक्त ने भावुकता के आवेश मे जिसे भगवान् की वरमाला समझा, वह वस्तुतः तलवार निकली ! आग के समान है उसकी आँच, वज्र के समान है भार ! 'हे प्रिय, तुमने कल की सुहागरात को यह क्या रख दिया है ? प्रात.कालीन तरुण प्रकाश ज्यों ही खिड़की के रास्ते तुम्हारी शय्या पर पड़ा त्यों ही मैंने देखा कि यह तो तुम्हारी तलवार है ! चहकते हुए सवेरे के पक्षी ने व्यग्य किया—'नारी, तूने क्या पाया है ?' ना, यह माल्य नही है, नैवेद्य का पात्र नही है, गन्धजल की झारी भी नही है—अरे, यह तो तुम्हारी भयकर तलवार है !':

ए तो माला नय गो, ए ये
तोमार तरवारि।
ज्वले ओठे आगुन येन
वज्र-हेन भारी—

ए ये तोमार तरवारि।
तरुण आलो जानला वेये
पड़लो तोमार शयन-छेये
भोरेर पाखी शुधाय गेये
'की पेलि तुइ नारी।'
नहे ए माला, ए थाला।
गंधजलेर झारी,
ए ये भीषण तरवारि।—रवीन्द्रनाथ : 'खेया'

भक्त हैरान है! इसे ही क्या दान कहते है? हाय, हाय, उसे वह कहाँ छिपा-कर रखे? स्थान कहाँ है? हाय प्यारे, यही क्या तुम्हारा दान है? मै शक्तिहीना नारी, मुझे क्या यह आभूषण शोभेगा? तुम्हारे इस प्रेमोपहार को रखने का एक-मात्र स्थान तो यह कलेजा है, पर वहाँ रखती हूँ तो प्राण व्यथा से काँप उठते है, तो भी हे प्रियतम, तुम्हारे इस दान को मै इसी कलेजे से लगा लूंगी। मैं जान गयी कि तुम जिसे प्यार करते हो उसके लिए फूल की सेज नही देते, दुःख का कँटीला मार्ग दिखा देते हो:

ताइ तो आमि भावि वसे
ए कि तोमार दान?
कोथाय एरे लुकिये राखि
नाइ ये हेन स्थान।
ओ गो ए कि तोमार दान?
शक्तिहीना मरि लाजे
ए भूषण कि आमार साजे?
राखते गेले बुकेर माझे
व्यथा ये पाय प्राण।
तबु आजि वइब बुके
एइ वेदनार मान।
निये तोमारि एइ दान।—रवीन्द्रनाथ : 'खेया'

सो, उस मस्ताने प्रियतम की चुनरी सँभालना भी कठिन काम है। रणरंग का मतवाला सूरा दो-चार क्षण के लिए जूझता है। क्योंकि उसे जो उपहार मिला है, वह स्थूल है, इस उपहार का प्रेम भी स्थूल है। भले वह उपहार राज्य हो, यश हो, मान हो, धन हो। सती का संग्राम एकाध पलक रहता है, वह भी प्रलोभनों से जूझती है, पर जो धर्म उसे उपहार के रूप में मिला है वह सूक्ष्म होने पर भी सासारिक है। परन्तु भक्त का संग्राम दिन-रात का जूझना है, मन और प्राण की बाजी है। जरा-सी वाग ढीली हुई कि वह गिरा। उसका गिरना भी मामूली गिरना नही है, क्योंकि वह आसमान से गिरता है और धरती पर टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर जाता है। इस भयंकर जूझ का कारण यह है कि भक्त को जो प्रेम उपहार मे मिला

है वह बहुत बेशकीमती है। उसका दाम चुकाना मामूली बात नही है। वह फूलों की सेज नही है, कॉटो का जगल है। यह दिन-रात का जूझना, दुःख और विपत्ति मे बढते जाना, किसी विरले का ही काम है :

साध का खेल तो विकट बेढा मती
सती और सूर की चाल आगे।
सूर घमसान है पलक दो चार का
सती घमसान पल एक लागे।
साध संग्राम है रैन-दिन जूझना
देह पर्जन्त का काम भाई।
कहै कब्बीर टुक बाग ढीली करै
उलटि मन गगन सों जगी आई।

—शब्दा., पृ. *108*

तो क्या भगवान् का प्रेम किसी एक व्यक्ति को ही प्राप्त होता है ? और लोग क्या निपट ठूंठे ही है ? नहीं; भला कौन है जिसे प्रियतम ने सनातन काल-तत्त्व की बनी हुई और पंच-तत्त्व की रँगी हुई चुनरी नही दी है ? दी तो है लेकिन सँभालके रख सकनेवाला ही उसका प्रिय है, उस महान् शृंगार-पट का मूल्य समझ सकने-वाला धन्य है। बाकी लोग जो उसे मलिन कर रहे हैं, छिन्न-भिन्न कर रहे हैं, हल्का मान बैठे है, वे दयनीय नही तो क्या है ? प्रियतम तो बराबर पुकार रहा है—शब्द की चोट से बेध रहा है—कौन है जो उसके साथ आनन्द-केलि को निकल पड़ेगा ! चुनरी गन्दी हो गयी है या गन्दी हो रही है, इस बात से मन में पश्चात्ताप भी तो हो ! अरे ओ सुहागिन, साहब जब तुझे अपनायेगा तो तेरी चुनरी का दाग भी मिट जायेगा। क्यों नही तू एक बार उसकी पुकार पर चल पड़ती !—

मोरी चुनरी मे परि गयो दाग पिया।
पाँच तत्त की बनी चुनरिया, सोलह सै बंद लागे जिया।
यह चुनरी मेरे मैके तें आई, ससुरा मे मनुआं खोय दिया।
मलि मलि धोई दाग न छूटै, ग्यान को साबुन लाय पिया।
कहै कबीर दागन छूटिहैं, जब साहेब अपनाय लिया॥

—शब्दा., पृ. *48*

इस प्रकार कबीरदास ने इस प्रेम की लीला को एक बहुत ही वीर्यवती साधना के रूप में देखा है। एक बार जिसे भगवान् की रहस्य-केलि की पुकार सुनायी दे जाती है वह व्याकुल हो उठता है, प्रिय-मिलन के लिए उसकी तड़पन संसार के किसी और विरह-व्यापार से तुलनीय नही हो सकती। चकई का विरह प्रसिद्ध है, पर वह भी तो रात की समाप्ति के बाद प्रिय के साथ आसानी से मिल जाती है। राम का विरह इतना आसान नही है। एक बार जो इस विरह की चपेट में आ गया वह कुछ ऐसा बेहाल हो जाता है कि कहकर प्रकाश करना कठिन है। उसे न

दिन में सुख मिलता है न रात में; न सपने में, न जागरण में; न धूप मे, न छाँह मे। राम-विरह का मारा भक्त हरएक साधक से पूछता रहता है कि वह कहाँ है, उसका प्रियतम किधर है, उसके पास जाने का रास्ता क्या है। वह ठीक उसी विरह में ऊबी विरहणी के समान होता है जो हर एक राहगीर से पूछती रहती है कि उसके प्रियतम कब आयेंगे :

चकवी बिछुरी रैंणि की, आइ मिली परभाति।
जे जन बिछुरे राम से, ते दिन मिलें न राति॥
बासरि सुख ना रैंण सुख, नां सुख सपुनैं माँहि।
कबीर बिछुट्या रामसूं, ना सुख धूप न छाँहि॥
बिरहिन ऊभी पथसिरि, पंथी बूझै धाइ।
एक सबद कहि पीव का, कब रे मिलेंगे आइ॥

— क. ग्र., पृ. 7-8

रवीन्द्रनाथ ने जिसे तलवार कहा है, कबीरदास ने उसी को बाण कहा है। यह बाण जब प्रियतम के कमान से खिंचकर भक्त के कलेजे मे लगता है तो अन्तर छेद देता है, कलेजे को वेध देता है। जब तक यह बाण लग नही जाता तब तक कुछ पता नही चलता और जब एक बार कलेजे में घुस जाता है तो उसकी पीड़ा तक ऐसी मधुर लगती है, कुछ इतनी मनभावनी होती है कि भक्त बार-बार प्रार्थना करता है कि हे प्रिय, इस बाण से फिर छेद दो, फिर इस हृदय-देश को कुरेद डालो। अब तो वह बाण ही जीवन-आधार हो जाता है। उसके बिना भक्त को कल नहीं पड़ती :

कर कमान सर साधि करि, खैंचि जू मार्या माँहि।
भीतरि भिद्या सुमार है, जीवै कि जीवै नाँहि॥
जब हूँ मारा खैंचि करि, तब मैं पाई जाणि।
लागी चोट मरम्म की, कई कलेजा छाँडि॥
जिसि सरि मारी काल्हि, सो सर मेरे मन बस्या।
तिहि सरि अजहूँ मारि, सर बिनु सचु पाऊँ नाही॥

— क. ग्र., पृ. 8-9

परन्तु वह प्रिय बड़ा ही कठोर है, और जैसा कि रवीन्द्रनाथ ने कहा है, 'दुःख की रात का राजा है, अन्धकार-भरे महल का बादशाह है!' उसे सुख और साज पसन्द नहीं; अपनी प्रेयसी के विरह में वह रस लेता है। वह सहज ही नही गलता। जब दुःख की आँधी आती है, तब बिजली की कड़क के साथ वह भक्त प्रेयसी के छिन्न-भिन्न शयन-कन्था पर आ विराजमान होता है। उसका रास्ता दुःख का है; सकट का है, जूझने का है, विपत्ति का है! भोले हैं वे, जो दुःख की इस महिमा को नही समझते। अरे कौन है वहाँ पड़ा हुआ? खोल दे दरवाजा, जल्दी खोल दे। मांगल्य-शंख की गम्भीर ध्वनि से मुखरित कर दे दिगन्त को। घनी काली गहरी रात में अँधेरे घर का बादशाह आया है। देख, आँधी से दिशाएँ समाच्छन्न हैं,

आकाश में बारम्बार वज्र-निनाद हो रहा है, बिजली झलक रही है। खींच ले आ, बिछा दे अपनी फटी गूदड़ी। अचानक दुःख की रात का मेरा राजा आँधी के साथ आ पहुँचा है :

ओरे दुयार खुले दे रे—
बाजा शंख बाजा।
गभीर राते एसेछे आज
आंधार घरेर राजा।
वज्र डाके शून्य तले
विद्युतेर झिलिक झले।
छिन्न शयन टेने एने
आङिना तोर साजा।
झड़ेर साथे हठात् एलो
दुःख-रातेर राजा। —रवीन्द्रनाथ : 'खेया'

सो, कबीरदास का प्रियतम भी 'दुःख का राजा है'। उसका रास्ता देखते-देखते आँखों मे झाई पड़ गयी है, नाम पुकारते-पुकारते जीभ मे छाले पड़ गये है। रात-दिन आँखों से निर्झर झर रहा है, मुख से पपीहे की रट लगी हुई है—विरह-वेदना से सारा शरीर म्लान हो गया है। यह अजब 'दु.ख' है। लोग इसे सासारिक पीड़ा समझते है जो केवल कष्ट देती है, केवल अभाव का प्रतिनिधित्व करती है। लेकिन यह पीड़ा अभाव-जन्य नही है, भाव-स्वरूप है। लोग जिसे दु.ख कहते हैं उससे यह भिन्न है। यह जो परमप्रियतम के लिए रो-रोकर आँखें लाल हो गयी हैं, यह भी एक अनिर्वचनीय आनन्द है--प्रेमकषायित नयनो की अद्भुत खुमारी है। प्रियतम इस दु.ख के मार्ग से आता है, रोदन ही उसका मार्ग है। वह हँसी को पसन्द नही करता, सुख को नही चाहता और इसलिए इस रोदन मे भक्त एक प्रकार का उल्लास अनुभव करता है, क्योंकि यह प्रेमी के मिलन का मार्ग है :

अंखड़ियाँ झाँईं पड़ी, पन्थ निहारि निहारि।
जीभड़ियाँ छाला पड़्या, राम पुकारि पुकारि॥
नैना नीझर लाइया, रहट बसै निस-जाम।
पपीहा ज्यूं पिव पिव करौं, कब रे मिलहुगे राम॥
अंखड़ि प्रेम-कसाइयाँ, लोग जाणें दुःखड़ियाँ।
साँईं अपणें कारणें, रोई रोई रत्तड़ियाँ॥
हँसि हँसि कन्त न पाइये, जिनि पाया तिन रोइ।
जो हँसि हँसि ही हरि मिलै, तो न दुहागिनि कोइ॥
—क. ग्र., पृ. 9

एक बार अगर वह प्रियतम मिल जाय तो भक्त उसे नैनों मे इस प्रकार बन्द कर ले कि न वह और किसी को देख सके और न प्रियतम को ही किसी और के देखने का मौका मिले :

नैना अन्तरि आव तूं, ज्यूं हौं नैन झंपेउं।
नाँ हौ देखौ औरकूं, ना तुझ देखन देउँ ॥—क. ग्र., पृ. 19

कबीरदास के प्रेम के आदर्श सती और शूर हैं। जो प्रेम पद-पद पर भाव-विह्वल कर देता है, मन और बुद्धि का मन्थन कर मनुष्य को परवश बना देता है, तो उत्तम भावावेश प्रेमी को हतचेत बना देता है, वह कबीरदास का अभीष्ट नहीं है। भक्त का संग्राम सूर के संग्राम से भी बढ़कर है, सती के आत्मबलिदान से भी श्रेष्ठ है। परन्तु फिर भी यदि भक्त के आत्मबलिदान की झलक कहीं दिख सकती है तो वह सती और शूर में ही दिखती है :

साधु सती और सूरमाँ इन पटतर कोउ नाहिं।
अगथ-पंथ कौं पग धरै, डिगै तो कहाँ समाहिं ॥ 31 ॥
साधु सती औ सूरमाँ कबहुँ न फेरै पीठ।
तीनों निकसि जो बाहुरै, ताको मुँह मति दीठ ॥ 39 ॥
टूटै बरत अकास सो, कौन कहत है झेल।
साधु सती अरु सूर का, अनी ऊपर खेल ॥ 26 ॥
—स. क. सा., पृ. 220

परन्तु फिर भी,

आगि आँच सहना सुगम
सुगम खड्ग की धार।
नेह निबाहन एकरस
महा कठिन व्यवहार ॥ 61 ॥

यह जो एकरस प्रेम है उसका निबाहना सचमुच कठिन व्यवहार है। एक रस अर्थात् जो भावावेग से उफन न पड़े और विरह-ताप से बैठ न जाय; जो क्षणिक आवेश में ज्ञान और कर्म की मर्यादा न तोड दे और चिर-अभ्यास से जड़ आवर्तन का रूप न ग्रहण कर ले। रवीन्द्रनाथ ने इस बात को बहुत ही कवित्वपूर्ण और मार्मिक भाषा में व्यक्त किया है : "हे नाथ, जो भक्ति तुम्हें लेकर अधीर हो उठती है, क्षणभर में नृत्य-गीत-गाने के रूप में विह्वल हो उठती है, भावोन्माद से मत्त बना देती है, यह ज्ञान को लोप कर देनेवाली (बेहोश कर देनेवाली) उफनती हुई फेनमयी भक्ति की मद-धारा मुझे नहीं चाहिए। हे नाथ, मुझे शान्त भक्तिरूपी स्निग्ध अमृत से भरा हुआ मंगल-कलश दान करो—मंगलकलश, जो संसार के भवन-द्वार पर सुशोभित हो,—जो भक्ति मेरे समस्त जीवन में गूढ़ और गम्भीर भाव से फैल जायेगी, समस्त कर्मों में मुझे बल देगी, और हमारी उन सारी शुभ चेष्टाओं को भी आनन्द और कल्याण से भर देगी जो विफल हो चुकी हैं। यह शान्तरस-भक्ति मुझे सब प्रेमों में तृप्ति देगी, समस्त दुःखों में कल्याण देगी, समस्त सुखों में दाहहीन दीप्ति भर देगी। भावना-वेग के आँसुओं को रोककर मेरा चित्त परिपूर्ण, अमत्त और गम्भीर बना रहेगा"—

ये भक्ति तोमारे लये धैर्य नाहि माने,
मुहूर्ते विह्वल हय नृत्य-गीत-गाने,
भावोन्माद मत्तताय, सेइ ज्ञानहारा
उद्भ्रान्त उच्छलफेन भक्ति-मद-धारा
नाहि चाहि नाथ। दाओ भक्ति शान्तिरस,
स्निग्ध-सुधापूर्ण करि, मंगल कलस
संसार-भवन द्वारे। ये भक्ति-अमृत
समस्त जीवन मोर हइवे विस्तृत
निगूढ गभीर, सर्व कर्मे दिवे बल
व्यर्थ शुभ चेष्टारे ओ करिवे सफल
आनन्दे कल्याण। सर्व प्रेमे दिवे तृप्ति
सर्व दुःखे दिवे क्षेम, सर्व सुखे दीप्ति-
दाहहीन। समारिया भाव-अश्रुनीर
चित्त दवे परिपूर्ण अमत्त गम्भीर। —'नैवेद्य'

सो, कबीरदास का आदर्श भी वही है जो क्षण-भर के भावावेश में उफन नहीं पड़ता। यह प्रेम मृत्यु का प्रेम है, सिर उतारकर ही किसी को इस प्रेम-मन्दिर में बैठने का अधिकार मिलता है। अगम्य है इसका मार्ग, अगाध है इसका विस्तार। यह खाला का घर नहीं है जहाँ मचलने और रोने से ही फरमाइश पूरी हो जाती है :

कबीर यहु घर प्रेम का, खाला का घर नाँहि।
सीस उतारै हाथि करि, सो पैसे घर माँहि॥
कबीर निज घर प्रेम का, मारग अगम-अगाध।
सीस-उतारि पगतलि धरै, तब निकटि प्रेम का स्वाद॥ —क. ग्रं., पृ. 69

और फिर जिस सती ने हाथ में सिंदूर की डिबिया ले ली है, उसे मृत्यु का क्या डर? सिन्दूर की डिबिया अर्थात् अचल सौभाग्य की निशानी। भक्त भी भगवान् के साथ अनन्त मिलन का अभिज्ञान जब पा जाता है तो उसे मृत्यु का कोई डर नहीं रहता। मृत्यु उसके लिए आनन्द है, क्योंकि इसी दरवाजे से 'पूरण परमानन्द' का आगमन होता है। मृत्यु तो सीमा के अन्त का नाम है और सीमा का अन्त पाना ही असीम की गोद में जाना है! इसलिए भक्त मृत्यु की परवा तो करता ही नहीं, उल्टे उसे चाहता है, कब वह दिन आयेगा जब वह मृत्यु के द्वारा इस सीमा को पार कर जायेगा और असीम 'पूरण परमानन्द' में मिल जायेगा :

अब तो ऐसी ह्वै पड़ी, मनकारु चित कीन्ह।
मरनै कहा डराइये, हाथि स्यंधौरा लीन्ह॥
जिस मरनैथें जग डरै, सो मेरे आनन्द।
कब मरिहूँ कब देखिहूँ, पूरण परमानन्द॥
—क. ग्रं., पृ. 69

मृत्यु ? मरना भी कोई चाहेगा ? पर भक्त मरना चाहता है, आत्म-हत्या नहीं। सांसारिक विषयी व्यक्ति आत्म-हत्या करते हैं। मृत्यु तो मैदान में होती है, जौहर से होती है—जहाँ मरनेवाला अपने को बलिदान कर देता है। जो अपने को बलिदान नहीं करता वह रोग-शोक का शिकार हो जाता है। उसकी मृत्यु या तो परवश-मृत्यु है या आत्मघात है। पर जो बलिदान करने को अर्पण कर चुका है, जो सदा सिर हथेली पर लिये हुए है, वह जीता भी है तो मृत्यु का वरण करके। अपना आपा ही तो सीमा है, बन्धन है, जड़ है; उसको त्याग देना और बलिदान कर देना ही मृत्यु है। सो, [illegible] इसी मृत्यु को वरण करने की सलाह देते हैं। मरके मरना तो कोई [illegible] हुआ, जीते जी मर जाओ! अपने-आपको उत्सर्ग कर देना ही [illegible] है।

जाने मे संकोच करती है, पैर उसके थक गये होते है, यदि हिम्मत करके चढ़ने के लिए पैर भी उठाती है तो सीढ़ियो पर ही लड़खड़ा जाती है, अंग-अंग थहरा जाते है, चित्त भय से काँप उठता है—*अनाड़ी नारी इस महीन ऊँचे-सँकरे मार्ग की* थाह ही नही पाती ! और फिर भी यह कैसा मोह है, सद्गुरु के उपदेश से उसका अन्तरपट ज्यो ही खुलता है त्यो ही ऊँचाई गायब हो जाती है, दूरी दूर हो गयी होती है और थकान का पता ही नही रहता ! प्रियतम हृदय मे ही क्रीड़ा करते पाये जाते हैं :

पिया-मिलन की आस रहौं कबलौं खरी।
ऊँचे नहिं चढ़ि जाय मने लज्जा भरी॥
पाँव नही ठहराय चढ़ूँ गिर गिर परूँ।
फिर फिर चढ़हुँ सम्हारि चरन आगे धरूँ॥
अंग अंग थहराय तो केहि विधि डरि रहूँ।
करम-कपट मग घेरि तो भ्रम मे परि रहूँ॥
बारी निपट अनारि तो झीनी गैल है।
अटपट चाल तुम्हार मिलन कस होइ है॥
छोरो कुमति-विकार सुमति गहि लीजिये।
सतगुरु-शब्द सम्हारि चरन चित दीजिये॥
अन्तरपट दे खोल शब्द उर लाव री।
दिल-बिच दास कबीर मिलै तोहि बावरी॥

—क. वच., पृ. 141-2

या फिर वह ऊँचे-रपटीले मार्ग पर व्याकुल भाव से निकल पड़ती है, पाँव डगमगाते रहते है, मन लाज और कुल की मर्यादाओ के भग होने के भय से सशंक बना रहता है, नैहर की बसनेवाली होने के कारण वह नैहर में प्रियसमागम—सो भी *अभिसार की लज्जा नही छोड़ पाती, ऊँचे महल को* देखकर भौचक्का रह जाती है। परन्तु सद्गुरु-रूपी दूती मिलते ही प्रियतम के गले लगना उसके लिए सम्भव हो जाता है :

मिलना कठिन है कैसे, मिलौगी प्रिय जाय।
समझि-सोचि पग धरौं जतन से, बार-बार डिग जाय।
ऊँची गैल राह रपटीली, पाँव नही ठहराय॥
लोक-लाज कुल की मरजादा, देखत मन सकुचाय।
नैहर-वास बसौं पीहर मे, लाज तजी नहिं जाय॥
अधर-भूमि जहँ महल पिया का, हम पै चढ़यो न जाय।
धन भइ बारी पुरुष भये भोना, सुरत झकोरा खाय॥
दूती सतगुरु मिलै बीच मे, दीन्हों भेद बताय।
साहब कबीर पिया सो भेट्यो, सीतल कंठ लगाय॥

—क. वच., पृ. 136-7

और सही बात तो यह है कि उसे नैहर अच्छा लगता ही नहीं। उसके प्रियतम की नगरी—जहाँ दिन-रात मोती बरसते है, जहाँ प्रिय की मधुर मुरली से दिगन्त मुखरित होता रहता है, जहाँ बिना मूल के कमल-पुष्पों और अन्य नाना-विध कुसुमों के सौरभ से वायुमण्डल व्याप्त रहता है—वह नगरी उसको खींचती रहती है। वह अभिसार-यात्रा को निकलने को बाध्य है। चातक जैसे चाँद की ओर टक लगाये रहता है वैसे ही वह उस प्रेममयी नगरी को ताकती ही रह जाती है :

मोतिया बरसे रौरे देसवा दिन-राती।
मुरली-शब्द सुनि मन आनंद भयौ, जोति बरै दिन-राती।
बिना मूल के कमल प्रगट भयौ, फुलवा फुलत भाँति भाँती।
जैसे चकोर चंद्रमा चितवै, जैसे चातक स्वाती॥ इत्यादि।
—शब्दा, पृ. 72

उस परम अद्भुत नगरी के सामने क्या नैहर भा सकता है? कैसी है वह नगरी? परम रमणीय उस अद्भुत नगरी के भीतर कोई पहुँच नहीं पाता। चाँद और सूर्य भी, पवन और पानी भी वहाँ जाने में असमर्थ हैं। इस अगम अगोचर स्थान तक प्रियतम के पास विरह की मारी प्रिया का सन्देश भी तो नहीं कोई पहुँचा सकता! हाय, सखी, कोई उपाय क्यों नहीं सोचती, किस प्रकार उस अजब सासुरे को जाऊँ? लेकिन कबीरदास को निश्चित रूप से मालूम है कि उस नगरी को पहुँचा दे सकनेवाला साथी एक सद्गुरु ही है। वही वहाँ तक प्रिया को पहुँचा सकता है। नहीं तो प्रियतम का मिलन स्वप्न में भी असम्भव ही है :

नैहरवा हमकाँ नहीं भावै।
साईं की नगरी परम अति सुदर, जहाँ कोई जाइ न आवै।
चाँद-सुरुज जहँ पवन न पानी, को सन्देस पहुँचावै?
दरद यह साँई, को सुनावै?
आगे चलौ पन्थ नहीं सूझै, पीछे दोष लगावै।
केहि बिधि ससुरे जाँव मोरी सजनी, बिरहा जोर जनावै।
विषै-रस नाच नचावै।
बिन सतगुरु अपनो नहिं कोई, जो यह राह बतावै।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, सपने न प्रीतम पावै।
तपन यह जिय की बुझावै। —शब्दा., पृ.72

सिर्फ यात्रा के विषय में ही कबीरदास की परिकल्पित भक्ताभिसारिका स्वयं क्रियात्मक प्रयत्न करती हो, यह बात नहीं है। प्रिय के शान्त-स्निग्ध क्रोड में शयन करने का प्रयत्न भी पहले उसी की ओर से होता है—

ए अँखियाँ अलसानी, पिया हो सेज चलो।
खंभ पकरि पतंग अस डोलै, बोलै मधुरी बानी।
फूलन सेज बिछाइ जो राख्यौ, पिया बिना कुम्हलानी।

धीरै पाँव धरौ पलंगा पर, जागत ननँद-जिठानी।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, लोक-लाज बिछलानी॥

—क. वच., पृ. 166

परन्तु रवीन्द्रनाथ की भक्त-प्रेयसी और तरह की है। उसके जीवन-देवता उसके हृदय मे अपनी प्यास बुझाने के लिए आते है :

ओहे अन्तरतम,
मिटेछे कि तव सकल पियास
आसि' अन्तरे मम !

अरी ओ अभागिन, तुझे कैसी नीद आ गयी थी जो प्रियतम के पास आने पर भी जाग नही सकी ! वह निस्तब्ध रात्रि में आया था, हाथ मे उसके वीणा थी, तेरे स्वप्न मे उसने गम्भीर रागिनी बजा दी और तू सोती ही रही ? हाय, जागके देखती हूँ, दक्खिनी हवा को पागल बनाकर उसका सौरभ अन्धकार में व्याप्त होकर प्रवाहित हो रहा है ! हाय, क्यो मेरी रात व्यर्थ चली जाती है, उसे नजदीक पाकर भी नही पा सकती, क्यों उसकी माला का स्पर्श मेरे वक्षःस्थल को नही लगने पाता :

पाशे ऐसे वसेछिल, तबु जागिनि ?
की घूम तोरे पेयेछिल, हतभागिनि ?
एसे छिल नीरव राते, वीणाखानि छिल हाते,
स्वपन माझे बाजिये गेलो, गभीर रागिणी।
जेगे देखि दखिन-हओया पागल करिया।
गंध ताहार भेसे वेड़ाय आँधार भरिया।
केन आमार रजनी याय, काछे पेछे काछे ना पाय
केन गो तार मालार परश, बुके लागेनि। —'गीतांजलि'

"शयन के सिरहाने अभी-अभी प्रदीप बुझा था, जाग उठी थी प्रभातकाल के कोकिल के शब्दों से। अलस चरणो से (चलकर) खिड़की पर आकर बैठी थी, शिथिल केशो में माला धारण की थी। ऐसे ही समय में जबकि रास्ता अरुणधूसर हो उठा था, राजमार्ग पर तरुण पथिक दिखायी दिया। सोने के मुकुट पर उषा का आलोक पड़ रहा था। गले मे सुसज्जित मुक्ता की माला शोभ रही थी। कातर-कण्ठ से पुकारा—'वह कहाँ है, कहाँ है वह ?'—व्यग्र चरणो से मेरे ही द्वार पर उतरकर ! मैं लाज मे मरी जा रही थी, कैसे कहूँ कि 'ऐ बटोही, वह मैं ही हूँ, वही तो मैं हूँ !'

"गोधूलि-वेला थी, तब भी प्रदीप नही जला था, मैं माथे मे सोने की बेंदी पहन रही थी—हाथ मे सोने का दर्पण लेकर खिड़की पर अपने मन से करवीर बाँध रही थी। ऐसे ही समय मे सन्ध्या-धूसर पथ पर वह करुण नयनोंवाला तरुण पथिक रथ से उतरा। फेन और पसीने के कारण घोड़े व्याकुल हो रहे थे। उसके वस्त्रो और भूषणो मे धूल भर गयी थी। कातरकण्ठ से उसने पुकारा—'वह कहाँ है ? वह

कहाँ है ?' क्लान्त चरणों से हमारे ही द्वार पर उतरकर ! हाय, मैं लाज से मरी जा रही थी। कैसे कहती कि 'ऐ थके बटोही, वह मैं ही हूँ, वही तो मैं हूँ।'

"फागुन की रात है। घर में प्रदीप जल रहा है, दक्षिणी हवा के झकोरे छाती पर लग रहे है, यह मुखरा सारिका (मैना) सोने के पिंजड़े में सो रही है, द्वार के सामने द्वारपाल भी सो रहा है। सोहागघर धूप के धुएँ से धूसर हो उठा है। अगुरु की गन्ध से सारा शरीर व्याकुल है, मोर-पंखी कचुकी मैंने पहन ली है। दूर्वा के समान उस श्यामल वक्षःस्थल पर आँचल खींचकर विजन राजमार्ग के उस पार देख रही हूँ। धूल में उतरकर खिड़की के नीचे बैठ गयी हूँ। अकेली बैठी तीन पहर तक उदास भाव से गान गाती रही हूँ—'हताश पथिक, वह मैं ही तो थी, वही तो मैं थी!"

—'भ्रष्ट-लग्न' से अनुवादित

इसी प्रकार "हे सुन्दर, तुम आज प्रात.काल आये थे, अरुणवर्ण का पारिजात तुम्हारे हाथों मे था। सारी नगरी निद्रित थी, रास्ते मे कोई पथिक नही था। तुम अपने सोने के रथ पर अकेले ही चले गये। सिर्फ एक बार रुक मेरी खिड़की की ओर तुमने करुणाभरी आँखों से देखा था—हाँ, सुन्दर, तुम आज प्रात.काल आये थे!"

सुन्दर, तुमि एसेछिले आजि प्राते,
अरुण-वरण पारिजात लये हाते।
निद्रित पुरी, पथिक छिल ना पथे,
एका चलि गेले, तोमार सोनार रथे,
बारेक थामिया मोर वातायनपाने
चेये छिले तव करुण नयन-पाते।
सुन्दर, तुमि एसेछिले आजि प्राते।

—'गीतांजलि'

स्पष्ट ही कबीर और रवीन्द्रनाथ की प्रेम-लीला एक ही प्रकार की होने पर भी दोनो मे मौलिक भेद है। एक की केलि यत्न-साधित है, दूसरे की स्वयंप्राप्त; एक अपने को और अपने पौरुष को भूलकर भी भूलना नही जानता, दूसरा अपने को और अपनी शक्ति को स्मरण रखकर भी भूल जाता है; एक क्रियात्मक है, दूसरा भावनात्मक;' एक का मार्ग साधना का मार्ग है, दूसरे का मार्ग सौन्दर्य का; एक करने में विश्वास करता है, दूसरा होने मे; एक प्रधान रूप से सन्त है, दूसरा कवि। परन्तु दोनो मे प्रिय से मिलने की व्याकुलता है, दोनों का ही प्रियतम के प्रेम पर अखण्ड विश्वास है, दोनो में ही आत्मार्पण का भाव प्रबल है, दोनों ही प्रिय-प्राप्ति को सहज-लभ्य व्यापार नही मानते, दोनो का ही प्रेम हिस्टीरिक प्रेमोन्माद का परिपन्थी है। दोनों ही कठोर साधना और कोमल भक्ति के हामी है। अद्भुत है वह प्रेम, अपूर्व है उसकी ज्योति ! दुःख और द्वन्द्व से परे, भ्रम और भ्रान्ति से अतीत यह एकरस प्रेम ही परम पुरुषार्थ है :

गगन की गुफा तहँ गैब का चाँदना, उदय औ' अस्त का नाम नाही।
दिवस औ' रैन तहँ नेक नहिं पाइये, प्रेम-परकास के सिंधु माही।

सदा आनंद दु.ख-द्वंद्व व्यापै नही, पूरनानंद भरपूर देखा।
मर्म औ' भ्राति तहँ नेक आवै नही, कहै कब्बीर रस एक पेखा।।

—शब्दा., पृ. 105

रूप और अरूप, सीमा और असीम

इस संसार में सब-कुछ चचल है। चलता जा रहा है, चूंकि कुछ भी स्थिर नही है, सब-कुछ गतिशील, परिवर्त्तनीय, है इसीलिए संसार की स्थिति है। यह एक अद्भुत विरोधाभास है, पर है सत्य। समस्त संसरणशील वस्तुओं की अस्थिरता के होते हुए भी यह संसार 'है'। इसका 'है'—भाव ही सूचित करता है कि सब चलमान वस्तुओं के भीतर एक अविचल सत्य प्रतिष्ठित है। "जो लोग अनन्त की साधना करते है और जो सत्य की उपलब्धि करना चाहते है, उन्हे वार-बार यह बात सोचनी होती है कि वे चारों ओर जो कुछ देख और जान रहे है वही चरम सत्य नही है, वह अपने-आपमें स्वतंत्र नही है और किसी भी क्षण वह अपने-आपको पूर्ण रूप से प्रकाश नही कर रहा है। यदि ये वस्तुएँ ऐसी होती तो वे सभी स्वयम्भू-स्वप्रकाश होकर स्थिर हो रहती। पर उनमे एक अन्तहीन गति है, अविराम अस्थिरता है। ये जो अन्तहीन गति के द्वारा अन्तहीन स्थिति को निर्देश कर रहे हैं वही हमारे चित्त का आश्रय और चरम आनन्द है। अतएव, आध्यात्मिक साधना कभी भी रूप की साधना नही हो सकती। यह समस्त रूपों के भीतर से चंचल रूप के बन्धन को अतिक्रम करके, ध्रुव सत्य की ओर चलने की चेष्टा करती है। कोई भी इन्द्रियगोचर वस्तु, जो अपने को ही चरम या स्वतन्त्र समझने का भान करती है, वस्तुतः वैसी नही है। साधना इस भान के आवरण को भेदकर ही परम पदार्थ को देखना चाहती है, यदि नाम-रूप का यह आवरण चिरन्तन होता तो वह भेद नही कर सकती थी। यदि वे अविश्रान्त भाव से नित्य प्रवहमान होकर अपने-आपकी ही सीमा तोड़ते हुए न चलते, तो इन्हे छोड़कर और किसी बात के लिए मनुष्य के मन मे स्थान भी न होता। तब इन्हे ही सत्य समझकर हम निश्चिन्त हो रहते, तब विज्ञान और तत्त्वज्ञान इन सारे अचल प्रत्यक्ष सत्यों की भीषण शृंखला में बँधकर एकदम मूक और मूच्छित हो रहते। इनके पीछे कुछ भी न देख सकते। किन्तु ये सारे खण्ड-वस्तु-समूह केवल चल ही रहे है, कतार बाँधकर खड़े होकर रास्ता नही रोके हुए हैं, इसीलिए हम अखण्ड सत्य का और अक्षय पुरुष का सन्धान पाते हैं।" (रवीन्द्रनाथ)। इसीलिए भक्तजन रूपमात्र के इस निरन्तर गतिशील

पहलू पर बराबर जोर देते रहते है। मध्य-युग मे वैराग्योद्रेक के लिए इस पहलू का अधिक उपयोग किया गया है। कबीर ने भी किया है, पर कबीर का लक्ष्य उस समस्त अस्थिर रूपराशि के भीतर से स्थिर अरूप-तत्त्व की ओर इशारा करना अधिक रहा है। वे दस दिन के लिए अपनी नौवत वजाकर इस नगर और गली को हमेशा के लिए नमस्कार करके चल देनेवालो को उस परमतत्त्व की बार-बार याद दिला देते है जो स्थिर है, शाश्वत है, रूपातीत है :

कबीर नौवत आपणी, दिन दस लेहु बजाइ।
ए पुर-पाटन ए गली, बहुरि न देखै आइ॥ 1॥
जिनके नौवति वाजती, मैगल बँधते बारि।
एकै हरि के नाँव बिन, गये जन्म सब हारि॥ 2॥

—क. ग्रं., पृ. 20

इस विनाश की दुनिया मे एकमात्र अविनाशी तत्त्व राम है। नष्ट होते हुए शरीर को अगर बचा लेना है तो इसी अविनश्वर की शरण जाओ। नही तो इस कच्चे कुम्भ के फूटने मे क्या देर है!––

कबीर यह तन जात है, सकै तो लेह बहोड़ि।
नागे-हाथें ते गये, जिनके लाख-करोड़ि॥ 37॥
यहु तन काचा कुंभ है, चोट चहूँ दिस खाइ।
एक राम के नाँव बिन जदि तदि परलै जाइ॥ 38॥

––क. ग्र., पृ. 24

परन्तु रूप और सीमा चाहे जितनी भी क्यो न हो, हम उनके द्वारा ही अरूप और असीम को पाने की ओर उन्मुख होते हैं। साधक रूप और सीमा की सहायता से उस शाश्वत अरूप और परिव्याप्त असीम को देखता है, जो उसका चरम प्राप्तव्य है। कवि शब्द और अर्थ का सहारा लेकर अरूप रस की ओर उन्मुख होता है, कलाकार रेखा और रंग की सहायता से रूपातीत भाव की अभिव्यंजना करता है, और भक्त भी नाम और रूप की सीढ़ियों से ही उठकर अनाम और अरूप परमतत्त्व की झाँकी पाता है। यह जो रूप है और सीमा है, वह वस्तुत जड़ प्रकृति का ही विकार है। इसी को कबीरदास 'गुण' कहते है। जो वस्तु गुणातीत है वह गुणों में नही है, ऐसा नही कह सकते। यह धोखा है, भ्रम है, जो लोग 'गुण' को 'निर्गुण' का उलटा समझते है। 'गुण' 'निर्गुण' की विरोधी वस्तु नही है। निर्गुण परमात्मा क्या गुणो में नहीं है? यह जो धरती, आकाश, चन्द्र, तारा दिखायी दे रहे है वे क्या त्रिगुणात्मिका प्रकृति के विकार नही है और इसीलिए क्या ये परमात्मा से खाली है? यह हो नही सकता। सो, ये लोग भोले ही है, जो गुण को निर्गुण के बाहर या विरुद्ध मानते है—वस्तुतः गुण से हम निर्गुण का अनुमान करते है। दूसरे शब्दों में, रूप हमें अरूप की ओर उन्मुख कर देता है, सीमा असीम का सन्धान बताती है। गुण और निर्गुण केवल तारतम्य बताने के वास्ते है। जब कहा जाता है कि भगवान् गुणमय नही है तो उसका मतलब यही होता है कि जो रूप

और सीमा हमे दिख रही है वह अरूप और असीम को ठीक-ठीक प्रकट नही कर सकती—भगवान् न तो वह रूप ही है, न उसके समान ही है। वह उससे अतीत है, परे है। 'निर्गुण' कहने से यदि यह अर्थ लिया जाता है कि वह दृश्यमान गुणो से बाहर है या विरुद्ध है, तो भ्रम है, धोखा है :

संतो, धोखा कासूँ कहिये
गुण मैं निरगुंण निरगुंण मे गुण,
वाट छाँड़ि क्यूं वहिये ?
अजरा-अमरा कथैं सव कोई,
कलख न कथणां जाई,
नाहिं स्वरूप, वरण नहिं जाकैं,
घटि घटि रह्यौ समाई ।।
प्यंड-ब्रह्मण्ड छोड़ि जे कथिये,
कहै कवीर हरि सोई ।।

—क. ग्र., पद 180

इसीलिए वह अद्भुत अनुपम रामतत्त्व कहकर वताया नही जा सकता। उसको सगुण-निर्गुण में से किसी भी नाम से पुकार नही सकते, पर न तो वह सगुण वस्तु मे अविद्यमान है और न निर्गुण वस्तु द्वारा असूचयितव्य। वह इन झमेलों से ऊपर है। ससीम-रूपदर्शी बुद्धि उस तत्त्व को नही समझ सकती। उसके मुंह भी नही; माथा भी नही, रूप भी नही और रूपक भी नही। वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है, पुष्प-सौरभ से भी महीन है, वह अनुपम तत्त्व है :

जाकै मुंह माथा नही, नाही रूपक-रूप।
पहुप-वासथैं पातला, ऐसा तत्त अनूप ।। 4 ।।—क. ग्रं., 60

'मुंह और माथा' तो उपलक्षण-मात्र है। वह समस्त रूप और सीमाओ से परे है, वह मन और बुद्धि के भी परे है। उसमे मोह नही, माया-ममता नही। ऐसे ही निर्मम निर्मोही पिया से प्रेम-क्रीड़ा का व्रत भक्तो ने लिया है। ऐसे प्रिय के मिलन की क्या आशा की जा सकती है ! भक्त-रूपी नारी चाहे जैसी भी विरहिणी हो, दिन का भोजन और रात की नीद खो चुकी हो, सहेलियों की रग-केलि और जातिकुल को, धन-सम्पत्ति को छोड़ आयी हो; वनखण्ड मे तपस्या कर चुकी हो और पानी से निकली हुई मछली-सी तड़प रही हो, पर प्रियतम क्यों गलेगा ? वह तो आकार-रूप के परे है, मोह और ममता से ऊपर है, कामना और लालसा के अगम्य है, वह मिलेगा कैसे ? ममताभरी प्रेमसी का निर्मम से मेल क्या, लालसा की आँखों से अलख का लगाव क्या, रूप से अरूप का सामंजस्य क्या ? यह रहस्यमय प्रेम-केलि चल कैसे सकती है ? कबीरदास जवाब मे कहते हैं कि सिर्फ एक ही मार्ग है। तुम्हारे शरीर मे जो जड़ विकार हैं, जो इन्द्रिय, मन और बुद्धि हैं, उनको तुमने गलती से अपना मान लिया है। ये उस निर्मोही की ओर उन्मुख करने के साधन हैं, परन्तु यदि उन्हें ही तुमने उनके मिलने का साधन भी समझा है तो यह भ्रम है।

तुम्हारे इस नाशमान ससीम जड़ विकार के बीच एक स्थिर शाश्वत चेतन है, वह इन्द्रिय, मन और बुद्धि के अगोचर है, वही उस निर्मोही प्रियतम का वास्तविक आकर्षण-स्थान है। निर्मोही प्रियतम को पाना चाहते हो तो शरीर, मन और बुद्धि को अपना स्वरूप समझने के रूप मे जो पर्दा पड़ा हुआ है उसे दूर करो। एक बार इस भ्रम के पर्दे को दूर कर दो तो देखो कि प्रियतम दूर नही है, तुम्हारी रग-रग मे भीना हुआ है। उस भ्रम के पर्दे मे भी है, पर दीखता तब तक नही जब तक तुम उस पर्दे को अपना स्वरूप समझते रहो। भगवान् और भक्त मे अब भेद नही रह सकेगा। युग-युगान्तर से ये दोनो एकमेक होकर रह रहे है।

कैसे जीवेगी विरहिनी
पिया बिन कीजै कौन उपाय।
दिवस न भूक रैनि नही सुख है,
जैसे कलियुग जाम (?)
खेलति फाग छाँड़ि चलु सुन्दर
तजु चलु धन औ धाम॥
वन खँड जाय नाम लै लावौ
मिलि पिय से सुख पाय।
तलफत मीन बिना जल जैसे
दरसन लीजै धाय।
बिन आकार रूप नहि रेखा
कौन मिलेगी आय।
अपना पुरुष समुझि ले सुन्दरि
देखो तन निरताप।
सब्द सरूपी जिव पिव बूझौ
छाँड़ो भ्रम की टेक।
कहै कबीर और नहिं दूजा
जुग जुग हम तुम एक॥

—शब्दा., पृ. 10-11

यही कारण है कि कबीरदास ने कामना और लालसा के त्याग को भक्ति की आवश्यक शर्त रखा है। जब भगवान् लालसा और कामना की पहुँच के बाहर ही है तो क्यों न पहले कामना और लालसा को खत्म किया जाय? जब तक मन मे कही भी कामना है, तब तक शरीर और मन के प्रति आत्माभिमान का भ्रम है। यह भ्रम और भक्ति एक साथ नही रह सकती। सो, कबीरदास पुकार-पुकारकर कह गये कि सकामता का भ्रम छोड़कर ही भक्ति के मैदान में आओ :

और कर्म सब कर्म है, भक्ति कर्म निष्कर्म।
कहै कबीर पुकारिकै, भक्ति करो तजि भर्म॥

—क. वच., पृ. 11

निष्कर्म अर्थात् निष्काम। निष्काम भाव से ही भक्ति हो सकती है, क्योंकि जिस देवता की भक्ति करनी है वह स्वयं निष्काम है :

जब लगि भगति सकामता, तब लगि निर्फल सेव।
कहे कबीर वै क्यूं मिलै, निहकामी निज देव॥

फिर एक बार समस्त कामनाओं का विसर्जन कर जब भक्ति-रूपी सुन्दरी अपने निर्गुण प्रियतम का दर्शन पाती है तो जो अद्भुत कौतुक उसे दिखायी देता है, वह कहकर समझने की बात नहीं है। वह प्रियतम समस्त काल की सीमाओं के परे है इसलिए अनन्त है, समस्त देश के परे है इसलिए असीम है। सो उस अनन्त का प्रकाश अपरम्पार है, सुन्दरी कुतूहल-विस्फारित नयनों से उस अपूर्व तेज को देखती है, मानो कोटि-कोटि सूर्यों की सेना खड़ी हो। वहाँ पाप नहीं, पुण्य नहीं, कर्म नहीं, आचार नहीं, केवल अपरिमेय ज्योति का प्रकाश, अगम्य अगोचर तेज की झिलमिल ज्योति है। ऐसे तेजोमय अद्भुत लोक में प्रवेश करते ही भक्त भी हद छोड़कर बेहद हो जाता है, अपने स्वधर्म और स्वभाव में प्रतिष्ठित हो जाता है :

कबीर तेज अनंत का, मानो उगी सूरज सेणि।
पति सँग जागी सुन्दरी, कौतिग दीठा तेणि॥
पारब्रह्म के तेज का, कैसा है उनमान।
कहिबेकूं सोभा नहीं, देख्या ही परमान॥
अगम अगोचर गमि नहीं, तहाँ जगमगै ज्योति।
जहाँ कबीर बन्दगी, (तहाँ) पापपुन्य नहीं छोति॥

और,

हदै छांड़ि बेहद गया, हुआ निरन्तर बास।
कँवल जु फूल्या फूल बिन, को निरषै निज दास॥

—क. ग्रं., पृ. 12

जहाँ अनन्त कोटि सूर्य सतत् प्रकाशमान हैं, वहाँ केवल ज्योति का ही निर्झर झर रहा है। उस स्थान पर अगर बिना फूले ही कमल फूलता रहे तो आश्चर्य क्या है! फूलने पर कमल के खिलने का तो हिसाब वहाँ है जहाँ रोज अन्धकार आता है और कमल को अनफूला कर जाता है। पर जहाँ सूर्यों की सेना खड़ी हो वहाँ कमल का संकोच कैसा! सो, यह कमल निरन्तर खिला रहता है। पिण्ड में यही कमल शून्य या सहस्रार-चक्र है और ब्रह्माण्ड में सर्वतोव्याप्त महा-आकाश! यही परम अवकाश हद छोड़कर बेहद होने का उपयुक्त स्थान है। एक बार पिण्डस्थित आकाश (शून्य) में जब भक्त पहुँच जाता है—जब इस विशाल शून्य में स्नान करता है—तो प्रियतम के उस क्रीड़ा-हर्म्य में पहुँचता है, जो सिर्फ योग और तप साधनेवाले मुनियों को दुर्लभ है। यह प्रेम-लोक देवताओं को भी दुर्लभ है, क्योंकि वे कर्म के उपासक हैं; मुनियों को अगम्य है, क्योंकि कबीरदास उन्हें योगमार्ग के पथिक मानते थे; पीर-औलियों को भी दुर्लभ है, क्योंकि उनका मार्ग अल्लाह और राम की भेद-बुद्धि का है; सबकी पहुँच के बाहर जो प्रेम-लोक है वहाँ केवल

भक्त को ही प्रवेश पाने का अधिकार है—भक्त जो राम-नाम का छका हुआ है :

सुर-नर मुनिजन-औलिया, ए सब बेलैं तीर।
अलह-राम का गम नही, तहँ घर किया कबीर।

—स. क. सा., पृ 64

हद्द छाँड़ि बेहद गया, किया सुन्नि असनान।
मुनिजन महल न पावईं तहाँ किया बिश्राम।।
पिंजर प्रेम प्रकासिया, जाग्या जोत अनत।
संसा खूटा सुख भया, मिल्या पियारा कन्त।।

—क ग्र, पृ 13

परन्तु इस दुनिया की छोटी-मोटी रूपात्मक कल्पनाओं के आधार पर हम इस अनन्त तेज पुंज लोक का अनुमान भी नही कर सकते। साधारण मनुष्य उस पर्दा-नशीन नववधू की भाँति है जो आधी खुली खिड़की पर खडी हुई घूँघट के भीतर से संसार को देख रही है। उसके सामनेवाले रास्ते पर लोग आते रहते है, पर वह उसका कुछ भी उद्देश्य नही समझ पाती, क्योंकि सम्पूर्ण देखने का उसे अभ्यास नही है। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इस भाव को अपनी एक कविता मे मार्मिकता के साथ प्रकट किया है :

"तुम आधी खुली खिड़की के किनारे खड़ी हो। नयी बहू हो क्या? शायद तुम चूड़ीवाले के इन्तजार में हो कि तुम्हारे द्वार पर आयेगा। तुम सामने देख रही हो कि बैलगाड़ी धूल उड़ाती हुई चली जाती है, भरी नौकाएँ हवा के जोर से पालों के सहारे बही जा रही है। मैं सोच रहा हूँ कि इस आधी खुली खिड़की पर घूँघट की छाया से ढकी हुई तुम्हारी आँखों को यह विश्व कैसा दिख रहा होगा। निश्चय ही यह छायामय भुवन तुमने स्वप्नों (कल्पनाओं) से गढा होगा, शायद किसी नानी के मुँह से सुनी हुई परियों की कहानी के साँचे मे वह ढला होगा—जिसकी लोरियों की बनी कहानी का न आदि है, न अन्त है।

"मैं सोच रहा हूँ कि हठात् यदि एक दिन बैशाख के महीने मे आँधी के झोंकों से नदी लाज-शर्म छोड़कर बन्धनहीन सूने आसमान मे नाच उठे, यदि उसका पागलपन जाग पड़े और फिर उस आँधी के झोंको से तुम्हारे घर की सभी जजीरें खुल जायँ और तुम्हारी आँखों पर गिरा हुआ घूँघट भी उड जाय और फिर यह सारा जगत् विद्युत् की हँसी हँस एक क्षण मे शक्ति का वेश धारण करके तुम्हारे घर मे घुस पड़े और आमने-सामने खड़ा हो जाय, तो फिर कहाँ रहेगी यह आधे ढँके हुए अलस दिवस की छाया, वह खिड़कीवाली दृश्यावली और सपनों-सनी अपनी कल्पना से गढ़ी हुई माया?—सभी उड़ जायेंगे।

"सोचता हूँ कि उस समय तुम्हारी घूँघट-रहित काली आँखों के कोने मे न जाने किसका प्रकाश काँपेगा, अपने-आपमे खोये हुए प्राणों के आनन्द मे अच्छा और बुरा सब-कुछ डूब जायगा और तुम्हारे वक्ष.स्थल मे रक्त की तरंगिनी उत्ताल नर्तन मे नाच उठेगी। फिर तुम्हारे शरीर मे तुम्हारी यह कंकण और किंकिणी

निष्कर्म अर्थात् निष्काम। निष्काम भाव से ही भक्ति हो सकती है, क्योंकि जिस देवता की भक्ति करनी है वह स्वयं निष्काम है :

जब लगि भगति सकामतां, तब लगि निर्फल सेव।
कहे कबीर वै क्यूं मिलै, निहकांमी निज देव॥

फिर एक बार समस्त कामनाओं का विसर्जन कर जब भक्ति-रूपी सुन्दरी अपने निर्गुण प्रियतम का दर्शन पाती है तो जो अद्भुत कौतुक उसे दिखायी देता है, वह कहकर समझने की बात नहीं है। वह प्रियतम समस्त काल की सीमाओं के परे है इसलिए अनन्त है, समस्त देश के परे है इसलिए असीम है। सो उस अनन्त का प्रकाश अपरम्पार है, सुन्दरी कुतूहल-विस्फारित नयनों से उस अपूर्व तेज को देखती है, मानो कोटि-कोटि सूर्यों की सेना खड़ी हो। वहां पाप नहीं, पुण्य नहीं, कर्म नहीं, आचार नहीं, केवल अपरिमेय ज्योति का प्रकाश, अगम्य अगोचर तेज की झिलमिल ज्योति है। ऐसे तेजोमय अद्भुत लोक में प्रवेश करते ही भक्त भी हद छोड़कर बेहद हो जाता है, अपने स्वधर्म और स्वभाव में प्रतिष्ठित हो जाता है :

कबीर तेज अनंत का, मानौं उगी सूरज सेणि।
पति सँग जागी सुन्दरी, कौतिग दीठा तेणि॥
पारब्रह्म के तेज का, कैसा है उनमान।
कहिबेकूं सोभा नहीं, देख्या ही परमान॥
अगम अगोचर गमि नहीं, तहां जगमगै ज्योति।
जहां कबीर बन्दगी, (तहां) पापपुन्य नहीं छोति॥

और,

हदै छांड़ि बेहद गया, हुआ निरन्तर वास।
कँवल जु फूल्या फूल बिन, को निरपै निज दास॥

—क. ग्रं., पृ. 12

जहां अनन्त कोटि सूर्य सतत् प्रकाशमान है, वहां केवल ज्योति का ही निर्झर झर रहा है। उस स्थान पर अगर बिना फूले ही कमल फूलता रहे तो आश्चर्य क्या है! फूलने पर कमल के खिलने का तो हिसाब वहां है जहां रोज अन्धकार आता है और कमल को अनफूला कर जाता है। पर जहां सूर्यों की सेना खड़ी हो वहां कमल का संकोच कैसा! सो, यह कमल निरन्तर खिला रहता है। पिण्ड में यही कमल शून्य या सहस्रार-चक्र है और ब्रह्माण्ड में सर्वतोव्याप्त महा-आकाश! यही परम अवकाश हद छोड़कर बेहद होने का उपयुक्त स्थान है। एक बार पिण्डस्थित आकाश (शून्य) में जब भक्त पहुँच जाता है—जब इस विशाल शून्य में स्नान करता है—तो प्रियतम के उस क्रीड़ा-हर्म्य में पहुँचता है, जो सिर्फ योग और तप साधनेवाले मुनियों को दुर्लभ है। यह प्रेम-लोक देवताओं को भी दुर्लभ है, क्योंकि वे कर्म के उपासक हैं; मुनियों को अगम्य है, क्योंकि कबीरदास उन्हें योगमार्ग के पथिक मानते थे; पीर-औलियों को भी दुर्लभ है, क्योंकि उनका मार्ग अल्लाह और राम की भेद-बुद्धि का है; सबको पहुँच के बाहर जो प्रेम-लोक है वहां केवल

भक्त को ही प्रवेश पाने का अधिकार है—भक्त जो राम-नाम का छका हुआ है :

सुर-नर मुनिजन-औलिया, ए सब वेलैं तीर।
अलह-राम का गम नही, तहँ घर किया कबीर।

—स. क. सा., पृ. 64

हद्द छाँडि बेहद गया, किया सुन्नि असनान।
मुनिजन महल न पावइँ तहाँ किया विश्राम।।
पिंजर प्रेम प्रकासिया, जाग्या जोत अनत।
संसा खूटा सुख भया, मिल्या पियारा कन्त।।

—क. ग्रं., पृ. 13

परन्तु इस दुनिया की छोटी-मोटी रूपात्मक कल्पनाओं के आधार पर हम इस अनन्त तेज.पुंज लोक का अनुमान भी नही कर सकते। साधारण मनुष्य उस पर्दा-नशीन नववधू की भाँति है जो आधी खुली खिड़की पर खडी हुई घूँघट के भीतर से संसार को देख रही है। उसके सामनेवाले रास्ते पर लोग आते रहते है, पर वह उसका कुछ भी उद्देश्य नही समझ पाती, क्योंकि सम्पूर्ण देखने का उसे अभ्यास नही है। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इस भाव को अपनी एक कविता मे मार्मिकता के साथ प्रकट किया है·

"तुम आधी खुली खिड़की के किनारे खडी हो। नयी वहू हो क्या ? शायद तुम चूड़ीवाले के इन्तजार में हो कि तुम्हारे द्वार पर आयेगा। तुम सामने देख रही हो कि बैलगाड़ी धूल उड़ाती हुई चली जाती है, भरी नौकाएँ हवा के जोर से पालों के सहारे वही जा रही है। मैं सोच रहा हूँ कि इस आधी खुली खिड़की पर घूँघट की छाया से ढकी हुई तुम्हारी आँखो को यह विश्व कैसा दिख रहा होगा। निश्चय ही यह छायामय भुवन तुमने स्वप्नों (कल्पनाओं) से गढा होगा, शायद किसी नानी के मुँह से सुनी हुई परियों की कहानी के साँचे मे वह ढला होगा—जिसकी लोरियों की बनी कहानी का न आदि है, न अन्त है।

"मैं सोच रहा हूँ कि हठात् यदि एक दिन वैशाख के महीने मे आँधी के झोंको से नदी लाज-शर्म छोड़कर बन्धनहीन सूने आसमान मे नाच उठे, यदि उसका पागलपन जाग पड़े और फिर उस आँधी के झोंको से तुम्हारे घर की सभी जंजीरे खुल जायँ और तुम्हारी आँखों पर गिरा हुआ घूँघट भी उड़ जाय और फिर यह सारा जगत् विद्युत् की हँसी हँस एक क्षण मे शक्ति का वेश धारण करके तुम्हारे घर मे घुस पड़े और आमने-सामने खड़ा हो जाय, तो फिर कहाँ रहेगी यह आधे ढँके हुए अलस दिवस की छाया, वह खिड़कीवाली दृश्यावली और सपनो-सनी अपनी कल्पना से गढ़ी हुई माया ?—सभी उड जायेंगे।

"सोचता हूँ कि उस समय तुम्हारी घूँघट-रहित काली आँखों के कोने मे न जाने किसका प्रकाश काँपेगा, अपने-आपमे खोये हुए प्राणो के आनन्द मे अच्छा और बुरा सब-कुछ डूब जायगा और तुम्हारे वक्ष.स्थल मे रक्त की तरंगिनी उत्ताल नर्तन से नाच उठेगी। फिर तुम्हारे शरीर में तुम्हारी यह कंकण और किंकिणी

अपने चंचल कम्पनों से कौन-सा सुर बजा देंगी ! आज तुम अपने को आधी ढँकी रखकर, घर के एक कोने में खड़ी होकर न जाने किस माया के साथ इस जगत् को देख रही हो ?—मैं मन-ही-मन यही सोच रहा हूँ। तुम्हारे रास्ते में आज जो आवागमन चल रहा है वह निरर्थक खेल-सा लग रहा है, छोटे दिन के कामों की छोटी-छोटी हँसियाँ और रुलाइयाँ न जाने कितनी उठती हैं और विलीन हो जाती हैं ! मन-ही-मन यही सोच रहा हूँ।" —'खेया'

यह जो कल्पना के गढ़े हुए रूप-जगत् का व्यापार है, वह तब तक हमारी दृष्टि को रोके हुए है जब तक अनन्त सत्य का प्रकाश एकाएक आकर उसे छिन्न-भिन्न नहीं कर जाता। जिस दिन छिन्न-भिन्न कर जायगा उस दिन, कबीरदास गवाह है कि, जो दृश्य दिखायी देगा वह एकदम विचित्र होगा। न वहाँ धरती होगी, न गगन; न पानी, न पवन; न तिथि, न वार; न चाँद, न सूर्य; न हाट, न बाट—सबसे परे, सबसे विचित्र। वहाँ काल का बन्धन नहीं है, भूत-भविष्य का भेद नहीं है। जिसे हम लाख युग पहल की बात कहते हैं वह वहाँ प्रत्यक्ष है, जिसे हम कोटि कल्प बाद की बात कहेंगे वह वहाँ विद्यमान है; क्योंकि वहाँ अनन्त स्थिति है, शाश्वत सत्ता है। हमारी आँखें क्षणिक और चलमान जगत् की परिभाषा इनमें ही देखने की अभ्यस्त हैं। उस अनन्त स्थितिशील देश-काल-व्यवच्छेद के अतीत परम प्रकाशमय लोक को हम क्या समझेंगे ?—

चाँद नहीं, सूरज नहीं, हता न वो ओकार।
तहाँ कबीरा रामजन, को जाने संसार॥
धरती-गगन-पवनै नहीं, होत नहीं तिथि-वार।
तब हरि के हरिजन हुतै, कहै कबीर बिचार॥
जा दिन किरतम सा हता, नहीं हाट नहिं बाट।
हता कबीरा सन्त-जन, (जिन) देखा औघट घाट॥
नहीं हाट नहिं बाट है, नहिं धरती नहिं धीर।
असंख्य युग परले गया, तब ही कहै कबीर॥
पवन नहीं, पानी नहीं, नहिं धरती आकास।
एक निरंजनदेव का, कबिरा दास-खवास॥

—स. क. सा., पृ. 63-4

उस देश का सब-कुछ विचित्र है। वह देश जहाँ बारह महीने वसन्त है, जहाँ प्रेम का निर्झर झरता रहता है, जहाँ अनन्त ज्योतिपुंज से महा-अमृत बरसता रहता है, जहाँ जाति-कुल-वर्ण का विशेषत्व नहीं, जहाँ आकाश और धरती में अन्तर नहीं, जहाँ परब्रह्म की आनन्द-केलि निरन्तर चल रही है, जहाँ अगम्य का दीपक बिना बाती और तेल के ही जल रहा है। अपूर्व है वह देश ! कबीर उसी देश के वासी थे :

हम वासी उस देस के, जहाँ बारह मास विलास।
प्रेम झरै बिकसै कँवल, तेजपुंज परकास॥

हम वासी उस देश के, जहवाँ नहि मास बसन्त।
नीझर झरै महा अमी, भीजत है सब सन्त॥
हम वासी उस देश के, जहाँ जाति-बरन-कुल नाहि।
सब्द मिलावा होय रहा, देह मिलावा नाहि॥
हम वासी वा देश के, जहाँ पारब्रह्म का खेल।
दीपक जरै अगम्य का, बिन बाती बिन तेल॥

—स. क. सा., पृ. 64-5

यह कुछ उस प्रकार का देश है जिसे रवीन्द्रनाथ ने 'सब-पाया-है-का देश' कहा है। जहाँ दूर का राही एक रात के लिए आकर देख ही नही पाता कि इस 'सब-पा-लिया-है-के देश' मे क्या है।

एक रजनीर तरे हेथा, दूरेर पाथ एसे,
देखते ना पाय, कि आछे, एइ सब पेयेछिर देशे? —'खेया'

कबीर ने बताया है कि उस परिपूर्ण देश मे शब्द-मिलावा हो रहा है—केवल-भावरूप मे मिलन हो रहा है, देहरूप मे नही—'शब्द-मिलावा होय रहा, देह मिलावा नाहि।' क्योकि जड़ ससीम देह उस अनन्त भाव-लोक को बर्दाश्त नही कर सकती। प्रश्न है कि वहाँ जाकर क्या भक्त उस अनन्त ज्योति और अनन्त प्रेम मे लोप हो जाता है? क्या वह भी चिन्मय ब्रह्म मे विलय हो जाता है? कबीरदास ऐसे अद्वैत-भाव मे विश्वास नही करते। मिलन होगा यह ठीक है, पर भक्तजन वहाँ फिर भी साक्षी रूप से वर्त्तमान रहेगे। वे दो नही होकर रहेगे, भगवान् से एकमेक होकर मिल जायेगे; परन्तु उस मिलन के आनन्द को अनुभव करते रहेगे। यह कैसे सम्भव है? क्या एकमेक और पृथक् सत्ता दोनो सम्भव है? लौकिक दृष्टि से जो बातें असम्भव दिखती है ऐसी बहुतेरी बातें भगवान् के विषय मे सम्भव है। फिर इसी 'द्वैताद्वैत-विलक्षण' भाव को हम कैसे असम्भव माने? कबीर साक्षी है कि गगन मे गहरे गम्भीर मेघ गरजते रहते है, अमृत की झड़ी लगी होती है और सन्तजन सिहर-सिहरकर इस आनन्द-रस की वर्षा मे भीजते रहते है, उस अनन्त की ज्योति छलकती रहती होती है और परम प्रेम के आनन्द-निकेतन मे गुरु की कृपावाले सन्तजन पहुँच जाते है। (अवश्य ही, निगुरों की गति वहाँ नही है)—

गगन गरजै बरषै अमी बादल गहर गम्भीर।
चहुँ दिसि दमके दामिनी, भीजै दास कबीर॥
गगन मडल के बीच मे, तहवाँ छलकै नूर।
निगुरा महल न पावई, पहुचेंगे गुरु पूर॥

—स. क. सा, पृ. 62

गगन गरजि अंमृत चवै, कदली-कँवल-प्रकास।
तहाँ कबीरा बन्दगी, कै कोई निज दास॥

—क. ग्रं., पृ. 15

कबीरदास का यह असीम प्रियतम का प्रेम साधना के साहित्य में अपूर्व है। हद के जीव का बेहद के प्रिय से मिलन में एक ऐसा अलौकिक रस है जो अनुभव द्वारा ही जाना जा सकता है। असीम की सीमा के लिए व्याकुलता का प्रमाण यह सारा विश्व है। अगर असीम अपने-आपमें ही सन्तुष्ट होता तो यह सीमा का सर्जन निरर्थक है। भक्त कबीर ने इस इतने बड़े विश्व-व्यापार को निरर्थक नहीं समझा। उन्होंने उसे इस असीम प्रियतम की लीला का उन्मेषयिता माना है। सीमा मानो उस असीम की ओर उठी हुई उँगली है। वह असीम का पथ बताती है, पर स्वयं उसी को असीम नहीं माना जा सकता। इसीलिए प्रेम तो ससीम का ही ठीक है, सीमा के प्रति आसक्त जीव उस पीव को नहीं पा सकता :

बेहद अगाधी पीव है, ये सब हद के जीव।
जो नर राते हद्द सों, ते कदी न पावें पीव॥
हममे पीव न पाइये, बेहद में भरपूर।
हम बेहद की गम लखै, तासो पीव हजूर॥

—स. क. सा., पृ. 262

कबीरदास ने इसीलिए सीमा को छोड़कर असीम का प्रेम किया था। उस असीम-रूपी अनन्त अवकाशवान मैदान में वे पैर फैलाकर सो रहे थे :

हद्द छांड़ि बेहद गया, रहा निरन्तर होय।
बेहद के मैदान में, रहा कबीरा सोय॥

—स. क. सा., पृ. 263

पैर फैलाकर सोने लायक अवकाश सीमाओं और बन्धनों से भरी दुनिया में और कहाँ मिल सकता है? कविवर रवीन्द्रनाथ अपनी 'सब-पा-लिया-है-के देश' वाली कविता में भी उल्लसित भाव से कहते हैं, "अहा, इस 'सब-पा-लिया-है-के देश' के रास्ते में ठेलमठेल और धक्का-मुक्की नहीं है और बाजार में यहाँ शोर-गुल नहीं है। अरे ओ कवि, यहीं तू अपनी कुटी बना ले। रास्ते की धूल यहीं झाड़ दे, बोझा उतार दे, अपने सितार के तार ठीक कर ले और अपनी सारी खोज यहीं बन्द कर दे (क्योंकि तू अब अपने गन्तव्य पर पहुँच चुका है)। आज साँझ को यहीं पैर फैलाकर बैठ जा—यहीं इस तारा-भरे आकाश के नीचे 'सब-पा-लिया-है-के देश में'।"

नाइक पथे ठेलाठेलि, नाइक हाटे गोल,
ओरे कवि एइ खाने तोर, कुटीरखानि तोल।
धुये फेल रे पथेर धुलो, नामिये दे रे बोझा,
बेंधे ने तोर सेतार खाना, रेखे दे तोर खोजा।
पा छड़िये बस रे हेथाय, सारा दिनेर शेषे,
तारार भरा आकाशतले, सब पेयेछिर देशे॥ —'नैवद्य'

आखिर इस देश में इतनी निश्चिन्तता क्यों है? कोई इस बेहदी मैदान में सो रहता है और कोई पैर फैलाकर बैठ रहता और सितार के तार सँभालने लगता

है, ऐसा क्यों ? यहाँ क्या मिलता है, क्या दिखता है कि इतने निश्चिन्त मन से सन्त और कवि जम जाते हैं ? क्योंकि,

हरि-संगति सीतल भया, मिटी मोह की ताप।
निसि-वासर सुख-निधि लह्या, जब अन्तरि प्रगट्या आप ॥
तन पाया तन बीसरा, जब मन धरिया ध्यान।
तपन गई सीतल भया, जब सुन्नि किया असनान ॥

—क ग्रं., पृ. 15

इस असीम-अनन्त शून्य में स्नान करते ही सारी व्यथा शान्त हो गयी। सारे कथन, सारा विज्ञापन यहाँ उपशमित हो गया। जिसे खोजा जा रहा था वह जब स्वयं आ गया, तो ताप कैसा, चाचल्य कैसा ?—

थिति पाई मन थिर भया, सतगुरु करी सहाइ।
अनिन कथा तिन आचरी, हिरदै त्रिभुवनराइ ॥
सचु पाया सुख ऊपना, अरु दिल-दरिया पूरि।
सकल पाप सहजै गये, जब साईं मिल्या हजूरि ॥

—क. ग्र., पृ. 14

जब एक बार इसका चस्का लग गया, जब यह परम प्राप्तव्य रत्न प्राप्त हो गया तब ढिंढोरा पीटने की क्या बात रही ? ढूँढ़ने-खोजने को रह क्या गया ?

जिन पाया सू गहि रह्या, रसना लागा स्वादि।
रतन निराला पाइया, जगत ढढोल्या बादि ॥

अब कुछ कहना बाकी नहीं रहा, इस प्रेम-नद के प्रवाह में सारा द्वैतभाव बह गया, साखी भी आज बेकार है, शब्द भी निष्प्रयोजन हैं। जब उस बिछुड़े हुए परमतत्त्व से मिलन हो गया तो इन प्रपंचों से क्या लाभ ? यह देखा, वह देखा; यह चलमान है, वह स्थिर है; यह यह है वह वह है—ये सारी बातें अब निरर्थक हैं। परमप्रिय का जब तक मिलन नहीं हुआ था—उसका रस जब तक ज्ञात नहीं था, तभी इनकी कीमत थी : अब इस आनन्द-रस के सामने और सब-कुछ फीका है :

कहना था सो कह दिया, अब कछु कहना नाहिं।
एक रही दूजी गई, बैठा दरिया माँहि ॥
साखी-शब्दी जब कही, मौन रहे मन माँहिं ॥
बिछुरा था कब ब्रह्म सों, कहिबे को कछु नाहिं ॥
साखी-शब्दी जब कही, तब कछु जाना नाहिं।
बिछुरा था तब ही मिला, अब कछु कहना नाहिं ॥
या देखा वा देखिया, या देखा वा थीर।
यह-वह दोउ एकै भया, जब सतगुरु मिले कबीर ॥

—स. क. सा., पृ. 68

यह है कबीर की असीम सत्ता की प्रीति। किन्तु कबीर परम सावधानी के

साथ पाठक को शब्दों की संकीर्ण अर्थवत्ता की याद दिला देते हैं। 'वेहद' शब्द मे साधारणत यह भाव है कि जो हद न हो या हद के विरुद्ध हो। यह बात आंशिक रूप मे ही सत्य है। वस्तुतः सीमा असीम से बाहर भी नही, उसकी विरोधी भी नही है; उसका-अभाव तो एकदम नही। इसलिए वेहद्दी की प्रीति बताते समय कबीरदास सावधान कर देते है। इसे सीमा का विरोधी समझना गलत है। वेहद् वह है जो सीमा और सीमाभाव दोनों के परे है, जो हद और गैर-हद दोनों के ऊपर है। इस हद-वेहद से अतीत वस्तु को ही भाषा की सीमित शक्ति के कारण कबीरदास 'वेहद्' कहते है। हद् या सीमा में मनुष्य वसते है, वेहद् या सीमाभाव मे साधु वसते हैं, पर असल सन्त वह है जो इन दोनों को छोड़ गया है, जो सीमातीत असीम का प्रेमी है :

हद में रहै सो मानवी, वेहद रहै सो साधु।
हद-वेहद दोनों तजै, तिनका मता अगाधु।
हद-वेहद दोनों तजी, अवरन किया मिलान।
कहै कबीर ता दास पर, वारों सकल जहान।।

उपसंहार

कबीर धर्मगुरु थे। इसलिए उनकी वाणियों का आध्यात्मिक रस ही आस्वाद्य होना चाहिए, परन्तु विद्वानों ने नाना रूप में उन वाणियों का अध्ययन और उपयोग किया है। काव्य-रूप मे उसे आस्वादन करने की तो प्रथा ही चल पड़ी है। समाज-सुधारक के रूप में, सर्व-धर्मसमन्वयकारी के रूप में, हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य-विधायक के रूप में, विशेष सम्प्रदाय के प्रतिष्ठाता के रूप मे और वेदान्त-व्याख्याता दार्शनिक के रूप मे भी उनकी चर्चा कम नही हुई है। यों तो 'हरि अनन्त हरिकथा अनन्ता, *विविध भाँति गावहिं श्रुति-सन्ता'* के अनुसार कबीर-कथित हरि की कथा का विविध रूप मे उपयोग होना स्वाभाविक ही है, पर कभी-कभी उत्साहपरायण विद्वान् गलती से कबीर को इन्ही रूपों मे से किसी एक का प्रतिनिधि समझकर ऐसी-ऐसी बातें करने लगते हैं जो असंगत कही जा सकती हैं।

भाषा पर कबीर का जबरदस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा है उसे उसी रूप मे भाषा से कहलवा लिया—बन गया है तो सीधे-सीधे, नही तो दरेरा देकर। भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार-सी नजर आती है। उसमें मानो ऐसी हिम्मत ही नहीं है

कि इस लापरवा फक्कड़ की किसी फरमाइश को नाही कर सके। और अकह कहानी को रूप देकर मनोग्राही बना देने की तो जैसी ताकत कबीर की भाषा में है वैसी बहुत कम लेखको मे पायी जाती है। असीम-अनन्त ब्रह्मानन्द मे आत्मा का साक्षीभूत होकर मिलना कुछ वाणी के अगोचर, पकड़ मे न आ सकनेवाली ही बात है। पर 'बेहद्दी मैदान में रहा कबीरा' मे न केवल उस गम्भीर निगूढ तत्त्व को मूर्तिमान कर दिया गया है, बल्कि अपनी फक्कड़ाना प्रकृति की मुहर भी मार दी गयी है। वाणी के ऐसे बादशाह को साहित्य-रसिक काव्यानन्द का आस्वादन करानेवाला समझें तो उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता। फिर व्यंग करने मे और चुटकी लेने मे भी कबीर अपना प्रतिद्वन्द्वी नही जानते। पण्डित और काजी, अवधू और जोगिया, मुल्ला और मौलवी—सभी उनके व्यग्य से तिलमिला जाते है। अत्यन्त सीधी भाषा मे वे ऐसी चोट करते है कि चोट खानेवाला केवल धूल झाड़के चल देने के सिवा और कोई रास्ता ही नहीं पाता। इस प्रकार यद्यपि कबीर ने कही काव्य लिखने की प्रतिज्ञा नहीं की तथापि उनकी आध्यात्मिक रस की गगरी से छलके हुए रस से काव्य की कटोरी मे भी कम रस इकट्ठा नही हुआ है।

हिन्दी-साहित्य के हजार वर्षों के इतिहास मे कबीर-जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक उत्पन्न नही हुआ। महिमा मे यह व्यक्तित्व केवल एक ही प्रतिद्वन्द्वी जानता है : तुलसीदास। परन्तु तुलसीदास और कबीर के व्यक्तित्व मे बड़ा अन्तर था। यद्यपि दोनों ही भक्त थे, परन्तु दोनो स्वभाव, संस्कार और दृष्टिकोण मे एकदम भिन्न थे। मस्ती, फक्कड़ाना स्वभाव और सब-कुछ को झाड़-फटकार कर चल देनेवाले तेज ने कबीर को हिन्दी-साहित्य का अद्वितीय व्यक्ति बना दिया है। उनकी वाणियों में सब-कुछ को छाकर उनका सर्वजयी व्यक्तित्व विराजता रहता है। उसी ने कबीर की वाणियों में अनन्य-साधारण जीवन-रस भर दिया है। कबीर की वाणी का अनुकरण नहीं हो सकता। अनुकरण करने की सभी चेष्टाएँ व्यर्थ सिद्ध हुई हैं। इसी व्यक्तित्व के कारण कबीर की उक्तियाँ श्रोता को बलपूर्वक आकृष्ट करती हैं। इसी व्यक्तित्व के आकर्षण को सहृदय समालोचक सँभाल नही पाता और रीझकर कबीर को 'कवि' कहने में सन्तोष पाता है। ऐसे आकर्षक वक्ता को 'कवि' न कहा जाय तो और कहा क्या जाय? परन्तु यह भूल नही जाना चाहिए कि यह कविरूप घलुए मे मिली हुई वस्तु है। कबीर ने कविता लिखने की प्रतिज्ञा करके अपनी बातें नही कही थी। उनकी छन्दोयोजना, उक्ति-वैचित्र्य और अलंकार-विधान पूर्ण-रूप से स्वाभाविक और अयत्नसाधित है। काव्यगत रूढ़ियों के न तो वे जानकार थे और न कायल। अपने अनन्य-साधारण व्यक्तित्व के कारण ही वे सहृदय को आकृष्ट करते है। उनमे एक और बड़ा भारी गुण है जो उन्हें अन्यान्य सन्तों से विशेष बना देता है। यद्यपि कबीरदास एक ऐसे विराट् और आनन्दमय लोक की बात करते है जो साधारण मनुष्यों की पहुँच के बहुत ऊपर है और वे अपने को उस देश का निवासी बताते है जहाँ बारह महीने बसन्त रहता है, निरन्तर अमृत की झड़ी लगी रहती है (दे. ऊपर, पृ. 362-3) फिर भी जैसा कि

एवेलिन अण्डरहिल ने कहा है, वे उस आत्मविस्मृतिकारी परम उल्लासमय साक्षात्कार के समय भी दैनन्दिन-व्यवहार की दुनिया को छोड़ नहीं जाते और साधारण मानव-जीवन को भुला नहीं देते। उनके पैर मजबूती के साथ धरती पर जमे रहते हैं, उनके महिमा-समन्वित और आवेगमय विचार, बराबर धीर और सजीव बुद्धि तथा सहज भाव द्वारा नियन्त्रित होते रहते है, जो सच्चे मरमी कवियों में ही मिलते है। उनकी सर्वाधिक लक्ष्य होनेवाली विशेपताएँ हैं—(1) सादगी और सहजभाव पर निरन्तर जोर देते रहना, (2) बाह्य धर्माचारों की निर्मम आलोचना, और (3) सब प्रकार के विरागभाव और हेतुप्रकृतिगत अनुसन्धित्सा के द्वारा सहज ही गलत दिखनेवाली वातो को दुर्बोध्य और महान् बना देने की चेष्टा के प्रति वैर-भाव। (इसके लिए 'कबीर-वाणी' के 75, 78, 80 और 90 नम्बर के पद देखिए)। इसीलिए वे साधारण मनुष्य के लिए दुर्बोध्य नहीं हो जाते और अपने असाधारण भावों को ग्राह्य बनाने में सदा सफल दिखायी देते है। कबीरदास के इस गुण ने सैकड़ों वर्ष से उन्हे साधारण जनता का नेता और साथी बना दिया है। वे केवल श्रद्धा और भक्ति के पात्र ही नही, प्रेम और विश्वास के आस्पद भी बन गये हैं। सच पूछा जाय तो जनता कबीरदास पर श्रद्धा करने की अपेक्षा प्रेम अधिक करती है। इसीलिए उनके सन्त-रूप के साथ ही उनका कवि-रूप बराबर चलता रहता है। वे केवल नेता और गुरु नहीं है, साथी और मित्र भी है।

कबीर ने ऐसी बहुत-सी बातें कही है जिनसे (अगर उपयोग किया जाय तो) समाज-सुधार मे सहायता मिल सकती है, पर इसलिए उनको समाज-सुधारक समझना गलती है। वस्तुतः वे व्यक्तिगत साधना के प्रचारक थे। समष्टि-वृत्ति उनके चित्त का स्वाभाविक धर्म नहीं था। वे व्यष्टिवादी थे। सर्व-धर्म-समन्वय के लिए जिस मजबूत आधार की जरूरत होती है वह वस्तु कबीर के पदो मे सर्वत्र पायी जाती है, वह बात है भगवान् के प्रति अहैतुक प्रेम और मनुष्यमात्र को उसके निर्विशिष्ट रूप में समान समझना। परन्तु आजकल सर्व-धर्म-समन्वय से जिस प्रकार का भाव लिया जाता है, वह कबीर मे एकदम नही था। सभी धर्मों के बाह्य आचारों और अन्तर-संस्कारों में कुछ-न-कुछ विशेष देखना और सब आचारों, सस्कारों के प्रति सम्मान की दृष्टि उत्पन्न करना ही यह भाव है। कबीर इनके कठोर विरोधी थे। उन्हे अर्थ-हीन आचार पसन्द नहीं थे, चाहे वे बड़े-से-बड़े आचार्य या पैगम्बर के ही प्रवर्तित हो या उच्च-से-उच्च समझी जानेवाली धर्म-पुस्तक से उपदिष्ट हों। बाह्याचार की निरर्थक पूजा और संस्कारो की विचारहीन गुलामी कबीर को पसन्द नहीं थी। वे इनसे मुक्त मनुष्यता को ही प्रेमभक्ति का पात्र मानते थे। धर्मगत विशेषताओं के प्रति सहनशीलता और सम्भ्रम का भाव भी उनके पदों मे नहीं मिलता। परन्तु वे मनुष्यमात्र को समान मर्यादा का अधिकारी मानते थे; जातिगत, कुलगत, आचारगत श्रेष्ठता का उनकी दृष्टि में कोई मूल्य नहीं था। सम्प्रदाय-प्रतिष्ठा के भी वे विरोधी जान पड़ते हैं। परन्तु फिर भी विरोधाभास यह है कि उन्हें हजारों की संख्या में लोग सम्प्रदाय-विशेष के प्रवर्तक

मानने में ही गौरव अनुभव करते हैं।

जो लोग हिन्दू-मुसलिम एकता के व्रत में दीक्षित हैं वे भी कबीरदास को अपना मार्गदर्शक मानते हैं। यह उचित भी है। राम-रहीम और केशव-करीम की जो एकता स्वयं-सिद्ध है उसे भी सम्प्रदाय-बुद्धि से विकृत मस्तिष्कवाले लोग नहीं समझ पाते। कबीरदास से अधिक जोरदार शब्दों में इस एकता का प्रतिपादन किसी ने नहीं किया। पर जो लोग उत्साहाधिक्यवश कबीर को केवल हिन्दू-मुसलिम एकता का पैगम्बर मान लेते हैं वे उनके मूल-स्वरूप को भूलकर उसके एक-देशमात्र की बात करने लगते हैं। ऐसे लोग यदि यह देखकर क्षुब्ध हों कि कबीरदास ने 'दोनों धर्मों की ऊँची संस्कृति या दोनों धर्मों के उच्चतर भावों में सामंजस्य स्थापित करने की कहीं भी कोशिश नहीं की और सिर्फ यही नहीं, बल्कि उन सभी धर्मगत विशेषताओं की खिल्ली ही उडायी है जिसे मजहबी नेता बहुत श्रेष्ठ धर्माचार कहकर व्याख्या करते हैं,' तो कुछ आश्चर्य करने की बात नहीं है, क्योंकि कबीरदास इस बिन्दु पर से धार्मिक द्वन्द्वों को देखते ही न थे। उन्होंने रोग का ठीक निदान किया या नहीं, इसमें दो मत हो सकते हैं, पर औषध-निर्वाचन में और अपथ्य-वर्जन के निर्देश में उन्होंने बिलकुल गलती नहीं की। यह औषध है भगवद्विश्वास। दोनों धर्म समान-रूप से भगवान् में विश्वास करते हैं और यदि सचमुच ही आदमी धार्मिक है तो इस अमोघ औषध का प्रभाव उस पर पड़ेगा ही। अपथ्य है बाह्य आचारों को धर्म समझना, व्यर्थ कुलाभिमान, अकारण ऊँच-नीच का भाव। कबीरदास की इन दोनों व्यवस्थाओं में गलती नहीं है और अगर किसी दिन हिन्दुओं और मुसलमानों में एकता हुई तो इसी रास्ते हो सकती है। इसमें केवल बाह्याचारवर्जन की नकारात्मक प्रक्रिया नहीं है, भगवद्विश्वास का अविश्लेष्य सीमेण्ट भी काम करेगा। इसी अर्थ में कबीरदास हिन्दू और मुसलमानों के ऐक्य-विधायक थे। परन्तु जैसा कि आरम्भ में ही कहा गया है, कबीरदास को केवल इन्हीं रूपों में देखना सही देखना नहीं है। वे मूलतः भक्त थे। भगवान् पर उनका अविचल अखण्ड विश्वास था। वे कभी सुधार करने के फेर में नहीं पड़े। शायद वे अनुभव कर चुके थे कि जो स्वयं सुधरना नहीं चाहता उसे जबरदस्ती सुधारने का व्रत व्यर्थ का प्रयास है। वे अपने उपदेश 'साधु' भाई को देते थे या फिर स्वयं अपने-आपको ही सम्बोधित करके कह देते थे। यदि उनकी बात कोई सुननेवाले न मिले तो वे निश्चिन्त होकर स्वयं को ही पुकारकर कह उठते : 'अपनी राह तू चले कबीरा!' अपनी राह अर्थात् धर्म, सम्प्रदाय, जाति, कुल और शास्त्र की रूढ़ियों से जो बद्ध नहीं है, जो अपने अनुभव के द्वारा प्रत्यक्षीकृत है।

कबीरदास का यह भक्त-रूप ही उनका वास्तविक रूप है। इसी केन्द्र के इर्द-गिर्द उनके अन्य रूप स्वयमेव प्रकाशित हो उठे हैं। मुश्किल यह है कि इस केन्द्रीय वस्तु का प्रकाश भाषा की पहुँच के बाहर है। भक्ति कहकर नहीं समझायी जा सकती, वह अनुभव करके आस्वादन की जा सकती है। कबीरदास ने इस बात को हजार तरह से कहा है। इस भक्ति या भगवान् के प्रति अहैतुक अनुराग की बात

कहते समय उन्हें ऐसी बहुत-सी बातें कहनी पड़ी हैं जो भक्ति नहीं हैं, पर भक्ति के अनुभव करने में सहायक हैं। मूल वस्तु चूंकि वाणी के अगोचर है, इसलिए केवल वाणी का अध्ययन करनेवाले विद्यार्थी को अगर भ्रम में पड़ जाना पड़ा हो तो आश्चर्य की कोई बात नहीं है। वाणी द्वारा उन्होंने उस निगूढ़ अनुभवैकगम्य तत्त्व की ओर इशारा किया है, उसे 'ध्वनित' किया है। ऐसा करने के लिए उन्हें भाषा के द्वारा रूप खड़ा करना पड़ा है और अरूप को रूप के द्वारा अभिव्यक्त करने की साधना करनी पड़ी है। काव्यशास्त्र के आचार्य इसे ही कवि की सबसे बड़ी शक्ति बताते हैं। रूप के द्वारा अरूप की व्यंजना, कथन के जरिये अकथ्य का ध्वनन, काव्य-शक्ति का चरम निदर्शन नहीं तो क्या है? फिर भी यह ध्वनित वस्तु ही प्रधान है; ध्वनित करने की शैली और सामग्री नहीं। इस प्रकार काव्यत्व उनके पदों में फोकट का माल है—बाईप्रोडक्ट है; वह कोलतार और सीरे की भाँति और चीजों को बनाते-बनाते अपने-आप बन गया है।

प्रेम-भक्ति को कबीरदास की वाणियों की केन्द्रीय वस्तु न मानने का ही यह परिणाम हुआ है कि अच्छे-अच्छे विद्वान् उन्हें घमण्डी, अटपटी वाणी का बोलनहारा, एकेश्वरवाद और अद्वैतवाद के बारीक भेद को न जाननेवाला, अहंकारी, अगुण-सगुण-विवेक-अनभिज्ञ आदि कहकर अपने को उनसे अधिक योग्य मानकर सन्तोष पाते रहे हैं। यह मानी हुई बात है कि जो बात लोक में अहंकार कहलाती है वह भगवत्प्रेम के क्षेत्र में, स्वाधीनभर्तृका नायिका के गर्व की भाँति अपने और प्रिय के प्रति अखण्ड विश्वास की परिचायक है; जो बात लोक में दब्बूपन और कायरता कहलाती है वही भगवत्प्रेम के क्षेत्र में भगवान् के प्रति भक्त का अनन्य-परायण आत्मार्पण होती है और जो बातें लोक में परस्पर विरुद्ध जँचती हैं भगवान् के विषय में उनका विरोध दूर हो जाता है। लोक में ऐसे जीव की कल्पना नहीं की जा सकती जो कर्णहीन होकर भी सब-कुछ सुनता हो, चक्षुरहित बना रहकर भी सब-कुछ देख सकता हो, वाणीहीन होकर भी वक्ता हो सकता हो, जो छोटे-से-छोटा भी हो और बड़े-से-बड़ा भी; जो एक भी हो और अनेक भी; जो बाहर भी हो और भीतर भी; जिसे सबका मालिक भी कहा जा सके और सबका सेवक भी; जिसे सबके ऊपर भी कहा जा सके और सर्वमय सेवक भी; जिसमें समस्त गुणों का आरोप भी किया जा सके और गुण-हीनता का भी; और फिर भी जो न इन्द्रिय का विषय हो, न मन का, न बुद्धि का। परन्तु भगवान् के लिए सब विशेषण सब देशों के साधक सर्व-भाव से देते रहे हैं। जो भक्त नहीं है, जो अनुभव द्वारा साक्षात्कार किये हुए सत्य में विश्वास नहीं रखते, वे केवल तर्क में उलझकर रह जाते हैं; पर जो भक्त हैं, वे भुजा उठाकर घोषणा करते हैं, 'अगुनहिं-सगुनहिं नहिं कछु भेदा' (तुलसीदास)। परन्तु तर्कपरायण व्यक्ति इस कथन के अटपटेपन को वदतो-व्याघात कहकर सन्तोष कर लेता है। यदि भक्ति को कबीरदास की वाणियों की केन्द्रीय वस्तु मान लिया जाता तो निस्सन्देह स्वीकार कर लिया जाता कि भक्त के लिए वे सारी बातें बेमतलब हैं जिन्हें कि विद्वान् लोग बारीक भेद कहकर आनन्द पाया करते हैं।

भगवान् के अनिर्वचनीय स्वरूप को भक्त ने जैसा कुछ देखा है वह वाणी के प्रकाशन-क्षेत्र के बाहर है, इसीलिए वाणी नाना प्रकार से परस्पर-विरोधी और अविरोधी शब्दों द्वारा उस परम प्रेममय का रूप निर्देश करने की चेष्टा करती है। भक्त उसकी असमर्थता पर नहीं जाता; वह उसकी रूपातीत व्यंजना को ही देखता है।

भक्ति-तत्त्व की व्याख्या करते-करते उन्हें उन बाह्याचार के जजालों को साफ करने की जरूरत महसूस हुई है जो अपनी जड़ प्रकृति के कारण विशुद्ध चेतन-तत्त्व की उपलब्धि में बाधक है! यह बात ही समाज-सुधार और साम्प्रदायिक ऐक्य की विधात्री बन गयी है। पर यहाँ भी यह कह रखना ठीक है कि वह भी फोकट का माल या बाईप्रोडक्ट ही है।

जो लोग इन बातों से ही कबीरदास की महिमा का विचार करते हैं वे केवल सतह पर ही चक्कर काटते हैं। कबीरदास एक जबरदस्त क्रान्तिकारी पुरुष थे। उनके कथन की ज्योति जो इतने क्षेत्रों को उद्‌भासित कर सकी है सो मामूली शक्तिमत्ता की परिचायिका नहीं है। परन्तु यह समझना कि उद्‌भासित पदार्थ ही ज्योति है, बड़ी भारी गलती है। उद्‌भासित पदार्थ ज्योति की ओर इशारा करते है और ज्योति किधर और कहाँ है, इस बात का निर्देश देते है। ऊपर-ऊपर, सतह पर चक्कर काटनेवाले समुद्र भले ही पार कर जायें, पर उसकी गहराई की थाह नही पा सकते। इन पंक्तियों का लेखक अपने को सतह का चक्कर काटनेवालो से विशेष नही समझता। उसका दृढ विश्वास है कि कबीरदास के पदो मे जो महान् प्रकाशपुंज है, वह बौद्धिक आलोचना का विषय नही है। वह म्यूजियम की चीज नही है बल्कि जीवित प्राणवान् वस्तु है। कबीर पर पुस्तकें बहुत लिखी गयी है, और भी लिखी जायेंगी, पर ऐसे लोग कम ही है जो उस साधना की गहराई तक जाने की चेष्टा करते हों। राम की वानरी सेना समुद्र जरूर लाँघ गयी थी, पर उसकी गहराई का पता तो मन्दर पर्वत को ही था जिसका विराट् शरीर आपाताल-निमग्न हो गया था :

अब्धिर्लंघित एव वानरभटैः किन्त्वस्य गम्भीरताम्
आपाताल - निमग्न - पीवरतनुर्जानाति मन्द्राचलः।

सो, कबीरदास की सच्ची महिमा तो कोई गहरे मे गोता लगानेवाला ही समझ सकता है।

फिर भी लेखक ने इस पुस्तक मे जो लम्बी व्याख्या प्रकाशित की है उसके लिए उसे पश्चात्ताप नही है। कबीर ने जिन तत्त्वों को अपनी रचना से ध्वनित करना चाहा है, उसके लिए कबीर की भाषा से ज्यादा साफ और जोरदार भाषा की सम्भावना भी नहीं है और जरूरत भी नही है। परन्तु कालक्रम मे वह भाषा आज के शिक्षित व्यक्ति को दुरूह जान पड़ती है। कबीर ने शास्त्रीय भाषा का अध्ययन नही किया था, पर फिर भी उनकी भाषा मे परम्परा से चली आयी विशेषताएँ वर्त्तमान हैं। इसका ऐतिहासिक कारण है। इस ऐतिहासिक कारण को जाने बिना उस भाषा को ठीक-ठीक समझना सम्भव नहीं है। इस पुस्तक मे उसी ऐतिहासिक

परम्परा के अध्ययन का प्रयास है। यह प्रयास पूर्णरूप से सफल हुआ ही होगा, ऐसा हम दावा नही करते; परन्तु वह ग्रहणीय नही है, इस बात में लेखक को कोई सन्देह नहीं है।

कबीरदास ने स्वयं अरूप को रूप देने की चेष्टा की थी। परन्तु वे स्वयं कह गये हैं कि ये सारे प्रयास तभी तक थे जब तक परम-प्रेम के आधार प्रियतम का मिलन नहीं हुआ था। साखी, पद, शब्द और दोहरे उसी प्राप्ति के साधन हैं, मार्ग हैं। गन्तव्य तक पहुँच जाने पर मार्ग का हिसाब करना बेकार होता है। फिर इन साखी, शब्द और दोहरों की व्याख्या के प्रयास को क्या कहा जाय? ये तो साधन को समझाने के साधन—साधन के भी साधन हैं।

प्रसंग-क्रम से इसमे कबीरदास की भाषा और शैली समझाने के कार्य से कभी-कभी आगे बढने का साहस किया गया है। जो वाणी के अगोचर है, उसे वाणी के द्वारा अभिव्यक्त करने की चेष्टा की गयी है; जो मन और बुद्धि की पहुँच से परे है; उसे बुद्धि के बल पर समझने की कोशिश की गयी है; जो देश और काल की सीमा के परे है, उसे दो-चार-दस पृष्ठों मे बाँध डालने की साहसिकता दिखायी गयी है। कहते है, समस्त पुराण और महाभारतीय संहिता लिखने के बाद व्यासदेव ने अत्यन्त अनुताप के साथ कहा था कि 'हे अखिल विश्व के गुरुदेव, आपका कोई रूप नहीं है, फिर भी मैंने ध्यान के द्वारा इन ग्रन्थों मे रूप की कल्पना की है; आप अनिर्वचनीय है, व्याख्या करके आपके स्वरूप को समझा सकना सम्भव नही है, फिर भी मैंने स्तुति द्वारा व्याख्या करने की कोशिश की है, वाणी द्वारा प्रकाश करने का प्रयास किया है। तुम समस्त-भुवन-व्याप्त हो, इस ब्रह्माण्ड के प्रत्येक अणु-परमाणु मे तुम भिने हुए हो, तथापि तीर्थ-यात्रादि विधान से उस व्यापित्व को खण्डित किया है। भला जो सर्वत्र परिव्याप्त है उसके लिए तीर्थ-विशेष मे जाने की व्यवस्था क्या? सो हे जगदीश, मेरी बुद्धिगत विकलता के ये तीन अपराध—अरूप की रूपकल्पना, अनिर्वचनीय का स्तुतिनिर्वचन, व्यापी का स्थान-विशेष में निर्देश—तुम क्षमा करो।' क्या व्यासजी के महान् आदर्श का पदानुसरण करके इस लेखक को भी यही कहने की जरूरत है?—

रूपं रूपविवर्जितस्य भवतो ध्यानेन यत्कल्पितम्,
स्तुत्या निर्वचनीयताऽखिलगुरोदूरी कृतायन्मया।
व्यापित्व च निराकृतं भगवतो यत्तीर्थयात्रादिना,
क्षन्तव्यं जगदीश, तद् विकलता-दोपत्रय मत्कृतम्॥

परिशिष्ट-1

परवर्त्ती कबीरपन्थी सिद्धान्त

इस पुस्तक के अन्त में कबीर-वाणी नाम से एक संग्रह जोड़ दिया गया है। कई विद्यार्थियों और मित्रों के अनुरोध से उस पर टिप्पणियाँ भी लिखी गयी है जो संगृहीत पदो को समझने मे सहायक हो सकती है। प्रथम सौ पदों का महत्त्व रवीन्द्रनाथ के अनुवाद के कारण है। इनमे कुछ पद परवर्त्ती जान पड़ते है। इन परवर्त्ती पदों को ठीक-ठीक समझने के लिए परवर्त्ती कबीरपन्थी सिद्धान्तों की जानकारी आवश्यक है। मैंने इस विषय पर अलग पुस्तक लिखी है। यहाँ संक्षेप में इन सिद्धान्तो की चर्चा कर दी जाती है। व्याख्यात्मक टिप्पणियो मे जहाँ आवश्यक होगा वहाँ इस परिशिष्ट के अनुच्छेदो का हवाला दे दिया जायेगा।

1. पहले यह जीव जब अपने सत्य-स्वरूप मे था, उसकी सत्य-स्वरूप देह थी, पिण्ड और ब्रह्माण्ड सत्य-स्वरूप और पक्के थे, पाँच पक्के तत्त्व और गुण थे। पाँच पक्के तत्त्वों के नाम है—(1) धर्म, (2) दया, (3) शील, (4) विचार, और (5) सत्य। तीन गुण है—विवेक-वैराग्य, गुरु-भक्ति और साधु भाव। इन्ही पाँच तत्त्वों और तीन गुणों की देह हंसा की थी। इस जीव का प्रकाश और स्वभाव अद्वितीय था। जब इस जीव (हंसा) ने अपनी सुन्दरता का विचार किया तब उसको बड़ा आनन्द हुआ और उसे अपनी देह की सुधि भूल गयी। फिर तो पक्की देह पलटकर कच्ची देह बन गयी। तत्त्व और प्रकृति सब बदल गये। धर्म से आकाश, शील से अग्नि, विचार से जल, दया से वायु और सत्य से पृथ्वी हो गयी। इस प्रकार पक्के गुण से कच्चे गुण हो गये। फिर तो पचीस प्रकृति आदि कच्चे आकार का प्रादुर्भाव हुआ।

2. जिस समय यह अपनी देह की ज्योति, प्रभाव और प्रकाश को देखकर आनन्द में बेसुध हुआ उस समय उसने आँख उठाकर शून्य में देखा। यहाँ उसकी छाया देख पड़ी जो स्त्री-रूप हो गयी। इसी से बाद मे चलकर उसका संयोग हुआ।

इसी को माया और ब्रह्म का संयोग कहते हैं। इसी से समस्त प्रकार की रचना हुई।

3. बाद में इस जीव को अहंकार उत्पन्न हुआ। तब वह जानने लगा कि सब मैं ही हूँ। फिर तो स्वाभाविक 'एकोऽहं बहुस्याँ' की स्फुरना उठी। इसी ब्रह्म सच्चिदानन्द की बात सब वेद, शास्त्र, किताब आदि करते हैं, परन्तु स्वसंवेद ही जानता है कि यह ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वयं बन्धन में है और सर्वदा आवागमन में बद्ध है। जबसे यह जीव सूक्ष्म से स्थूल देह में आया तभी से भ्रम में पड़ गया और उसी भ्रम की अवस्था में वेद, किताब, ग्रन्थ, वाणी आदि बनाया जिसका कुछ वारापार नहीं।

4. जब एक से अनेक होता है तब अज्ञानी हो जाता है और जब अद्वैत की ओर मुख फेरता है और आत्मज्ञान के हेतु प्रयत्न करता है, तब इसमें पुनः ज्ञान का प्रकाश आ जाता है और संसार लय हो जाता है; क्योंकि जिसकी ओर ध्यान न होगा वह अवश्य ही नाश हो जावेगा, परन्तु अद्वैतमुख होने के बाद भी जीव में वासना बनी ही रहती है। जब तक वासना का बीज नहीं नष्ट हो जाता तब तक मुक्ति कैसे सम्भव है? यही कारण है कि जीव निरन्तर सूक्ष्म से स्थूल और स्थूल से सूक्ष्म की ओर चढ़ता-उतरता चौरासी लाख योनियों के भवजाल में भटकता रहता है। जीव अपने उपायों और युक्तियों से ज्ञानाग्नि को उठाता है तो ज्ञानाग्नि प्रकट होकर कर्मों को जला देती है। जिस प्रकार लाल अंगार थोड़ी देर तक चमक दिखा लेने के बाद ठण्डा बनकर कोयला हो जाता है उसी प्रकार ज्ञानाग्नि भी ठण्डी हो जाती है और ब्रह्मपद को प्राप्त जीव फिर संसार-चक्र में आ फँसता है। वेद-वेदांग में केवल ब्रह्मत्व-प्राप्ति का उपाय बताते हैं, पर उन्हें बिलकुल पता नहीं कि ब्रह्मत्व जितना बड़ा पद भी क्यों न हो, जीव को स्थायी सुख नहीं दे सकता।

5. पारख गुरु के सिवा इस भ्रमजाल से छुड़ानेवाला दूसरा कोई नहीं है। जब जीव तीर्थ-व्रत, वेद-कुरान, रोजा-नमाज, उपासना-योग आदि करके थक गया और कुछ करते नहीं बना तब उसने नौ कोशों और छः देहों में अपना घर बनाया। नौ कोश ये हैं—अन्नमय कोश, शब्दमय कोश, प्राणमय कोश, आनन्दमय कोश, मनोमय कोश, प्रकाशमय कोश, ज्ञानमय कोश, आकाशमय कोश, विज्ञानमय कोश। छः देह इस प्रकार है :

(i) स्थूल देह—पच्चीस तत्त्वों अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, दस इन्द्रिय, पाँच प्राण, चार अन्तःकरण और जीव। इसकी अवस्था का नाम जाग्रत अवस्था है।

(ii) सूक्ष्म शरीर सत्रह तत्त्वों अर्थात् पाँच प्राण, दस इन्द्रिय, मन और बुद्धि से बनता है। अवस्था स्वप्न है।

(iii) कारण देह तीन तत्त्वों अर्थात चित्त, अहक [illegible] से बनता है। अवस्था का नाम सुषुप्ति

(iv) महाकारण देह [illegible]
तुरीया।

(v) कैवल्य देह एक तत्त्व—चित्—जीवात्मा—से बना है। अवस्था तुरीयातीत है।

(vi) हंस-देह—इसमें कोई तत्त्व नहीं है। जिस प्रकाश में यह जीव समष्टि-रूप था उसी प्रकाश को उसने अपना स्वरूप माना। सो ऐसा मानना इसका भ्रममात्र है।

6. बड़े-बड़े धर्माचार्य और मुनि, पैगम्बर ज्यादा-से-ज्यादा इन्हीं नौ कोशों और छः देहों की बात जानते है, और निकलने की राह नही पा रहे है। एकमात्र कबीर साहब इनका भ्रम छुड़ाने का सामर्थ्य रखते है। यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि हंस-देह भी भ्रम ही है, यद्यपि हंस-रूप (विशुद्ध चैतन्य) ही जीव का स्वरूप है और उसको प्राप्त होना ही कबीरपन्थी साधक का परम काम्य है; क्योंकि जिस ब्रह्म प्रकाश में तम अर्थात् अन्धकार भरा हुआ है उसको जो छठा हंस का शरीर मानते हो और यह भी मानते हो कि हम वही है, ऐसा मानकर उसमें निमग्न होने से तुम्हारी दशा चार प्रकार की हुई . बाल, मूक, पिशाच और जड़। बुद्धि ठिकाने न रही, एकदम अचेत हो गये। पूर्ण गुरु के बिना तुमको हंस-देह कदापि प्राप्त न होगी। जिसको तुमने हंस-देह अनुमान कर रखा है सो तुम्हारी भूल और भ्रम है। हंस का स्वरूप सद्गुरु की दया के बिना कदापि प्राप्त नहीं हो सकता। कहते हैं, स्वयं कबीरदास ने छः देहों का परिचय बताया है और यथा-प्रसंग यह भी कहा है कि हंस-रूप के गुण अकथ है।

7. सद्गुरु की कृपा से जब इस भ्रान्त जीव को पारख गुरु का सन्निधान प्राप्त होता है तब इसका एक-अनेक का भ्रम नष्ट होता है और वह अपने सत्य-स्वरूप को पा जाता है। पारख से ही इसका मन और बुद्धि स्थिर होती है और आवागमन छूट जाता है। स्वसवेद के अनुसार वेद ने जो 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों का उपदेश दिया है, उसके तीनों पद तत्—त्वम्—असि धोखा है। इन तीनों के ऊपर पारख पद है। वही सत्य-पद है। उसी से जीवों की मुक्ति होती है। जो कोई उस पारख-पद को प्राप्त कर लेता है वही पारखी कहलाता है। वह पारखी सच्चा गुरु हो सकता है। चूंकि वही एकमात्र ऐसा है कि जीवों के बन्धन को छुड़ा सकता है। इसलिए उसे 'बन्दी छोड़' कहते हैं। वह एक-अनन्त, बाहर-भीतर, पिण्ड-ब्रह्माण्ड सबके भेद और कसर-खोट को भिन्न-भिन्न करके परखा देता है। पारख-पद को प्राप्त हुआ पुरुष फिर कभी पतित नहीं होता।

8. [illegible], निर्मूल है; किसी में अन्धका[illegible] में बहुत; किसी में थोड़ा सामर्थ्य है, किसी में बहुत; कोई थोड़े दिन जीता है, कोई दीर्घायु होता है। क्या हुआ, कैसे ही पद को प्राप्त हो; परन्तु जब तक इन पाँच देहों के अहंकार से न छूटेगा तब तक सुख को प्राप्त न हो सकेगा। ये पाँचों अहंकार काल पुरुष के हैं। इन्हीं द्वारा विधि-निषेध, दोनों कर्म के भेद बताये है। इसके भेद को हंस कबीर के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं जान सकता।

9. क्षमा, सन्तोष, विचार और सत्संग, ये चारों मुक्ति के पौरिये हैं। इन चारों को जो धारण करेंगे, उन्हें सब-कुछ प्राप्त होगा। इनसे अन्त.करण शुद्ध होता है। इन चारों के बिना किसी की मुक्ति का मार्ग नहीं मिल सकता।

परिशिष्ट-2

कबीर-वाणी

[1 से 100 तक आचार्य क्षितिमोहन सेन के संग्रह से उद्धृत और अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के वे पद्य हैं जिन्होंने महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे व्यक्ति को आकृष्ट किया, जो उन्हें इस योग्य जँचे कि भारतीय मनीषा के प्रति पाश्चात्य विद्वानों की उपेक्षा और अवज्ञा को दूर कर सकेंगे और इसलिए जिनका अंग्रेजी अनुवाद उन्होंने स्वयं किया। यूरोपीय भाषाओं में इनके अनुवादों से कितने ही चोटी के समीक्षक भारतीय साधना और साहित्य के विषय में अपना मत बदलने को बाध्य हुए।

हिन्दी के पाठकों को इन कविताओं के पढ़ते समय दो बातें ध्यान में रखनी चाहिए : (1) ये कविताएँ मुख्यतः पश्चिमी विद्वानों को दृष्टि में रखकर संगृहीत हुई थीं, और (2) इनके संग्रहकर्त्ता आचार्य सेन ने छपी पोथियों की अपेक्षा साधुओं के मुँह से सुनी हुई वाणियों को अधिक ठीक माना था। प्रत्येक पद के अन्त में दी हुई दो संख्याएँ आचार्य सेन के ... की जिल्द और पृष्ठ का निर्देश ... है।

[1]

मोकों कहाँ ढूढ़े बन्दे, मैं तो तेरे पास मे।
ना मैं देवल ना मैं मसजिद, ना काबे कैलास में।
ना तो कौने क्रिया-कर्म में, नही योग बैराग मे।
खोजी होय तो तुरतै मिलिहौ, पल भर की तालास मे।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, सब स्वाँसों की स्वाँस मे।।—1-13

[2]

सन्तन जात न पूछो निरगुनियाँ।
साध ब्राहमन साध छत्तरी, साधै जाती बनियाँ।
साधनमाँ छत्तीस कौम है, टेढ़ी तोर पुछनियाँ।
साधै नाऊ साधै धोबी, साधै जाति है बरियाँ।
साधनमाँ रैदास सन्त है, सुपच ऋषि सों भँगियाँ।
हिन्दु-तुर्क दुई दीन बने हैं, कछू नही पहचनियाँ।—1-16

1. इस पद का भावार्थ यह है कि भगवान् देवल (मन्दिर), मस्जिद या तीर्थ-स्थानों मे नही मिलते; बाहरी क्रिया-कर्म से या योग-वैराग्य से भी नही मिलते। वे मनुष्य के अन्तर मे ही वर्त्तमान है। वही उन्हे सहज ही पाया जा सकता है।
विशेष—प्रथम और दूसरी पंक्ति के बीच मे छपी हुई पुस्तको मे इतना अधिक है:
ना मैं छगरी ना मैं भेंड़ी ना मैं छुरी गँडास में।
नही खाल मे नही पूँछ में ना हड्डी ना माँस में।
फिर अन्तिम पक्ति के पहले यह पक्ति है :
मैं तो रहौं सहर के बाहर मेरी पुरी मवास मे।
(दे. शब्दा, पृ. 111-2)
अधिक पायी जानेवाली पंक्तियो मे भी यही भाव है। बलि देने के या कुर्बानी के जितने उपकरण है उनमें भी भगवान् नही है।
मवास का अर्थ 'सरन' बताया जाता है। 'मैं तो रहों' आदि पंक्ति का मतलब यह है कि भीड़-भाड़ मे या दुनिया के काम-काज में नही रहता। 'सहर' का तात्पर्य भीड़-भाड़, काम-काज आदि से है। 'मेरी पुरी मवास में' का मतलब यह है कि जो सब-कुछ छोड़कर मेरी शरण आ जाता है, मैं उसको सुलभ होता हूँ। मैं अर्थात् भगवान्।
2. साध=साधु। साधै=साधु ही। पुछनियाँ=पूछना, प्रश्न करना। सुपच ऋषि=श्वपच सुदर्शन। यज्ञसागर, उग्रगीता, कबीर मन्सूर आदि कबीर-

[3]

साधो भाई, जीवत ही करो आसा।
जीवत समझे जीवत बूझे, जीवत मुक्तिनिवासा।
जीवन करम की फाँस न काटी, मुये मुक्ति की आसा।
तन छूटे जिव मिलन कहत है, सो सब झूठी आसा।
अबहुँ मिला तो तबहुँ मिलेगा, नहिं तो जमपुरवासा।
सत्त गहे सतगुरु को चीन्हे, सत्त-नाम विस्वासा।
कहै कबीर साधन हितकारी, हम साधन के दासा।।—1-57

पन्थी ग्रन्थों मे बताया गया है कि कलियुग के आरम्भ मे जब कबीर साहब इस पृथ्वी पर प्रकट हुए थे तो काशी के सुदर्शन नामक महात्मा ने उनसे दीक्षा ली थी। वे जाति के भंगी थे। युधिष्ठिर ने महाभारत की लड़ाई जीत लेने के बाद भ्रातृ-हत्या के पाप से उद्धार पाने के लिए एक बड़ा यज्ञ किया था। श्रीकृष्णचन्द्र ने इस यज्ञ मे एक घण्टा बाँध दिया था। जब घण्टा सात बार बजे तभी पाप छूटेगा, ऐसा सकेत कर दिया था। हजारों ब्राह्मण और साधु भोजन कर चुके, पर घण्टा नही बजा; तब श्रीकृष्ण के कहने पर भीम काशी के सुदर्शन भगी को लिवा लाने गये। भीम के अहकार के कारण सुदर्शन ने जाना अस्वीकार कर दिया। तब स्वयं युधिष्ठिर जाकर उन्हे ले आये और भोजन कराया। उनके भोजन करने पर घण्टा बजा। प्रयाग क्षेत्र मे श्रीकृष्ण के कहने से सब लोग गये। वहाँ जल में सबने अपनी छाया देखी। केवल सुदर्शन की छाया मनुष्य की थी, बाकी सबकी कुत्ते आदि निकृष्ट जीवों की। भंगियाँ=भंगी। दान=धर्म। पहचनियाँ=भेद, पहचान, विशेषता।

इस पद का भाव यह है कि निर्गुण साधु की जाति पूछना बेकार है। सभी जाति के लोग साधु हो चुके है। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने 'साधै' का अर्थ 'साधन करते है' ऐसा किया है।

विशेष—छपी पोथियों मे इस पद के अन्त में ये तीन पद और है :

[4]

वागों ना जा रे ना जा, तेरी काया मे गुलजार।
सहस-कँवल पर बैठ के तू देखे रूप अपार॥--1-58

से मिलन होगा (या परमपद मिलेगा) वह सब झूठी आशा दिखाते है। जो इस समय मिला है, वही उस समय (मृत्यु के बाद) भी मिलेगा। सत्त··· विस्वासा=सत्य को ग्रहण करे, सत गुरु को पहचाने और सत्य नाम पर विश्वास रखे, तभी मिलने की आशा कर सकता है।

विशेष—छपी पुस्तकों में 'अबहूँ मिला सो' इस पंक्ति के बाद ये दो पंक्तियाँ अधिक है:

दूर दूर ढूंढे मन लोभी मिटै न गर्भ-तरासा।
साध संत की करै न बंदगी कटै करम की फाँसा।

गर्भतरासा=गर्भत्रास, बार-बार जन्म-मरण के चक्कर मे पडते रहने का डर।

4. इसका भाव भी पद 1 से मिलता-जुलता है। बगीचे का सौन्दर्य देखने के लिए किसी बाहरी उपवन मे जाने की जरूरत नही है, शरीर में ही फूल खिले हुए है। शरीर के भीतर जो सहस्रदल का कमल है, (सहस्रारचक्र), उसी पर बैठकर अर्थात् पूर्ण समाधि के द्वारा अपार रूप को देख। छपी पोथियों मे यह पद इस प्रकार है:

वागों ना जा रे ना जा, तेरी काया में गुलजार।
करनी-क्यारी बोइ कर तू रहनी करु रखवार।
दुर्मति कात उड़ाइ के देखै अजब बहार॥
मन माली परबोधिए करि सजम की बार।
दया पौद सूखे नही छिमा सींच जल ढार॥
गुल और चमन के बीच मे फूला अजब गुलाब।
मुक्ति कली सतमाल को पहिरु गूँथि-गलहार॥
अष्ट कमल से ऊपजे लीला अगम अपार।
कहै कबीर चित चेत के आवागमन निवार॥

इस पद मे बाग का रूपक पूरा-पूरा (साग) है। इस बगीचे में करनी क्यारी है, रहनी (=रहने का भाव, आचरण) रखवाला है, दुर्मति (कुमति) बगीचे को दूषित करनेवाला काग है। मन माली है, संयम बेड़ा है, दया पौधा है, क्षमा सीचने का जल है। गुल और चमन के बीच मे जो गुलाब है वह क्या है, यह बात साम्प्रदायिक व्याख्याओ मे देखने को नही मिली। चमन (बाग) तो स्पष्ट ही शरीर है, गुल सम्भवत. सहस्रार है और इन दोनों के बीच खिला हुआ अद्भुत गुलाब सम्भवतः समाधि या लय है। मुक्ति कली है, जिससे सत्य नाम की माला गूँथी जा सकती है। अष्टकमल=आठ कमल। कबीरपन्थी

[5]

अवधू, माया तजी न जाई।
गिरह तज के वस्तर बांधा, वस्तर तज के फेरी॥
काम तजे तें क्रोध न जाई, क्रोध तजे तें लोभा।
लोभ तजे अहँकार न जाई, मान-बड़ाई-सोभा॥
मन बैरागी माया त्यागी, शब्द में सुरत समाई।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, यह गम विरले पाई॥—1-63

पुस्तकों में कभी-कभी नौ कमलाकार चक्रों की बात आती है। अन्तिम या नवें कमल पर जब योगी पहुँचता है तो उसके संकल्प-विकल्प का लय हो जाता है, परन्तु बाकी आठ कमलों में वह अनेक लीलाएँ देख सकता है।

5. हे अवधूत, माया छोड़ना कठिन है। गृह छोड़ा तो वस्त्र (भेष) धारण किया और अब वस्त्र छोड़ा तो फेरी देने लगे—भीख माँगने लगे। इस पद्य के 'गिरह' शब्द का अर्थ क्षितिमोहन सेन ने 'गाँठ' किया है। छपी पोथियों में दूसरी पंक्ति के बाद तीन पंक्तियाँ और हैं। इन पंक्तियों से गिरह का अर्थ गृह (गृहस्थी) ही संगत जान पड़ता है। पंक्तियाँ इस प्रकार हैं:

लड़िका तजि के चेला कीन्हा तहूँ मति माया घेरी।
जैसे बेल बाग में अरुझी माँहि रही अरुझाई।
छोरे से वह छूटे नाहीं कोटिन करै उपाई॥

भाव यह है कि गृहस्थाश्रम में लड़का छोड़ दिया, परन्तु साधु होकर फिर तुमने चेला बनाया और वही माया फिर तुम्हारी बुद्धि को घेरे रही। यह माया उस लता की भाँति है जो पहले बाग में देह से उलझी और फिर बीच में राह-भर उलझी ही रही। किसी तरह छूटी नहीं। काम छोड़ा तो क्रोध न छूटा, क्रोध भी छोड़ा तो लोभ गले आ पड़ा···इत्यादि। मन बैरागी··· समाई=वस्तुतः सच्चा वैराग्य वह है जहाँ मन वैराग्यवश माया को छोड़ देता है। (फिर आदमी चाहे गृहस्थाश्रम में रहे या साधु हो जाय, कोई हर्ज नहीं)—जब मन ही माया छोड़ देता है तो सुरति शब्द में समा जाती है, अर्थात् वह स्मृतिशक्ति जिसे आरम्भ में भगवान् ने जीव को अपने में अनुरक्त होने के लिए दी थी परन्तु जिसे वह भ्रमवश संसार में लगाकर भव जाल में फँस गया था, मन के बैरागी होने पर संसार से हटकर शब्द में लग जाती है और फिर वह क्रमशः भगवान् की ओर उन्मुख होता है। (तुलनीय आदिमंगल—'प्रथम सुरति समरथ किया' इत्यादि)। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने इस पंक्ति का अर्थ इस प्रकार किया है—मन ने वैराग्यवश माया तो छोड़ी पर शास्त्र-वाक्य में उलझा रहा। यह गम=यह रहस्य।

[6]

चंदा झलकै यहि घट माही। अंधी आँखन सूझै नाही॥
यहि घट चंदा यहि घट सूर। यहि घट गाजै अनहद तूर॥
यहि घट बाजै तबल-निशान। बहिरा शब्द सुने नहि कान॥
जब लग मेरी मेरी करै। तब लग काज एकौ नहि सरै॥
जब मेरी ममता मर जाय। तब प्रभु काज सँवारै आय॥
ज्ञान के कारन करम कमाय। होय ज्ञान तब करम नसाय॥
फल कारन फूलै बनराय। फल लागे पर फूल सुखाय॥
मृगा हास कस्तूरी बास। आप न खोजै खोजै घास॥—I-83

6. सीधा मतलब यह है कि इसी शरीर में वे सभी ज्योतियाँ और सभी मंगल-वाद्य वर्त्तमान है जो बाह्य जगत् मे दिखते है। इसी मे वह विश्वव्यापी अनाहत ध्वनि भी सुनायी देती है। परन्तु जिसके भीतर की आँखें नही है वह इस ज्योति को नही देख पाता। जब तक ममता बनी रहती है तब तक तो कोई काम नही निकलता, पर ममता के नष्ट होते ही भगवान् सहायता करते हैं और बिगड़ा काम बन जाता है। ज्ञान होने पर कर्म का बन्धन नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार फल के आने पर फूल सूख जाता है। पर जिस प्रकार फल के लिए ही वृक्ष फूलता है उसी प्रकार ज्ञान के लिए ही साधक कर्म किये जाता है। जिस प्रकार कस्तूरी-मृग के पास कस्तूरी रहती है लेकिन वह अपने मे तो उसे खोजता नही, घास मे खोजता है; उसी प्रकार मनुष्य के भीतर ही परम सत्य वर्त्तमान है, पर अज्ञान के कारण वह विषयो के पीछे-पीछे भागता फिरता है। चन्द्र, सूर्य, अनहद नाद आदि पारिभाषिक भी है। इनके अर्थ के लिए पृ. 234 और 262-64 देखिए। कबीरदास आदि निर्गुणमार्गी सन्त कहते थे कि जो कुछ ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड मे है। घट का अर्थ पिण्ड या शरीर है। छपी पोथियो मे इस पद में कुछ सन्धाभाषा की उक्तियां भी हैं। 'जब मेरी ममता' आदि पंक्ति के बाद ये पक्तियाँ है :

जब लगि सिंघ रहै बन माहिं। तब लगि वह बन फूलै नाहिं॥
उलट स्यार सिंघ को खाय। तब वह बन फूलै हरियाय॥

प्रसंग से स्पष्ट है कि यहाँ सिंह ममता और ज्ञान है। पृ. 263-69 से स्पष्ट है कि सिंह आत्मा को कहते हैं, यहाँ लक्षण से अहंकार और ममत्व अर्थ है। स्यार अन्तःकरण का प्रतीक है। अन्त.करण मे बुद्धि भी है जो ज्ञान का आश्रय है। इस प्रकार यहाँ भाव यह है कि जब तक इस मन में अहकार-रूपी सिंह है तब तक वह सूखा रहता है, जब ज्ञान का उदय होता है और अहंकार नष्ट हो जाता है तो मन सफल होता है, अपना अभीष्ट पाता है। फूल और हरियाली जिस प्रकार वन में ही रहती है, उसी प्रकार परम प्राप्तव्य भी मनुष्य के भीतर ही है।

[7]

साधो, ब्रह्म अलख लखाया, जब आप आप दरसाया।
बीज-मद्ध ज्यों वृच्छा दरसै, वृच्छा मद्धे छाया॥
ज्यों नभ-मद्धे सुन्न देखिए, सुन अनन्त आकारा।
नि:अच्छरते अच्चर तैसे, अच्छर छर बिस्तारा॥
ज्यों रवि-मद्धे किरन देखिये, किरन मद्ध परकासा।
परमातम मे जीव ब्रह्म इमि, जीव-मद्ध तिमि स्वाँसा॥
स्वाँसा-मद्धे शब्द देखिये, अर्थ शब्द के माही।
ब्रह्मते जीव जीवते मन यो, न्यारा मिला सदा ही॥
आपहि वृच्छ बीज अकूरा, आप फूल-फल छाया।
आपहि सूर किरन परकासा, आप ब्रह्म जिउ माया॥
अनन्ताकार सुन्न नभ आपै, स्वाँस शब्द अरथाया।
नि:अच्छर अच्छर छर आपै, मन जीव ब्रह्म समाया॥
आतम मे परमातम दरसे परमातम मे झाँई।
झाँई मे परछाई दरसै, लखै कवीरा साँई॥—1-85

7. सम्भवतः यह पद कबीरदास का रचा हुआ नही है। पद का भाव यह है कि ब्रह्म ही इस जगत् का एकमात्र कारण है और आत्मा से अभिन्न है। बीज का ही परिणत-रूप वृक्ष है और वृक्ष को छोड़कर छाया नही रह सकती; उसी प्रकार ब्रह्म का ही परिणत-रूप वह जगत् है और माया उससे अलग कोई सत्ता नही रखती। अलख अर्थात् इन्द्रियातीत, जिसे आँख आदि से देखा न जा सके। सुन्न=शून्य, यहाँ आकाश से मतलब है। जिस प्रकार समस्त आकाश महाकाश मे ही वर्तमान है, उसी प्रकार जो कुछ भी अनन्त प्रकार की वस्तुएँ दिख रही है वह ब्रह्म का ही अंग है। अच्छर=अक्षर=कूटस्थ जीवात्मा। वेदान्त मत मे अविद्या में चेतना का आभास पड़ता है, उस अविद्याच्छन्न चेतन को कूटस्थ कहते है। कूटस्थ और जीव मे भेद यह है कि कूटस्थ अविद्या से अवच्छिन्न सिर्फ चेतन मात्र को कहते है, जब यह चेतन के आभास और बुद्धि से युक्त होता है तो इसे जीव कहते है। सुख-दुःख की अनुभूति जीव को ही होती है। गीता मे भगवान् ने कहा है कि मैं क्षर और अक्षर से अतीत हूँ। इस पर से पण्डित लोग अक्षर कूटस्थ को मानते है और क्षर नाशवान् जगत् को। यहाँ निःअक्षर से इसी क्षर और अक्षर से अतीत का तात्पर्य जान पड़ता है। सूर्य मे किरण है और किरण मे प्रकाश है। क्योंकि जिस प्रकार किरण और प्रकाश अभिन्न हैं उसी प्रकार परमात्मा मे जीव है और जीव तथा ब्रह्म अभिन्न हैं। जीव मे प्राण है, प्राण में शब्द है [illegible] र शब्द मे अर्थ (पदार्थ) हैं। इस प्रकार ब्रह्म से लेकर अर्थ पदार्थ, [illegible] स्पर्श, रूप, रस;

[8]

इस घट अन्तर बाग-बगीचे, इसी मे सिरजनहारा।
इस घट अन्तर सात समुन्दर, इसी में नौ लख तारा।
इस घट अन्तर पारस मोती, इसी मे परखनहारा।
इस घट अन्तर अनहद गरजै, इसी में उठत फुहारा।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, इसी मे साईं हमारा ॥—1-101

[9]

ऐसा लो नहिं तैसा लो, मैं केहि विधि कथौ गँभीरा लो।
भीतर कहूँ तो जगमय लोजै, बाहर कहूँ तो झूठा लो ॥
बाहर-भीतर सकल निरन्तर चित्त-अचित दोउ पीठा लो।
दृष्टि न मुष्टि परगट अगोचर, बातन कहा न जाई लो ॥—1-104

[10]

तोहिं मोरि लगन लगाये रे फकिरवा।
सोवत ही मैं अपने मन्दिर में,
सब्दन मारि जगाये रे फकिरवा।
बूड़त ही भव के सागर मे,
बहियाँ पकरि समुझाये रे फकिरवा।

गन्ध) सभी न्यारे भी हैं और मिले भी है। वृक्ष, अंकुर आदि सब वही है। आतम में···साईं=आत्मा मे ही परमात्मा है, परमात्मा मे झाईं (=आभास) है क्योंकि परमात्मा या ईश्वर वस्तुतः मायाच्छन्न चेतन का ही नाम है, आभास में प्रतिविम्वरूप समस्त जगत् है। यह कबीर साँई (=स्वामी=देखने में समर्थ) देख रहे है। इस पद की अत्यधिक वैदान्तिक शब्दावली और कबीर के साथ प्रयुक्त 'साँई' शब्द से इसकी प्रामाणिकता में सन्देह होता है।

8. छठे पद के समान भाव है। जो कछु पिंडे सोई ब्रह्मण्डे ॥

9. व्याख्या के लिए पृ. 321 देखिए। छपी पुस्तकों मे अन्तिम पंक्ति का पाठ है:
बाहर भीतर सकल निरन्तर गुरु परतापै दीठा लो।
यहाँ 'चित्त-अचित···लो' पाठ है जिसका भाव यह है कि चेतन और अचेतन दोनों उसकी दो पीठें है। दोनों को वह व्याप्त करके वर्तमान है। किसी-किसी ने पीठ का अर्थ पीढ़ा किया है, अर्थात् भगवान् चेतन और अचेतन दोनों के अधिष्ठान है। दृष्टि न मुष्टि=जो न देखने मे आवे न मुट्ठी में पकड़ने मे आवे। परगट अगोचर=प्रत्यक्ष भी और अप्रत्यक्ष भी।

10. ऐ फकीर, तूने ही मेरी लगन लगा दी। सोवत ही=सोती थी। सब्दन

एकै वचन वचन नहिं दूजा
तुम मोसें बंद छुड़ाये रे फकिरवा।
कहै कबीर सुनो भाई साधो,
प्रानन प्रान लगाये रे फकिरवा।—1-121

[11]

निस-दिन खेलत रही सखियन सँग,
मोहि बड़ा डर लागे।
मोरे साहब की ऊँची अटरिया,
चढ़त में जियरा काँपे॥
जो सुख चहै तो लज्जा त्यागे,
पिया से हिलमिल लागे।
घूंघट खोल अंग भर भेंटे,
नैन आरती साजे॥
कहैं कबीर सुनो सखि मोरी,
प्रेम होय सो जाने।
निज प्रीतम की आस नहीं है,
नाहक काजर पारे॥— 1-131

मारि = संगीत की चोट मे (क्षितिमोहन सेन)। कई जगह टीकाकारों ने 'सब्द' का अर्थ कबीर साहब की सारवाणी किया है। बूड़त ही = डूबती थी। तुम मोसें…फकिरवा = तुमने मुझे बन्धन-मुक्त किया। जो पारख-पद को प्राप्त कर लेता है वही पारखी गुरु होता है और उसी को 'बन्दी छोड़' कहते हैं। कबीरदास 'बन्दी छोड़' रूप में सम्प्रदाय मे प्रसिद्ध है। फकीर से तात्पर्य गुरु से है। यदि यह पद कबीरदास का हो तो फकीर का लक्षणार्थ परमात्मा ही हो सकता है।

11. जियरा = जी, हृदय। स्पष्ट है, अन्तिम अंश का अर्थ है कि कबीर कहते हैं कि ऐ सखी, जिसमें प्रेम होता है वही प्रिय को जानता है और उसे ही प्यार करता है। बाहरी साज-सिंगार से क्या होता है। तू व्यर्थ काजल पार रही है (= शृंगार का आयोजन कर रही है)। प्रिय-मिलन की आशा न कर क्योंकि तेरे भीतर प्रेम नहीं है। भाव यह है कि बाहरी पूजा-पाठ मे भगवान् नहीं मिलते, भीतर का प्रेम चाहिए।

[12]

हंसा करो पुरातन बात।
कौन देस से आया हंसा, उतरना कौन घाट।
कहाँ हंसा बिसराम किया है, कहाँ लगाये आस॥
अब ही हंसा चेत सवेरा, चलो हमारे साथ।
संसय-सोक वहाँ नहिं व्यापै, नहीं काल कै त्रास॥
हिआँ मदन-बन फूल रहे है, आवे सोहं बास।
मन भौंरा जिहँ अरुझ रहे हैं, सुख की ना अभिलास॥—2-24

[13]

अनगढ़िया देवा, कौन करै तेरी सेवा।
गढ़े देव को सब कोई पूजै, नित ही लावै सेवा।
पूरन ब्रह्म अखंडित स्वामी, ताको न जानै भेवा।
दस औतार निरंजन कहिए, सो अपना ना होई।
यह तो अपनी करनी भोगैं, कर्ता औरहि कोई।
जोगी जती तपी सन्यासी, आप आप में लड़ियाँ।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, राग लखै सो तरियाँ।—2-37

[14]

दरियाव की लहर दरियाव है जी
दरियाव और लहर में भिन्न कोयम्।
उठे तो नीर है बैठे तो नीर है
कहो जो दूसरा किस तरह होयम्।

12. हंसा = विशुद्ध चैतन्य; जीव का वास्तविक सत्य (दे. अनु. 1 और 6) पुरातन = पुरानी। 'संसय सोक…त्रास' में 'वहाँ' पद सत्य लोक का वाचक है। हिआँ = यहाँ = मर्त्यलोक। मदन-बन = कामदेव का वन ! सोऽहं = ब्रह्म के साथ जीव की अभिन्नता जो 'हंसा' का भ्रम है। (दे. अनु. 5,6)
13. अनगढ़िया देवा = जो देवता मूर्ति रूप में नहीं गढ़ा जा सकता और जिसका आरम्भ नहीं है, रूपातीत अनादि। गढ़े देव = मूर्ति, अवतार; मूर्त्ति हाथ से और अवतार मन से गढ़े गये है। निरंजन = सगुण ब्रह्म, ईश्वर (दे. पृ. 288-89) राग लखै सो तरियाँ = जिसने प्रेम को देखा है वह तर गया; राग = प्रेम। छपी पोथियों मे राग के स्थान पर राम पाठ है।
14. समुद्र और समुद्र की तरंग में कोई भेद नहीं है, केवल नाम और रूप का भेद है। इसी प्रकार जगत् ही ब्रह्म है और ब्रह्म ही जगत् है। जक्त = जगत्'

उसी का फेर के नाम लहर धरा
लहर के कहे क्या नीर खोयम्।
जक्त ही फेर जब जक्त परब्रह्म में
ज्ञान कर देख माल गोयम्॥—2-56

[15]

जहाँ खेलत बसन्त रितुराज
जहाँ अनहद बाजा बजै बाज।
चहुँ दिसि जोति की बहै धार
विरला जन कोइ उतरै पार।
कोटि कृष्ण जहँ जोड़ें हाथ
कोटि विष्णु जहँ नावें माथ।
कोटिन ब्रह्मा पढ़ें पुरान
कोटि महेश धरैं जहँ ध्यान।
कोटि सरस्वती जहँ धरैं राग
कोटि इन्द्र जहँ गगन लाग।
सुर-गंधर्व-मुनि गनैं न जायँ
जहँ साहब प्रगटे आय आय।
चोवा चन्दन और अबीर
पुहप-वास रस रह्यो गँभीर।—2-57

अभेदजन्य प्रेम के लिए दे. पृ. 309-10। माल गोयम् =परब्रह्म में एक जगत् के बाद दूसरा जगत् इस प्रकार चल रहा है जैसे जपमाला के मनके चलते हैं। छपी पोथी में 'कबीर गोयम्' पाठ है जिसका अर्थ है 'कबीर कहते हैं'।

15. सत्यलोक का वर्णन है। जो कुछ ब्रह्माण्ड में है वह पिण्ड मे है। हमने पहले ही देखा है कि साधक सहजसमाधि के द्वारा सत्यलोक का भी आनन्द अपने मे अनुभव कर सकता है। इस सत्यलोक मे नित्य वसन्त वर्त्तमान है, वह परम पुरुष नित्य ही जीवरूप प्रिया के साथ फाग खेल रहे हैं। छपी पोथियों में प्रथम पंक्ति का पाठ इस प्रकार है :

जहँ सतगुरु खेलत रितु वसंत। परम जोत जहँ साधु सन्त॥
तीन लोक से भिन्न राज। जहँ अनहद बाजा बजै बाज॥

इससे अर्थ अधिक स्पष्ट होता है। यहाँ साधु सन्त ज्योतिरूप में हैं, क्योंकि सत्यलोक में हंस-देह केवल प्रकाश रूप मे रहती है, जहाँ अनहद बाजा बजता रहता है, प्रकाश की ऐसी धारा बहती रहती है कि कठिनाई से कोई इस धारा को पार कर सकता है। कोटि-कोटि कृष्ण, विष्णु, इन्द्र, सरस्वती आदि जहाँ हाथ जोड़े रहते हैं, वहाँ अन्य देवताओं, मुनियों और गन्धर्वों की

[16]

जहँ चेत-अचेत खंभ दोउ मन रच्या है हिंडोर।
तहँ झूलै जीव जहान, जहँ कतहुँ नहि थिर ठौर।
और चन्द-सूर दोऊ झूले नाही पावै अन्त।
चौरासी लच्छहु जिव झूलै रवि-ससि धाय।
कोटिन कल्प जुग बीतिया आने न कवहुँ हाय।
धरनी अकासहु दोऊ झूलै, झूलै पवनहुँ नीर।
धरि देह हरि आपहुँ झूलै जो लखही दास कबीर।—2-59

[17]

I. ग्रह चंद्र तपन जोत वरत है
सुरत राग निरत तार बाजै।
नौबतिया घुरत है रैन-दिन सुन्न मे
कहै कबीर पिउ गगन गाजै॥
II. क्षण और पलक की आरती कौन-सी
रैन-दिन आरती विस्व गावै।

क्या गिनती हो सकती है ! साहब=सत्यपुरुष, भगवान्। चोबा चन्दन और पुष्पवास तथा फाग खेलने की सामग्री है। फाग खेलना लाक्षणिक प्रयोग है। इसका लक्ष्यार्थ जीव और भगवान् का अनन्त प्रेम और मिलनजन्य आनन्द है। छपी पोथियों मे दो-तीन पंक्तियाँ और हैं, पर वे महत्त्व की नही है।

16. माया-जाल का वर्णन है। जहाँ मन चेतन और अचेतन (जड़ और चेतन के) दो खम्भों पर हिंडोरा लगाकर झूल रहा है। छपी पोथियों मे 'लोभ-मोह के खम्भ दोउ' पाठ है जो स्पष्ट है। किन्तु छपे पाठ से यही पाठ उत्तम लगता है। जीव-जहान=-जीव और जगत्। स्थिर ठौर=स्थिर स्थान, स्थिरता। तीसरी पक्ति के स्थान पर छपी पोथियों में इस प्रकार पाठ है :

चतुरा झूलै चतुराइयाँ औ झूलै राजा सेव।
औ चंद सूर दोऊ झूले नाही पावै भेव॥

इसमें सेव=सेवक, भेव=भेद, रहस्य।
चौरासी···जिव=-चौरासी लाख योनियो में भटकनेवाले जीव। आने न कवहुँ हाय=कोटि-कोटि कल्प से झूल रहे है, पर कभी मुँह से 'हाय' नहीं कहते। धरि देह··· =स्वयं विष्णु भी बार-बार अवतार लेकर इसी चक्कर मे पड़े हुए है।

17. इन पदो में सुरत (सुरति) और निरत (निरति) शब्द पारिभाषिक हैं। 'शान्तस्थितिबोध' और 'सन्तोपबोध' आदि साम्प्रदायिक ग्रन्थों में इन शब्दों

घुरत निस्सान तहँ गैब की झालरा
गैब की घंट का नाद आवै॥
III. कहैं कबीर तहँ रैन-दिन आरती
जगत के तख्त पर जगत साँई।
कर्म औ भर्म संसार सब करत है
पीव की परख कोई प्रेमी जानै॥
सुरत औ' निरत धार मन में पकड़कर
गंग और जमन के घाट आनै।
नीर निर्मल तहाँ रैन-दिन झरत है
जनम औ' मरन तब अन्त पाई॥

की जटिल व्याख्याएँ मिलती हैं। निरति जब सुरति में मिलती है और सुरति जब शब्द में मिलती है तो हंस-देह की प्राप्ति होती है। यह भी कहा गया है कि,

शब्द सुरति और निरति ये कहिबे को है तीन।
निरति लौटि सुरतिहि मिली, सुरति शब्द में लीन।

हमने अपनी नयी पुस्तक मे इनके अर्थों की विस्तृत विवेचना की है। साधारणतः 'रति' प्रवृत्ति को कहते है। निरति, बाहरी प्रवृत्ति की निवृत्ति को और सुरति अन्तर्मुखी वृत्ति को कहते है। निरति वस्तुतः अभावात्मक वस्तु है और सुरति भावात्मक। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने सुरति का अर्थ प्रेम और निरति का वैराग्य किया है। जब बाह्यमुखी वृत्ति अन्तर्मुखी वृत्ति मे लीन होती है तो जीव को जीव और ब्रह्म के अभेद की प्रतीति होती है। कबीरपन्थी लोग इसको अन्तिम अवस्था नही मानते, क्योंकि यह भी भ्रम है। जब निरति अभेद प्रतीति-रूपी अहंभाव से मुक्त होकर शब्द में लीन होती है तभी जीव अपने सच्चे रूप में स्थित होता है। इस जगत को अन्त.करण और बाह्यकरणों के द्वारा ही अनुभव किया जाता है। इसीलिए यह सुरति और निरति के ताने-बाने से बना है। निरति निवृत्तिरूपा होने के कारण स्थूल है और सुरति अन्तर्मुखी होने के कारण सूक्ष्म। इसीलिए इस पद के आरम्भ मे ही सुरति को राग और निरति को वीणा का तार कहा गया है।

I. तपन = सूर्य। बरत है = जलते है। नौबतिया··· = शून्य में नौबत बजती रहती है। पिंड··· = प्रिय ऐसे शून्य मे विराजमान है। छपी पोथियों के पाठ से इन पदों मे बड़ा अन्तर है (देखिए शब्दा. 96 और आगे), जहाँ आवश्यक है वही पाठान्तरो की चर्चा इस टिप्पणी मे कर दी गयी है, सर्वत्र नही।

II. क्षण···गावैं = क्षणभर या पलभर की आरती वहाँ नही होती, सारा ससार दिन-रात आरती उतारता रहता है। घुरत··· = निशान बजता है। गैब = विचित्र, अद्‌भुत। झालरा = झालर, झिलमिल ज्योति।

III. पीव की परख = प्रिय की पहचान; प्रिय से सर्वत्र भगवान् का तात्पर्य है।

IV. देख वोजूद मे अजव विसराम है
होय मौजूद तो सही पावै।
सुरत की डोर सुख-सिंध का झूलना
घोर की सोर तहँ नाद गावै।
नीर-विन कँवल तहँ देख अति फूलिया
कहै कवीर मन भँवर छावै॥

सुरत···आनै=अन्तर्मुखी बहिर्मुखी प्रवृत्तियो को मन मे लीन करके इड़ा और पिगला नाड़ियों के मार्ग में उन्हे ले आवे अर्थात् समाधि के लिए उद्बुद्ध करे। गंगा=इड़ा। यमुना=पिगला। वहाँ निर्मल नीर झरता है। अर्थात् विशुद्ध ज्ञानधारा बह रही है। छपी पोथियो के पाठ से यह भाव अधिक स्पष्ट होता है और पद मे तुक भी मिलती है :

कर्म और भर्म संसार सव करतु है पीव की परख कोई सन्त जानै।
सुरत और निरत मन पवन को पकरि करि गग और जमुन के घाट आनै॥
पाँच को नाथ करि साथ सोहं लिया अधर दरियाव का सुक्ख मानै।
कहैं कवीर सोई संत निर्भय धरा जन्म औ मर्न का भर्म भानै॥

इसमें पाँच को नाथने से ज्ञानेन्द्रियो को वश मे करने का भाव है। उन्हे भी साथ ले लेने का निर्देश है। अधर दरियाव=शून्य मे स्थित समुद्र (आनन्द का सागर)। भानै=वता सकता है या तोड़ (भग कर) सकता है।

IV. वोजूद (अरवी वुजूद)=सत्ता, अस्तित्व। देख···=उस परम सत्ता (परमात्मा) मे अद्भुत विश्राम मिलता है। मौजूद=परमात्मा की निकटता की अनुभूति। इस पंक्ति के वाद छपी पोथियों मे यह पक्ति है जो अर्थ को स्पष्ट करती है :

फेर मन पवन को घेर उलटा चढै
पाँच पच्चीस को उलटि लावै

भाव ऊपर के पद के समान ही है अर्थात् मन और पवन को जगत् की ओर जाने से रोककर उलटा चलावे—समाधि की ओर ले जावे और पाँच (ज्ञानेन्द्रिय) पच्चीस (तत्त्वों) को अन्तर्मुख करे। सुरति अर्थात् अन्तर्मुखी वृत्ति (भगवत्प्रवृत्ति) की डोरी पर सुख-समुद्र (परम आनन्द) का झूला लगावे। नाद (शब्द) वहाँ मेघ की भाँति गरजता रहता है और बिना पानी के ही उस समाधि मे कमल खिला दिखता है, मन-रूपी भँवर उस पर छा जाता है।

विशेष—'वज्द', 'वुजूद' और 'मौजूद' सूफी साधकों के पारमार्थिक शब्द है। 'वज्द' उल्लासमयी मत्तावस्था को कहते है। सूफी साधना में यह साधक के आरुरुक्षुभाव की पाँचवीं अवस्था का नाम है। इस अवस्था में साधक के चित्त में उल्लासजन्य मत्तता का भाव आता है। इसके बाद जो अवस्था

V. चक्र के बीज में कँवल अति फूलिया तासु का सुवरा कोइ सन्त जान।
शब्द की घोर चहुँ ओर तहँ होत है असीम समुंदर की सुक्ख मानै।
कहैं कबीर यों डूब सुख-सिंध में जन्म और मरन का भर्म भानै।
VI. पाँच की प्यास तहँ देख पूरी भई तीन की ताप तहँ लगै नाही।
कहै कबीर यह अगम का खेल है गैब का चाँदना देख माही।
जनम-मरन जहाँ तारी परत है होत आनन्द तहँ गगन गाजै।
उठत झनकार तहँ नाद अनहद घुरै तिरलोक-महल के प्रेम बाजै।
VII. चन्द्र-तपन कोटि दीप बरत है तूर बाजै तहाँ सन्त झूलै।
प्यार झनकार तहँ नूर बरसत रहै रस पीवै तहँ भक्त झूलै।

VIII. जनम-मरन बीच देख अन्तर नही
दच्छ और बाम यूँ एक आही।
कहै कबीर या सैन गूँगा तई
वेद कत्तेब की गम नाही॥

IX. अधर आसन किया सगम प्याला पिया
जोग की मूल जग जुगुति पाई।
पंथ बिन जाय चल सहर बेगमपुरे
दया जगदेव की सहज आई।

शुरू होती है उसे 'वुजूद' या स्थितिरूपा सत्ता कहते है। इसमें साधक का चित्त निर्द्वन्द्व होकर अपने में आप ही स्थिति पा जाता है। इसके बादवाली अवस्था का नाम 'मौजूद' है, जिसमें साधक परमात्मा का सान्निध्य अनुभव करता है और अपने को परमसत्ता मे स्थित पाता है।

V. भाव ऊपर के समान ही है।

VI. पाँच की प्यास = विषयो का सुख (ज्ञानेन्द्रियों के पाँच विषय है---शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध)। तीन की ताप = आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक दु:ख, दु:खत्रय। जनम'''परत है = जन्म और मरण की [illegible] ताली बजती रहती है। उठत'''बाजै = अन [illegible] ध्वनि की झन[illegible] होती रहती है। तिरलोक''' = त्रिलो[illegible] वहाँ बज[illegible] .से.)। छपी पोथियों मे 'त्रिकुटी-

ध्यान धर देखिया नैन-बिन पेखिया
अगम अगाध सब कहत गाई।
सहर बेगमपुरा गम्म को ना लहै
होय बेगम्म जो गम्म पावै।
गुना की गम्म का ना अजब बिसराम है
सैन जो लखै सोइ सैन गावै।
X. मुक्ख बानी तिको स्वाद कैसे कहै
स्वाद पावै सोइ सुक्ख मानै।
कहै कबीर या सैन गूंगा तई
होय गूंगा जोई सैन जानै।
XI. छक्याँ अवधूत मस्तान माता रहै
ज्ञान-वैराग्य सुधि लिया पूरा।
स्वाँस-उस्वाँस का प्रेम प्याला पिया
गगन गरजै तहाँ बजै तूरा ॥
XII. बिन कर ताँतियाँ नाद गाता रहै
जतन जरना लिया सदा खेलै।
कहैं कबीर प्रान प्रान-सिंध में मिलावै
परम सुखधाम तह प्रान मेलै ॥
XIII. आठहू पहर मतवाल लागी रहै
आठहू पहर की छाक पीवै।
आठहू पहर मस्तान माता रहै
ब्रह्म के देह मे भक्त जीवै।

रहता है) बैठकर साधन के अगम (रहस्यातीत) रस का प्याला पिया और वह योग की इस मूल युक्ति को पा गया है। यह बे-गमपुर शहर अर्थात् जिस शहर मे कोई गम नही है, केवल आनन्द ही आनन्द है, उसमें बिना किसी पन्थ (सम्प्रदाय-विहित उपासना मार्ग) के पहुँच जाता है; क्योंकि उसे जगदेव जगदीश्वर की दया सहज ही मिल जाती है। यहाँ ध्यान के द्वारा वह बिना आँखों की सहायता के ही उस वस्तु को देखता है जिसे अगम और अगाध कहा गया है। इस बे-गमपुर शहर तक पहुँच पाना कठिन है। वही पहुँच पाता है जो बे-गम हो जाता है, निर्द्वन्द्व हो जाता है।

X. मुक्ख = मूर्ख। तिको = उसका। गूंगे का सैन के लिए देखिए ऊपर (VIII)

XI. बिन···रहै = बिना हाथ के और बिना ताँत (तन्त्री = वीणा) के ही वहाँ नाद गाया करता है (राग बजाया करता है)।

XIII. आठहू पहर···की व्याख्या और छपे पाठ के लिए पृ. 337-38 देखिए।

कोटिन चन्द-सूर छिप जैहै, एक रोम उजियारा हो।
वही पार एक नगर बसुत है, बरसत अमृत-धारा हो।
कहै कबीर सुनो धरमदासा, लखो पुरुष दरबारा हो।—2-77

[19]

परमातम गुरु निकट विराजे
जाग जाग मन मेरे।
धाय के पीतम चरनन लागै
साईं खड़ा सिर तेरे।
जुगन जुगन तोहि सोवत बीता
अजहु न जाग सवेरे।—2-20

[20]

मन, तू पार उतर कहँ जैहो।
आगे पंथी पंथ न कोई, कूच-मुकाम न पैहो।
नहिं तहँ नीर, नाव नहिं खेवट, ना गुन खेंचनहारा।
धरनी-गगन-कल्प कुछ नाही, ना कछु वार न पारा।
नहिं तन, नहिं मन, नहीं अपनपौ सुन्न में सुद्धि न पैहो।
बलीवान होय पैठो घट मे, वाही ठौरें होइहौ।
बार हि बार बिचार देख मन, अंत कहूँ मत जैहौ।
कहै कबीर सब छाड़ि कलपना, ज्यों के त्यो ठहरैहौ।—2-22

[21]

घर घर दीपक बरै, लखै नहिं अन्ध है।
लखत लखत लखि परै, कटै जम फन्द है॥

—अविरत चलनेवाले शब्द (संगीत, राग) का प्रकाश। सेतसरुप राग = उज्ज्वल संगीत।

19. परमातम गुरु = परमात्मा-रूप गुरु।

20. गुन = नाव खींचने की रस्सी। सुन्न मे = शून्य में सुधि या खोज। पद का भाव यह है कि जीवात्मा अपने को ही ब्रह्म मान लेता है तो वह अभेदजन्य भ्रान्ति का शिकार हो जाता है। अपनी कल्पना से ही वह अपने को शून्य-स्वरुप समझने लगता है और उसमें अपने रूप को ही नही खोज पाता। दे. अनुच्छेद 4)। कबीरदास कहते हैं कि सब कल्पना छोड़ो, तभी अपने वास्तविक स्वरूप में स्थिर होगे।

21. घर घर दीपक··· = प्रत्येक घर में दीपक जलता है, अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति के

कहन-सुनन कछु नाहिं, नहीं कछु करन है।
जीते जो मरि रहै, बहुरि नहिं मरन है॥
जोगी पड़े बियोग, कहै घर दूर है।
पासहि बसत हजूर, तू चढ़त खजूर है॥
बाह्मन दिच्छा देता घर घर घालिहै।
मूर सजीवन पास, तू पाहन पालिहै॥
ऐसन साहब कबीर सलोना आप है।
नहीं जोग नहीं जाप पुन्न नहीं पाप है॥

[22]

साधो, सो सतगुरु मोहि भावै।
सत्त प्रेम का भर भर प्याला, आप पिवै मोहि प्यावै।
परदा दूर करै आँखिन का, ब्रह्म दरस दिखलावै।
जिस दरसन मे सब लोक दरसै, अनहद सब्द सुनावै।
एकहि सब सुख-दुख दिखलावै, सब्द में सुरत समावै।
कहैं कबीर ताको भय नाही, निर्भय पद परसावै।—2-38

[23]

तिमिर साँझ का गहिरा आवै, छावै प्रेम मन-तन में।
पच्छिम दिस की खिड़की खोलो, डूबहु प्रेम-गगन में।
चेत-कँवल-दल रस पीयो रे, लहर लेहु या तन मे।
संख घंट सहनाई बाजै, शोभा-सिंध महल में।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, अमर साहब लख घट में।—2-40

भीतर भगवान् की ज्योति है। लखत'''=देखने का अभ्यास करने से वह दिखायी देता है। जीतेजी'''=जो जीते जी ही मर गया—इच्छा-द्वेष से परे हो गया, वह फिर नहीं मरने का। जोगी'''=योगी भगवान् को न पाकर वियोग में पड़े रहते हैं और घर को—अपने लक्ष्य को—दूर बताते हैं। पास ही भगवान् हैं; क्योंकि वे अंग-अंग में व्याप्त हैं, तो भी खजूर पर चढ़ते हैं, अर्थात् समाधि लगाते हैं। दिच्छा=दीक्षा, शिष्य को मन्त्र देना। घालिहै=चौपट करेगा। मूर सजीवन=संजीवनी बूटी। [illegible]=पत्थर=मूर्ति,

[24]

जिससे रहनि अपार जगत मे, सो प्रीतम मुझे पियारा हो।
जैसे पुरइनि रहि जल-भीतर, जलहि मे करत पसारा हो।
याके पानी पत्र न लागै, ढलकि चलै जस पारा हो।
जैसे सती चढ़े अगिन पर, प्रेम-वचन ना टारा हो।
आप जरै औरनि को जारै, राखै प्रेम-मरजादा हो।
भवसागर इक नदी अगम है, अहद अगाह धारा हो।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, बिरले उतरे पारा हो। —2-48

[25]

हरि ने अपना आप छिपाया।
हरि ने नफीज कर दिखराया ॥

गहरा होता आ रहा है, पश्चिम की खिड़की खोल दो, प्रेम के आकाश में अपने को डुबा दो। सायंकाल प्रिय-समागम की तैयारी का समय है। पिण्ड मे 'पश्चिम' का अर्थ है पीठ की ओर—सुषुम्ना मार्ग। भक्तरूपी प्रेयसी का तन और मन रोमांच और औत्सुक्य से भर गया है—छावै प्रेम मन तन मे। चित्त-रूपी कमल दल का रस पान करो—मन ही मे उस परम सुख का साक्षात्कार करो। शरीर मे प्रेम की लहरें तरंगित हो। शोभा का समुद्र जो यह महल है—अन्त.करण है—वहाँ मिलन का सूचक शंख-घण्टा और शहनाई आदि बाजे बज रहे हैं। कबीरदास कहते है कि ऐ साधु, तू अमर साहब को—अक्षय सुहाग देनेवाले स्वामी को अपने भीतर ही देख।

सायंकाल का अँधेरा अनेक सन्तों के काव्य मे बुढ़ापे का प्रतीक है। किन्तु इस पद में यह प्रियसमागम-काल का प्रतीक है। पिण्ड में इसका योग-परक अर्थ इस प्रकार होगा—सुषुम्ना-मार्ग खोल दो और इस प्रकार गगन (शून्य, सहस्रार) में समाधिजन्य प्रेम का अनुभव करो। इस समाधिकाल मे शंख, घण्टा, काहल आदि की ध्वनि पहले सुनायी देती हैं, फिर वह उपरत हो जाती है और साधक परम-ज्योति की अपूर्व शोभा देखता है और परमात्मा को घट में ही प्राप्त करता है।

24. रहनि अपार=अनन्त काल के लिए रहना; शाश्वत स्थिति। पुरइनि= कमल का पत्ता, जिस पर से पानी पारे की तरह ढरक जाता है। कमलपत्र की उपमा उन लोगों के लिए दी जाती है जो संसार मे रहकर भी संसार के मोह में नही फँसते।

25. हरि ने···=भगवान् ने अपने-आपको छिपा रखा है। नफीज=नफीस, सुन्दर।

हरि ने मुझे कठिन विष घेरी।
    हरि ने दुविधा काटी मेरी॥
हरि ने सुख-दुख बतलाये।
    हरि ने सब द्वंद मिटाये॥
ऐसे हरि पैं तन-मन वारूँ।
    प्राणहिं तजूँ हरि नहीं बिसारूँ॥—2-45

[26]

ओंकार सर्व कोई सिरजै, रागस्वरूपी अंग।
निराकार निर्गुन अविनासी, कर वाही को संग॥
नाम निरजन नैनन-मद्धे, नाना रूप धरंत।
निरंकार निर्गुन अविनासी, अपार अथाह अंग॥
महासुक्ख मगन होइ नाचैं, उपजै अंग तरंग।
मन और तन थिर न रहतु है, महा सुक्ख के संग॥
सब चेतन सब अनन्द सब है दुःख गहन्त।
कहाँ आदि कह अन्त आप सुक्ख बिच धरंत॥—2-75

[27]

सतगुरु सोइ दया करि दीन्हा।
    तातें अन-निन्हार मैं चीन्हा॥
बिन पग चलना बिन पर उड़ना, बिना चूँच का चुगना।
बिन नैनन का देखन-पेखन, बिन सरवन का सुनना।
चंद न सूर दिवस नहिं रजनी, तहाँ सुरत लौ लाई।
बिना अन्न अंमृत-रस-भोजन, बिन जल तृषा बुझाई।
जहाँ हरस तहँ पूरन सुख है, यह सुख कासों कहना।
कहैं कबीर बस बल सतगुरु की, धन्न सिष्य का सहना।—2-81

26. ओंकार जो सबकी सृष्टि करता है, भगवान् का रागरूपी—प्रेमरूपी अंग है। नाम…धरंत=यद्यपि उनका नाम निरंजन है तथापि वे नानारूप धारण करते रहते हैं। महासुक्ख…संग=महा-आनन्द में मग्न [illegible] नाच रहे

[28]

निरगुन आगे सरगुन नाचै,
बाजै सोहँग तूरा।
चेला के पाँव गुरूजी लागैं,
यही अचम्भा पूरा ॥ —2-85

[29]

प्रश्न

कबीर, कब से भये बैरागी।
तुम्हारी सुरति कहाँ को लागी ॥

उत्तर

वइचित्रा का मेला नाही, नहीं गुरू नही चेला।
सकल पसारा जिन दिन नाही, जिहि दिन पुरुप अकेला ॥
गोरख, हम तबके अहैं बैरागी।
हमारी सुरति ब्रह्म सों लागी।
ब्रह्म नहिं जब टोपी दीन्ही, बिस्नु नही जब टीका।
सिव-सक्ती कै जनमै नाही, तबै जोग हम सीखा ॥
कासी में हम प्रगट भये हैं, रामानंद चेताये।
प्यास अहद की साथ हम लाये, मिलन-करन को आये ॥
सहजै सहजै मेला होइगा, जागी भक्ति उतंगा।
कहैं कबीर सुनो हो गोरख, चलो गीत के संगा ॥—2-87

28. निर्गुण के आगे सगुण नाच रहे हैं और सोऽहं का तूर्य बज रहा है। सोऽहं = 'वह मैं ही हूँ' ऐसी अभेद की प्रतीति। यहाँ 'वह' निर्गुण ब्रह्म है और 'मैं' जीव है। जीवन का अहंकार ही उसे ब्रह्म के साथ एक अनुभव करता है, ऐसा कबीरपन्थी मत है (दे. अनु. 4)। यह ऐसा हुआ मानो गुरु (परब्रह्म) चेला (जीव) के पैरों पडते है। क्योंकि सोऽहं मे सः (= वह = ब्रह्म) दूर का होने से अप्रधान होता है और अहं (मैं = जीव) निकट का होने से प्रधान।

29. वइचित्रा = वैचित्र्य, नानात्व, एक का अनेक होना। ब्रह्मा···टीका = ब्रह्मा ने सब सृष्टि-रचना का अधिकार नही पाया था और विष्णु ने भी पालन करने का अधिकार नही पाया था। टोपी देना = राज्य पाना। टीका लेना = सिंहासन पर अभिषिक्त होना। प्यास अहद की = असीम को पाने की ···
उतंगा = ऊँची।

[30]

या तरिवर में एक पखेरू, भोग सरस वह डोलै रे।
वाकी संध लखै नहिं कोई, कौन भाव सो बोलै रे।
दुर्म्म-डार तहँ अति घन छाया, पंछी वसेरा लेई रे।
आवै सांझ उड़ि जाय सवेरा, मरम न काहू देई रे।
सो पंछी मोहि कोई न वतावै, जो वोलै घटमाँही रे।
अवरन-वरन रूप नहिं रेखा, वैठा प्रेम के छाँही रे।
अगम अपार निरन्तर वासा, आवत-जात न दीसा रे।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, यह कछु अगम कहानी रे।
या पंछी के कौन ठौर है, बूझो पंडित ज्ञानी रे। —2-95

[31]

निस-दिन सालै घाव, नीद आवै नही।
पिया-मिलन की आस, नैहर भावै नही।
खुल गये गगन-किवाड़, मन्दिर उजियार भयो।
भयो है पुरुष से भेट तन-मन वार दयो।।—2-100

[32]

नाचु रे मेरे मन मत्त होय।
प्रेम को राग वजाय रैन-दिन शब्द सुनै सब कोइ।
राहु-केतु नवग्रह नाचै जन्म जन्म आनंद होइ।
गिरी-समुन्दर धरती नाचै, लोक नाचै हँस-रोइ।
छापा-तिलक लगाइ वाँस चढ़, हो रहा जग से न्यारा।
सहस कला कर मन मेरो नाचै, रीझै सिरजनहारा।।—2-103

गीत = शब्द—राग। यह पद गोरखनाथ और कबीर के संवाद के रूप में लिखा गया है और परवर्त्ती जान पड़ता है। इसका भाव है कि आत्मा ब्रह्मा, विष्णु और शिव के सृष्ट होने के पूर्व भी विद्यमान था। इस भाव के दोहे क. ग्रं. में भी मिलते है (दे. पद. 117)।

30. इस पद के पखेरू और पछी (पक्षी) शब्द जीवात्मा (हंस) के वाचक हैं। भोग रे = सरस संभोग के रस से मस्त होकर वह झूम रहा है। संध = सन्धान, खोज, परिचय। दुर्म्म = द्रुम, पेड, यहाँ मनुष्य के शरीर से मतलब है। मरम···रे = किसी को अपना मर्म (रहस्य) नहीं जानने देता।

31. गगन किवाड़ = शून्य का दरवाजा, यानी साधना के पक्ष में समाधि।

32. भाव यह है कि सृष्टि के आनन्द से समस्त चराचर ब्रह्माण्ड नाच रहा है, ग्रह-

[33]

मन मस्त हुआ तब क्यों बोले।
हीरा पायो गाँठ गठियायो, वार वार वाको क्यों खोले।
हलकी थी तब चढ़ी तराजू, पूरी भई तब क्यों तोले।
सुरत-कलारी भई मतवारी मदवा पी गई बिन तोले॥
हंसा पाये मानसरोवर, ताल तलैया क्यों डोले।
तेरा साहब है घर माही, बाहर नैना क्यों खोले।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, साहब मिल गये तिल ओले॥—2-105

[34]

मोंहि-तोंहि लागी कैसे छूटे।
जैसे कमलपत्र जल बासा,
ऐसे तुम साहिब हम दासा॥
जैसे चकोर तकत निस चंदा,
ऐसे तुम साहिब हम बंदा॥
मोंहि-तोंहि आदि-अन्त बन आई,
अब कैसे लगन दुराई॥
कहैं कबीर हमरा मन लागा,
जैसे सरिता सिंध समाई॥—2-110

[35]

बालम आवो हमारे गेह रे।
तुम बिन दुखिया देह रे।

तारिकाएँ, पहाड़-समुद्र सब उल्लास के साथ नाच रहे है। हँसकर या रोकर सारा लोक ही नाच रहा है। फिर, ऐ मेरे मन, क्यों न मेरे साथ तू भी मत्त होकर नाचे? नाचना तो पड़ेगा ही, फिर प्रसन्न होकर आनन्द का नृत्य कर। छापा-तिलक लगानेवाले अपने को दुनिया से विशेष समझते है। उनका अपने को अलग समझना वैसा ही उपहासास्पद है जैसा धरती-पहाड़ को नाचते देख कोई आदमी धरती मे बाँस गाड़कर ऊपर जा बैठे और समझ ले कि वह इस विकट नृत्य से छुटकारा पा गया। मेरा मन सहस्र कला पर नाच रहा है और इस नाच से सिरजनहार रीझ रहा है, क्योंकि उसने लीला ही के लिए तो सब-कुछ सिरजा है।

33. इस पद के भीतरी अर्थ के लिए पृ. 364-65 देखिए। सुरतकलारी'''तोले =सुरतिरूपी कलारी (मद्य बेचनेवाली) ने मत्त होकर बिना तौले ही बहुत पी लिया। तिल ओले = तिल की ओट मे।

सब कोई कहै तुम्हारी नारी, मोकों लागत लाज रे।
दिल से नहीं दिल लगायो, तब लग कैसा सनेह रे।
अन्न न भावै नींद न आवै, गृह-बर धरै न धीर रे।
कामिन को है बालम प्यारा, ज्यों प्यासे को नीर रे।
है कोई ऐसा पर-उपकारी, पियसों कहै गुनाय रे।
अब तो बेहाल कबीर भयो है, बिन देखे जिय जाय रे ॥—2-113

[36]

जाग पियारी अब का सोवै।
रैन गई दिन काहे को खोवै ॥
जिन जागा तिन मानिक पाया।
तैं बौरी सब सोय गँवाया ॥
पिये तेरे चतुर तू मूरख नारी।
कबहुँ न पिय की सेज सँवारी ॥
तैं बौरी बौरापन कीन्हों।
भर-जोवन पिय अपन न चीन्हों ॥
जाग देख पिय सेज न तेरे।
ताहि छाँड़ि उठि गये सबेरे ॥
कहैं कबीर सोई धुन जागै।
शब्द-बान उर-अन्तर लागै ॥—2-126

[37]

I. सूर-परकास, तहँ रैन कहँ पाइये
रैन-परकास नहिं सूर भासै,
ज्ञान-परकास अज्ञान कहँ पाइये
होय अज्ञान तहँ ज्ञान नासै।
काम बलवान तहँ प्रेम कहँ पाइये
प्रेम जहाँ होय तहँ काम नाहीं।
कहैं कबीर यह सत्त विचार है
समझ विचार कर देख माँही।

37. I. जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश होने से रात नहीं रहती और रात जहाँ होती है वहाँ सूर्य का प्रकाश नहीं रहता, उसी प्रकार जहाँ ज्ञान का प्रकाश होता है वहाँ अज्ञान नहीं रहता और अज्ञान जहाँ रहता है वहाँ ज्ञान नहीं होता। इसी प्रकार जहाँ काम बलवान है वहाँ प्रेम नहीं और जहाँ प्रेम बलवान होता है वहाँ काम नहीं रहता। ज्ञान और अज्ञान का तथा प्रेम और काम का सम्बन्ध प्रकाश और अन्धकार के सम्बन्ध के समान है।

II. पकड़ समसेर संग्राम में पैसिये
देह-परजन्त कर जुद्ध भाई।
काट सिर बैरियां दाब जहँ का तहाँ
आय दरबार में सीस नवाई ॥

III. सूर संग्राम को देख भागै नही,
देख भागै सोई सूर नाही।
काम और क्रोध मद लोभ से जूझना,
मचा घमसान तन-खेत माँही।
सील और साँच सन्तोष साही भये,
नाम समसेर तहाँ खूब बाजे।
कहै कबीर कोइ जूझिहै सूरमा
कायराँ भीड़ तहँ तुर्त भाजे ॥

IV. साधको खेल तो विकट बेंड़ा मती
सती और सूर की चाल आगे।
सूर घमसान है पलक दो चार का
सती घमसान पल एक लागै।
साध संग्राम है रैन-दिन जूझना
देह परजन्त का काम भाई ॥—1-34

[38]

भ्रम का ताला लगा महल रे, प्रेम की कुंजी लगाव।
कपट-किवड़िया खोल के रे, यहि बिधि पिय को जगाव ॥
कहै कबीर सुनो भाई साधो, फिर न लगै अस दाव ॥—1-50

[39]

साधो, यह तन ठाठ तँबूरे का।
ऐंचत तार मरोरत खूंटी, निकसत राग हजूरे का ॥
टूटे तार बिखरगे खूंटी, हो गया धूरम-धूरे का।
कहँ कबीर सुनो भाई साधो, अगम पंथ काई सूरे का ॥ —1-59

II. समसेर = तलवार। (दे. पृ. 341-42)

III. सूर युद्ध से भागता नही और जो भागता है वह सूर नहीं। तनरूपी खेत (मैदान) में काम-क्रोध आदि शत्रुओं से घमासान मची हुई है। साही = साथी।

IV. दे. पृ. 345-46। विकट बेंड़ा = अत्यन्त कठिन।

39. यह शरीर तम्बूरे का तार है। ऐंचत···का = जिस प्रकार तम्बूरे की खूंटियाँ

[40]

अवधू, भूले को घर लावै।
सो जन हमको भावै॥
घर मे जोग भोग घर ही में, घर तज वन नहिं जावै।
घर मे जुक्त मुक्त घर ही में, जो गुरु अलख लखावै।
सहज सुन्न मे रहै समाना, सहज समाधि लगावै।
उन्मुनि रहै ब्रह्म को चीन्है, परम तत्त्व को ध्यावै।
सुरत-निरत सों मेला करके, अनहद नाद बजावै।
घर में बसत वस्तु भी घर है, घर ही वस्तु मिलावै॥
कहैं कबीरा सुनो हो साधू, ज्यों का त्यो ठहरावै॥ —1-65

[41]

सन्तो, सहज समाधि भली।
साँईते मिलन भयो जा दिनतें सुरत न अन्त चली॥
आँख न मूँदूँ कान न रूँधूँ, काया कष्ट न धारूँ।
खुले नैन मैं हँस हँस देखूँ, सुन्दर रूप निहारूँ॥
कहूँ सो नाम सुनूँ सो सुमिरन, जो कुछ करूँ सो पूजा।
गिरह-उद्यान एकसम देखूँ, भाव मिटाऊँ दूजा॥
जहँ जहँ जाऊँ सोई परिकरमा, जो कुछ करूँ सो सेवा।
जब सोऊँ तब करूँ दण्डवत, पूजूँ और न देवा॥
शब्द निरन्तर मनुआ राता, मलिन वचन का त्यागी।
ऊठत-बैठत कबहुँ न बिसरै, ऐसी तारी लागी॥
कहैं कबीर यह उनमुनि रहनी, सो परगट कर गाई।
सुख-दुख के इक परे परम सुख, तेहि में रहा समाई॥ —1-76

मरोड़ने से और तार खींचने से सुन्दर ध्वनि निकलती है, उसी प्रकार इन्द्रिय-दमन और मन के संयम से भगवान् का राग इसमें से प्रकट होता है। राग में श्लेष है (1) संगीत (2) प्रेम। टूटे··· = जब इन्द्रिय और मन-बुद्धि आदि का समवाय नष्ट हो जाता है, यह स्थूल और सूक्ष्म शरीर पूर्ण-विचूर्ण हो जाता है, तब जीव निज स्वरूप में स्थिर होता है। यह अगम पन्थ किसी शूर का ही हो सकता है।

40. सच्चा योग गृहस्थाश्रम में ही सम्भव है। सहज सुन्न··· = सहज ही शून्य में समा जाय (हठयोग आदि की क्रिया से नहीं), सहज समाधि लगावै (दे. पृ. 250-51)। उनमुनि = उन्मनी (दे. पृ. 237)। सुरत-निरत (देखिए ऊपर पद 17 की व्याख्या)। ज्यों का त्यों = निजरूप, हंस देह (दे. अनु. 4)।

41. (देखिए पृ. 315)

तीरथ में तो सब पानी है होवे नही कछु अन्हाय देखा।
प्रतिमा सकल तो जड़ हैं भाई, बोलें नही बोलाय देखा।
पुरान कोरान सबै बात है, या घट का परदा खोल देखा।
अनुभव की बात कबीर कहै यह, सब है झूठी पोल देखा ॥ —1-79

[43]

पानी बिच मीन पियासी।
मोहिं सुन सुन आवै हाँसी ॥
घर में वस्तु नजर नहिं आवत।
वन बन फिरत उदासी ॥
आतमज्ञान बिना जग झूंठा।
क्या मथुरा क्या कासी। —1-82

[44]

गगन मठ गैब निसान उड़े।
चन्द्रहार चँदवा जँह टाँगे, मुक्ता-मानिक मढे।
महिमा तासु देख मन थिरकर, रवि-ससि जोत जरे।
कहै कबीर पियै जोई जन, माना फिरत मरे। —1-97

[45]

साधो, को है कहँसें आयो।
तेहि के मन धौ कहाँ बसत है, को धौ नाच नचायो ॥
पावक सर्व अंग काठहिमे, को धौं डहक जगायो।
हो गया खाक तेज पुनि वाको, कहुँ धौ कहाँ समायो ॥
अहै अपार पार कछु नाही, सतगुरु जिन्है लखायो।
कहैं कबीर जेहि सूझ-बूझ जस, तेई तस आज सुनायो ॥ —1-94

43. *भाव यह है कि भगवान् तो घट-घटवासी है, फिर भी मूर्ख लोग उन्हें बाहर* खोजते फिरते है। आत्मज्ञान से ही वह मिलते है, तीर्थव्रत से नही।

44. गैब = अद्भुत।

45. पावक··· = काठ मे सर्वत्र अग्नि है, फिर यह प्रकट कैसे होती है और प्रकट होने के बाद काठ को भस्म करके कहाँ लीन हो जाती है? भाव यह है कि भगवान् भी सर्वव्यापक हैं; साधना से मिलते है और साधक के स्थूल शरीर को समाप्त करके फिर भी सर्वव्यापक बने रहते हैं। साधक के भीतर भगवान् की ही ज्योति जलती है।

[46]

साधो, सहजै काया सोधो।
जैसे वट का बीज ताहि मे पत्र-फूल-फल-छाया।
काया मद्धे बीज विराजे, बीजा मद्धे काया।
अग्नि-पवन-पानी-पिरथी-नभ, ता-बिन मिलै नाही।
काजी पंडित करो निरनय को न आपा माही।
जल-भर कुंभ जलै बिच धरिया, बाहर-भीतर सोई।
उनको नाम कहन को नाहीं, दूजा धोखा होई।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, सत्य-शब्द निज सारा।
आपा-मद्धे आपै बोलै, आपै सिरजनहारा। —1-98

[47]

तरवर एक मूल बिन ठाढ़ा, बिन फूले फल लागे।
साखा-पत्र कछू नहि ताके, सकल कमल-दल गाजे।
चढ़ तरवर दो पंछी बोले, एक गुरू एक चेला।
चेला रहा सो रस चुन खाया, गुरू निरन्तर खेला।
पंछी के खोज अगम परगट, कहैं कबीर बड़ी भारी।
सब ही मूरत बीज अमूरत, मूरत की बलिहारी॥ —1-102

[48]

चलत मनसा अचल कीन्ही, मन हुआ रंगी।
तत्त्व में निहतत्त्व दरसा, संग मे संगी॥

46. काया (शरीर) की शुद्धि सहज ही होती है, स्वेच्छाचार से नहीं। जिस प्रकार वट के बीज में ही उसके वृक्ष की सत्ता रहती है और उस सत्ता के अभाव में वृक्ष भी नही होता और पवन-पानी आदि भी नही पा सकता, उसी प्रकार आपा (=आत्मा) मे ही सब-कुछ है। जीवात्मा वस्तुतः परमात्मा से भिन्न नहीं है। जल से भरा हुआ घड़ा जैसे समुद्र मे डुबाया जाय वैसे भगवान् की असीम सत्ता के भीतर ही इस शरीर से आच्छन्न भगवदंश जीव है। उनको··· = उनका नाम लेना उचित नहीं; क्योंकि नाम लेने से भ्रम हो सकता है कि वे मुझसे भिन्न है।
47. तरवर = संसार; मूल बिना खड़ा है अर्थात् मायाजन्य है। गुरु = भगवान्। चेला = जीव। रस चुन खाया = भोग भोगता रहा। गुरु···खेला = भगवान् लीला करते रहे। मूरत···बलिहारी = समस्त मूर्त्तियां यानी रूपों मे वह अमूरत (अमूर्त, रूपहीन) होकर वर्त्तमान है, बलिहारी है उसकी इस मूर्ति (स्वरूप) की।

बंधते निर्बन्ध कीन्हा, तोड़ सब तंगी।
कहै कबीर अगम गम कीया, प्रेम रंग रगी ॥ —1-107

[49]

जो दीसै सो तो है नाही, है सो कहा न जाई।
बिन देखै परतीत न आवै, कहै न को पतियाना।
समझ होय तो शब्दै चीन्है, अचरज होय अयाना।
कोई ध्यावै निराकार को, कोई ध्यावै आकारा।
या विधि इस दोनो तें न्यारा, जानै जाननहारा।
वह राग तो लखा न जाई, मात्रा लगै न काना।
कहै कबीर सो पढ़ै न परलय, सुरत-निरत जिन जाना। —1-105

[50]

मुरली बजत अखंड सदा से, तहाँ प्रेम झनकारा है।
प्रेम-हद्द तजी जब भाई, सत्त लोक की हद्द पुनि आई ॥
उठत सुगंध महा अधिकाई, जाको वार न पारा है।
कोटि भान राग को रूपा, बीन सत-धुन बजै अनूपा ॥ —1-126

[51]

सखियो, हमहुँ भई बलमासी।
आयो जोवन विरह सतायो, अब मैं ज्ञान गली अठिलाती।
ज्ञान-गली में खबर मिल गये, हमें मिली पिया की पाती।
वा पाती में अगम सँदेसा, अब हम मरने को न डराती।
कहत कबीर सुनो भाई प्यारे, वर पाये अविनासी। —1-129

[52]

साईं बिन दरद करेजे होय।
दिन नहिं चैन रात नहिं निदिया, कासे कहूँ दुख होय।
आधी रतियाँ पिछले पहरवा, साईं बिना तरस रही सोय।
कहत कबीर सुनो भाई प्यारे, साईं मिले सुख होय ॥ —1-130.

[53]

कौन मुरली-शब्द सुन आनन्द भयो
जोत बरे बिन बाती।

51. भई बलमासी = बालम को पाने की उत्कट अभिलाषावाली हो गयी।

बिना मूल के कमल प्रगट भयो
फुलवा फुलत भाँति भाँती।
जैसे चकोर चन्द्रमा चितवै
जैसे चातृक स्वाँती।
तैसे सन्त सुरत के होके
हो गये जनम सँघाती॥ —1-122

[54]

सुनना नही धुन की खबर, अनहद का वाजा बाजता।
रस मंद मंदिर बाजता, बाहर सुने तो क्या हुआ।
इक प्रेम-रस चाखा नहीं, अमली हुआ तो क्या हुआ॥
काजी किताबें खोजता, करता नसीहत और को।
महरम नही उस हाल से, काजी हुआ तो क्या हुआ।
जोगी दिगंबर सेवड़ा, कपड़ा रँगे रँग लाल से।
वाकिफ नही उस रंग से, कपड़ा रँगे से क्या हुआ॥
मन्दिर-झरोखा-रावटी, गुल चमन में रहते सदा।
कहते कबीरा हैं सही हर-दम में साहिब रम रहा॥—1-112

[55]

भक्ति का मारग झीना रे।
नहिं अचाह नहिं चाहना, चरनन लौ लीना रे।
साधन के रस-धार मे, रहे निस-दिन भीना रे।
राग मे स्रुत ऐसे बसे, जैसे जल मीना रे।
साँई सेवन मे देत सिर, कुछ बिलम न कीना रे।
कहै कबीर मत भक्ति का, परगट कर दीना रे। —(1-73)

[56]

भाई, कोई सतगुरु सन्त कहावै।
नैनन अलख लखावै॥
प्राण पूज्य किरियाते न्यारा, सहज समाधि सिखावै।
द्वार न रूँधे पवन न रोके, नहिं भवखण्ड तजावै।
यह मन जाय यहाँ लग जब ही परमातम दरसावै।
करम करै नि.करम रहै जो, ऐसी जुगत लखावै।

54. अमली = नशा सेवन करने का अभ्यस्त। महरम = परिचित। सेवड़ा = श्वेतपट, श्वेताम्बर जैन साधु।

सदा विलास त्रास नहिं तन मे, भोग में जोग जगावै।
धरती-पानी आकाश-पवन में अधर मँडैया छावै।
सुन्न सिखर के सार सिला पर, आसन अचल जमावै।
भीतर रहा सो बाहर देखै, दूजा दृष्टि न आवै। —1-68

[57]

साधो, शब्द-साधना कीजै।
जे ही शब्द ते प्रगट भये सब, सोई शब्द गहि लीजै॥
शब्द गुरु शब्द सुन सिख भये, शब्द सो बिरला बूझै।
सोई शिष्य सोई गुरु महातम, जेहिं अन्तर-गति सूझै॥
शब्दै वेद-पुरान कहत है, शब्दै सठ ठहरावै।
शब्दै सुर-मुनि-सन्त कहत हैं, शब्द-भेद नहिं पावै॥
शब्दै सुन सुन भेष धरत है, शब्दै कहै अनुरागी।
षट-दर्शन सब शब्द कहत है, शब्द कहै वैरागी॥
शब्दै काया जग उतपानी, शब्दै केरि पसारा।
कहै कबीर जहँ शब्द होत है, भवन भेद है न्यारा॥ —1-66

[58]

पीले प्याला हो मतवाला
प्याला नाम अमीरस का रे।
कहैं कबीर सुनो साधो
नख सिख पूर रहा विष का रे। —1-63

[59]

खसम न चीन्है बावरी, का करत बड़ाई।
बातन लगन न होयँगे, छोड़ो चतुराई।
साखी शब्द सदेश पढि, मत भूलो भाई।
सार-प्रेम कछु और है, खोजा सो पाई॥ —1-52

[60]

सुखसिंध की सैर का स्वाद तब पाइ है,
चाह का चौतरा भूल जावें।

58. मनुष्य का शरीर नख से शिखा तक विषयरूपी विष से भरा है। उसमें रक्षा पाने का साधन नामरूपी अमृत-रस का पान करना ही है।
59. खसम = पति, परमात्मा।
60. चाह के माँहि = इच्छा के भीतर।

बीज के माँहि ज्यों बीज विस्तार यों
चाह के माँहि सब रोग आवै ॥ —1-56

[61]

सुख सागर में आय के मत जा रे प्यासा।
अजहूँ समझ नर बावरे, जम करत निरासा ॥
निर्मल नीर भरे तेरे आगे, पी ले स्वाँसो स्वाँसा।
मृगतृस्ना-जल छाँड़ बावरे, करो सुधारस आसा ॥
ध्रुव-प्रहलाद-शुकदेव पिया, और पिया रैदासा।
प्रेमहि संत सदा मतवाला, एक प्रेम की आसा।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, मिट गई भय की बासा॥ —1-48

[62]

सती को कौन सिखावता है,
सँग स्वामी के तन जारना जी।
प्रेम को कौन सिखावता है,
त्याग माँहि भोग का पावना जी। —1-35

[63]

अरे मन धीरज काहे न धरै।
पसु-पंछी जीव कीट-पतंगा सबकी सुद्ध करै।
गर्भ-वास में खबर लेतु है बाहर क्यों बिसरै।
मन तू हसन से साहेब के भटकत काहे फिरै।
प्रीतम छाँड़ और को धारै, कारज इक न सरै॥ —1-39

[64]

साँई से लगन कठिन है भाई।
जैसे पपीहा प्यासा बूँद का, पिया पिया रट लाई।

61. सुधारस = भगवान् से प्रेम। मृगतृष्णा = विषय-सुख।
63. हसन से साहेब के = सुन्दर प्रभु के रहते हुए।
64. साँई, प्रिय, बालम आदि शब्दों से कबीरदास का मतलब परमात्मा से है। ये पद समासोक्ति पद्धति पर लिखे गये हैं। एक-दो विशेषणों से ही इन पदों के वाच्यार्थ के साथ-ही-साथ अप्रस्तुत अर्थ उपस्थित हो जाता है। श्लेष इनमें नहीं है। इसीलिए प्रत्येक पद के दो-दो अर्थ खोजना ठीक नहीं होता। ये रूपक भी नहीं हैं; इसलिए प्रत्येक पद में किसका आरोप किया है, यह प्रश्न भी

प्यासे प्राण तड़फै दिन-राती, और नीर ना भाई।
जैसे मिरगा शब्द-सनेही, शब्द सुनन को जाई।
शब्द सुनै और प्रानदान दे, तनिको नाहिं डराई।
जैसे सती चढ़ी सत-ऊपर, पिया की राह मन भाई।
पावक देख डरे वह नाहीं, हँसत बैठे सदा माई।
छोड़ो तन अपने की आसा, निर्भय ह्वै गुन गाई।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, नाहिं तो जनम नसाई। —1-117

[65]

जब मैं भूला रे भाई,
मेरे सतगुरु जुगत लखाई।
किरिया-करम-अचार छांड़ा, छांडा तीरथ का न्हाना।
सगरी दुनिया भई सयानी, मै ही इक बौराना।
ना मैं जानूं सेवा-बँदगी, ना मैं घटा बजाई।
ना मैं मूरत धरी सिंहासन, ना मैं पुहुप चढाई।
ना हरि रीझै जप तप कीन्हे, ना काया के जारे।
ना हरि रीझै धोती छांडे, ना पाँचों के मारे।
दया राखि धरम को पालै, जग सो रहे उदासी।
अपना-सा जिव सबको जानै, ताहि मिलै अविनासी।
सहै कुशब्द वाद को त्यागै, छांड़ै गर्व-गुमाना।
सत्त नाम ताही को मिलिहै कहै कबीर सुजाना ॥—1-22

[66]

मन ना रँगाये रँगाये जोगी कपड़ा।
आसन मारि मंदिर मे बैठे
ब्रह्म-छाँड़ि पूजन लागे पथरा ॥
कनवा फड़ाय जटवा बढौले
दाढ़ी बढ़ाय जोगी होई गैले बकरा।
जंगल जाय जोगी धुनिया रमौले
काम जराय जोगी होय गैले हिजरा ॥

ठीक नहीं है। ये सीधे प्रेम-व्यापक पद है जिनमे कुछ विशेषणों का प्रयोग इस प्रकार किया गया है जिससे अप्रस्तुत भगवत्प्रेम प्रधान होकर स्वयं उपस्थित हो जाता है। 73, 85, 88, 95, 98 आदि पद ऐसे ही हैं।

66. कनवा फड़ाय = कनफटे योगी कान चीरकर कुण्डल धारण करते है। धुनिया रमौते = धूनी रमाई। लवरा = झूठा। वढ़ौले = बढ़ाया। गैले = गया।

मथवा मुँड़ाय जोगी कपड़ा रंगौले,
गीता बाँच के होय गैले लबरा।
कहहिं कबीर सुनो भाई साधो,
जम दरवजवा बाँधल जैबे पकड़ा ॥—1-20

[67]

ना जानै तेरा साहब कैसा है।
मुल्ला होकर बाँग जो देवें,
क्या तेरा साहब बहरा है।
कीड़ी के पग नेवर बाजे
सो भी साहब सुनता है।
माला फेरी तिलक लगाया,
लंबी जटा बढ़ाता है।
अन्तर तेरे कुफर-कटारी,
यों नहिं साहब मिलता है॥—1-9

[68]

हमसों रहा न जाय मुरलिया कै धुनि सुनि के।
बिना बसन्त फूल इक फूलै भँवर सदा बोलाय।
गगन गरजै बिजुली चमकै, उठती हिये हिलोर।
बिगसत कँवल मेघ बरसाने चितवत प्रभु की ओर।
तारी लागी तहाँ मन पहुँचा, गैब धुजा फहराय।
कहैं कबीर आज प्रान हमारा, जीवत ही मर जाय॥—3-102

[69]

जो खोदाय मसजीद बसतु है और मुलुक केहि केरा।
तीरथ-मूरत राम-निवासी बाहर करे को हेरा।

68. मुरलियाकै धुन = ब्रह्माण्ड मे व्याप्त अनाहत नाद, जिसे साधक लोग भगवान् की पुकार कहा करते हैं। इस पद की व्याख्या समाधि के पक्ष में हो सकती है। बिना बसन्त का फूलनेवाला फूल शून्य का सहस्रारचक्र है। भँवर का सत्यार्थ मन है। मेघ बरसाने = समाधि की पूर्णता की हालत मे 'धर्म मेघ' की धारासार वृष्टि होती है। उस समय योगी समस्त क्लेशों और कर्मों से निवृत्त हो जाता है (पातंजल सूत्र 4.29)। यहाँ उसी से मतलब है। तारी लगना = समाधि लगाना।

69. पोंगड़ा (पौगण्ड) = बालक।

पूरब दिसा हरी को वासा पच्छिम अलह मुकामा।
दिल में खोज दिलहि मे खोजौ इहै करीमा-रामा।
जेते औरत-मरद उपानी सो सब रूप तुम्हारा।
कबीर पोंगड़ा अलह-राम का सो गुरु पीर हमारा।—3-2

[70]

सील-सन्तोष सदा समदृष्टि, रहनि गहनि मे पूरा।
ताके दरस-परम भय भाजै, होइ कलेस सब दूरा॥
निसि-वासर चरचा चित-चंदन, आन कथा न सोहावै।
करनी-धरनी संगीत गावै, प्रेम रग उड़ावै॥
राग-सरूप अखंडित अविचल, निर्भय बेपरवाई।
कहै कबीर ताहि पग परसो, घट घट सब सुखदाई॥—3-9

[71]

साध-संगत पीतम उहाँ चल जाइये।
भाव-भक्ति-उपदेस तहाँ ते पाइये॥
संगत ही जरि जाव न चरचा नाम की।
दूलह बिना बरात कहो किस काम की॥
दुविधा को कर दूर पीतम को ध्याइये।
आन देव की सेव न चित्त लगाइये॥
आन देव की सेव भली नाहिं जीव को।
कहै कबीर विचार न पावै पीव को॥—3-13

[72]

तोर हीरा हिराइल वा किचड़े मे।
कोई ढूंढै पूरब कोई ढूंढै पच्छिम
कोई ढूढै पानी-पथरे में।
दास कबीर ये हीरा को परखै
बांध लिहलै जीयरा के अँचरे मे। —3-26

[73]

आयौ दिन गौने कै हो, मन होत हुलास।
डोलिया उठावे बीजा वनवाँ हो, जहँ कोई न हमार॥

हिराइल बा = खो गया है। बांध लिहलै = बांध लिया।

पटमाँ तोरी लागी कहरवा हो, डोली धर छिन बार।
मिल लेयें सखिया सहेलर हो, मिलौं कुछ परिवार॥
दास कबीर गावें निरगुन हो, साधो करि लै विचार।
नरम-गरम सौदा करि लै हो, आगे हाट ना बाजार॥—3-26

[74]

अरे दिल,
प्रेमनगर का अन्त न पाया, ज्यों आया त्यों जावैगा।
सुन मेरे साजन सुन मेरे मीता, या जीवन में क्या क्या बीता॥
सिर पाहन को बोझा लीता, आगे कौन छुड़ावैगा।
परली पार मेरा मीता खड़िया, उस मिलने का ध्यान न धरिया।
टूटी नाव उपर जो बैठा, गाफिल गोता खावैगा॥
दास कबीर कहैं समुझाई, अन्तकाल तेरा कौन सहाई।
चला अकेला संग न कोई, किया आपना पावैगा॥—3-30

[75]

वेद कहे सरगुन के आगे निरगुन का बिसराम।
सरगुन-निरगुन तजहु सोहागिन, देख सबहि निज धाम।
सुख दुख वहाँ कछु नहिं व्यापै, दरसन आठो जाम।
नर ओढ़न नूरै डासन, नूरै का सिरहान।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, सतगुरु नूर तमाम।—3-55

[76]

1. तू सूरत नैन निहार वह अंड में सारा है।
तू हिरदे सोच विचार यह देश हमारा है।
सतगुरु दरस होय जब भाई,
वह दें तुमको प्रेम चिताई,
सुरत-निरत के भेद बताई,
तब देखे अण्ड के पारा है॥1॥

74. परली पार = उस पार। टूटी नाव का लक्ष्यार्थ गलत साधना मार्ग है।
75. वेद केवल सगुण के आगे निर्गुण ब्रह्म को बताकर कहता है कि वहीं विश्राम मिलता है। पर यह भी ठीक नहीं। वह निर्गुण सगुण से परे है। निर्गुण के भी आगे जीव सत्यपुरुष को पाता है, वही उसका अपना धाम है। (ऊपर दे. अनु. 4)। नूरै = प्रकाश ही। नूर तमाम = परिपूर्ण ज्योति।
76. 1. अंड = ब्रह्माण्ड। सुरति-निरति (दे. पद 17 की टिप्पणी)।

सकल जगत में सत की नगरी,
चित्त भुलावै बाँकी डगरी,
सो पहुँचे चाले बिन पग री,
ऐसा खेल अपार है ॥2॥
ii. लीला सुक्ख अनन्त वहाँ की
जहाँ रास विलास अपारा है,
गहन-तजन छूटे यह पाई
फिर नहि पाना सताना है ॥3॥
पद निरवान है अनन्त अपारा
सुरति मूरति लोक पसारा,
सत्तपुरुष नूतन तन धारा
साहिब सकल रूप सारा है ॥4॥
बाग-बगीचे खिली फुलवारी
अंमृत-लहरें हो रही जारी
हंसा केल करत तहँ भारी
जहँ अनहद घूरे अपारा है ॥5॥
तामध अधर सिंहासन गाजै
पुरुष महा तहँ अधिक विराजै
कोटिन सूर रोम इक लाजै
ऐसा पुरुष दीदारा है ॥6॥
पंथ बिना सतराग उचारैं
जो बेधत हिये मँझारा है।
जन्म जन्म का अंमृत धारा
तहँ अधर-अंमृत फुहारा है ॥7॥
सत से सत्त सुन्न कहलाई,
सत्त भँडार याही के माँही,
निःतत रचना ताहि रचाई
जो सबहिन तें न्यारा है ॥8॥
अहद लोक वहाँ है भाई,
पुरुष अनामी अकह कहाई।
जो पहुँचे जानेंगे वाही
कहन सुननते न्यारा है ॥9॥
रूप-सरूप कछू वहँ नाही,
ठौर-ठाँव कछु दीसै नाही।

ii. गहन-तजन = ग्रहण और त्याग।

अजर-तूल कछु दृष्टि न आई
कैसे कहूँ सुमारा है ॥10॥
जापर किरपा करिहै साईं
अनहद मारग गावै ताहीं।
उद्भव परलय पावत नाहीं
जब पावै दीदारा हो ॥11॥
कहैं कबीर मुख कहा न जाई
ना कागद पर अंक चढ़ाई।
मानों गूंगे सम गुड़ खाई
कैसे बचन उचारा हो ॥12॥—3-48

[77]

चल हंसा वा देस जहँ पिया बसै चितचोर।
सुरत सोहागिन है पनिहारिन, भरे ठाढ बिन डोर॥
वहि देसवाँ बादर ना उमड़ै रिमझिम बरसै मेह।
चौबारे में बैठ रहो ना, जा भीजहु निर्देह॥
वहि देसवा में नित्त पूर्निमा, कबहुँ न होय अँधेर।
एक सुरज कै कवन बतावै, कोटिन सुरज उँजेर॥—3-60

[78]

कहै कबीर सुनो हो साधो, अंमृत-बचन हमार।
जो भल चाहो आपनो, परखो करो विचार॥
जे करतातें ऊपजे, तासों परि गयो बीच।
अपनी बुद्धि विवेक-बिन, सहज बिसाही मीच॥
यहि मे ते सब मत चलैं, यही चल्यौ उपदेस।
निश्चय गहि निर्भय रहो, सुन परम तत्त संदेस॥

77. सुरत डोर = सुरतिरूपी सुहागिन जहाँ बिना डोरी के ही पानी भरती है। डोरी यहाँ ध्यान के लिए व्यवहृत है (तु. धागा टुटिया गगन बिनसिगा)। भाव यह है कि वहाँ सहज ही भगवान् के प्रति प्रीति बनी रहती है। मेह = आनन्दवर्षा, समाधि के पक्ष मे धर्ममेघ (दे. 68 पद की टिप्पणी)। चौबारे ···निर्देह = वहाँ ओसारे मे बैठ रहने की जरूरत नही है, वहाँ बिना देह के ही उस आनन्द-वृष्टि में भीगना उचित है; क्योंकि देह वहाँ होती ही नही।

78. परखो = परीक्षा करो। पारख पद के लिए दे. अनु 7। जे···मीच = जिस कर्त्ता से उत्पन्न हुए उससे अज्ञान के कारण तुम भिन्न हो गये हो। अपनी ही या विवेकशून्य बुद्धि के कारण तुमने अनायास ही मृत्यु बिसाही है (बिसाहना

केहि गावो केहि ध्यावहु, छोड़ो सकल धमार।
यह हिरदे सवको वसे, क्यो सेवो सुन्न-उजाड़॥
दूरहि करता थापिकै, करी दूर की आस।
जो करता दूरै हुतै, तो को जग सिरजै पास॥
जो जानो यहँ है नही, तो तुम धावो दूर।
दूर से दूर भ्रमि भ्रमि, निष्फल मरो विसूर॥
दुरलभ दरसन दूर के, नियर सदा सुख-वास।
कहै कवीर मोंहि व्यापिया, मत दुख पावै दास॥
आप अपनपौ चीन्हहू, नख-सिख सहित कवीर।
आनंद-मंगल गावहू, होहि अपनपौ थीर॥—3-63

[79]

नाही धर्मी नाही अधर्मी, ना मैं जती न कामी हो।
ना मैं कहता ना मैं सुनता, ना मैं सेवक-स्वामी हो।
ना मैं वंधा ना मैं मुक्ता, ना मैं विरत न रगी हो।
ना काहू से न्यारा हुआ, ना काहू के सगी हो।
ना हम नरक-लोक को जाते, ना हम सुर्ग सिधारे हो।
सव ही कर्म हमारा कीया, हम कर्मन तें न्यारा हो।
या मत को कोई बिरलै बूझै, सो अटर हो वैठे हो।
मत कवीर काहू को थापै, मत काहू को मेटे हो।—3-66

[80]

सत्त नाम है सवतें न्यारा।
निर्गुन-सर्गुन शब्द-पसारा॥
निर्गुन वीज सर्गुन फल-फूला।
साखा ज्ञान नाम है मूला॥
मूल गहेंतें सव सुख पावै।
डाल-पात में मूल गँवावै।

= खरीदना)। यहि मे ते···सन्देस = इसी बुद्धि मे से सव मत और सब उपदेश निकले हैं (जो सव अज्ञान से उत्पन्न होने के कारण भ्रान्त हैं)। तुम निश्चय करो और (सत्य को ग्रहण करके) निर्भय रहो और परम सत्य का सन्देश सुनो। धमार = गान-विशेष, हुड़दंग। दूरहि करता···आस = कर्त्ता को दूर रखकर उससे विरुद्ध दूर की वात की आशा लगाते हो। विसूर = पछताकर, दुःख करके।

79. अटर = अटल।

साईं मिलानी सुख दिलानी।
निर्गुन-सर्गुन भेट मिटानी ॥—3-69

[81]

प्रथम एक जो आपै आप। निरकर निर्गुन निर्जाप ॥
नाहिं तब आदि-अन्त-मध-तारा। नहिं तब अंध-धुंध उजियारा ॥
नहिं तब भूमि-पवन-आकासा। नहिं तब पावक-नीर-निवासा ॥
नहिं तब सरसुति-जमुना-गंगा। नहिं तब सागर-समुद्र-तरंगा ॥
नहिं तब पाप-पुन्न नहिं वेद-पुराना। नहिं तब भयो कतेब-कुराना ॥
कहैं कबीर विचारिकै, तब कुछ किरता नाहिं।
परम पुरुष तहँ आपही, अगम-अगोचर माहिं ॥
करता कछु खावै नहिं पीवै। करता कबहूँ मरै न जीवै।
करता के कुछ रूप न रेखा। करता के कछु बरन न भेखा ॥
जाके जात-गोत कछु नाहीं। महिमा बरनि न जाय मो पाही।
रूप-अरूप नहीं तेरा नाँव। बर्न-अबर्न नहीं तेहि ठाँव ॥—3-74

[82]

कहै कबीर विचारिके, जाकै वर्न न गाँव ॥
निराकार और निर्गुना, है पूरन सब ठाँव ॥
करता आनन्द खेल लाई, ओंकारते सृष्टि उपाई ॥
आनन्द धरती आनन्द आकास। आनन्द चंद-सूर परकास ॥
आनन्द आदि-अंत-मध-तारा। आनन्द अन्धकूप उजियारा ॥
आनद सागर-समुद्र-तरंगा। आनंद सुरसुति जमुना-गंगा ॥
करता एक और सब खेल। मरत-जनम बिरह-मेल ॥
खेल जल-थल-सकल जहाना। खेल जानौ जमी असमाना ॥
खेल का यह सकल पसारा। खेल माँहि रहै संसारा ॥
कहैं कबीर सब खेलन माही। खेलनहारकों चीन्है नाही ॥
—3-76

[83]

झी झी जंतर बाजै।
कर चरन बिहूना नाचै।

82. करता··· = कर्त्ता ने आनन्द से ही सब-कुछ उत्पन्न किया है और सब-कुछ आनन्द ही है। खेल = लीला।
83. कर चरन बिहूना = बिना हाथ-पैर के। पाट न सुवास = न कोई पाट है न

कर बिनु बाजै सुनै श्रवन बिनु
श्रवन श्रोता सोई।
पाट न सुवास सभा बिनु अवसर
बूझौ मुनि-जन सोई ॥—3-84

[84]

मोर फकिरवा माँगि जाय,
मैं तो देखहू न पौल्यौं।
मंगन से क्या माँगिये,
बिन माँगे जो देय।
कहैं कबीर मैं हौं वाही को,
होनी होय सो होय ॥—3-89

[85]

नैहर से जियरा फाट रे।
नैहर नगरी जिनके बिजड़ी, उसका क्या घर-बाट रे।
तनिक जियरवा मोर न लागै, तन-मन बहुत उचाट रे।
या नगरी मे लख दरवाजा, बीच समुदर घाट रे।
कैसेकै पारा उतरिहैं सजनी, अगम पंथ का घाट रे।
अजब तरह का बना तंबूरा, तार लगै मन मात रे।
खूँटी टूटी तार बिलगाना, कोउ न पूछत बात रे।
हँस हँस पूछौ मातु-पिता सो, भोरें सासुर जाब रे।
जो चाहैं सो वो ही करिहै, पत वाही के हाथ रे।
न्हाय-धोय दुल्हिन होय बैठी, जोहै पिय की बाट रे।
तनिक घुघटवा दिखाव सखीरी, आज सोहाग की रात रे।

सुवास है। पाट = राज-सिंहासन। सुवास = प्रजा के बसाने का काम। सभा बिनु अवसर = कोई सभा नही है (जो नाच देखे)। किन्तु अवसर (सर्वावसर = आम दरबार) है। पाँचवी पंक्ति का पाठ "पाट बिनु वास, सभा बिनु अवसर" ठीक जान पड़ता है। अवसर = दरबार। भाव यह कि राज-पाट तो उसके नही हैं पर उसने सबको वास दिया है और सभा अर्थात् दरबारी बैठक-घर तो उसके पास नही है पर उसका खुला दरबार लगा हुआ है।

84. मेरा फकीर मुझसे कुछ माँग गया और मैं उसे देख भी नही पाया। हाय, मैं स्वयं भिखारी हूँ, मंगन से क्या माँगना! फिर उस मंगन से माँगने का तो कोई प्रश्न ही नही उठता जो बिना माँगे ही अपना सर्वस्व दे दे। फकीर कहते है कि मैं तो उसी का हूँ, अब जो होना हो सो होवे।

85. तम्बूरा से शरीर का लक्ष्य है (दे. पद 39 की टिप्पणी)। खूँटी-तार इन्द्रिय

[89]

कोई सुनता है ज्ञानी राग गगन में, आवाज होती पानी।
सब घट पूरन पूर रहा है, सब सुरन के सानी।
जो तन पाया खंड देखाया, तृस्ना नही बुझानी।
अंमृत छोड़ खंडरस चाखा, तृस्ना ताप तपानी॥
ओं अंग सो अंग बाजा बाजे, सुरत-निरत समानी।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, यही आपकी बानी॥
—1-100

[90]

मैं कासो कहों आपन पिय की बात री।
कहैं कबीर बिछुड़ नहि मिलिहो
ज्यों तरवर छोड़ वनधाम री॥—1-108

[91]

संसकिरत भाषा पढ़ि लीन्हा, ज्ञानी लोक कहो री॥
आसा तृस्ना में बहि गयो सजनी, काम के ताप सहो री॥
मान-मनी की मटुकी सिर पर, नाहक बोझ मरो री॥
मटुकी पटक मिलो पीतम से, साहेब कबीर कहो री॥
— 3-12

[92]

चरखा चलै सुरत विरहिन का।
काया नगरी बनी अति सुन्दर, महल बना चेतन का।

89. पानी = तीव्र, गभीर। छपी पोथियों में 'झीनी' पाठ है। जो तन'''तपानी = जिसने शरीर पाकर भी अपने-आपको खण्डसत्य ही दिखाया उसकी तृष्णा कभी शान्त नही हुई। क्योंकि उसने सम्पूर्ण सत्य के अमृतरस को छोड़कर खण्डरस का ही आस्वादन किया। ओं अंग सो अंग = 'वे ही यह है और यही वे हैं' (क्षि. मो. से.)। छपी पोथियों में 'ओहं सोहं' पाठ है और पूरा पद योगमूलक है। कबीर सम्प्रदाय में तीन ध्वनियों की चर्चा है—ओहं, सोहं और झंकार। इन तीनो की विरति होने पर शुद्ध शब्द सुनायी देता है और उसमें सुरति और निरति का लय हो जाता है।
91. मान-मनी = मानना-मनाना।
92. सुरतिरूपी विरहिनी का चरखा चल रहा है। सुरत भाँवरी = प्रेम की भाँवर जो ब्याह के समय वर-कन्या देते हैं। माँझा = वर-कन्या के वे पीले वस्त्र

सुरत भांवरी होत गगन में, पीढ़ा ज्ञान-रतन का।
मिहीन सूत विरहिन कातें, मांझा प्रेम भगति का।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, माला गूँथो दिन रैन का।
पिया मोर ऐहैं पगा रखिहै, आँसू भेंट देहौं नैन का।
—3-110

[93]

कोटिन भानु-चन्द्र-तारा-गन छत्र की छाँह रहाई।
मन में मन नैनन मे नैना, मन नैना इक हो जाई।
सुरत सोहागिन मिलन पिया को, तनकै नयन बुझाई।
कहैं कबीर मिलै प्रेम-पूरा, पिता में सुरत मिलाई।—3-111

[94]

अवधू बेगम देस हमारा।
राजा-रंक-फकीर-बादसा, सबसे कहौं पुकारा।
जो तुम चाहो परम पद को, बसिहो देस हमारा॥
जो तुम आये झीने झोके, तजो मन की भारा।
धरन-अकास-गगन कछु नाही, नही चन्द्र नहिं तारा॥
सत्त-धर्म की है महतावें, साहेब के दरबारा।
कहै कबीर सुनो हो प्यारे, सत्त-धर्म है सारा॥—1-92

[95]

साँई के संग सासुर आई।
संग ना रही स्वाद ना जान्यो, गयो जोवन सुपने की नाईं।
सखी-सहेली मंगल गावें, सुखदुख माथे हरदी चढ़ाई।
भयौ विवाह चली बिन दूलह, बाट जात समधी समझाई।
कहैं कबीर हम गौने जैबे, तरब कन्त लै तूर बजाई।
—1-109

जो हल्दी चढ़ने पर पहने जाते हैं। माला गूँथो··· = दिन और रात की माला (वर-माला) गूँथूँ (उन्ही महीन सूतों से)। पगा रखिहैं = चरण रखेंगे, पधारेंगे। आँसू··· = आँखों का आँसू उपहार दूँगा।

94. बेगम देस = बिना गम का देश; समासोक्ति से बेगम (रानी) का देश जिसके लिए बादशाह और राजा व्याकुल रहते है। मन की भारा = मन की कल्पना को बोझ। जो तुम··· = तुम यदि सूक्ष्म रूप में आये हो तो मानसिक कल्पनाओं के भार को छोड़ दो। महतावें = ज्योतियाँ।

[96]

समुझ देख मन मीत पियरवा,
आसिक होकर सोना क्या रे।
पाया हो तो दे ले प्यारे,
पाय पाय फिर खोना क्या रे।
जब अँखियन में नीद घनेरी,
तकिया और बिछौना क्या रे।
कहैं कबीर प्रेम का मारग,
सिर देना तो रोना क्या रे।—1-75

[97]

साहेब हममें साहेब तुममें, जैसे प्राना बीज में।
मत कर बन्दा गुमान दिल में, खोज देख ले तन में।
कोटि सूर जहँ करते झिलमिल, नील सिंध सोहे गगन में।
सब ताप मिट जाँय देही के, निर्मल होय बैठी जग मे।
अनहद घंटा बजै मृदगा, तन सुख लेहि पियार में।
बिन पानी लागी जहँ बरषा, मोती देखि नदीन में।
एक प्रेम ब्रह्माण्ड छाय रह्यो है, समझे विरले पूरा।
अंध भेदी कहा समझेंगे, ज्ञान के घर तें दूरा।
बड़े भाग अलमस्त रंग मे, कबिरा बोलै घट मे।
हंस-उबारन दु:ख-निवारन, आवागमन मिटै छन मे।—209

[98]

रितु फागुन नियरानी, कोई पिया से मिलावे।
पिया को रूप कहाँ लग बरनूं, रूपहि माँहि समानी।
जो रंगरगे सकल छवि छाके, तन-मन सभी भुलानी।
यों मत जाने यहि रे फाग है, यह कुछ अकह-कहानी।
कहैं कबीर सुनो भई साधो, यह गत बिरले जानी॥—2-98

[99]

नारद, प्यार सो अन्तर नाही।
प्यार जागै तौही जागूं प्यार सोवै तब सोऊँ॥
जो कोई मेरे प्यार दुखावै जड़ा-मूल सो खोऊँ॥

99. जो कोई··· = जो कोई मेरे प्यार को कष्ट देता है उसे जड़-मूल से वंचित कर देता हूँ। बेहद्द···चरननि = प्रिय के चरणों में अनेक तीर्थ बसते है। कोट···

जहाँ मेरा प्यार जस गावै तहाँ करौ मैं बासा॥
प्यार चले आगे उठ धाऊँ मोहि प्यार की आसा॥
बेहद तीरथ प्यार के चरननि कोट भक्त समाय॥
कहैं कबीर प्रेम की महिमा प्यार देत बुझाय॥—2-11।

[100]

कोई प्रेम की पेंग झुलावै।
भुज के खंभ और प्रेम के रस से,
तन-मन आजु झुलाव रे।
ननन बादर की झर लाओ,
स्याम घटा उर छाव रे।
आवत आवत श्रुत की राह पर,
फिकर पिया को सुनाव रे।
कहत कबीर सुनो भाई साधो,
पिया को घ्यान चित लाव रे।—1-122

[101]

मैं बुनि करि सिरांनां हो राम, नालि करम नहीं ऊबरे।
दखिन कूंट जब सुनहा भूंका, तब हम सुगन विचारा।
लरके परके सब जागत हैं, हम घरि चोर पसारा हो राम॥
तांनां लीन्हां बानां लीन्हा, लीन्हें गोडके पउवा।
इत-उत चितवत कठवत लीन्हां मांड चलवनां डउवा हो राम॥

समाय = वहाँ (चरण-तल में) करोड़ो भक्त समा जाते हैं।

100. भुज के खम्भ⋯रे = दोनों भुजाओं के खम्भे पर प्रेम के रस से तन और मन को झुलाओ। आवत⋯रे = कान के पास आ-आकर प्रिय को व्याकुलता की बात सुनाओ।

101. हे राम, मैं बुनकर थक गया हूँ, पर यह नाल का काम खतम नहीं होता। (नाली = नाल, जुलाहों की नली, छूंछा)। दक्षिणी खूंट (किनारे) पर जब सुनहा (= कुत्ता) भोंका तब मैंने सगुन विचारा। (मुझे मालूम हुआ कि यद्यपि) लड़के-पड़के (बाल-बच्चे) सभी जगे हुए हैं तथापि मेरे घर में चोर पैठ गया है (मृत्यु का प्रवेश हो गया है)। ताना = कपड़ा बुनने के लिए लम्बाई में तना हुआ सूत। बाना = चौड़ाई में बुना जानेवाला सूत। गोड़ = टेढ़ी बँधी हुई दो कमठी या लकड़ियाँ जो ताने को दोनों तरफ से थामे रहती हैं। पउवा = 'गोड़' का आधारकाष्ठ; कठवत = कठौती, काठ का बर्तन। इसे जुलाहे मांड़ी सानने के लिए व्यवहार करते

एक पग दोइ पग त्रेपग, संधें संधि मिलाई।
करि परपंच मोट बँधि आयो, किलिकिलि सबै मिटाई हो राम ॥
तांनां तनि करि वांनां बुनि करि, छाक परी मोहि ध्यान।
कहै कबीर मैं बुनिकैं सिरांना, जानत है भगवांनां हो राम ॥

[102]

को बीनैं प्रेम लागौ री माई को बीनैं।
राम रसाइण-माते री माई को बीनैं।
पाई पाई तूं पतिहाई, पाई की तुरियां बेंचि खाई
री माई को बीनैं।
ऐसें पाई पर बिथुराई, त्यूं रस आनि बनायौ
री माई को बीनैं॥
नीचे ताना नीचैं वाना, नाचैं कूंच पुरानां
री माई को बीनैं॥
करगहि बैठि कबीरा नाचैं चूहै काट्या ताना
री माई को बीनैं॥

हैं। डउवा = डोआ, काठ की करछुल। एक पग··· = एक पग दो पग तीन पग बुनता हुआ, मैंने सन्धि में सन्धि मिलायी, जोड़ बैठाया परन्तु सब प्रपंच करने पर मोट बँध आया (कपड़ा बन नहीं सका) तब मैंने सब टण्टा मिटा दिया। (अब) ताना तान लेने के बाद और बाना बुन लेने के बाद मुझे मस्ती (छाक, छकने का भाव) का ध्यान आया है। हे राम, अब तो मैं बुनकर हार गया, भगवान् ही जानते है।

विशेष—जुलाहे से मतलब चपल वृत्ति वाले मनुष्य से है। कपड़ा बुनना—सांसारिक प्रपंच मे पड़ना। चोर = मृत्यु। छाक = सांसारिक प्रपचों से हाथ खींचकर भगवद्भजन में निमग्न होना। (दे. पद 104)।

102. कौन बुने यह कपड़ा! माई री, मुझे प्रेम का चस्का लग गया है, मैं राम-रसायन पीकर मतवाली बन गयी हूँ। (पाई = सूत को सुलझाकर कूँचे से साफ करने की क्रिया। पतिहाई = पतिया गई, विश्वास कर लिया। तुरियां = तुरी, कूंचा) पाई···खाई = मैंने कूंचे से सूत साफ करने की क्रिया पा ली है, यह बात तूने विश्वास कर ली, लेकिन मैं तो पाई की तुरिया भी बेचकर खा गयी! उस क्रिया का साधन भी हजम कर गयी। माई री कौन बुने! ऐसें···इस प्रकार (इस प्रेम का) कुछ ऐसा रस बन आया कि मैंने पाई पर यह सारा रस फैला दिया है, कौन बुने यह ... (इस रस से मत्त होने के कारण मुझे दिख रहा है कि) ताना है, बाना नाच रहा है, कूँचा और भरना (ताना को ...

[103]

अंमृत बरिसै हीरा निपजै,
घंट पड़ै टकसाल।
कबीर जुलाहां भया पारखू
अनभै उतर्या पार ॥1॥
कबीर हरि-रस यों पिया,
बाकी रही न थाकि।
पाका कलस कुम्हार का,
बहुरि न चढ़ई चाकि ॥2॥

[104]

जोलाहा बीनहु हो हरिनामा, जाके सुर-नर-मुनि धरे ध्याना ॥
ताना तिनको अहुँठा लीन्हौ, चरखी चारिहुँ बेदा ॥
सर-खूँटी एक रामनरायन, पूरन, प्रगटे कामा ॥
भवसागर एक कठवत कीन्हौ, तामहँ, माँड़ी साना ॥
माँड़ी के मन माँड़ि रहा है माँड़ी बिरले जाना ॥
चाँद सुरज दुई गोड़ा कीन्हौ, माँझ-दीप कियो माँझा ॥
त्रिभुवननाथ जो माँजन लागे, स्याम मुररिया दीन्हा ॥

नाच रहे हैं और करिगह (बुनने के स्थान) में बैठा हुआ कबीर भी नाच है। माई री, इस ताने को चूहा काट गया है (यह कपड़ा बुनने के काम लायक रहा ही नहीं), कौन बुने भला इसे !

103. भगवान् का साक्षात्कार होने पर जीव अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित हो जाता है। उस समय अमृत की धारासार वर्षा होती है। उस वर्षा में हीरा (सबसे बहुमूल्य उज्ज्वल और अटूट होने के कारण हीरा परम पद का सूचक है) उपजता है, उसकी प्रामाणिकता सूचित करने के लिए टकसाल का घण्टा बजता रहता है (गुरु की सार-[illegible] ध्वनि सुनायी देती है)। व

पाई करि जब भरना लीन्हो, वैं बाँधे को रामा ॥
वैं भरा तिहुँ लोकहि बाँधै, कोइ न रहता उबाना ॥
तीनि लोक एक करिगह कीन्हों दिगमग कीन्हो ताना ॥
आदि पुरुष बैठावन बैठे, कबिरा जोति समाना ॥

अहुँठा = वस्त्र मापने का गज; यहाँ साढ़े तीन हाथ माप का शरीर। चरखी, वह यन्त्र है जिस पर सूत लपेटा जाता है। सर-खूँटी = सरकण्डे की लकड़ियाँ जो ताने को अलग-अलग किये रहती हैं। राम = चैतन्य। नारायण = चैतन्य का अधिष्ठान जड। माँड़ी = कपड़े मे कलप देने का मसाला विशेष। चाँद-सूर्य = इड़ा और पिंगला नाड़ियाँ। मँझ-दीप = मध्यवर्ती द्वीप, सुषुम्ना। त्रिभुवननाथ = मन। मुररिया = (1) माँजते समय सूत टूट जाने पर जब उसे बाँधते है तो 'मुरेरा' देना कहते है, 2. मुरली को स्मरण दिलाता है। पाई = सूत साफ करने की क्रिया। भरना = कमठियों के बीच से सूत निकालकर ताना भरा जाता है। वैं बाँधे = ताना के आधे-आधे सूत नीचे-ऊपर ले जाने के लिए राछ की कमचियों के छेदों से एक-एक तागा निकालकर बाँधते है उसे वैं बाँधना कहते है। माञा = सूत को माँजकर साफ करना। तिहुँ लोक = तीन फेरी करके सूत को गाँस देते है उसे तिलोक कहते हैं (विश्व.)। उबान = कपड़े मे जो सूत बाहर रह जाता है उसे उबान कहते हैं। करिगह = कपड़ा बुनने का स्थान। दिगमग = जहाँ-तहाँ डाल देना (विश्व.); दूसरे टीकाकार 'डगमग' अर्थात् चंचल अर्थ करते हैं। बैठावन = कपड़े को समेटकर जुलाहा सूतों को बैठावन बैठाता है अर्थात् जमाता है। पद का भाव यह है कि ऐ चपल वृत्तिवाले मनुष्य (जुलाहा), हरि-नाम का कपड़ा बुनो जिसका देवता, मनुष्य और मुनि ध्यान करते हैं। इस शरीर के भीतर अंगुष्ठमात्र जीव को मापने का गज बनाओ, उन चारो वेदों को चरखी बनाओ जिनमे सद्-विचार के सूत लिपटे हुए हैं, चेतन (राम) और अचेतन (नारायण) को सर और खूँटी बनाओ, भवसागर को कठौता बनाओ और उस कठौते में इस त्रिगुणात्मक शरीर को ही माँड़ी समझो। कोई विरला ही इसे जानता है, क्योंकि यद्यपि यह कपड़े की माँड़ी की भाँति फलस्वरूप है तो भी कपड़े की माँड़ी के समान ही माँजने पर निर्मल बना देने का साधन भी है। जुलाहे कपड़े में माँड़ी देकर माँजते हैं जिससे कपड़े की मैल कट जाती है। यहाँ मन ही माँजनेवाला है। इस कपड़े के ताने को इड़ा और पिंगला नाड़ियों के गोड़े से फैलाओ और मन के द्वारा उनकी मध्यवर्ती नाड़ी सुषुम्ना का शोधन करो (माँजो)। माँजते समय यदि सूत टूट जाय तो श्याम नाम की गाँठ बाँध दो जो श्याम की मुरली के समान तुम्हारा ध्यान अपनी ओर खींचे रहेगा। कूँचे से सूत साफ करके

[105]

जहिया किरतम ना हता, धरती हती न नीर।
उतपति परलय ना हता, तब की कहैं कबीर॥

[106]

हौ तो सबही की कहौं, मोकों कोउ न जान।
तबौ भला अब भी भला, जुग जुग होउँ न आन॥1॥
कलि खोटा, जग आँधरा, सब्द न मानै कोय।
जाहि कहौ हित आपुना, सो उठि वैरी होय॥2॥
मसि-कागज छूयो नहिं, कलम गही नहिं हात।
चारिउ जुग को महातम मुखहि जनाई वात॥3॥
बोली हमरी पूर्व की, हमें लखै नहिं कोय।
हमको तो साईं लखै, धुर पूरव का होय॥4॥

[107]

आसन-पवन किये दृढ़ रहु रे, मन का मैल छाँड़ि दे बौरे।
क्या सींगी-मुद्रा चमकायें, क्या विभूति सब अंग लगायें।
सो हिंदू सो मुसलमान, जिसका दुरस रहै ईमान।
सो ब्राह्मन जो कथै ब्रह्मगियान, काजी सो जानै रहेमान।
कहै कबीर कछु आन न कीजै, राम-नाम जपि लाहा लीजै।

जब इस हरि-नाम के वस्त्र का भरना भरो तो 'राम' नाम के दो अक्षरों का वै बांध लो। जिस प्रकार जुलाहे वै भरने के बाद तिलोका बांधते हैं, उसी प्रकार तुम भी त्रैलोक्य को इन नाम में बांध लो, तब तो कहीं कोई वस्तु उबान न रह जायगा। तीनों लोक को ही करिगह बनाओ, फिर [illegible] यन बैठाओ, अर्थात् ताना को उठाकर अलग रखो और यदि पु[illegible] कर बैठाओ कि इस हरिनाम के व[illegible] मून को [illegible] सं[illegible] । कबीरदास आदिपुरुषमय है[illegible]

[109]

अवधू, भजन भेद है न्यारा।
क्या गाये क्या लिखि बतलाये, क्या भर्मे संसारा।
क्या संध्या-तर्पण के कीन्हें, जो नहिं तत्त विचारा।
मूँड़ मुड़ाये सिर जटा रखाये, क्या तन लाये छारा।
क्या पूजा पाहन की कीन्हें, क्या फल किये अहारा।
बिन परिचे साहिब हो बैठे, विषय करै ब्यौपारा।
ग्यान-ध्यान का मर्म न जानै, वाद करै अहँकारा।
अगम अथाह महा अति गहिरा, बीज न खेत निवारा।
महा सो ध्यान मगन ह्वै बैठे, काट करम की छारा।
जिनके सदा अहार अंतर में केवल तत्त विचारा।
कहैं कबीर सुनो हो गोरख तारौ सहित परिवारा।

[110]

रस गगन गुफा में अजर झरै।
बिन बाजा झनकार उठै जहँ समुझि परै जब ध्यान धरै।
बिना ताल जहँ कँवल फुलाने, तेहि चढ़ि हंसा केलि करै।
बिन चंदा उँजियारी दरसै जहँ-तहँ हंसा नजर परै।
दसवें द्वारे तारी लागी, अलख पुरुष जाको ध्यान धरै।
काल कराल विकट नहिं आवै, काम-क्रोध-मद लोभ जरै।
जुगन जुगन की तृषा बुझानी, कर्म-भर्म-अघ-व्याधि टरै।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, अमर होय कबहूँ न मरै।

109. बिन-परिचे···ब्यौपारा = बिना परिचय के ही तुम साहेब (मालिक) हो बैठे और विषयों का व्यापार करने लगे! वाद करै = व्यर्थ ही अहंकार करते हो। अगम···छारा = इन दम्भी भेषों ने "भजनभेद रूपी बीज को, जो अगम, अथाह और महा गहिरा है, अपने [illegible]दय-रूपी खेत में नहीं बोया; जिन सच्चे [illegible] उसे महा [illegible] कर्म की मैल को

[111]

चुवत अमीरस भरत ताल जहँ, शब्द उठै असमानी हो।
सरिता उमड़ सिंधु को सोखै, नहिं कछु जात बखानी हो॥
चाँद-सुरज-तारागण नहिं वहँ, नहिं वहँ बिहानी हो।
बाजे बजें सितार-बाँसुरी, ररंकार मृदु बानी हो॥
कोट झिलमिली जहँ वह झलकै, बिन जल बरसत पानी हो।
शिव-अज-विस्नु-सुरेश-सारदा, निज निज मति अनुमानी हो॥
दस अवतार एक तत राजें, असतुति सहज सयानी हो।
कहै कबीर भेद की बातें, बिरला कोई पहिचानी हो।
कर पहचानि फेर नहिं भावै, जम जुलमी की खानी हो॥

[112]

अवधू, कुदरति की गति न्यारी।
रंक निवाज करै वह राजा, भूपति करै भिखारी॥
येते लवंगहिं फल नहिं लागे, चंदन फूल न फूलै॥
मच्छ शिकारी रमै जंगल में, सिंह समुद्रहिं झूलै॥
रेंड़ा रूख भया मलयागिर, चहूँ दिसि फूटी बासा॥
तीन लोक ब्रह्मांड खंड में देखै अंध तमासा॥
पंगुल मेरु सुमेर उलंघै त्रिभुवन मुक्ता डोलै।
गूंगा ज्ञान-विज्ञान प्रकासै अनहद बानी बोलै॥
बाँधि अकास पताल पठावै सेस सरग पर राजै॥
कहै कबीर राम है राजा जो कछु करै सो छाजै॥

के नही दिखते, किन्तु जिस आनन्दलोक की बात वे बता रहे है वहाँ प्रफुल्लता आदि धर्म तो हैं पर उनके ठोस आधार पुष्प की आकृति आदि नही है और न उनके ठोस गुणमय हेतु सरोवर आदि हैं वहाँ। प्रफुल्लता, आल्हादकता आदि अनवच्छिन्न (एब्सट्रैक्ट) धर्म की विभूति मात्र होती है।

111. अमीरस = अमृत रस। आसमानी शब्द = अनाहत नाद। सरिता…सोखै = नदी उमड़कर समुद्र को सुखा लेती है अर्थात् भक्ति भवसागर को सुखा देती है, सांसारिक ताप दूर कर देती है। ररंकार = ध्वनिविशेष। कबीर-सम्प्रदाय में तीन ध्वनियों के सुनायी देने की चर्चा आती है —सोहं (ओम) और ररंकार। कोट… = पानी—करोड़ों बिजली की झिलमिलाहट वहाँ झलकती रहती है और दिन-रात (आनन्द-वारि की) वर्षा होती रहती है। एक तत राजें = एक समान विराजते हैं।

112. सीधा अर्थ यह जान पड़ता है कि राम की माया, चाहे तो रंक को राजा

[113]

अगिनी जु लागी नीर में, कंदू जलिया झारि।
उतर-दखिन के पंडिता, रहे बिचारि बिचारि ॥ 1 ॥
गुरु दाझा चेला जला, बिरहा लागी आगि।
तिणका बपुरा ऊबर्‌या, गलि पूरेकै लागि ॥ 2 ॥
अहेड़ी दौ लाइया, मिरग पुकारे रोइ।
जा बन मे क्रीड़ा करी, दाझत है बन सोइ ॥ 3 ॥
पाणी माहैं परजली भई अप्रबल आगि।
बहुती सलिला रह गई, मच्छ रहे जल त्यागि ॥ 4 ॥
समँदर लागी आगि, नदियाँ जलि कोयला भई।
देखि कबीरा जागि, मच्छी रूखा चढ़ि गई ॥ 5 ॥

कर दे; राजा को रंक; लौंग में फल लगा दे, चन्दन में फूल; रेंड़ को मलयागिरि बना दे और उससे सुगन्धी निकलने लगे; अन्धा तीन लोक ब्रह्माण्ड खण्ड में तमासा देखने लगे, पगु (लँगड़ा) मेरु सुमेरु लांघने लगे और मुक्त (निर्बाध) होकर संसार में डोलता फिरे, गूँगा ज्ञान-विज्ञान प्रकाशित करता फिरे और अनहद बानी बोलने लगे, आकाश को बाँधकर पाताल में पठा दे और शेषनाग को स्वर्ग में भेज दे। कबीर कहते हैं कि राम ही राजा है। जो कुछ कहें वही उन्हे शोभता है। साम्प्रदायिक व्याख्याओं के लिए दे. शब्द 23 पर त्रिज्या और विश्व.।

113. (1) पानी में आग लगी और कंदू = भड़भूजा, आग लगानेवाला, जल गया। आग भगवद्विरह, पानी भव-सागर और कंदू मन की कल्पना है। टीकाओं में 'कंदू' का अर्थ कीचड़ दिया हुआ है (कर्दम-कंदव-कदू)। उस अर्थ को मानने पर भाव यह होगा कि पानी कीचड़ तक जल गया, उसका कोई अवशेष नहीं बचा ! उतर-दखिन के पंडिता = उत्तर के ज्ञानमार्गी योगी, दक्षिण के वैष्णवमार्गी आचार्य नही समझ सके। (2) गुरु (भगवान्) ने आग लगायी। चेला = जीव का अहंकार-भाव अर्थात् अपने को पृथक् मानने का अभिमान। आग = विरहाग्नि। तिनका = शब्द के दो भाव हैं, एक तृण और दूसरा उनका (तदीय जन) अर्थात् भक्त। तिनका अर्थ हुआ निरभिमान भक्त। गलि पूरेकै लागि = पूरे के गले लगकर, पूर्ण से मिलकर (भक्त बच गया)। (3) अहेड़ी = अहेरी (गुरु)। दौं = दावाग्नि (विरहाग्नि)। दाझत है = जलता है। मिरग = मृग (मन)। (4) पाणी...परजली = पानी में प्रज्वलित हुई। अप्रबल = बलवान्। सलिता = नदी। (5) समुद्र (भवसागर); नदियाँ = प्रवृत्तियाँ। मच्छ = जीव। रूखा--ऊर्ध्व ब्रह्माण्ड मे।

[114]

कासों कहों को सुने को पतियाय, फुलवा के छुवे के भँवर मरि जाय।
गगन-मँडल महँ फूल एक फूला, तरि भा डार उपर भा मूला।
जोतिये न बोइये सिंचिये न सोय, बिनु डार बिनु पात फूल एक होय।
फूल भय फूलन मालिनि भल गाँथल, फुलवा विनसि भँवरा निरासल।
कहँहिं कबीर सुनहु संतो भई, पंडित-जन फूल रहत लुभाई।

[115]

चंद-सूर दोई खंभवा, वंकनालि की डोरि।
झूल पंच पियरियों तहँ झूलै पिय मोर॥ 1॥
द्वादस गम के अंतरा, तहँ अमृत कौ ग्रास।
जिनि यहु अंमृत चापिया, सो ठाकुर हम दास॥ 2॥
सहज सुनि कौ नैहरौ, गगन-मँडल सिरि मौर।
दोऊ कुल हम आगरी, जौ हम झूलैं हिंडोल॥ 3॥

114. फुलवा = कमल। भौरा = जीवात्मा। भँवर-गुफा में 32 दल के श्वेत कमल की बात बतायी जाती है। इसी को 'निजपद' कहते है। यहाँ पहुँचने पर जीव का अहंभाव नष्ट हो जाता है। परन्तु यहाँ भी उसे सच्चा ज्ञान नहीं प्राप्त होता। जब इस गुफा से ऊपर उठता है तब उसे निरंकार देश में सत्य पुरुष का साक्षात्कार होता है। फिर वह समस्त आशा-आकांक्षाओं और राग-विराग के ऊपर चला जाता है। फूल के छूने से मरनेवाला जीव का अहंभाव और फूल के नष्ट होने से निराश होना उसी परमपद को सूचित करता है। कमलों की माला गूँथनेवाली कुण्डलिनी है।

115. (1) चन्द-सूर = इड़ा और पिंगला। वकनालि = कुण्डलिनी। पाँच पियरिया = पाँच ज्ञानेन्द्रिय। पिय = मन।

(2) द्वादस गम = बारह अन्तराल। 5 कर्मेन्द्रिय, 5 ज्ञानेन्द्रिय, मन और बुद्धि (तुल.– इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः, मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः)। अमृत चापिया = अमृत चखा, निज रूप को समझ सका।

(3) सहज शून्य मेरा नैहर है, गगन-मण्डल की मौर मेरे सिर पर है अर्थात् गगन-मण्डल मेरा सासुरा है। हम दोनों कुल की गुन-आगरी हैं। तभी हम दोनों हिंडोरा झूल रही हैं। मेरे लिए सहज और समाधि, दोनों समान रूप से आवश्यक हैं।

(4) गगा = इड़ा, यमुना = पिंगला, त्रिवेणी = ब्रह्मरन्ध्र (दे. पृ. 233-34)।

(5) नाद-बिंद = नाद और बिंदु। कनिहार = कर्णधार, पतवार पकड़ने-

[119]

अवधू, ऐसा ग्यान बिचारं।
भेरे चढ़े सु अधधर डूबैं, निराधार भये पारं॥
अधर चले सो नगरि पहूँते बाट चले ते लूटे।
एक जेवड़ी सब लपटानें के बांधे के छूटे॥
मन्दिर पैसि चहूँ दिसि भीगे, बाहरि रहे ते सूखा।
सिर मारे ते सदा सुखारे, अनमारे ते दूखा॥
बिन नैनन के सब जग देखैं, लोचन अछते अंधा।
कहै कबीर कछु समझि परी है, यह जग देख्या धंधा॥

[120]

राम गुन बेलड़ी रे, अवधू गोरषनाथि जांणी।
नाति सरूप न छाया जाकै, बिरध करै बिन पांणी॥
बेलड़िया द्वै अणी पहूँती, गगन पहूँती सैली।
सहज बेलि जब फूलण लागी, डाली कूपल मेल्ही॥
मन-कुंजर जाइ बाडी बिलग्या, सतगुर बाही बेली।
पंच सखी मिलि पावन पयप्या, बाड़ी पांणी मेल्ही॥

फिर भी पति के साथ सोती है। माया अनादि है इसलिए उसके मैके का प्रश्न ही नही उठता, उसका पतिगृह समस्त जगत् है अतएव सासुरे जाने का सवाल नही उठता। वह मायापति अपर ब्रह्म के साथ नित्य बनी रहती है।

119. भेरे = भेल पर, छोटी नाव पर। पेड़-पत्तों को काटकर उतराकर बहने लायक भेला बनाया जाता है। यहाँ जड़ शरीर से मतलब है। जो लोग इस जड़ शरीर-रूपी भेले को ही सब-कुछ समझकर इसी पर भरोसा करके भवसागर मे चल पड़े वे अधधर (आधी धार मे) डूब गये। निसधार = शरीर को सब-कुछ न समझकर इसके भीतरवाले चैतन्य को आधार करनेवाले। अधर चले = जो लोग अधर मार्ग से या शून्य मार्ग से चले वे अर्थात् नगर में अपने गन्तव्य स्थान तक पहुँच गये। बाट = रास्ता, बाह्याचार, मंदिर = घर। चहूँ दिसि भीगे = जो लोग विषय-वासना के मन्दिर में घुसे वे भीग गये, पर जो बाहर रहे वे सूखे रहे। सरि = चिता पर, भगवद्विरह की आग से मतलब है। दूपा = दुःखी रहे। बिन नैनन = बाहरी आँखों के अभाव मे और ज्ञान-चक्षु से। लोचन अछते = बाहरी आँखों के रहते हुए।

120. भक्ति-रूपी राम गुन की बेल (लता) को अवधूत गोरखनाथ ने जाना था। न उसकी जाति (नीति) है, न रूप है, न छाया है। बिना पानी के वृद्धि

अरध-ऊरध की गंगा जमुनां, मूल कवल कौ घाट।
षट चक्र की गागरी, त्रिवेणी-संगम वाट ॥ 4 ॥
नाद-विंद की नाव री, रामनाम कनिहार।
कहै कबीर गुण गाइले, गुरु गंमि उतारौ पार ॥ 5 ॥

[116]

उलटि जात-कुल दोऊ विसारी। सुन्न सहज महि बुनत हमारी॥
हमरा झगरा रहा न कोऊ। पंडित-मुल्ला छाँड़े दोऊ॥
बुनि बुनि आप आप पहिरावौं। जहँ नही आप तहाँ ह्वै गावौं॥
पडित-मुल्ला जो लिखि दीया। छाँडि चले हम कछू न लीया॥
रिदै खलासु निरख ले मीरा। आजु खोजि खोजि मिलै कबीरा॥

[117]

धरती-गगन-पवन नहिं होता, नहीं तोया नहिं तारा।
तब हरि हरि के जन होते, कहै कबीर विचारा॥
जा दिन कृत्तम नां हुता, होता हट न पट।
हुता कबीरा राम-जन, जिन देखे अवघट घट॥

[118]

बूझहु पडित, करहु विचारी, पुरुष अहै की नारी।
वाम्हन के घर वाम्हनि होती, योगी के घर चेली।
कलमा पढ़ि पढि भई तुरुकिनी, कलि मे रही अकेली।
बर नहिं बरै ब्याह नहिं करई, पुत्र-जन्म-होनिहारी।
कारे-मूडे एक नहि छाँडै, अब ही आदिकुँवारी।
रहै न मैके जाइ न ससुरे साँई के सँग सोवै।
कहइ कबीर वह जुग-जुग जीवै जाति-पाँति-कुल खोवै।

वाला। गुर गमि = गुरु के बताये मार्ग से।

116. उलटि⋯हमारी = मैंने जाति और कुल दोनों को बिसार दिया है। शून्य और सहज मे ही मैं अपना कपड़ा बुनता हूँ। बुनि बुनि आप⋯स्वयं ही बुनता हूँ और स्वयं अपने-आपको पहनाता हूँ।⋯जहँ गावौं = जहाँ अपने-आपको नही पाता वही जाकर गान गाता हूँ। (गान के द्वारा अपने-आपको पाने का प्रयत्न करता हूँ।) रिदै⋯ऐ मीर, देख ले मेरा हृदय खलास है। इसमें पण्डितों और मुल्लाओं की कोई बात नही रह गयी है।

117. एक सौ पाँचवें पद्य के समान भाव है।

118. माया का वर्णन है। कारे = काले केशवाले, गृहस्थ; युवा। मूँडे = मुण्डित केशवाले, सन्यासी। रहै न मैके⋯ = न मैके रहती है, न सासुरे जाती है,

[119]

अवधू, ऐसा ग्यान विचारं।
गेरे चढ़े सु अधधर डूबे, निराधार भये पारं॥
अधर चले सो नगरि पहूँते बाट चले ते लूटे।
एक जेवड़ी सब लपटांनें के बाँधे के छूटे॥
मन्दिर पैसि चहूँ दिसि भीगे, बाहरि रहे ते सूषा।
सिर मारे ते सदा सुखारे, अनमारे ते दूषा॥
बिन नैनन के सब जग देखै, लोचन अछते अंधा।
कहै कबीर कछु समझि परी है, यह जग देख्या धंधा॥

[120]

राम गुन वेलड़ी रे, अवधू गोरषनाथि जाणी।
नाति सरूप न छाया जाकै, विरध करै बिन पाणी॥
वेलड़िया द्वै अणी पहूँती, गगन पहूँती सैली।
सहज वेलि जब फूलण लागी, डाली कूपल मेल्ही॥
मन-कुंजर जाइ बाड़ी विलग्या, सतगुर बाही वेली।
पंच सखी मिलि पावन पयंप्या, बाड़ी पांणी मेल्ही॥

फिर भी पति के साथ सोती है। माया अनादि है इसलिए उसके मैके का प्रश्न ही नहीं उठता, उसका पतिगृह समस्त जगत् है अतएव सासुरे जाने का सवाल नहीं उठता। वह मायापति अपर ब्रह्म के साथ नित्य बनी रहती है।

119. गेरे = भेल पर, छोटी नाव पर। पेड़-पत्तों को काटकर उतराकर बहने लायक भेला बनाया जाता है। यहाँ जड़ शरीर से मतलब है। जो लोग इस जड़ शरीर-रूपी भेले को ही सब-कुछ समझकर इसी पर भरोसा करके भवसागर मे चल पड़े वे अधधर (आधी धार मे) डूब गये। निराधार = शरीर को सब-कुछ न समझकर इसके भीतरवाले चैतन्य को आधार करनेवाले। अधर चले = जो लोग अधर मार्ग से या शून्य मार्ग से चले वे अर्थात् नगर मे अपने गन्तव्य स्थान तक पहुँच गये। बाट = रास्ता, बाह्याचार, मंदिर = घर। चहूँ दिसि भीगे = जो लोग विषय-वासना के मन्दिर मे घुसे वे भीग गये, पर जो बाहर रहे वे सूखे रहे। सरि = चिता पर, भगवद्विरह की आग से मतलब है। दूषा = दु:खी रहे। बिन नैनन = बाहरी आँखों के अभाव मे और ज्ञान-चक्षु से। लोचन अछते = बाहरी आँखों के रहते हुए।

120. भक्ति-रूपी राम गुन की वेल (लता) को अवधूत गोरखनाथ ने जाना था। न उसकी जाति (नीति) है, न रूप है, न छाया है। बिना पानी के वृद्धि

काटत वेली कूपले मेल्ही, सींचताड़ीं कुमिलांणीं।
कहै कबीर ते बिरला जोगी, सहज निरन्तर जांणी॥

[121]

सावज न होय भाई सावज न होइ,
वाकौ मांसु भखैं सब कोइ।
सावज एक सकल संसारा अविगत वाकी बाता।
पेट फारि जो देखिय रे भाई, आहि करेज न आंता॥
ऐसी वाकौ मांसु रे भाई, पल पल मांसु बिकाई।
हाड़-गोड़ ले घूर पँवारै, आगि-धूआँ नहि खाई।
सीर-सीग किछु वो नहि वाके, पूंछ कहाँ तें पावै।
सभ पंडित मिलि धंधे परिया, कबीर बनौरी गावै।

पाती है। बेल के दो सिरे है जिनमें एक अवनी मे और दूसरी गगन में फैली हुई है। यह सहज बेल जब फूलने लगी अपनी डालियो और कोंपलो को फैलाकर---तब मनरूपी हाथी ने इसके थाले को बरबाद कर दिया, फिर तो सतगुरु ने इस बेलि को सहारा दिया। पाँच सखियो ने मिलकर (पाँच ज्ञानेन्द्रियो ने) इस राम-गुन की बेल को हवा की और बाड़ी मे पानी डालकर सीचा (विषय-रस से सीचा) परन्तु आश्चर्य यह है कि इस बेल को जब काटा जाता है तब तो इसमें नये-नये कोंपल आते है और जब सीचा जाता है तो कुम्हला जाती है (क्योंकि काटने का मतलब है राम-गुण रूपी बेल को नीचे से काटकर ऊपर की ओर ले जाना और सीचने से मतलब है विषय-रस से सिक्त करना)। कोई विरला ही योगी इस निरन्तर सहज लता को जानता है।

इस पद से मिलता-जुलता एक गोरखबानी (पृ. 106-108) मे छपा है। इस पद मे 'तत वेली' अर्थात् तत्त्वरूप लता की चर्चा है। कबीरवाले पद मे जिस स्थान पर "वेलड़ियां···" आदि पक्तियां है वहाँ गोरखबानी-वाले पद का पाठ इस प्रकार है—

वेलड़ियां दौ लागी अवधू, गगन पहूंती झाला।
जिम जिम वेली दाझबा लागी, तब मेल्है कूपन डाला॥

अन्तिम पक्तियाँ इस प्रकार है :

काटत वेली कूपलें मेल्ही सीचतड़ा कुमलाये।
मछिन्द्रप्रसादें जती गोरख बोल्या नित नवेलड़ी थाये॥

121. सावज = शिकार (अर्थात् माया द्वारा कल्पित यह मिथ्या जगत्), मांसु भखैं = मांस खाते हैं, भोग करते है। सावज···बाता = यह सारा ससार एक शिकार है जिसकी बात समझ में नही आती। आहि···आंता = न

[122]

संतों यह अचरज भो माई, कहौ तो को पतिआई॥
एकै पुरुख एक है नारी, ताकर करहु बिचारा।
एकै अण्ड सकल चौरासी, मार्ग भूल संसारा॥
एकै नारी जाल पसारा, जग मे भया अँदेसा।
खोजत काहू अंत न पाया, ब्रह्मा-बिस्नु महेसा॥
नाग-फाँस लीन्हे घट भीतर, मूसि सकल जग खाई।
ज्ञान खंग बिन सब जग जूझै, पकरि काहू नहि पाई॥
आपहि मूल फूल-फुलवारी, आपहि चुनि चुनि खाई।
कह कबीर तेई जन उबरे, जेहि गुरु लिये जगाई॥

[123]

संतो, धागा टूटा गगन विनसि गया,
सबद जु कहाँ समाई।
ए ससा मोहि निस-दिन व्यापै,
कोइ न कहै समझाई॥
नही ब्रह्माण्ड-प्यण्ड पुनि नाही,
पंच तत्त भी नाही।
इला - प्यंगला - सुषमन नांही,
ए गुण कहाँ समांही॥
नही ग्रिह-द्वार कछू नही तहियाँ,
रचनहार पुनि नाही।
जोवनहार अतीत सदा सँगि,
ये गुण तहाँ समाहीं॥
टूटे बँधे बँधे पुनि टूटै,
जब तक होइ बिनासा।

कलेजा है, न आँत है क्योंकि वह सम्पूर्ण मिथ्या है। हाड़—पँवारै = विवेकी लोग उसका हाड़ और गोड़ (पर) सब घूरे पर फेंक देते हैं, अर्थात् उसे पूर्ण रूप से त्याग देते है। सीर = सिर। सम···गावै = सभी पण्डित इसे देखकर गोरख-धन्धे में पड़ गये है और कबीरदास कहते हैं कि ये लोग 'बनौरी' (अपने मन से बनायी हुई, बनावटी बातें) गा रहे हैं।

122. माया का वर्णन है। मूसि = ठगकर।

123. धागा = सूत, ध्यान का सूत्र। हे सन्तो, अनेक हठयोगी क्रियाओं के बाद जो ध्यान रूपी सूत्र तैयार हुआ वह जब टूटा तो गगनवास या शून्य-समाधि भी नष्ट हो गयी और जो अनाहत ध्वनि सुनायी देती रही वह भी न

तब को ठाकुर अब को सेवग,
को काकै बिसवासा ॥
कहै कबीर यहु गगन न बिनसै,
जा धागा उनमांना।
सीखें-सुनें-पढ़ें का होई,
जो नहिं पदहिं समाना ॥

[124]

कर पल्लव के बल खेल नारि।
पंडित जो होय सो ले बिचारि ॥
कपरा नहिं पहिरै रहे उघारि।
निरजीवै सो धन अति पियारि ॥
उलटी-पलटी बाजै सो तार।
काहुहि मारै काहुहि उबार ॥
कह कबीर दासन के दास।
काहुहि सुख दे काहुहि उदास ॥

जाने कहाँ चली गयी। मुझे यह सन्देह बराबर बना हुआ है, पर कोई समझाके नही कहता (दे. खसम पर विचार)। वस्तुतः जो परमपद है वहाँ पिण्ड, ब्रह्माण्ड, पंचतत्त्व, इड़ा, पिंगला आदि नाड़ियाँ यह सब-कुछ है ही नही (अतएव इन्हीं के आश्रय से जिस स्थान तक गया है वह इन्ही के समान नाशवान् है)। जोवनहार··· = देखनेवाला आत्मा तो इनके अतीत है और सदा उसके साथ है, ये सब गुण उसी में समा जाते हैं। तबको···बिसवासा = उस समय का मालिक अब सेवक हो जाता है, अर्थात् मनुष्य का वह अहंभाव जो इन क्रियाओं के समय मालिक बना रहता है, परमपुरुष के साक्षात्कार होने के बाद निरहंकार होकर दास हो जाता है। अहंभाव इस निरहंकार पर विश्वास नही करता और यह उस पर नही। कहै··· = कबीर कहते है कि इस सेवक-भाव का जो धागा है (निरीह भक्त का जो ध्यानसूत्र है) वह मेरी समझ मे ऐसा है जिससे कभी भी समाधि नही टूटती (क्योंकि वह सहज हो जाती है)। जो उस परमपद में एकमेक होकर समा नही गये उन्हें सीखने-सुनने और पढ़ने से क्या होता है !

124. नारि = वाणी। कपरा··· = कपड़ा नही पहनती, नंगी ही रहती है। संसार को भरमानेवाले तथाकथित पण्डितों की वाणी केवल हाथ से लिखी हुई है (समझी हुई नही है)। अतएव कर-पल्लव के बल से ही खेलती है। उसके अर्थ गूढ़ नही होते इसलिए वह मानो ऐसी है जो कपड़ा नही पहनती, उघाड़ी फिरती है। इस धन (धन्या = घर की दुलारी) को निर्जीव

[125]

ए गुनवन्ती बेलरी, तव गुन बरनि न जाय।
जहँ काटे तहँ हरियरी, सोचे ते कुम्हिलाय॥
ए करुवाई बेलरी, है करुवा फल तोय।
सिद्ध नाम जब पाइये, बेलि बिछोहा होय॥

[126]

राम तेरी माया दुंदु मचावै।
गति-मति वाकी समझि परै नहिं, सुर-नर मुनिहिं नचावै॥
का सेमर के साखा बढ़ये, फूल अनूपम बानी।
केतिक चातक लागि रहे है, चाखत सुवा उड़ानी॥
कहा खजूर बड़ाई तरी, कल कोई नही पावै।
ग्रीखम रिस अब आइ तुलानी, छाया काम न आवै॥
अपना चतुर और को सिखवै, कामिनि-कनक सयानी।
कहै कबीर सुनो हो सन्तो, राम-चरण रति मानी॥

वस्तुएँ ही प्यारी है। इसकी वीणा उलटी-सुलटी बजती रहती है, किसी को मारती है; किसी को उबारती है। परन्तु जो भगवान् के भक्त है उन पर इसकी प्रभुता नही चलती। वह उनकी दासी हो जाती है। इसी प्रकार वह किसी को सुख देती है, किसी को दुःख।

125. गुनवन्ती वेलरी = भक्ति (तुल. पद. 120)। करुवाई बेलि = माया। सिद्ध नाम = भगवान् के नाम की सिद्धि।

126. दुंद = द्वन्द्व, बखेड़ा। बानी = बाने का, ढंग का वर्ण-बान। चातक = अभिलाषी पक्षी। भला सेमर की शाखा बढाने से और अनुपम ढंग का सुन्दर फूल खिलाने से क्या फायदा, जिसमें अनेक फलाभिलाषी पक्षी लगे रहते है, पर फल चखते ही सूआ (तोता) उड़ने को बाध्य होता है। खजूर की बड़ाई (लम्बाई) से क्या लाभ, जब ग्रीष्म ऋतु में उसकी छाया किसी काम नही आती। ऐसी निरर्थक बातें तुम्हारी माया ने खड़ी कर रखी हैं। वह अपनी चातुरी औरों को सिखा देती है और वे भी इसी प्रकार निष्फल सौन्दर्य से दूसरों को धोखा देते हैं। कामिनी (स्त्री) और सोने में यही सयानापन है। कबीर कहते है कि हे सन्तो, (यह सब देखकर) हमने रामचरण में ही प्रीति मानी है।

[127]

ई माया रघुनाथ की बौरी, खेलन चली अहेरा हो।
चतुर चिकनियाँ चुनि-चुनि मारे, काहू न राखे नेरा हो।
मौनी-वीर-दिगंबर मारे, ध्यान धरंते जोगी हो।
जंगल में के जंगम मारे, माया किन्हहूँ न भोगी हो।
वेद पढ़ंते बेदुआ मारे, पूजा करते सामी हो।
अरथ बिचारत पंडित मारे, बाँधेउ सकल लगामी हो।
सिंगी रिषि बन भीतर मारे, सिर ब्रह्मा का फोरी हो।
नाथ मछंदर चले पीठि दै, सिंहलहू में बोरी हो।
साकट के घर करता-धरता हरि-भगतन की चेरी हो।
कहहि कबीर सुनहु हो सन्तो, ज्यों आवै त्यों फेरी हो।

[128]

अब हम जाना हो हरि बाजी को खेल।
डंक बजाय देखाय तमाशा, बहुरि सो लेत सकेल।
हरि बाजी सुर-नर-मुनि जहँड़े, माया चेटक लाया।
घर में डारि सबन भरमाया, हिरदय ज्ञान न आया।
बाजी झूठ बाजीगर साँचा, साधुन की मति ऐसी।
कह कबीर जिन जैसी समझी, ताकी गति भइ तैसी।

[129]

बागड़ देस लूवन का घर है, तहँ जिनि जाइ दाझन का डर है।
सब जग देखौं कोइ न धीरा, परत धूरि सिर कहत अबीरा।
न तहाँ सरवर न तहाँ पाणी, न तहाँ सतगुरु साधू-वाणी।
न तहाँ कोकिल न तहाँ सूवा, ऊँचे चढ़ि चढ़ि हंसा मूवा।

127. वीर = शैव-विशेष। दिगंबर = जैनियों का सम्प्रदाय-विशेष = और नागा सन्यासी। जंगम = जंगम साधु। सामी = स्वामी, संन्यासी। बाँधेउ··· हो = सबको लगाम से बाँध रखा है। शृंगी ऋषि = वन में तप करते थे फिर भी स्त्री पर आसक्त हुए थे। ब्रह्मा का सिर फोड़ दिया = मति भ्रष्ट कर दी। मछन्दरनाथ सिंहल की स्त्रियों के प्रेम में आसक्त हो गये थे, गोरखनाथ ने उनका उस जाल से उद्धार किया था। साकट = शाक्त, वाममार्गी।

128. हरि···खेल = भगवान् की बाजीगरी का खेल; माया की लीला।

129. बागड़ देस = बाँगर देश, नदीहीन प्रदेश। लूवन = लू की लपटें। दाझन =

देश मालवा गहर गँभीर, डग-डग रोटी पग पग नीर।
कहै कबीर धरती मन मानां, गूंगे का गुड़ गूंगै जाणा।

[130]

रहना नहिं देस विराना है।
यह संसार कागद की पुड़िया, बूंद पड़े घुल जाना है।
यह संसार कांट की बाड़ी, उलझ-पुलझ मरि जाना है।
यह संसार झाड़ औ झांखर, आग लगे बरि जाना है।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, सतगुरु नाम ठिकाना है।

[131]

(बुढ़िया) हँसि बोले मैं नितहीं बारि, मोसों कहु तरुनी कवनि नारि।
दाँत गयल मोर पान खात, केस गयल मोर गग न्हात।
नयन गयल मोर कजरा देत, बयस गयल पर-पुरुष लेत।
जान पुरुषवा मोर अहार, अनजाने का करो सिंगार।
(कहहिं) कबीर बुढ़िया आनंद गाय, पूत भतारहिं बैठी खाय।

[132]

सुवटा डरपत रहु भाई, तोहिं डराई देत बिलाई।
तीनि बार रूँधै इक दिन मै, कबहुँक खता खवाई॥
या मंजारी मुगध न मांनै, सब दुनियाँ डहकाई।
राणां-राव रंक कौं व्यापै, करि करि प्रीति सवाई॥
कहत कबीर सुनहु रे सुवटा, उबरै हरि सरनाई।
लाषों माँहि तैं लेत अचानक, काहू न देत दिखाई॥

जलना। यह संसार की विषयवासना ही बाँगर देश है। मालवा = मालभूमि, उपजाऊ जमीन।

130. देस विराना = (1) वीराना देश, मरुभूमि, (2) दूसरे का देश, (3) अज्ञात देश।

131. बुढ़िया = माया। बारि = बाला, युवती। गयल = गया। जान पुरुषवा = चतुर पुरुष, जो अपने को ज्ञानी समझते है। अनजाने का = अज्ञात ब्रह्म के लिए।

132. सुवटा = सुग्गा। बिलाई = बिल्ली। जहाँ जीव और माया से मतलब है। तीनि···खवाई = कभी तो खता खा जायेगा, धोखा खा जायेगा, इस आशा में दिन मे तीन बार राह रोककर खड़ी होती है। मजारी = बिल्ली। मुगध = मूर्ख। डहकाई = दु.ख दे रही है। लाषों···दिखाई =

[133]

"तुम्ह घरि जाहु हमारी बहना, विष लागै तिहारे नैंना ।
अंजन छाँड़ि निरंजन राते, ना किसही का दैनां ।
बलि जाऊँ ताकी जिनि तुम्ह पठई, एक भाई एक बहनां ॥"
"राती खाँड़ी देखि हमारा सिंगारो ।
सरग-लोकथैं हम चलि आई, करन कबीर भरतारी ॥"
"सरगलोक में क्या दुख पड़िया, तुम्ह आई कलि माँही ।
जाति जुलाहा नाम कबीरा, अजहुँ पतीजौ नाही ॥
तहाँ जाहु जहाँ पाट-पटंबर, अगर चंदन घसि लीनाँ ।
आइ हमारै कहा करौगी, हम तौ जाति कमीनां ॥
जिनि हम साजे साज्य निवाजे, बाँधे काचै धागे ।
जे तुम्ह जतन करौ बहुतेरा, प्राणी आगि न लागै ॥
साहिब मेरा लेखा माँगै, लेखा क्यूँ करि दीजै ।
जे तुम्ह जतन करौ बहुतेरा, तौ पाहण नीर न भीजै ॥
जाकी मैं मछी सो मेरा मछा सा मेरा रखवालू ।
टुक एक तुम्हारै हाथ लगाऊँ तौ राजाराम रिसालू ॥
जाति जुलाहा नाम कबीरा बनि बनि फिरौ उपासी ।
आसि-पासि तुम्ह फिरि फिरि सौ एक मानु एक मासी ॥"

[134]

माया महा ठगिनि हम जानी ।
तिरगुन फाँसि लिये कर डोलै, बोलै मधुरी बानी ॥

लाखों की भीड़ में भी अचानक धर दबोचती है, किसी को नही दिखायी देता ।

133. कबीर और माया का संवाद है। "ए मेरी बहन माया, तुम अपने घर जाओ, तुम्हारी आँखों मे विष लगा है। हम तो अंजनरूप ससार को छोड़कर निरंजन में माते हैं, हमें किसी से क्या लेना-देना ! बलिहारी है उनकी जिन्होने तुम्हें भेजा है। हम एक भाई और एक बहन हैं।" इस पर माया कहती है—"ऐ कबीर, इस लाल तलवार (मदमत्त नयनो) को देखो, यह मेरा शृंगार देखो। मैं स्वर्गलोक से कबीर को पति बनाने के लिए आयी हूँ।"
इसके बाद कबीर का उत्तर है। पतीजौ = प्रतीति। जाकी'''रखवालू = मैं जिसकी मछली हूँ वही मेरा मछुआ है और वही मेरा रखवाला भी है (तुम मुझे नही पकड़ सकती)। रिसालू = खीझेंगे, अप्रसन्न होंगे।

केशव के कमला होइ बैठी, सिव के भवन भवानी।
पंडा के मूरत होय बैठी, तीरथ हू में पानी॥
जोगी के जोगिन होइ बैठी, राजा के घर रानी।
काहू के हीरा होइ बैठी, काहू के कौड़ी कानी॥
भक्तन के भक्तिन होइ बैठी, ब्रह्मा के ब्रह्मानी।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, यह सब अकथ कहानी॥

[135]

अब मोहि ले चलु ननद के बीर अपने देसा।
इन पंचन मिलि लूटी हूँ, सग-सग, आहि बिदेसा।
गंगतीर मोरी खेती-बारी, जमुनातीर खरिहाना।
सातो बिरखी मेरे नीपजैं, पाचू मोर किसाना।
कहै कबीर यह अकथ कथा है, कहता कही न जाई।
सहज भाइ जिहि ऊपजै, ते रमि रहै समाई॥

[136]

लावी बाबा आगि जलावो घरा रे।
ता कारनि मन धंधै परा रे।
इक डाइनि मेरे मन में बसे रे।
नित उठि मेरे जिय को डँसे रे।
ता डाइनि के लरिका पाँच रे।
निसि-दिन मोहि नचावैं नाच रे।
कहै कबीर हूँ ताको दास,
डाइनि के संग रहै उदास।

[137]

बहुरि नहिं आवना या देस।
जो जो गये बहुरि नहिं आये, पठवत नाहिं सँदेस।

135. ननद के बीर = ननद के भाई, पति। पचन = पाँच इन्द्रिय। संग··· बिदेसा = ये विदेश मे साथ-साथ है। गंगतीर···किसान = इड़ा के तट पर मेरी खेती होती है और पिंगला के किनारे खलिहान है। सातों बीज मेरे खेत में पैदा होते है। सातो बीज सात धातुएँ—चर्म, रुधिर, मास, मेद, अस्थि, मज्जा, वीर्य है। पाँच मेरे किसान हैं। ये पाँचों ज्ञानेन्द्रिय हैं।
136. आगि = भगवद्विरह की अग्नि। घरा = मोह-माया की दुनिया। डाइनि = ममता। लरिका पाँच = पाँच इन्द्रियों के विषय।
137. आदेस = गोरखपन्थी लोग 'आदेश'-'आदेश' कहते है।

सुर-नर-मुनि और पीर औलिया, देवी-देव-गनेस।
धरि धरि जनम सबै भरमे है, ब्रह्मा-विस्नु-महेस।
जोगी जंगम और संन्यासी, दीगम्बर दरवेस।
चुंडित-मुंडित-पंडित लोई, सुर्ग-रसातल सेस।
ग्यानी गुनी चतुर औ कविता, राजा-रंक-नरेस।
कोई रहीम कोइ राम बखानै, कोई कहै आदेस।
नाना भेष बनाय सबै मिलि, ढूंढ़ि फिरे चहुँ देस।
कहै कबीर अंत ना पैहो, बिन सतगुरु उपदेस।

[138]

कहूँ रे जे कहिबे की होइ॥
ना को जानै नां को मांनै, तातैं अचिरज मोहि॥
अपने अपने रंग के राजा, मांनत नाही कोइ॥
अति अभिमान लोभ के घाले, चले अपनपौ खोइ॥
मैं मेरी करि यहु तन खोयौ, समझत नही गँवार॥
भौजलि अधफर थाकि रहे है, बूड़े बहुत अपार॥
मोहि आग्या दई दयाल दया करि, काहूकू समझाइ॥
कहै कबीर मैं कहि कहि हार्‌यौ, अब मोहि दोस न लाइ॥

[139]

भारी कहौं तो बहु डरौं, हलका कहौं तो झूंठा।
मैं का जाणौं रामकूं नैनू कबहूँ न दीठा॥ 1॥
ऐसा अद्‌भुत जिनि कथै, अद्‌भुत राखि लुकाइ।
वेद कुरानां गमि नही, कह्या न को पतिआइ॥ 2॥
करता की गति अगम है, तूं चल अपणैं उनमान।
धीरैं धीरैं पाँव दे, पहुँचैगे परवान॥ 3॥

[140]

ऐसा भेद बिगूचन भारी।
बेद-कतेब दीन अरु दुनिया, कौन पुरुष कौन नारी॥

138. तातैं = उससे। भौजलि···अपार = भव-जल में कुछ आधे सूखे लोग तैरते-तैरते थम गये हैं और न जाने कितने डूब गये।
139. जाणौं = जानूँ। दीठ = दिखायी दिया। गमि = पहुँच। कह्यां = कहने पर। आपणैं उनमान = अपने अनुमान से। परवान = परिणाम में, अन्त में।
140. बिगूचन। उलझन। कतेब = किताब, कुरान। सूदा = शूद्र। ग्यंद =

एक बूंद एकै मल-मूतर, एक चाम एक गूदा।
एक जोतिथैं सब उत्पन्ना, को बाह्मन को सूदा ॥
रज-गुन ब्रह्मा तम-गुन संकर, सत-गुन हरि है सोई ।
कहै कबीर एक नाम जपहु रे, हिंदू तुरक न कोई ॥
माटी का प्यंड सहजि उपपना, नाद रु ब्यद समाना।
बिनसि गयां थैं का नाव धरिहौ, पढ़ि गुनि भ्र म जांनां ॥

[141]

साधो एक रूप सब माही।
अपने मनहिं बिचारि कै देखो और दूसरो नाही ॥
एकै त्वचा रुधिर पुनि एकै विप्र सूद्र के माही।
कही नारि कही नर होइ बोलै गैब पुरुष वह नाही ॥
सब्द पुकारि सत्त मे भाखौ अन्तर राखौं नाही।
कहैं कबीर ज्ञान जेहि निरमल बिरलै ताहि लखाही ॥

[142]

मैं कासैं बूझौ अपने पिया की बात री।
जान सुजान प्रान-प्रिय पिय बिन, सबै बटाऊ जात री।
आसा नदी अगाध कुमति बहै, रोकि काहू पै न जात री।
काम-क्रोध दोउ भये करारे, पड़े बिषय-रस मात री।
ये पाँचो अपमान के सगी, सुमिरन को अलसात री।
कहै कबीर बिछुरी नहिं मिलिहा, ज्यों तरवर बिन पात री।

[143]

या करीम बलि हिकमति तेरी,
खाक एक सूरति बहुतेरी ॥
अर्ध गगन मै नीर जमाया,
बहुत भांति करि नूरनि पाया ॥
अवलिय-आदम-पीर-मुलाना,
तेरी सिफति करि भये दिवाना ॥

बिन्दु। बिनसि''' = जो नष्ट हो गया उसका क्या नाम दूँ ?
141. गैब पुरुष = कोई दूसरा अद्भुत पुरुष।
142. बटाऊ = राही।
143. करीम = दयालु। खाक एक''' बहुतेरी = एक ही मिट्टी से अनेक [illegible] उत्पन्न किये हैं। अर्ध''' नीर = मेघ का पानी। नूर = [illegible]

कहै कबीर यहु हेतु विचारा
या रब या रब यार हमारा ॥

[144]

(जाके) बारह-मास वसंत होय, (ताके) परमारथ बूझै बिरला कोय।
बरिसै अगिनि अखंड धार, हरिहर भौ-बन (अ) ठारह भार।
पनिया आदर धरी न लोय, पवन गहै कस मलिन धोय।
बिनु तरिवर फूलै आकास, सिव-बिरंचि तहँ लेहिं बास।
सनकादिक भूलै भँवर बोय, लख-चौरासी जोइनि जोय।
जो तोहि सतगुरु सत्त लखाव, ताते न छूटै चरन भाव।
अमर लोक फल लावै चाव, कहँहि कबीर बूझ सो पाव।

[145]

डँड़िया फदाय धन चलु रे, मिलि लेहु सहेली।
दिना चारि को संग है, फिर अंत अकेली।
दिन दस नैहर खेलि ले, सासुर निज भरना।
बहियाँ पकरि पिय ले चले, तब उजर न करना।
इक अँधियारी कोठरी, दूजे दिया न बाती।
लेहिं उतारि ताही धरौं, जहँ संगि न साथी।
इक अँधियारी कुइयाँ, दूजे लेजुर टूटी।
नैन हमारे अस ढुरें, मानो गागर फूटी।
दास कबीरा यों कहै, जग नाहिन रहना।
संगी हमरे चलि गये, हमहूँ को चलना।

अवलिय = औलिया, सन्त, महात्मा। सिफति करि = गुणगान करके। रब = पालनकर्ता।

144. परम पद का वर्णन है। जाके'''जोय = वहाँ बारह महीने नित्य वसन्त रहता है। यद्यपि अग्नि (तेज) की अखण्ड धारा बरसती रहती है तो भी वन अट्ठारह भार (सम्पूर्ण) हरियाली धारण किये रहता है। पानी के प्रति लोग आदर नहीं रखते तो भला पवन से मैल धोयी जा सकती है। पानी = भक्ति। पवन = हठयोग। वहाँ बिना वृक्ष के ही आकाश पुष्पों से भरा रहता है, शिव और ब्रह्मा उन फूलों की महक का रस लेते है, सनकादिक मुनि अमर होकर भूले हुए है और चौरासी लाख योनियों को देखते रहते हैं।

145. डँड़िया = डण्डे में लगी हुई एक तरह की पालकीनुमा सवारी। धन = धन्या, दुलहिन। लेजुर = रज्जु, रस्सी।

[146]

अमरपुर ले चलु हो सजना।
अमरपुरी की सँकरी गलियाँ, अड़बड़ है चढ़ना।
ठोकर लगी गुरु-ज्ञान शब्द की, उघर गये झपना।
वोहि रे अमरपुर लागि बजरिया, सौदा है करना।
वोहि रे अमरपुर संत बसतु हैं, दरसन है लहना।
संत समाज सभा जहँ बैठी, वही पुरुष अपना।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, भवसागर है तरना।

[147]

बाबा अगम-अगोचर कैसा, तातें कहि समझाओ ऐसा।
जो दीसै सो तो है नहीं, है सो कहा न जाई।
सैना-बैना कहि समझाओ, गूँगे का गुड़ भाई।
दृष्टि न दीसै मुष्टि न आवै, बिनसै नाहिं नियारा।
ऐसा ज्ञान कथा गुरु मेरे, पंडित करो विचारा।

[148]

रेख-रूप जेहि है नहीं, अधर धरो नहिं देह
गगन-मंडल के मध्य में, रहता पुरुष विदेह ॥ 1 ॥
साईं मेरा एक तू और न दूजा कोय।
जो साहब दूजा कहै, दूजा कुल को होय ॥ 2 ॥
सर्गुन की सेवा करो, निर्गुन का कर ज्ञान।
निर्गुन सर्गुन के परे, तहैं हमारा ध्यान ॥ 3 ॥

[[illegible]]

साईं मोर [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

जाय उतरिहैं वाही देसवां हो, जहां कोई ना हमार।
ऊँची महलिया साहेब कै हो, लगी विसमी बजार।
पाप-पुन्न दोऊ बनिया हो, हीरा लाल अपार।
कहै कबीर सुन साइयां मोर वोहिय देस।
जो गये सो बहुरे ना को कहत संदेस॥

[150]

पांड़े बूझि पियहु तुम पानी।
जिहि मिटिया के घर मेंह बैठे, तामेंह सिस्ट समानी।
छपन कोटि जादव जहँ भीजे, मुनिजन सहज अठासी।
पैग-पैग पैगंबर गाड़े, सो सब सरि भौ माँटी।
तेहि मिटिया के भांड़े पांड़े, बूझि पियहु तुम पानी॥
मच्छ-कच्छ घरियार वियाने, रुधिर-नीर जल भरिया।
नदिया नीर नरक बहि आवै, पसु-मानस सब सरिया॥
हाड़ झरी झरि गूद गरी गरि, दूध कहां तें आया।
सो लै पांड़े, जेंवन बैठे, मटियहि छूति लगाया॥
वेद-कितेब छाँड़ि देउ पांड़े, ई सब मन के भरमा।
कहहिं कबीर सुनहु हो पांड़े, ई तुम्हरे हैं करमा॥

[151]

साधो, पांड़े निपुन कसाई।
बकरी मारि भेड़ि को धाये, दिल मे दरद न आई।
करि अस्नान तिलक दै बैठे, विधि सों देवि पुजाई।
आतम मारि पलक मे विनसे, रुधिर की नदी बहाई।
अति पुनीत ऊँचे कुल कहिये, सभा माहि अधिकाई।
इनसे दिच्छा सब कोई माँगे, हँसि आवै मोहिं भाई।
पाप-कटन की कथा सुनावे, करम करावे नीचा।
बूड़त दोउ परस्पर दीखे, गहे बाँहि जम खीचा।
गाय बधै सो तुरक कहावै, यह क्या इनसे छोटे।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, कलि में बाह्मन खोटे॥

धारो जगदेतज्जलाशयः)। सोरह पनिहार = पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण और मन। घइलवा = घड़ा अर्थात् यह शरीर रूपी घट। धन = दुलहिन, जीव। घड़ा ढरक गया अर्थात् जीवनी-शक्ति समाप्त हो गयी। चार कहारा = शव वहन करनेवाले आदमी।

[152]

तो पं वीजरूप भगवाना,
जो पंडित का कथिसि गियाना ॥
नहि तन नहिं मन नहिं अहँकारा,
नहिं सत-रज-तम तीनि प्रकारा ॥
विष-अंमृत-फल फले अनेक,
वेद रु वोधक है तरु एक ॥
कहै कवीर इहै मन माना,
केहिधू छूट कवन उरझाना ॥

[153]

पंडित वाद वदन्ते झूठा।
राम कह्यां दुनिया गति पावै
खाँड कह्यां मुख मीठा ॥
पावक कह्या पाव जे दाझै,
जल कहि त्रिपा वुझाई।
भोजन कह्या भूख जे भाजै,
तो सव कोइ तिरि जाई ॥
नरक साथि सूवा हरि वोले,
हरि परताप न जानै।
जो कवहूँ उड़ि जाइ जँगल में,
वहुरि न सुरतै आनै ॥
साँची प्रीति विषै मायासू,
हरि भगतनि-सूं दासी।
कहै कवीर प्रेम नहि उपज्यौ,
वाध्यौ जमपुरि जासी ॥

152. यदि भगवान् वीजरूप है तव तो सव उन्ही का परिणाम है। फिर तन, मन, अहंकार तथा सत्त्व-रज-तम आदि गुणो की पृथक् सत्ता कहाँ रही ? वेद और वेद के वोधक ये दोनों ही वृक्ष हुए, जिसके विष और अमृत नाना फल लगे हुए है। कवीर कहते है कि यह सारा प्रपंच मन का कल्पित है, इसमे भला किससे छूटा जाय और किससे उलझा जाय। यह पद कुछ पाठान्तर के साथ 'वीजक' मे आता है। कुछ टीकाकार लोग इसे परिणाम- वाद के खण्डन में लिखा हुआ वताते है।

153. पण्डित झूठा वाद वदता है। राम कहने मात्र से यदि दुनिया गति

[154]

पाँड़े न करसी वाद-विवादं।
या देही बिन सबद न स्वादं॥
अंड ब्रह्मण्ड खंड भी माटी,
माटी नवनिधि काया।
माटी खोजत सतगुरु भेट्या,
तिन कछु अलख लखाया॥
जीवत माटी मूवा भी माटी
देखो ग्यान विचारी।
अति काली माटी मे वासा
लेटै पाँव पसारी॥
माटी का चित्र पवन का थंभा
व्यंद संजोगि उहाया।
भानै घड़ै सँवारै सोई,
यहु गोव्यंद की माया॥
माटी का मंदिर ग्यान का दीपक
पवन वाति उजियारा॥
तिहिं उजियारै सब जग सूझै,
कबीर ग्यान विचारा॥

[155]

तुम बूझहु पंडित कवन नारि। कोइ नाहिं बिआइल रह कुमारि॥
येहि सब देवन मिलि हरिहिं दीन्ह। तेहि चारहुँ युग हरि संग लीन्ह॥
यह प्रथमहिं पद्मिनि रूप पाय। है साँपिनि सब जग खेदि खाय॥
ई वर युवती के वार नाह। अति रे तेज तिया रै निताह॥
कह कबीर सब जग पियारि। यह अपने बलकवै रहै मारि॥

- तो खांड (चीनी) कहने से मुँह मीठा हो जाता। आग कहने से दाह होता और पानी कहने से प्यास बुझती, इत्यादि। करके...जानै = आदमी के साथ जब तक तोता रहता है तब तक हरिनाम लेता है। पर जब कभी जगल में उड़ जाता है तो याद भी नहीं करता।

154. पण्डित, वाद = विवाद न कर। यह सब-कुछ मिट्टी ही है। थंभा = खम्भा। व्यंद = बिन्दु। भानै = तोड़ता है। घड़ै = गढ़ता है।

155. बिआइल = प्रसव किया। नारि = माया। किसी ने माया को जन्म नहीं दिया। अर्थात् वह अनादि है। रह कुमारि = वह किसी की विधिपूर्वक

[156]

चलन चलन सबको कहत है,
नाँ जानो बैकुंठ कहाँ है।
जोजन एक प्रमिति नहि जान,
बातनि ही बैकुंठ बखाने॥
जब लग है बैकुंठ की आसा,
तब लग नहि हरिचरन निवासा॥
कहे-सुनें कैसें पतिअइये,
जब लग तहाँ आप नहि जइये॥
कहै कबीर यहु कहिये काहि,
साधो संगति बैकुंठहि आहि॥

[157]

कर पकरें अंगुरी गिनें, मन धावै चहुँ ओर।
जाहि फिरायाँ वो मिलें, सो भया काठ की ठौर॥ 1॥
केसाँ कहा बिगाड़िया, जो मूँडै सौ बार।
मन कौं काहे न मूँड़िए, जामैं विषै-विकार॥ 2॥
बैस्नौ भया तो क्या भया, बूझा नही विवेक।
छापा-तिलक बनाइ करि, दगध्या लोक अनेक॥ 3॥

[158]

क्या है तेरे न्हाई-धोई, आतमराय न चीन्हा सोई।
क्या घट ऊपरि मजन कीयें, भीतरि मैल अपारा।

पत्नी नही हुई। यह···खाय = इतने पहले पद्मिनी का रूप पाया। पद्मिनी, सुलक्षणा स्त्री। बाद मे सर्पिणी की भाँति सारे ससार को खा गयी। ई··· नाह = इस नवयुवती के नाह (पति) इसके सामने अभी बच्चे ही हैं; क्योंकि शिव, विष्णु आदि जिन देवताओ को 'मायापति' समझा जाता है वे वस्तुत. माया द्वारा कल्पित उपाधियों के कारण ही पृथक्-पृथक् नाम-वाले देवता बने हुए है। माया अनादि है, देवगण आदि। इसीलिए यह स्त्री नित्य ही उनके सामने तेज बनी रहती है। निताह = नित्य ही। कह ···मारि = कबीर कहते है कि यह माया समस्त जगत् को प्रिय लगती है, किन्तु अपने बालको को ही मारकर जा रही है; क्योंकि जन्म-मृत्यु के भव-चक्र मे पड़े हुए जीव वस्तुतः माया के कारण ही नश्वर शरीर आदि को आत्मा मानकर नाना प्रकार का क्लेश पाते है और बार-बार जन्म-मरण के चक्र मे पड़ते है। इस प्रकार यह माया अपने ही बालको को मार रही है।

राम-नाम बिन नरक न छूटै, जो धोवै सौ बारा।
का नट भेखैं भगवा वस्तर, भसम लगावै लोई।
ज्यूं दादुर सुरसरि-जल भीतरि, हरि बिन मुकति न होई।
परिहरि काम राम कहि बौरे, सुनि सिख बंधू मोरी।
हरि कौ नांव अभैपददाता, कहै कबीरा कोरी।

[159]

मन बनियाँ बनिज न छोड़ै।
जनम जनम का मारा बनियाँ, अजहूँ पूर न तौले।
पासँग के अधिकारी लैले, भूला भूला डोलैं।
घर में दुविधा कुमति बनी है, पल-पल में चित तोरैं।
कुनवा वाके सकल हरामी, अंमृत में विष घोलैं।
तुमही जल में तुमहीं थल में, तुमही घटघट बोलैं।
कहै कबीर या वा सिष को डरिये, हिरदे गाँठि न खोलैं।।

[160]

लोका मति के भोरा रे।
जो कासी तन तजै कबीरा,
तौ रामहिं कहा निहोरा रे।
तब हम वैसे अब हम ऐसे,
इहै जनम का लाहा रे।
राम-भगति-परि जाकौ हित चित
ताकौ अचिरज काहा रे।
गुरु-परसाद साध की संगति,
जन जीतें जाइ जुलाहा रे।
कहै कबीर सुनहु रे सन्तो,
भ्रंमि परैं जिनि कोई रे।
जस कासी तस मगहर ऊसर,
हिरदै राम सति होई रे।

[161]

पूजा-सेवा-नेम-व्रत, गुड़ियन का-सा खेल।
जब लग पिउ परसै नहीं, तब लग संसय मेल।।

[162]

जाति न पूछो साध की, पूछ लीजिए ज्ञान।
मोल करो तलवार का पड़ा रहन दो म्यान।।

हस्ती चढ़िए ज्ञान कौ, सहज दुलीचा डारि।।
स्वान-रूप संसार है, भूँकन दे झक मारि।।

[163]

मेरा-तेरा मनुआँ कैसे इक होई रे।
मैं कहता हौं आँखिन देखी, तू कहता कागद की देखी।
मैं कहता सुरझावनहारी, तू राख्यौ उरझाई रे।
मैं कहता तू जागत रहियो, तू रहता है सोई रे।
मैं कहता निर्मोही रहियो, तू जाता है मोही रे।
जुगन जगन समुझावत हारा, कही न मानत कोई रे।
तू तो रंडी फिरै विहुडी, सब धन डारे खोई रे।
सतगुरु धारा निर्मल बाहै, वामैं काया धोई रे।
कहत कबीर सुनो भाइ साधो, तब ही वैसा होई रे।

[164]

दुलहिन अँगिया काहे न धोवाई।
बालपने की मैली अँगिया विषय-दाग परि जाई।
बिन धोये पिय रीझत नाहीं, सेजसें देत गिराई।
सुमिरन ध्यान कै साबुन करि ले सत्तनाम दरियाई।
दुविधा के भेद खोल बहुरिया मनकै मैल धोवाई।
चेत करो तीनों पन बीते, अब तो गवन नगिचाई।
पालनहार द्वार है ठाढ़ै अब काहे पछिताई।
कहत कबीर सुनो री बहुरिया चित अंजन दे आई।

[165]

मोरी चुनरी मे परि गयो दाग पिया।
पाँच तत्त की बनी चुनरिया, सोरहसैं बँद लागे जिया।
यह चुनरी मोरे मैकेतें आई, ससुरे में मनुवाँ खोय दिया।
मलि मलि धोई दाग न छूटे, ज्ञान को साबुन लाय पिया।
कहै कबीर दाग कब छुटिहै, जब साहब अपनाय लिया।

[166]

तेरा जन एक आध है कोई।
काम-क्रोध अरु लोभ विवर्जित, हरिपद, चीन्है सोई।।

164. अँगिया = यहाँ शरीर से मतलब है। दुलहिन जीवात्मा है।
166. सातिग = सात्त्विक।

राजस-तामस-सातिग तीन्यूँ, ये सब तेरी माया।
चौथे पद कौं जे जन चीन्है, तिनहिं परम पद पाया॥
असतुति-निंदा-आसा छाँड़ै, तजै मान अभिमाना।
लोहा-कंचन समि करि देखै, ते मूरति भगवाना॥
च्यंतै तो माधौ च्यंतामणि हरिपद रमैं उदासा।
त्रिसनां अरु अभिमान रहित है कहै कबीर सो दासा॥

[167]

अबुझा लोग कहाँ लौं बूझै बूझनहार बिचारो॥
केते रामचन्द्र तपसी से जिन जग यह भरमाया।
केते कान्ह भये मुरलीधर तिन भी अन्त न पाया॥
मच्छ-कच्छ-वाराहसरूपी वामन नाम धराया।
केते बौध भये निकलंकी तिन भी अन्त न पाया॥
केतिक सिध-साधक-संन्यासी जिन बनबास बसाया।
केते मुनिजन गोरख कहिये तिन भी अन्त न पाया॥
जाकी गति ब्रह्मै नही पाये सिव-सनकादिक हारे।
ताके गुन नर कैसे पैहौ खड़ा कबीर पुकारे॥

[168]

साधो, देखो जग बौराना।
साँची कहौ तौ मारन धावे झूँठे जग पतियाना।
हिन्दू कहत है राम हमारा मुसलमान रहमाना।
आपस मैं दोऊ लड़े मरतु हैं मरम कोई नहिं जाना।
वहुत मिले मोहिं नेमी धर्मी प्रात करें असनाना।
आतम-छोड़ि पषानें पूजें तिनका थोथा ज्ञाना।
आसन मारि डिंभ धरि बैठे मन में बहुत गुमाना।
पीपर-पाथर पूजन लागे तीरथ-वर्त भुलाना।
माला पहिरे टोपी पहिरे छाप-तिलक अनुमाना।
साखी सब्दै गावत भूले आतम खबर न जाना।
घर-घर मंत्र जो देन फिरत हैं माया के अभिमाना।
गुरुवा सहित सिष्य सब बूड़े अंतकाल पछिताना।
बहुतक देखे पीर-औलिया पढ़ैं किताब-कुराना।
करैं मुरीद कबर बतलावें उनहूँ खुदा न जाना।

168. डिंभ धरि बैठे = दम्भ धारण करके बैठे हैं। मेहर = दया।

हिन्दु की दया मेहर तुरकन की दोनो घर से भागी।
वह करै जिवह वाँ झटका मारे आग दोऊ घर लागी।
या विधि हँसत चलत है हमको आप कहावैं स्याना।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, इनमें कौन दिवाना।

[169]

मीयाँ तुम्हसौ बोल्याँ वणि नही आवै।
हम मसकीन खुदाई बन्दे तुम्हरा जस मनि भावै॥
अलह अवलि दीन का साहिव, जोर नही फुरमाया।
मुरिसद-पीर तुम्हारै है को, कहो कहाँ थें आया॥
रोजा करैं निवाज गुजारैं कलमैं भिसत न होई।
सत्तरि कावे इक दिल भीतरि जे करि जानैं कोई।
खसम पिछाँनि तरस करि जिय मैं, मालमती करि फीकी।
आया जाँनि साँई कूँ जाँनैं, तब ह्वै भिस्त सरीकी।
माटी एक भेष धरि नाँनाँ सब मे ब्रह्म समानाँ।
कहै कबीर भिस्त छिटकाई दोजग ही मनमानाँ॥

[170]

वै क्यूँ कासी तजैं मुरारी। तेरी सेवा-चोर भये वनवारी॥
जोगी-जती-तपी संन्यासी। मठ देवल वसि परसैं कासी॥
तीन वार जे नित प्रति नहावैं। काया भीतरि खवरि न पावैं॥
देवल देवल फेरी देही। नाव निरंजन कबहुँ न लेहीं॥
चरन-विरद कासी कौं न देहूँ। कहै कबीर [illegible] नरकहि जैहूँ॥

[171]

वहुविध चित्र वनाय कै, हरि रच्यौ क्रीड़ा-रास।
जेहि न इच्छा झूलिवे की, ऐसी बुधि केहि पास॥

169. मीयाँ = मियाँ, तुमसे बोलते नहीं बनता। मसकीन = गरीब, [illegible] तुम्हारे [illegible] बन्दे = भगवान् के सेवक। तुम्हरा⋯भावै = तुम्हें चाहे [illegible] भावै। मुरसिद = गुरु। निवाज = नमाज। भिसत = बहिश्त [illegible] दोजग, दोजख = नरक। [illegible]⋯फीकी = जिय को [illegible] करो, मालमता को [illegible]। आया⋯[illegible] = [illegible] आया हुआ जाने। जो [illegible] है वे ही [illegible] वहिश्त में [illegible] होते हैं।
170. हे भगवान्, वे [illegible] काशी को क्यों छोड़ [illegible]

झुलत झुलत बहु कलप बीते, मन न छोड़े आस।
रचि हिंडोला अहो-निसि हो चारि जुग चौमास॥
कबहूँ ऊँच से नीच कबहूँ, सरग-भूमि ले जाय।
अति भ्रमत हिंडोलवा हो, नेकु नहिं ठहराय॥
डरत हौ यह झूलवे को, राखु जादवराय।
कहँ कबीर गोपाल विनती, सरन हरि तुअ पास॥

[172]

चली मैं खोज में पिय की। मिटी नहिं सोच यह जिय की॥
रहे नित पास ही मेरे। न पाऊँ यार को हेरे॥
विकल चहुँ ओर को धाऊँ। तबहुँ नहिं कंत को पाऊँ॥
धरों केहि भाँति सों धीरा। गयौ गिर हाथ से हीरा॥
कटी जब नैन की झाईं। लख्यौं तब गगन में साईं॥
कबीर शब्द कहि त्रासा। नयन में यार को वासा॥

[173]

तलफै बिन बालम मोर जिया।
दिन नहिं चैन रात नहिं निंदिया,
तलफ तलफ के भोर किया॥
तन मन मोर रहँट-अस डोलै,
सुन्न सेज पर जनम छिया।
नैन थकित भये पंथ न सूझै,
साँईं बेदरदी सुध न लिया॥
कहत कबीर सुनो भाई साधो,
हरो पीर दुख जोर किया॥

तेरी सेवा से जी चुराने लगे है। ये जोगी-जती तपस्वी संन्यासी मठों और देवालयों में बैठे हुए काशी को स्पर्श कर रहे है। जो लोग तीन बार स्नान करते है और काया के भीतर (कितनी मैल है) इसकी खबर भी नही जानते, देवालय से देवालय तक फेरी देते हैं और निरंजन का नाम कभी नही लेते—(*वे लोग यदि मुक्ति के लिए काशी पर भरोसा करें*) मैं तुम्हारे चरणों में आश्रय पाने का यश काशी को नही दूंगा (अर्थात् यदि तरूँगा तो तुम्हारे चरणों के प्रताप से, व्यर्थ ही काशी में मरकर यह यश काशी को नहीं मिलने दूँगा) भले ही नरक ही क्यों न जाऊँ।

172. कटी⋯झाईं = जब आँखो में पड़ी हुई छाया हट गयी अर्थात् अज्ञान का आवरण हट गया।

[174]

अविनासी दुल्हा कब मिलिहौ, भक्तन के रछपाल।
जल उपजी जल ही सों नेहा, रटत पियास पियास।
मैं ठाढ़ी विरहन मग जोऊँ, प्रियतम तुमरी आस।
छोड़े गेह नेह लगि तुम सो, भई चरन लवलीन।
ताला-बेलि होति घर भीतर, जैसे जल बिन मीन।
दिवस न भूख रैन नहिं निद्रा, घर अँगना न सुहाय।
सेजिरिया बैरिन भई हमको, जागत रैन बिहाय।
हम तो तुमरी दासी सजना, तुम हमरे भरतार।
दीन-दयाल दया करि आओ, समरथ सिरजनहार।
कै हम प्रान तजति हैं प्यारे, कै अपनी कर लेव।
दास कबीरा विरहा अति बाढ़ेव, हमको दरसन देव॥

[175]

नैंना अंतरि आव तूं, ज्यों हौ नैन झँपेऊँ।
ना हौ देखौं और कूं, नाँ तुझ देखन देऊँ॥1॥
कबीर रेख सिन्दूर की काजल दिया न जाइ।
नैंनूं रमइया रमि रह्या, दूजा कहाँ समाइ॥2॥
मन परतीति न प्रेम-रस, नाँ इस तन में ढंग।
क्या जाणौ उस पीवसूं, कैसे रहसी रंग॥3॥

[176]

नैंनो की करि कोठरी, पुतरी पलँग बिछाय।
पलकों की चिक डारिकै, पिया को लिया रिझाय॥1॥
प्रीतम को पतिया लिखूँ, जो कहूँ होय विदेस।
तन में मन में नैन में, ताको कहा सँदेस॥2॥

174. जल उपजी···पियास पियास = यह विरहिणी उस मछली के समान है जो जल में ही उपजी और जल से ही उसका प्रेम है और फिर भी प्यास-प्यास चिल्ला रही है। भगवान् में ही उत्पन्न और भगवान् में ही सहज प्रेम होते हुए भी जीव भगवान् को नहीं पा रहा है। ताला-बेलि = तिलमिलाहट, छटपटाहट।

[177]

अँखियाँ तो झाई परी, पंथ निहारि निहारि।
जीहड़ियाँ छाला पड़्या, नाम पुकारि पुकारि ॥1॥
विरह कमंडल कर लिये, वैरागी दो नैन।
माँगे दरस मधूकरी, छके रहै दिन-रैन ॥2॥
सब रंग ताँत रबाब तन, विरह बजावै नित्त।
और न कोई सुनि सकै, कै साईं कै चित्त ॥3॥

[178]

पछा पछी के कारनै, सब जग रहा भुलान।
निरपछ ह्वै के हरि भजै, सोई सन्त सुजान ॥1॥
अमृत केरि मोटरी, सिर से धरी उतार।
जाहि कहौं मै एक है, मोहि कहै दो-चार ॥2॥

[179]

दुलहिनि तोहि पिय के घर जाना।
काहे रोवो काहे गावो, काहे करत बहाना ॥
काहे पहिर्यो हरि हरि चुरियाँ, पहिर्यो प्रेम कै बाना।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, बिन पिया नाहि ठिकाना ॥

[180]

सूतल रहलूं मैं नींद भरि हो, पिया दिहलें जगाय।
चरन-कँवल के अंजन हो नैना ले लूं लगाय ॥
जासों निंदिया न आवै हो नहि तन अलसाय।
पिया के बचन प्रेम-सागर हो चलूं चली हो नहाय ॥
जनम जनम के पापवा छिन में डारब धोवाय।
यहि तन के जग दीप कियो प्रीत बतिया लगाय ॥
पाँच तत्त के तेल चुआए ब्रह्म अगिनि जगाय।
प्रेम-पियाला पियाइ के हो पिया पिया बौराय ॥
विरह अगिनि तन तलफै हो जिय कछु न सोहाय।
ऊँच अटरिया चढ़ि बैठ लूं हो जहँ काल न जाय ॥
कहै कबीर विचारिके हो जम देख डराय ॥

177. जीहड़ियाँ = जीभ में।
180. सूतल रहलूं = सोई हुई थी। दिहलें = दिया।

[181]

अब तोहिं जान न देहूँ राम पियारे,
ज्यूँ भावै त्यूँ होह हमारे।
बहुत दिनन के बिछुरे हरि पाये,
भाग बड़े घर बैठें आये।
चरननि लागि करौ बरियाई,
प्रेम-प्रीति राखौ उरझाई।
इत मन-मंदिर रहौ नित चोपै,
कहै कबीर परहु मति धापैं॥

[182]

तन-मन-धन बाजी लागी हो,
चौपड़ खेलूं पीव से रे, तन-मन बाजी लगाया।
हारी तो पिय की भई रे, जीती तो पिय मोर हो।
चौसरिया के खेल में रे, जुग मिलन की आस।
नर्द अकेली रह गई रे, नहिं जीवन की आस हो।
चार बरन घर एक है रे, भाँति भाँति के लोग।
मनसा-बाचा कर्मना कोइ, प्रीति निबाहो ओर हो।
लख चौरासी भरमत भरमत, पौपै अटकी आय।
जो अबके पौ ना पड़ी रे, फिर चौरासी जाय हो।
कहैं कबीर धर्मदास से रे, जीती बाजी मत हार।
अबके सुरत चढ़ाय दे रे, सोई सुहागिन नार हो।

[183]

नाम-अमल उतरै ना भाई।
और अमल छिन छिन चढि उतरै, नाम-अमल दिन बढ़ै सवाई।
देखत चढ़ै सुनत हिय लागै, सुरत किये तन देत घुमाई।
पियत पियाला भये मतवाला, पायो नाम मिटी दुचिताई।
जो जन नाम अमल रस चाखा, तर गई गनिका सदन कसाई।
कहै कबीर गूंगे गुड़ खाया, बिन रसना का करै बड़ाई।

182. जुग = चौरस के खेल में दो गोटियों का एक ही कोठे में इकट्ठा होना।
नर्द = चौरस की गोटी। पौ = जीत का दाँव-विशेष।
183. अमल = नशा।

पाँच तत्त की बनी चुनरिया नाम के लागे फूंदन।
चढ़िगे महल खुल गई रे किवरिया दास कबीर लागे झूलन॥

[188]

मैं अपने साहब संग चली।
हाथ मे नरियल मुख मे बीड़ा, मोतियन माँग भरी।
लिल्ली घोड़ी जरद बछेड़ी, तापै चढ़ि के चली।
नदी किनारे सतगुरु भेटे, तुरत जनम सुधरी।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, दोउ कुल तारि चली।

[189]

गुरु मोहि घुंटिया अजर पियाई।
गुरु मोहि घुंटिया पियाई, भई सुचित मेटी दुचिताई।
नाम-औषधी अधर-कटोरी, पियत अघाय कुमति गई मोरी,
ब्रह्मा-विस्नु पिये नही पाये, खोजत सभू जन्म गँवाये।
सुरत निरत करि पियै जो कोई, कहै कबीर अमर होय सोई॥

[190]

कबीर भाटी कलाल की, बहुतक बैठे आइ।
सिर सौंपे सोई पिवै, नही तो पिया न जाइ॥1॥
हरि-रस पीया जाणिये, जे कबहूँ न जाइ खुमार।
मैमंता घूमत रहे, नाहीं तन की सार॥2॥
सबै रसायण मैं किया, हरि-सा और न कोइ।
तिल इक घट मैं सचरै, तो सब कंचन होइ॥3॥

[191]

पीछै लागा जाइ था, लोक वेद के साथि।
आगे थैं सतगुरु मिल्या, दीपक दीया हाथि॥1॥
दीपक दीया तेल भरि, बाती दई अघट्ट।
पूरा किया बिसाहुणा, बहुरि न आवौं हट्ट॥2॥
कबीर गुरु गरवा मिल्या, रलि गया आटे लूंण।
जाति-पाँति-कुल सब मिटै, नाँव धरौगे कौण॥3॥

190. मैमंता = मदमाता।
191. अघट्ट = कभी न घटनेवाली, अक्षय। शरीर दीपक है, आयु तेल है और

सतगुर हमसूं रीझि करि एक कह्या परसंग।
बरस्या बादल प्रेम का, भीजि गया सब अंग ॥4॥

[192]

वै दिन कब आवैंगे भाइ।
जा कारनि हम देह धरी है, मिलिबौ अंगि लगाइ।
हौं जांनूं जे हिल-मिलि खेलूं, तन मन प्रान समाइ॥
या कामना करौ परिपूरन, समरथ हौ रांम राइ॥
मांहि उदासी माधौ चाहै,
चितवन रैंनि बिहाइ॥
सेज हमारी स्यंघ भई है,
जब सोऊँ तब खाइ॥
यहु अरदास दास की सुनिये,
तन की तपनि बुझाइ॥
कहै कबीर मिलै जे साईं,
मिलि करि मंगल गाइ॥

[193]

मेरी अँखियाँ जान सुजांन भई।
देवर ननद सुसर संग तजि करि, हरि पीव तहाँ गई॥
बालपनैं के करम हमारे, काटे जानि दई।
बाँह पकरि करि किरपा कीन्ही, आप समीप लई॥
पानी की बूँद थे जिनि प्यंड साज्या, ता संगि अधिक रई॥
दास कबीर पल प्रेम न घटई, दिन-दिन प्रीति नई॥

[194]

इति बिधि रामसूं ल्यौं लाइ।
चरन पार्यं निरति करि, जिभ्या बिना गुंण गाइ।
जहाँ स्वाँतिबूंद न सीप साइर, सहजि मोती होइ।
उन मोतियन मैं नीर पोयौ, पवन अम्बर धोइ।

आत्मा अक्षय वस्तु है। बिसाहुणाँ = खरीदना। गुरु गरवा मिल्या = गुरु गले मिले। लूंण = नमक।

192. स्यघ = सिंह।

193. रई = रत हुई।

194. चरण पार्यं निरति करि = चरणों के पंख पर नृत्य करो। जिभ्या बिना =

जहाँ धरनि बरषै गगन भीजै, चन्द-सूरज मेल।
दोइ मिलि तहाँ जुड़न लागे, करत हंसा केलि।
एक बिरष भीतरि नदी चाली, कनक कलस समाइ।
पंच सुवटा आइ बैठे, उदै भई बनराइ।
जहाँ बिछुट्यो तहाँ लाग्यो, गगन बैठो जाइ।
जन कबीर बटाऊवा, जिनि मारग लियो जाइ।

[195]

करो जतन सखी साईं मिलन की।
गुड़िया गुड़वा सुपलिया,
तजि दे बुधि लरिकैयाँ खेलन की।
देवता पित्तर भुइयाँ भवानी
यह मारग चौरासी चलन की।
ऊँचा महल अजब रँग बँगला,
साईं की सेज वहाँ लगी फूलन की।
तन-मन-धन सब अर्पनि कर वहाँ,
सुरत सम्हार पर पइयां सजन की।
कहै कवीर निर्भय होय हंसा,
कुंजी बता दो ताला खुलन की॥

[196]

मोरे लगि गये बान सुरंगी हो।
धन सतगुरु उपदेश दियो है, होइ गयो चित्त भिरंगी हो।
ध्यान पुरुष की बनी है तिरिया, घायल पाँचो संगी हो॥
घायल की गति घायल जाने, की जानै जात पतंगी हो।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, निसि दिन प्रेम उमंगी हो॥

[197]

गुरु बड़े भृंगी हमारे गुरु बड़े भृंगी।
कीटसों ले भंग कीन्हा आपसों रंगी।
पाँव औरैं कोई सब भये भृंगी पंख औरैं और रँगी रंगी।
जाति कुला ना लखें कोई सब भये भृंगी।
नदी-नाले मिलै गंगै कहलावैं गंगी।
दरियाव-दरिया जा सामने सग मे संगी।
चलत मनसा अचल कीन्ही मन हुआ पंगी।
तत्त मे निःतत्त दरसा संग में संगी।
बध तें निर्बंध कीन्हा तोड़ सब तंगी।
कहै कबीर किया अगम गम नाम रँग रंगी॥

[198]

पिया मेरा जागे मैं कैसे सोई री।
पाँच सखी मेरे सग की सहेली,
उन रँग रँगी पिया रंग न मिली री॥
सास सयानी ननद देवरानी,
उन डर डरी पिय सार न जानी री।
द्वादस ऊपर सेज बिछानी,
चढ़ न सकौ मारी लाजल जानी री॥
रात दिवस मोहिं कूका मारे,
मैं न सुनी रचि नहिं सग जानी री।
कहै कबीर सुनु सखी सयानी,
बिन सतगुरु पिया मिले न मिलानी री॥

196. पाँचों सगी = पाँच प्राण।
198. द्वादस ऊपर = 10 इन्द्रिय, मन और बुद्धि इन बारहों से परे। रात दिवस···जानी री = रात-दिन मेरे हृदय मे विरह-वेदना उमड़ती रहती

[199]

बहुत दिनन की जोवतीं, बाट तुम्हारी राम।
जिय तरसै तुझ मिलन कूं, मनि नाहीं विसराम ॥1॥
विरहिनि उठै भी पड़े, दरसन कारनि राम।
मूवा पीछे देहुगे, सो दरसन केहि काम ॥2॥
मूवा पीछे जिनि मिलै, कहै कबीरा राम।
पाथर-घाटा-लोह, सब पारस कौनें काम ॥3॥
वासरि सुख ना रैणि सुख, ना सुख सुपिनै नांहि।
कबीर बिछुट्या रामसूं, ना सुख धूप न छांहि ॥4॥

[200]

परवति परवति मैं फिर्या, नैन गँवाए रोइ।
सो बूटी पाऊँ नहीं, जातैं जीवन होइ ॥1॥
नैन हमारे जलि गए, छिन छिन लोड़ै तुज्झ।
नाँ तूँ मिलै न मैं खुसी ऐसी वेदन मुज्झ ॥2॥
सुखिया सब संसार है खावै अरु सोवै।
दुखिया दास कबीर है जागै अरु रोवै ॥3॥

[201]

आइ न सकौं तुज्झपै सकूँ न तुज्झ बुलाइ।
जियरा यौंहीं लेहुगे, विरह तपाइ तपाइ ॥1॥
यहु तन जालौं मसि करूँ, ज्यूँ धूवाँ जाइ सरग्गि।
मति वै राम दया करैं, बरसि बुझावैं अग्गि ॥2॥
यहु तन जालौं मसि करौं, लिखौं राम का नाउँ।
लेखणि करूँ करक की, लिखि लिखि राम पठाउँ ॥3॥
इस तन का दीवा करौं, बाती मेलूँ जीव।
लोही सींचौं तेल ज्यूँ, कब मुख देखौं पीव ॥4॥

है, पर मैंने उसकी आवाज नहीं सुनी और न उसके सहवास को ही जान सकी।

201. यह राम दया मत करें। मैं यह शरीर जलाऊँगी, जलाकर राख कर दूँगी ताकि धुआँ आकाश में जाय (और बादल बनकर वही) इस आग को बरसकर बुझा दे। विरह की आग से ही वह रस पैदा होगा जो इस ताप को बुझा सकेगा।

करंक = ठठरी। लोही = लहू, रक्त।

कै बिरहिन कूं मीच दे, कै आपा दिखलाइ।
आठ पहर का दाझणाँ, मोपै सहा न जाइ ॥5॥

[202]

कबिरा प्याला प्रेम का, अंतर दिया लगाय।
रोम रोम में रमि रह्या, और अमल क्या खाय ॥1॥
राता-माता नाम का, पीया प्रेम अघाय।
मतवाला दीदार का, माँगै मुक्ति बलाय ॥2॥

[203]

ऐ कबीर, तै उतरि रहु, संबल परो न साथ।
संबल घटे न पगु थके, जीव बिराने हाथ ॥1॥
कबीर का घर सिखर पर, जहाँ सिलहली गैल।
पाँव न टिकै पिपीलिका, खलकन लादे बैल ॥2॥

[204]

काल खड़ा सिर ऊपरे, जागु बिराने मीत।
जाका घर है गैल में, सो कस सो निचीत।

[205]

छाकि पर्यो आतम मतवारा।
पीवत रामरस करत बिचारा ॥
बहुत मोलि महगै गुड़ पावा।
लै कसाव रस राम चुवावा।
तन पाटन मैं कीन्ह पसारा।
माँगि माँगि रस पीवै बिचारा ॥
कहैं कबीर फावी मतवारी।
पीवत रामरस लगी खुमारी ॥

[206]

सब दुनी सयानी मैं बौरा।
हम बिगरे बिगरी जनि औरा।

203. सिलहली = पिच्छिल, फिसलने लायक। गैल = रास्ता। खलकन = दुनिया।
205. कसाव = कषाय रस। पाटन = पट्टण, शहर।

मैं नहिं बौरा राम कियो बौरा,
सतगुरु जार गयो भ्रम मोरा।
विद्या न पढ़ूं वाद नहिं जांनूं,
हरि गुन कथत-सुनत बौरांनूं॥
काम-क्रोध दोऊ भये विकारा,
आपहि आप जरे संसारा॥
मीठो कहा जाहि जो भावै
दास कबीर राम गुन गावै॥

[207]

नैहर में दाग लगाय आय चुनरी।
ऊ रंगरेजवा के मरम न जानें,
नहिं मिलें धोबिया कौन करे उजरी।
तन कै कूंडी ज्ञान कै सौदन
साबुन महँग बिचाय या नगरी।
पहिरि-ओढ़िके चली ससुररिया,
गौंवां के लोग कहैं बड़ी फुहरी।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो,
बिन सतगुरु कबहूं नहिं सुधरी।

[208]

सील-संतोख ते सब्द जा मुख बसै, संतजन जौहरी सांच मानी।
वदन विकसित रहै ख्याल आनंद मैं, अधर मैं मधुर मुसकात बानी।
सांच गेलें नही झूठ बोलें नहीं, सुरत मैं सुमति सोइ सेरठ शानी।
कहत हौं ज्ञान पुकारि कै सबन सों, देत उपदेस दिल दर्द जानी।
ज्ञान को पूर है रहनि को सूर है, दया की भक्ति दिल माहिं ठानी।
ओर ते छोर लौ एक रस रहत है, ऐस जन जगत मैं बिरले प्रानी।
ठग बटपार ससार मे भरि रहे, हस की चाल कहँ काग जानी।
चपल और चतुर है बनें बहु चकिनें, बात मैं ठीक पै कपट ठानी।
कहा तिन सों कहौं दया जिनके नहीं, घात बहुतें करें बकुल ध्यानी।
दुर्मती जीव की दुविध छूटे नहीं, जन्म जन्मान्त पड नर्क खानी।
काग कूबुद्धि सूबुद्धि पावै कहाँ, कठिन कठोर बिकराल बानी।
अगिन के पुंज है सितलता तन नही, अमृत और विष दोऊ एक सानी।
कहा साखी कहे सुमति जागा नहीं, नाँच की चाल बिन धूर धानी।
सुकृति औ सत्त की चाल सांची सही, काग बक अधम की कौन मानी।
कहैं कबीर कोउ सुघर जन जौहरी, सदा सबपान पियो नीर छानी।

[209]

अपनपौ आप ही बिसरो।
जैसे सोनहा काँच मंदिर में भरमत भूँकि मरो।
ज्यों केहरि बपु निरखि कूप-जल प्रतिमा देखि परो।
ऐसेहि मदगज फटिक सिला पर दसननि आनि अरो।
मरकट मुट्ठी स्वाद ना बिसरै घर घर नटत फिरो।
कह कबीर ललनी के सुवना तोहि कौने पकरो।

[210]

दरस दिवाना बावरा अलमस्त फकीरा।
एक अकेला ह्वै रहा अस मत का धीरा॥
हिरदे में महबूब है हर दम का प्याला।
पीवेगा कोई जौहरी गुरुमुख मतवाला॥
पियत पियाला प्रेम का सुधरे सब साथी।
आठ पहर झूमत रहै जस मैंगल हाथी॥
बंधन काटे मोह के बैठा निरसंका।
वाके नजर न आवता क्या राजा रंका।
धरती का आसन किया तंबू असमाना।
चोला पहिरा खाक का रह पाक समाना॥
सेवक को सतगुरु मिले कछु रहि न तबाही।
कह कबीर निज घर चलो जहँ काल न जाही॥

[211]

गगन की ओट निसाना है।
दहिने सूर चंद्रमा बायें, तिनके बीच छिपाना है।
तन की कमान सुरत का रोदा, सब्द-बान ले ताना है।
मारत बान बेधा तन ही तन, सतगुरु का परवाना है।

209. सोनहा = कुत्ता। काँच के मन्दिर में कुत्ता अपने ही प्रतिबिम्बों को देखकर भौंका करता है, वैसे ही जीव भी जगत् में अपने ही अनेक प्रतिबिम्बों को अपने से भिन्न समझकर लड़ता फिरता है। केहरि बपु = सिंह कुएँ में अपनी परछाहीं देखकर कूद पड़ा था, ऐसी कहानी है। स्फटिक-शिला में अपनी परछाहीं देख हाथी अपने दाँतों से लड़ने को अड़ जाय। ललनी के सुवना (सुग्गा) = जीव (जो माया के बन्धन में है)।
210. मैंगल = मदमस्त।

मार्‌या बान घाव नहिं तन में, जिन लागा तिन जाना है।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, जिन जाना तिन माना है।।

[212]

मन मस्त हुआ तब क्यों बोले।
हीरा पायो गाँठ गठियायो, बार बार वाको क्यों खोले।
हलकी थी जब चढ़ी तराज, पूरी भई तब क्यों तोले।
सुरत कलारी भई मतवारी, मदवा पी गई बिन तोले।
हंसा पाये मानसरोवर, ताल-तलैया क्यों डोले।
तेरा साहब है घट माँही, बाहर नैना क्यों खोले।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, साहब मिलि गये तिल ओले।।

[213]

सोच-समझ अभिमानी, चादर भई है पुरानी।
टुकड़े-टुकड़े जोड़ि जगत-सों, सीके अँग लिपटानी।
कर डारी मैली पापन-सों, लोभ-मोह में सानी।
ना यहि लग्यौ ज्ञान के साबुन, ना धोई भल पानी।
सारी उमिर ओढ़ते बीती, भली बुरी नहिं जानी।
संका मान जान जिय अपने, यह है चीज बिरानी।
कहत कबीर धरि राखु जतन से फेर हाथ नहिं आनी।।

[214]

जियरा मेरा फिरै रे उदास।
राम बिना निकसि न जाई सास,
अजहूँ कौन आस।
जहाँ-जहाँ जाऊँ राम मिलावै न कोई।
कहौ संतो कैसे जीवन होई।।
जरै सरीर यहु तन कोई बुझावै।
अनल दहै निस नीद न आवै।।
चंदन घसि-घसि अग लगाऊँ।
राम बिना दारुन दुख पाऊँ।।
सत-संगति मति मन करि धीरा।
सहज जानि भजै राम कबीरा।।

212. मदवा'''तोले = बिना तोले अपरिमित मद पी गयी। ओले = ओट में।

[215]

इब न रहूँ माटी के घर मैं,
इब मैं जाइ रहूँ मिलि हरि मैं॥
छिनहर घर अरु झिरहर टाटी,
घन गरजत कंपै मेरी छाती॥
दसवै दारि लागि गई तारी,
दूरि गवन आवन भयौ भारी॥
चहूँ दिसि बैठे चारि पहरिया,
जागत मूसि गये मोर नगरिया॥
कहै कबीर सुनहु रे लोई,
भाँनड़ घड़ण सँवारण सोई॥

[216]

सेजें रहुँ नैंन नही देखौं
बहु दुख कासौं कहूँ हो दयाल॥
सासु की दुखी ससुर की प्यारी,
जेठ कै तरसि डरौं रे॥
ननद सुहेली गरब गहेली,
देवर कै बिरह जरों हो दयाल॥
बाप सबन को करै लराई,
माया सोउ मतवाली॥
सगौ भईया लै सलि चढ़िहूँ,
तब ह्वं हूँ पीयहि पियारी॥
सोचि बिचारि देखौ मन माँही
औसर आइ बन्यूं रे॥

215. इब = अब। माटी का घर = भौतिक शरीर। छिनहर = टूटा-फूटा। झिरहर = जर्जर। दसवें दारि = दसवें मुकाम पर। चार पहरिया = चार पाहरु (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार)। भाँनड़ घड़ण = तोड़ना और गढ़ना।

216. सलि = चिता पर; माया = माता।
जैसा कि पहले ही बताया गया है ये पद समासोक्ति-पद्धति पर लिखे गये हैं। प्रत्येक शब्द का लक्ष्यार्थ खोजना सब समय ठीक नहीं होता। सास-ससुर, जेठ आदि पद केवल नाना प्रकार के भय, मोह और लाज के निदर्शक हैं।

कहै कबीर, सुनहु मति सुन्दरि,
राजा राम रमूँ रे ॥

[217]

पीले प्याला हो मतवाला, प्याला नाम अमीरस का रे।
बालपना सब खेलि गँवाया, तरुन भया नारी बस का रे।
बिरध भया कफ-बाय ने घेरा, खाट पड़ा न जाय खसका रे।
नाभि कँवल बिच है कस्तूरी, जैसे मिरग फिरे बन का रे।
बिन सतगुरु इतना दुख पाया, बैद मिला नहि इस तन का रे।
माता पिता बंधु सुत तिरिया, संग नहीं कोइ जाय सका रे।
जब लग जीवै गुरु गुन लेगा, धन जोबन है दिन दस का रे।
चौरसी जो उबरा चाहे, छोड कामिन का चसका रे।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, नख-सिख पूर रहा बिस का रे।

[218]

खेल ले नैहरवा दिन चार।
पहिली पठौनी तीन जन आये, नौवा बाम्हन बारि।
बाबुलजी मैं पैयाँ तोरी लागौ, अबकी गवन दे टारि॥
दुसरी पठौनी आपै आये, लेके डोलिया कहार।
धरि बहियाँ डोलिया बैठारिन, कोउ न लागै गोहार॥
ले डोलिया जाइ बन मे उतारिन, कोई नही संगी हमार।
कहै, कबीर सुनो भाई साधो, इक घर है दस द्वार॥

[219]

मैं भँवरा तोहि बरजिया, बन-बन बास न लेय।
अटकेगा कहुँ बेल से, तड़पि-तड़पि जिय देय॥1॥
बाड़ी के बिच भँवरा था, कलियाँ लेता बास।
सो तो भँवरा उड़ि गया, तजि बाड़ी की आस॥2॥

[220]

चलती चक्की देखि के, दिया कबीरा रोय।
दुइ पट भीतर आय के, साबित गया न कोय॥1॥
भाई बीर बटाउआ, भरि-भरि नैन न रोय।
जाका था सो ले लिया, दीन्हा था दिन दोय॥2॥

219. भँवरा = मुग्ध जीव। बाड़ी = संसार-वाटिका।

[221]

देह धरे का दंड है, सब काहू को होय।
ज्ञानी भुगतै ज्ञान करि, मूरख भुगतै रोय ॥1॥
तकत तकावत तकि रहे, सके न बेझा मारि।
सबै तीर खाली परे, चले कमानी डारि ॥2॥

[222]

सुपने मे साईं मिले, सोवत लिया जगाय।
आँखि न खोलूँ डरपता, मत सुपना ह्वै जाय ॥1॥
साईं केरे बहुत गुन, लिखे जो हिरदे माँहि।
पिऊँ न पानी डरपता, मत वे धोये जाँहि ॥2॥

[223]

अनप्रापत वस्तु को कहा तजे, प्रापत को तजे सो त्यागी है।
सु असील तुरंग कहा फेरे, अफतर फेरे सो बागी है।
जगभव का गावना क्या गावै, अनुभव गावै सो रागी है।
बन गेह की वासना नास करे, कब्बीर सोई बैरागी है॥

[224]

तोको पीव मिलेंगे घूँघट के पट खोल रे।
घट-घट मे वही साईं रमता, कटुक बचन मत बोल रे।
धन-जोबन को गरब न कीजै, झूठा पँचरँग चोल रे।
सुन्न महल मे दियना बार ले, आसा सो मत डोल रे।
जोग जुगत सो रंगमहल मे, पिय पाई अनमोल रे।
कहै कबीर आनद भयो है, बाजत अनहद ढोल रे।

[225]

पाया सतनाम गरेकै हरवा।
साँकर खटोलना रहनि हमारी, दुबरे दुबरे पाँच कहँरवा।
ताला कुंजी हमें गुरु दीन्हो, जब चाहौं तब खोलौं किवरवा।

223. अनप्रापत = जो मिला नहीं। असील तुरंग = खानदानी घोड़ा। अफ्तर = बिगड़ैल। बागी = बाग पकड़नेवाला सवार। जगभव = संसार का अनुभव। बन…करे = घर में बना हुआ भी घर की वासना जो त्याग करे या वन और गृह दोनों की वासना जो त्याग करे।
225. साँकर खटोलना = सँकरा खटोला।

वाम्हन छत्री न सूद्र वैसवा, मुगल पठान न सैयद सेखवा।
आदि जोति नहिं गौर गनेसवा, ब्रह्मा विस्नु महेश न सेसवा।
जोगी न जंगम मुनि दुरवेसवा, आदि न अंत न काल कलेसवा।
दास कवीर ले आये सँदेसवा, सार सब्द गहि चलौ वहि देसवा।

[229]

साहेव है रँगरेज चुनरी मेरी रंग डारी।
स्याही रंग छुड़ायके रे दियो मजीठा रंग।
धोय से छूटै नहीं रे दिन दिन होत सुरंग।।
भाव के कुंड नेह के जल में प्रेम रंग देइ बोर।
दुख देह मैल लुटाय दे रे खूब रँगी झकझोर।।
साहिब ने चुनरी रँगी रे पीतम चतुर सुजान।
सब कुछ उन पर वार दूँ रे तन मन धन और प्रान।।
कहै कवीर रँगरेज पियारे मुझ पर हुए दयाल।
सीतल चुनरी ओढ़ि के रे भई हौं मगन निहाल।।

[230]

हद चले सो मानवा, वेहद चले सो साध।
हद वेहद दोऊ तजे, ताकर मता अगाध।।

[231]

गगन दमामा वाजिया, पडत निसाने घाव।
खेत पुकारै सूरमा, अव लड़ने का दाँव।। 1।।
जा मरने से जग डरै, सो मेरे आनन्द।
कव मरिहौं, कव देखिहौं, पूरन परमानन्द।। 2।।

[232]

अव गुरु दिल में देखिया, गावन को कछु नाहिं।
कविरा जव हम गावते, तव जाना गुरु नाहिं।। 1।।
सुन्न मँडल में घर किया, वाजै सब्द रसाल।
रोम रोम दीपक भया, प्रगटे दीन दयाल।। 2।।

टिप्पणी) । दस दरवाजा = दो नेत्र, दो कान, दो नासा-छिद्र, मुख, मूत्र-द्वार, मलद्वार और ब्रह्मरन्ध्र। इनमें प्रथम नौ में किवाड़ लगे हैं, प्राणायाम के द्वारा योगी इन्हें बन्द कर सकता है।

सुन्न सरोवर मीन मन, नीर तीर सब देव।
सुधा सिंधु सुख विलसही, विरला जाने भेव ॥ 3 ॥

[233]

लिखा लिखी की है नहीं, देखा देखी बात।
दुलहा दुलहिनि मिलि गये, फीकी परी बरात ॥ 1 ॥
कागद लिखै सो कागदी, की व्यवहारी जीव।
आतम दृष्टि कहा लिखै, जित देखै तित पीव ॥ 2 ॥

[234]

लाली मेरे लाल की जित देखो तित लाल।
लाली देखन मे गई, मैं भी हो गई लाल ॥ 1 ॥
जिन पावन मुईं बहु फिरे, घूमे देस विदेस।
पिया मिलन जब होइया आँगन भया विदेस ॥ 2 ॥

[235]

उलटि समाना आप मे, प्रगटी जोति अनंत।
साहेब सेवक एक सँग, खेलें सदा वसन्त ॥ 1 ॥
जोगी हुआ झलक लगी, मिटि गया ऐंचातान।
उलटि समाना आप मे, हूआ ब्रह्म समान ॥ 2 ॥

[236]

सखि, वह घर सबसे न्यारा, जहँ पूरन पुरुष हमारा ॥
जहाँ न सुख-दुख साँच-झूठ नहिं पाप न पुन्न पसारा।
नहिं दिन रैन चद नहिं सूरज, बिना जोति उजियारा ॥
नहिं तहँ ग्यान-ध्यान नहिं जप-तप वेद-कितेब न बानी।
करनी, धरनी, रहनी, गहनी ये सब उहाँ हेरानी ॥
घर नहिं अधर न बाहर-भीतर, पिंड-ब्रह्माण्ड कछु नाही।
पाँच तत्त गुन तीन नही तहँ, साखी सब्द न ताही ॥
मूल न फूल बेल नहिं बीजा, बिना वृच्छ फल सोहै।
ओहं-सोहं अध ऊरध नहिं, स्वासा लेखन को है ॥
नहिं निरगुन नहिं अबिगत भाई, नहिं सूछम-अस्थूल।
नहिं अच्छर नहिं अवगत भाई, ये सब जग के मूल ॥
जहाँ पुरुष तहँवा कछु नाही कह कबीर हम जाना।
हमरी सैन लखे जो कोई, पावै पद निरवाना ॥ 23 ॥

236. ओहं=ओंकार।

[237]

हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराइ।
बूँद समानी समँद में, सो कत हेरी जाइ ॥ 1 ॥
हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराइ।
समँद समाना बूँद मे, सो कत हेर्या जाइ ॥ 2 ॥

[238]

हदे छाँड़ि बेहदि गया, हुआ निरंतर वास।
कँवल जु फूल्या फूल बिन, को निरषै निज दास ॥ 1 ॥
कबीर मन मधुकर भया, भया निरंतर बास।
कँवल जु फूल्या जलह बिन, को देखै निज दास ॥ 2 ॥
अंतरि कँवल प्रकासिया, ब्रह्म-वास तहँ होइ।
मन भँवरा तहँ लुबधिया, जाणैगा जन कोइ ॥ 3 ॥

[239]

हद्द छाँड़ि बेहद गया, किया सुन्नि असनान।
मुनि जन महल न पावई, तहाँ किया विश्राम ॥ 1 ॥
देखौ कर्म कबीर का, कछु पूरब-जनम का लेख।
जाका महल न मुनि लहै, सो दोसत किया अलेख ॥ 2 ॥

[240]

नींव बिहूँणा देहरा, देह बिहूँणा देव।
कबीर तहाँ बिलंबिआ, करै अलख की सेव ॥ 1 ॥
देवल माँहै देहुरी, तिल जे है बिसतार।
माँहैं पाती माँहि जल, माँहैं पूजणहार ॥ 2 ॥

[241]

तूँ तूँ करता तुझ गया, मुझ में रही न हूँ।
वारी फेरी बलि गई, जित देखौं तित तूँ ॥ 1 ॥
लवा मारग दूरि घर, विकट पंथ बहु भार।
कहो संतो क्यूँ पाइए, दुरलभ हरि-दीदार ॥ 2 ॥

239. दोसत किया अलेख = अलख पुरुष को दोस्त बनाया।
240. नींव बिहूणा देहरा = बिना नींव का देवालय। देहुरी = देहली। माँहैं··· जल = उसी में पत्र-पुष्प और उसी में जल।
241. हूँ = अहंभाव।

[242]

अगम अगोचर गमि नही, तहाँ जगमगै जोति।
जहाँ कबीरा बंदगी, पाप-पुन्न नही होति॥ 1 ॥

[243]

दौकी दाधी लाकड़ी, ठाढ़ी करै पुकार।
मति वसि पड़ौ लुहार के, जालै दूजी वार ॥ 1 ॥
जो अग्य सो आँथवै, फूल्या सो कुम्हलाइ।
जो चिणियाँ सो ढहि पड़ै, जो आया सो जाइ॥ 2 ॥

[244]

दूर वे दूर वे दूर वे दूरमति, दूर की वात तोहि वहुत भावै।
अहै हज्जूर हाजीर साहव धनी, दूसरा कौन कहु काहि गावै॥
छोड़ दे कलपना दूर की धावना, राज तजि खाक मुख काहि लावै।
पेड़ के गहे तें डार-पल्लव मिलै, डार के गहे-नहि पेड़ पावै॥
डार औ पेड़ और फूल-फल प्रगट है, मिले जव गुरू इतनी लगावै।
सपति-सुख-साहवी छोड़ जोगी भये, सून्य की आस वनखंड जावै॥
कहहि कब्बीर वनखंड से क्या मिलै, दिलहि को खोज दीदार पावै।

[245]

मालन आवत देख करि, कलियाँ करी पुकार।
फूले फूले चुनि लिए, कालि हमारी बार॥ 1 ॥
फागुन आवत देखि करि, बन रूना मन माँहि।
ऊँची डाली पात है, दिन दिन पीले थाँहि॥ 2 ॥
पात झड़ता यों कहै, सुन तरवर बनराइ।
अवके विछुड़े ना मिलैं, कहिं दूर पड़ैंगे जाइ॥ 3 ॥

[246]

कहना था सो कह दिया, अब कछु कहा न जाय।
एक रहा दूजा गया, दरिया लहर समाय॥ 1 ॥

243. दौकी दाधी = दावाग्नि की जली हुई। आँथवै = अस्त होना।
चिणियाँ = जो चुना गया।
246. उनमुनि = [illegible]। [illegible] = [illegible]
[illegible] (दे. पद 62 की टिप्पणी)।

उनमुनि सो मन लागिया, गगनहिं पहुँचा आय।
चाँद-विहूना चाँदना, अलख निरंजन राय ॥ 2 ॥
गगन गरजि बरसै अमी, बादल गहिर गँभीर।
चहुँ दिसि दमकै दामिनी, भीजै दास कबीर ॥ 3 ॥

[247]

अरे इन दोहुन राह न पाई।
हिंदू अपनी करै बड़ाई गागर छुवन न देई।
वेस्या के पाइन-तर सोवैं यह देखो हिंदुआई।
मुसलमान के पीर-औलिया मुर्गी मुर्गा खाई।
खाला केरी बेटी व्याहै घरहि में करैं सगाई।
वाहर से इक मुर्दा लाये धोय-धाय चढ़वाई।
सब सखियाँ मिलि जेवन बैठी घर-भर करैं बड़ाई।
हिंदुन की हिंदुवाई देखी तुरकन की तुरकाई।
कहै कबीर सुनो भाई साधो कौन राह ह्वै जाई।

[248]

साधो, एक आपु जग माही।
जादू करम-भरम है किरतिम ज्यों दरपन में छाहीं।
जल-तरंग जिमि जल तें उपजै फिर वा माहिं रहाई।
काया झाई पाँच तत्त की बिनसै कहाँ समाई।
या विधि सदा देह गति सबको या विधि मनहि विचारो।
आया होय न्याव करो न्यारो परम तत्त निरवारो।
सहजै रहै समाय सहज में ना कहुँ आय न जावैं।
धरै न ध्यान करै नहिं जप-तप राम-रहीम न गावैं।
तीरथ-वरत सकल परित्यागै सुन्न डोर नहिं लावै।
यह धोखा जब समझि परै तव पूजे काहि पुजावैं॥
जोग, जुगत मे भरम न छूटै जब लग आप न सूझै।
कह कवीर सोइ सतगुरु पूरा जो कोइ समझै बूझै॥

[249]

(भाई रे) दुई जगदीश कहाँ ते आया, कहु कवने भरमाया।
अल्लह-राम-करीमा केसो, (हौ) हजरत नाम धराया॥
गहना एक कनक तें गढ़ना, इनि महँ भाव न दूजा।
कहन-सुनन को दुर करि पापिन, इक निमाज इक पूजा॥

वही महादेव वही महंमद, ब्रह्मा-आदम कहिये।
को हिंदू को तुरुक कहावें, एक जिमी पर रहिये॥
वेद-कितेब पढ़े वे कुतुबा, वे मोलाना वे पांडे।
बेगरि बेगरि नाम धराये, एक मटिया के भांडे॥
कहँहि कबीर वे दूनो भूले, रामहि किनहुँ न पाया।
वे खस्सी वे गाय कटावें, वादहि जन्म गँवाया॥

[250]

संतो, राह दुनो हम डीठा।
हिंदु-तुरुक हटा नहि मानें, स्वाद सबन्हि को मीठा॥
हिंदू बरत-एकादसि साधें, दूध-सिंघारा सेती।
अन को त्यागें मन को न हटके, पारन करें सगोती॥
तुरुक रोजा-नीमाज गुजारें, बिसमिल बाँग पुकारें।
इनकी भिस्त कहाँ तें होइहै, साँझे मुरगी मारें॥
हिंदु की दया मेहर तुरुकन की, दोनों घट सों त्यागी।
वे हलाल के झटके मारें, आगि दुना घर लागी॥
हिंदु-तुरुक की एक राह है, सतगुरु इहै बताई।
कहँहि कबीर सुनहु हो संतो, राम न कहेउ खुदाई॥

[251]

बन्दे तोहि बन्दिगी सों काम, हरि बिन जाँनि और हराम।
दूरि चलणाँ कूँच वेगा इहाँ नही मुकाम॥
इहाँ नही कोई यार दोस्त, गाँठि गरथ ना दाम।
एक एकै संगि चलणाँ, बीचि नही बिश्राम॥
संसार-सागर विषम तिरणाँ, सुमरि लै हरि-नाम।
कहै कबीर तहाँ जाइ रहणा, नगर बसत निधाँन॥

[252]

वेद-कतेब इफतरा भाई दिल का फिकर न जाई।
टुक दम करारी जो करहु हाजिर हजूर खुदाई॥
बंदे खोजु दिल हर रोज ना फिरि परेसानी माहिं।
इह जु दुनिया सहर मेला दस्तगीरी नाहिं॥

251. कूँच वेगा = अपरिचित स्थान की यात्रा।
252. इफतरा = मिथ्या। दरोग = झूठ। हक = सत्य। खालिक = सृष्टिकर्त्ता। खलक = जगत्।

दरोग पढि पढ़ि खुशी होइ बेखबर वाद बकाहि।
हक सच्चु खालक खलकम्या ने स्याम मूरति नाहिं॥
आसमान म्याने लहँग दरिया गुसल करद न बूद।
करि फिकरु दाइन लाइ चसमे जहँ तहाँ मौजूद॥
अल्लह पाक पाक है सक करो जो दूसर होइ।
कबीर कर्म करीम का उहु करे जानें सोइ॥

[253]

मन, तुम नाहक दुद मचाये।
करि असनान छुवो नहिं काहू, पाती फूल चढ़ाये।
मूरति से दुनिया फल माँगे, अपने हाथ बनाये।
यह जग पूजे देव-देहरा, तीरथ-वर्त्त-अन्हाये।
चलत-फिरत मे पाँव थकित भे, यह दुख कहाँ समाये।
झूठी काया झूठी माया, झूठे झूठे झूठल खाये।
बाँझिन गाय दूध नहिं देहै, माखन कहँसे पाये।
साँचे के सँग साँच वसत है, झूठे मारि हटाये।
कहै कबीर जहँ सांच वस्तु है, सहजै दरसन पाये॥

[254]

यह जग अंधा मैं केहि समझावो।
इक-दुई हो उन्हे समुझावो सब ही भुलाना पेट के धंधा।
पानी के घोडा पवन असवरवा ढरकि परै जस ओस के बुंदा।
गहरी नदिया अगम बहै धरवा खेवनहारा पड़िगा फंदा।
घर की वस्तु निकट नहिं आवत दियना बारि के ढूँढ़त अंधा।
लागी आग सकल बन जरिगा विन गुरुग्यान भटकिया बंदा।
कहै कबीर सुनो भई साधो इक दिन जाय लँगोटी झार बंदा।

[255]

बाजन दे बाजंतरी, कलि कुकुही जनि छेड़।
तुझे बिरानी का परी, अपनी आप निवेर॥1॥

254. पानी कै घोडा = क्षणभंगुर शरीर। पवन-असवरवा = प्राण। गहरी नदी = माया प्रवाह। खेवनहारा = जीवात्मा। घर···अंधा = घर में पड़ी हुई वस्तु के नजदीक तो जाता नही, यह अन्धा (मुग्ध मनुष्य) सारी दुनिया में उसे दिया जलाकर खोजता फिरता है। लागी आग = मोह की आग लगी हुई है।

255. बाजंतरी = यन्त्री, वीणा। कलि कुकुही = निकृष्ट वाद्य। टीकाकारो

देस-विदेसन हौं फिरा, गाँव गाँव की खोरि।
ऐसा जियरा ना मिला, लेवे फटकि पिछोरि ॥2॥

[256]

शून्य मरै, अजपा मरै, अनहद हू मरि जाय।
राम-सनेही ना मरै, कह कबीर समुझाय॥

ooo

का कहना है कि बाजन्तरी से संसार के लोगों की नाना मतवाली वाणी और कलि ककुही से बेदुआ शास्त्री पुराणिक आदि का तात्पर्य है (त्रिज्या. पृ. 647), परन्तु सीधा अर्थ यह जान पड़ता है कि तेरे भीतर जो उत्तम आनन्द-ध्वनि है उसे ही बजने दे, दुनियावी टण्टों में न पड़। तुझे दूसरों की क्या पड़ी है, अपनी ही सम्हाल ! विश्व. में कलि-कुकुरी पाठ है और अर्थ यह किया गया है कि यह शरीर यन्त्र (वीणा) है और बजानेवाले के अधीन है। वह जैसा चाहेगा, बजायेगा। तू मन को 'जो बैकल कुकुरियों के समान है', मत छेड़, नहीं तो उसका विष तुझे भी बेकल कर देगा।

256. राम के प्रति प्रेम भक्तिशून्य समाधि, अजपाजाप और अनहद नाद की अनुभूति की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण और शाश्वत है।

और मानस की रचना के पीछे किसी विशिष्ट शक्ति का हाथ है।

इस देश मे 'पार्वती' कितना सुन्दर शब्द है ! 'पार्वती' देश के तीन खण्डों का प्रतीक है—एक इसका पर्वत, दूसरा इसका मैदानी और तीसरा इसका समुद्री खण्ड। इन तीन स्थानो की तीन देवियाँ है और पता नही किस काल से सयम और प्रेरणा उपस्थित करती आ रही है। पर्वत-कन्या पार्वती से अधिक महिमामय शब्द हम शायद कोई न पा सकें। सीता को आशीर्वाद देते समय अनुसूइया ने कहा था—"पार्वती के समकक्ष हो।" दूसरी देवी है भूमि-सुता सीता, जानकी। तीसरी है सागर-पुत्री लक्ष्मी। ये तीन देवियाँ इस देश मे हमारे गृहस्थ जीवन, हमारी माताओं और हमारी बहनो का आदर्श रही है और इसी आदर्श के सहारे हम जीवित हैं। वस्तुत. सारी नदियाँ पार्वती है। शिव की जो दो पत्नियाँ कही जाती है, वे है गंगा और पार्वती, ऐसी पार्वती जो पवित्रता की अन्तिम कोटि है। ऐसी पार्वती के मन मे कुछ सन्देह है। 'सन्देह' और 'सशय'—इन दो शब्दो को तुलसीदास ने बार-बार कहा है, कितनी बार कहा है, यह मैं आपको बता नही सकता। उनके मन मे कोई ऐसी बात थी कि इस युग मे लोग सशय या सन्देह मे पड़े है। वह संशय या सन्देह उन्होंने भरद्वाज के मुख से कहलवाया, गरुड़ के मुख से कहलवाया और पार्वती के मुख से कहलवाया। सबसे अधिक उन्होने यह पार्वती के मुख से कहलवाया :

नाथ एक ससउ बड़ मोरें।
करगत वेदतत्व सब तोरें॥

दक्ष-सुता की शंका

"क्या राम वही है जो दशरथ के बेटे है या कोई दूसरे है ?"—इस प्रकार की शकाएँ पार्वतीजी ने कही। पार्वतीजी का तो यह है कि वे जब पर्वत-कन्या नहीं थी, दक्ष-सुता थी, सती थी, तब से ही उनके मन मे सन्देह था। उसका फल भी भोगा उन्होंने। एक बार शिव, सती के साथ विचरण कर रहे थे। उसी समय राम, लक्ष्मण के साथ सीता के वियोग मे भटक रहे थे। सती ने अब राम को साधारण नर की तरह यो विलाप करते देखा तो उनके मन में सन्देह हुआ कि ये ब्रह्म नही है। शिव ने उन्हे बहुत समझाया और सन्देह दूर करने का बहुत यत्न किया, पर उनका सन्देह दूर नही हुआ। इस पर शिव ने कहा :

जौं तुम्हरें मन अति सदेहू।
तौ किन जाय परीछा लेहू॥

सती ने सीता का भेस धारण किया। राम ने उन्हे देखा तो पूछा, "आप यहाँ कैसे आ गयी ? वृषकेतु कहाँ है ?" राम सती के छलावे में नही आये।

शिव से भी उन्होंने झूठ बोला, "आपके कारण मैंने उनकी कोई परीक्षा नही ली, उन्हें प्रणाम करके ही चली आयी।" तुलसीदास कहते है कि यह सब भगवान् की माया है।

पार्वती की शंका : शिव द्वारा निवारण

एक दिन पार्वती ने बड़े प्रेम और विनयपूर्वक शिव से कहा कि मेरे सन्देह मिटा दीजिए। पार्वती के रूप में अवतरित होकर भी उनके मन से सन्देह नहीं गया—"क्या राम वही अयोध्या के राजा दशरथ के पुत्र हैं या अजन्मा और निर्गुण ब्रह्म है? अगर राजा के बेटे है तो ब्रह्म कैसे?" शिव ने प्रसन्न होकर कहा, "अच्छी बात है, जो तुम्हें पूछना है, पूछो।" पार्वती ने बारह सवाल किये। इनका उत्तर 'रामचरितमानस' में है। पहला प्रश्न था कि जो निर्गुण है वह मनुष्य-वेश कैसे धारण कर सकता है? इसके बाद पार्वती ने रामचरित की कथा पूछी। कथा के बाद चार सवाल और किये। सात सवालों में कथा आ जाती है। शिव ने भक्ति का स्वरूप समझाया और यह भी बताया कि ज्ञानी लोग किस अवस्था में रहते है। अन्त में शिव ने यह भी कह दिया कि जो कुछ पूछने से रह गया है, उसका भी जवाब ले लो। इसलिए तुलसीदासजी ने बार-बार इस कथा के बारे में कहा है—

रामकथा सुंदर करतारी।
ससय बिहग उड़ावनिहारी॥

तुलसी के दो रूप

तुलसीदासजी के दो रूप है—एक तो बहुत ही सचेत कलाकार का रूप और दूसरा वह रूप जिसमें वे स्वयं को बिल्कुल भूल जाते हैं और एकमेक हो जाते हैं। वे समष्टि-चित्त में एकमय हो जाते हैं। शिव के साथ एकमेक होने की स्थिति यह है :

रचि महेस निज मानस राखा।
पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा॥

तुलसीदासजी का 'रामचरितमानस' उमा-शम्भु-संवाद है। कथा की योजना इस प्रकार की गयी है कि बाद में यह भरद्वाज-याज्ञवल्क्य-सवाद भी हो जाता है और गरुड़ तथा कागभुशुण्डि-संवाद भी। लेकिन तुलसीदासजी के मन में यह उमा-शम्भु-संवाद है। कथा समाप्त होने पर भी उमा-शम्भु-संवाद कहा गया है। 'उत्तर-काण्ड' के 52वें दोहे के बाद, सातवी चौपाई के बाद कथा सचमुच समाप्त-सी हो गयी है। बहुत-से आधुनिक समालोचक कहते है कि काव्य को तो यहीं समाप्त कर देना चाहिए था, क्योंकि इसके बाद भक्ति का उल्लेख मिलता है। पार्वती ने कहा है :

हरिचरित्रमानस तुम्ह गावा।
सुनि मैं नाथ अमित सुख पावा॥

लेकिन पार्वती के मुख से यह नहीं निकला कि सन्देह दूर हो गया। जब कथा समाप्त होती है तब पार्वती कहती हैं :

नाथकृपा मम गत संदेहा।
रामचरन उपजेउ नव नेहा ॥

यहीं कथा समाप्त होती है। सच है, जब तक प्रश्नकर्ता का सन्देह दूर नहीं हो जाता, तब तक बात कैसे खत्म हो सकती है ?

समालोचकों का पूर्वाभास

लगता है कि उन्हें यह आभास था कि आगे चलकर कभी समालोचक यह कहेंगे कि कथा तो उत्तरकाण्ड के 52वें दोहे के बाद समाप्त होनी चाहिए थी, अतः उन्होंने शिव के मुख से कहलवा दिया :

रामचरित जे सुनत अघाहीं।
रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं॥

आधुनिक आलोचक रस तक तो जाते है, पर रस-विशेष तक नहीं जाते। रस-विशेष क्या है ? तुलसीदासजी ने संकेत दिया है :

ब्रह्म पयोनिधि मदर ज्ञान सन्त सुर आहिं।
कथा सुधा मथि काढ़हिं भगति मधुरता जाहिं॥

—यह ब्रह्म समुद्र है, सन्त देवता हैं और ज्ञान मन्दराचल पर्वत है। इस प्रकार मथने पर जो अमृत निकला है उसका नाम 'हरि-कथा' है। पर बात यहीं खत्म नहीं होती। हरि-कथा ठीक है, वह अमृत है, लेकिन भक्ति उसकी मधुरता है। जब तक वह नहीं तब तक कोई लाभ नहीं, इसलिए रस-विशेष और कुछ नहीं 'भक्ति' ही है।

भक्ति क्या है ? इसे भी तुलसीदासजी ने बहुत ही स्पष्ट शब्दों में कहा है :

बिरति चर्म असि ज्ञान मद लोभ मोह रिपु मारि।
जय पाइअ सो हरिभगति देखु खगेस बिचारि॥

चर्म ढाल को कहते हैं। बुरे कर्मों से स्वयं को अलग रखना, इसे विरति कहते है। अतः विरति ढाल है और ज्ञान तलवार है। इससे मद, मोह, लोभ शत्रुओं को मारकर जो भक्ति पायी जाती है, वह हरि-भक्ति है। मद, मोह, लोभ से युक्त जो है, वह भक्ति नहीं है। यह हरि-भक्ति उस अमृत की मधुरता है।

तुलसीदासजी ने कई स्थानों पर अपने भक्तिभाव को निचोड़कर रख दिया है। उस युग के लोगों में जो सन्देह थे, 'रामचरितमानस' उन्हें दूर करने के लिए था। एक स्थान पर कहा गया है कि जो विषयी, लम्पट, बगुले, कौवे है ये मानस-स्वरूप इस सरोवर के निकट जाने का साहस नहीं करते। जब कथा समाप्त हुई तो शिव से पूछा गया कि आपने तो कहा था कि बगुला, काग, लम्पट आदि मानस-रूपी सरोवर के पास भी नहीं जाते, फिर कागभुशुण्डिजी ने यह कथा कैसे सुनी ? इस दृष्टान्त द्वारा उन्होंने सारे भक्ति-तत्त्व को निचोड़कर रख दिया है, सारे उपनिषदों को दुहकर रख दिया है।

पार्वती के मुख से ही क्यों ?

तुलसीदास के मन में जो प्रश्न है उसे वे भरद्वाज से भी कहलाते हैं और गरुड़ से भी, लेकिन पार्वती से वे उसे बहुत विस्तृत रूप में इसलिए कहलवाते हैं कि पार्वती की गरिमा बहुत है, उनके मुख से जो प्रश्न निकलते हैं वे स्वत: गुरुतापूर्ण हो जाते हैं।

'रामचरितमानस' एक तीसरा भागवतरूप है। यह एक भविष्य-निरपेक्ष और व्यक्ति-सापेक्ष रूप के बीच का रास्ता है। समष्टिगत चित्त की ऐतिहासिकता के रूप में राम की कल्पना है। इसीलिए तुलसीदास ने कहा कि पथ बहुत अच्छे हैं, लेकिन पथ में अनन्य भक्त सबसे बड़ा है। अनन्य भक्त की बुद्धि स्थिर रहती है। वह क्षणिक नहीं होती, नित्य बनी रहती है। उसे यही भासता है कि यह जो चर-अचर सांसारिक रूप दिखायी दे रहा है, वह भगवान का रूप है। इसी रूप में सगुण भगवान् हैं। रामायण की स्थापना इसी रूप में है।

['कादम्बिनी' अक्तूबर 1973]

संशय पर विजय

चार सौ वर्ष पहले तुलसीदास अवधपुरी में राम-कथा लिखने बैठे थे। लिख सकेंगे? —संशय और असमंजस से चित्त व्याकुल था। जीवन में उन्होंने केवल दु:ख ही सहा है, चारों ओर से उपेक्षा और अपमान की चोटें पड़ी हैं, राम-कथा पर बड़ा भरोसा है लेकिन मन का संशय नहीं जाता।

करन चहौं रघुपति गुन गाहा।
लघु मति मोरि चरित अवगाहा॥
सूझ न एकउ अंग उपाऊ।
मन अति रंक मनोरथ राऊ॥
मति अति नीच ऊँचि रुचि आछी।
चहिय अमिय जग जुरइ न छाछी॥

कैसे पार पाओगे मनसाराम ? दुनिया इतनी सीधी नहीं है कि तुम्हारी बात सुन लेगी। अपने लिखो, अपने पढ़ो, यहाँ तक तो ठीक है :

निज कवित्त केहि लाग न नीका।
सरस होउ अथवा अति फीका॥

पर वहाँ बाहर से भले कि गड़बड़ हुई। लोग क्या पसन्द करेंगे ? दुनिया क्या सोचेगी ? क्यों श्रम करना!

जे परभनिति सुनत हरषाहीं।
ते बर पुरुष बहुत जग नाहीं॥

नहीं भाई, ऐसा साहस करना ठीक नहीं है:

जो प्रबंध बुध नहिं आदरहीं।
सो श्रम बादि बाल कबि करहीं॥

क्या फायदा होगा इस वृथा श्रम से ? लेकिन मन नहीं मानता। रामगुणगान न करने से हमें क्या है! सब एक-से ही सहृदय नहीं होते। कुछ ऐसे भी होते हैं जो गुण ही देखते हैं, दोष की ओर दृष्टि नहीं देते। ठीक है कि तुम काव्य के हेतु हो, पर तुम्हारे कवित्व का कोई महत्त्व नहीं है। इतना विश्वास तो तुम्हें रखना ही चाहिए कि दोष की उपेक्षा करके गुणों को ही ग्रहण करनेवाले सज्जन भी हैं—राजहंसों के समान। राजहंस, जो दूध पी लेते हैं, पानी छोड़ देते हैं। हाँ, इतना विश्वास तुलसीदास को है:

हों ही नही। भारी असमंजस है। कविता के महासमुद्र का पार पायेंगे? हनुमानजी को वे स्मरण कर चुके हे, पर झिझक जा नही रही है। कैसे होगा? कविता कठिन साधना है:

कवि न होउँ नहिं वचन प्रवीनू।
सकल कला सब विद्या हीनू॥
आखर अरथ अलंकृति नाना।
छंद प्रबंध अनेक विधाना॥
भाव भेद रस भेद अपारा।
कवित दोष गुन विविध प्रकारा॥
कवित विवेक एक नहिं मोरे।
सत्य कहौ लिखि कागद कोरे॥

इधर से वे निराश है। कवित्व-रसिक को शायद वे आकृष्ट न कर सकें, पर रामपद मे प्रीति रखनेवाले को तो कर सकते है!

भनिति मोरि सब गुन रहित,
बिस्व बिदित गुन एक।
सो बिचारि सुनिहहिं सुजन,
जिन्हके बिमल बिबेक॥

अच्छा, कविता का विवेक नही है, कवि कहलाने की क्षमता नही है; पर आदमी तो हो, साधुशील व्यक्ति क्या कम महत्त्वपूर्ण है? पर तुलसीदास को इसमें भी हिचक है:

बंचक भगत कहाइ राम के।
किंकर कंचन कोह काम के॥
तिन महँ प्रथम रेख जग मोरी।
धींग धरम ध्वज धंधरक धोरी॥

जो वचक भगत है—धीग (प्रा. धिग्गअ, धीन्ग, स. धिग्गय), धिक्कार योग्य, कंचन के किंकर है—धर्मध्वजी, पाखण्डी, कोह या क्रोध के किंकर हैं—धंधरक, द्वन्द्व (धन्धा) कलह रचनेवाले है, काम के किंकर है—धोरी है, बोझा ढोनेवाले टट्टू या वाजि है, जो आयुर्वेद मे वाजीकरण के आदर्श है, उनमे मैं पहली कतार मे हूँ।

एक प्रकार के सन्तों का बहुत गुणगान किया गया है, ये दूसरो के परमाणु बराबर गुण को भी पर्वत बनाकर आनन्दित होते है—वे लोग 'परगुण परमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं निज हृदि विलसन्तः' है। तुलसी उनमे अग्रणी हैं पर उन दूसरे सन्तों की चर्चा बहुत कम की गयी है जो अपना छोटी-सी त्रुटि को पर्वत बनाकर प्रचार करते फिरते है। 'मो सम कौन कुटिल खल कामी', यहाँ भी वही बात है। कौन मानेगा कि तुलसीदास सचमुच ऐसे थे? परन्तु किसे अपनी त्रुटियों के कहने का इस प्रकार का साहस है? तुलसीदास की झिझक यहाँ भी ज्यों-की-

त्यों है। न कवि है, न भगत हैं और फिर भी राम-कथा कहने की व्याकुलता फटी पड़ती है, रोके नहीं रुकती। तो फिर एक भरोसा और रह जाता है :

एहि महँ रघुपति नाम उदारा।
अति पावन पुरान श्रुति सारा॥
मंगल भवन अमंगल हारी।
उमा सहित जेहि जपत पुरारी॥
भनिति विचित्र सुकविकृत जोऊ।
राम नाम बिनु सोह न सोऊ॥
बिधु बदनी सब भाँति सँवारी।
सोह न बसन बिना बर नारी॥

सब हो और सोहाग-वसन न हो तो सुन्दर स्त्री भी नहीं शोभती, हो तो असुन्दर भी अच्छी लगती है। भक्ति ही तो कविता का सोहाग है :

जदपि कवित रस एकौ नाहीं।
राम प्रताप प्रगट एहि माहीं॥
सोइ भरोस मोरे मन आवा।
केहि न सुसंग बड़प्पनु पावा॥
धूमौ तजै सहज करुआई।
अगरु प्रसंग सुगंध बसाई॥
भनिति भदेस वस्तु भलि बरनी।
राम कथा जग मंगल करनी॥
मंगल करनि कलिमल हरनि तुलसी कथा रघुनाथ की।
गति कूर कविता सरित की ज्यों सरित पावन पाथ की।
प्रभु सुजस-संगति भनिति भलि होइहि सुजन मनभावनी।
भव अंग भूति मसान की सुमिरत सुहावनि पावनी॥
प्रिय लागिहि अति सबहिं मम भनिति रामजस संग।
दारु बिचारु कि करइ कोइ बंदिय मलय प्रसंग॥
स्याम सुरभि पय बिसद अति गुनद करहिं सब पान।
गिरा ग्राम्य सियराम जस गावहिं सुनहिं सुजान॥

यह भी ठीक है। लेकिन एक संशय अब भी है। रामकथा यदि लीक से हट जाय, ऐसा कुछ लिखा जाय जो अब तक नहीं लिखा गया, तो लोग क्या कहेंगे ? लीक से हटे बिना जो चाहते है वह दे नहीं सकेंगे। हटने पर अच्छे-भले लोग भी अचरज से आँख फाड़कर देखेंगे—क्या कह रहा है यह ! मगर राम-कथा की कोई सीमा है ?

राम अनंत अनंत गुन अमित कथा बिस्तार।
सुनि आचरज न मानिहहिं जिनके बिमल बिचार॥

सैकड़ों कवियों ने रामकथा को अपने-अपने ढंग से लिखा है। यह भी रहा

अस मानस मानस चख चाही।
भइ कवि बुद्धि विमल अवगाही।
भयेउ हृदय आनन्द उछाहू।
उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रवाहू।।
चली सुभग कविता सरिता सो।
राम विमल जस जल भरिता सो।।
सरजू नाम सुमंगल मूला।
लोक वेद मत मंजुल कूला।।
नदी पुनीत सु मानसनन्दिनि।
कलिमल तृन तरु मूल निकन्दिनि।।

आरम्भ में कवि ने 'वन्दे' (संस्कृत में) और 'वन्दौं' (हिन्दी में) कहकर वन्दना की, फिर 'प्रणवौं' कहकर अनेक ऋषि-मुनि-देवता को प्रणाम किया, रह-रहकर 'विनवौं' कहकर गुहार भी की, परन्तु क्रिया उत्तम पुरुष की रही। शायद ही कहीं वह अपने सीमित 'मैं' को भूल सका हो। 'रामचरितमानस' के चौंतीसवें दोहे तक उसका 'मैं-पन' मुखर था। परन्तु 33वें दोहे के बाद ही इस स्थिति में परिवर्तन होने लगा। उसका 'मैं-पन' धीरे-धीरे हटता गया। तुम्हें क्या करना है बाबा, यह किसी एक व्यक्ति की रचना तो होने नहीं जा रही है, यह तो विश्वात्मा—शिव की रचना है :

रामचरित मानस मुनि भावन।
विरचेउ शम्भु सोहावन पावन।।

शिवजी ने ही इसे रचकर मन में रखा था। वह 'सोहावन' भी है और 'पावन' भी है। तुम्हारा तो इतना ही भर काम रह गया है कि उस विश्वात्मा के मानस के साथ अपने मानस को एकमेक कर दो। यहाँ से कवि ने वन्दना, प्रणाम, गुहार, निहोरा का रास्ता छोड़ दिया। अब एक ही रास्ता है—स्मरण ! स्मरण, जिसमें व्यक्ति-चित्त समष्टि-चित्त के साथ सम्बन्ध-स्थापन करता है। कवि 'अब', अर्थात् इस दूसरे दौर में, 'सुमिरन' करता है। अपने 'मैं' की सीमा में बँधे मन को धीरे-धीरे सीमा की चहारदीवारी से मुक्त करता है :

अब सोइ कहउँ प्रसंग सब,
सुमिरि उमा – वृषकेतु।

'अब' वह विश्वात्मा के साथ सामरस्य की स्थिति में आता है। अभी थोड़े समय पहले तक जो 'कवि न होउँ नहिं चतुर कहाऊँ', 'कवित विवेक एक नहिं मोरे, सत्य कहौं लिखि कागद कोरे' आदि कहकर अत्यन्त दीनता प्रकट कर रहा था, वह व्यक्ति-सीमा की कुण्ठा थी। वह झिझक उसी क्षण समाप्त हो गयी जब वह स्मृति-रज्जु ['सुरति लेजुरी (कबीर)] के सहारे विश्वात्मा तक पहुँचा। विश्वात्मा के साथ सामरस्य का अहसास होते ही व्यक्ति-सीमाबद्ध तुलसीदास को फाड़कर एक व्यक्ति-निरपेक्ष 'तुलसी' निकलता है, वह उत्तम पुरुष के सर्वनाम

और क्रिया-रूपों का प्रयोग छोड देता है। 'अब' वह 'कवि' है :

रचि महेश निज मानस राखा।
पाइ सो समय उमा सन भाषा॥
शम्भु प्रसाप सुमति हिय हुलसी।
रामचरितमानस कवि तुलसी॥
करत मनोहर मति अनुहारी।
सुजन सुचित सुनि लेहु सुधारी॥

ज्यों ही उसे शिव—अर्थात् विश्वात्मा—के प्रसाद की अनुभूति हुई, उसे विचित्र अनुभव हुआ। अब तक जो वह 'लघु मति', 'नीच मति', 'भोरी मति' 'रंक मन' का रोना रो रहा था, वह सीमित और पृथक्त्व बुद्धि का विकल्प था। अब उसे सुमति के उल्लसित होने की बात कहने मे रचमात्र हिचक नही है। अभी तक वह जो 'भदेस भनिति', 'भनिति मोर सब गुन रहित', 'गिराग्राम्य' आदि का रोना रो रहा था, वह भी सीमित चित्त का विकल्प ही सिद्ध हुआ। अब 'मति अनुहारी', 'मनोहर' रचना की बात करने लगा। यह नयी मति 'सुमति' है, वही ठोस आधार बनी। हृदय ने अगाध सरोवर का रूप धारण किया। वेद-पुराणरूपी अगाध समुद्र से रस खीचकर सन्तजनरूपी मेघ की धारासार वर्षा से उसका हृदय लबालब भर गया और फिर उमगकर कविता की स्रोतस्विनी बह चली, उमड़कर बही, घहराकर चली। कवि अपने विकल्प से दोलायमान सीमित चित्त से मुक्त होकर दूर खड़ा होकर इस हृदय-सिन्धु के उद्वेल उमंग को देख रहा है—कविता-सरिता बह रही है ! हाँ, वह भनिति-भदेस नही है, वह सचमुच सुकविता है। कवि स्वयं स्वयं को देख रहा है। वह जैसे कोई और हो, दीन तुलसी अब वह नही है। वह सहज समाधि की अवस्था मे आ गया है। सहज समाधि -'यत्र मनसा मनः समीक्ष्यते', जहाँ मन से ही मन को देखा जाता है !

सुमति भूमि थल हृदय अगाधू।
वेद पुरान उदधि घन साधू॥
चली उमगि कविता सरिता सी।
राम विमल जस जल भरिता सी॥

कविता वेगपूर्वक वह चली है। अब वह रुकने का नाम नही लेती। सारे विकल्पों, विचिकित्साओं, कुण्ठाओं को ढहाती हुई कविता चल पड़ी है। लोक और वेद, दो किनारों मे वेगपूर्वक बहती हुई यह मानसनन्दिनी पवित्र सरयू की धारा के समान बह निकली है। 'कवि तुलसी' स्वयं देख रहे हैं, जैसे वह उनकी रचना न होकर कोई अद्भुत दृश्य हो। कविता-सरिता बह रही है, उद्दाम वेग से बह रही है—उमगी हुई, उमंगित, हुलसी हुई, उल्लसित !

'रामचरितमानस' की कविता के [illegible] म की यह कहानी अद्भुत है, बिल्कुल रोमाचक !

'रामचरितमानस' की रचना के पीछे जितना असमंजस, संशय, विषाद,

वितर्क, झिझक है, वह संसार के शायद ही किसी कवि के काव्य में बताया गया हो। होता सबको है, पर उद्देश्य सीमित होने के कारण उसकी चर्चा या तो की ही नहीं जाती या थोड़े में कह दी जाती है। 'रामचरितमानस' का उद्देश्य बहुत बड़ा था :

रामचरित मानस मुनि भावन।
बिरचेउ शम्भु सोहावन पावन॥
त्रिविध दोष दुख दारिद दावन।
कलि कुचालि कलि कलुष नसावन॥

व्यक्ति की समष्टि-चेतना के साथ निमज्जित होने की प्रक्रिया का ऐसा सच्चा और हृदयहारी वर्णन दुर्लभ है—शायद अलभ्य ! 'रामचरितमानस' लिखकर तुलसीदास ने परम विश्राम पाया था :

जाकी कृपा लवलेस ते मतिमंद तुलसीदासहूँ।
पायो परम विश्राम राम समान नाहीं प्रभु कहूँ॥

सारी कथा लिख लेने के बाद उन्होंने इसके छः गुणों का स्वयं अनुभव किया :

यह शुभ शम्भु उमा संवादा।
सुख सम्पादन शमन विषादा॥
भव भंजन गंजन सन्देहा।
जन रञ्जन सज्जन प्रिय एहा॥

यह आगे चलकर अक्षरशः सत्य सिद्ध हुआ। न जाने इस ग्रन्थ से कितने लोगों ने परम विश्राम पाया, न जाने कितनों के संशय और विषाद दूर हुए, न जाने कितनों को भवभीति से त्राण मिला और इसकी जनरंजनता और सज्जनप्रियता तो प्रत्यक्ष ही है :

जासु नाम भव भेषज हरन घोर त्रयसूल।
सो कृपालु मोहि तो पर सदा रहहु अनुकूल॥

['उत्तरप्रदेश', तुलसीमानस विशेषांक]

भवभंजन गंजन सन्देहा

'रामचरितमानस' की कथा का उपसंहार करते हुए कहा गया है :

यह सुभ संभु उमा संवादा। सुखसंपादन समन विषादा॥
भव भंजन गंजन सन्देहा। जन रंजन सज्जन प्रिय एहा॥

इससे पता चलता है कि ग्रन्थकार ने सबकुछ लिख लेने के बाद इसमें छः गुण पाये

थे— 1. यह सुखसम्पादन है अर्थात् सुख देनेवाला है, 2 विषाद का शमन करने-वाला है, 3. भवभंजन है अर्थात् जन्म-मरण के चक्कर को तोडनेवाला है, 4 सशय का उच्छेद करनेवाला है, 5 जनमानस को प्रसन्न करनेवाला है और, 6 सज्जनो को प्रिय है। ग्रन्थकार ने 'रामचरितमानस' के विभिन्न प्रसगो मे इन गुणो का भूरिशः उल्लेख किया है।

ऐसा लगता है कि 'रामचरितमानस' के लेखक के सामने तत्कालीन समाज मे प्रचलित एक बडा भारी सन्देह का प्रश्न मुख्य रूप से था। वे इस सन्देह को ही लोकचित्त से उखाड देना चाहते थे। वस्तुत सन्देह के कारण ही विषाद उत्पन्न होता है। पार्वती, भरद्वाज और गरुड,— सबके मन मे सशय या सन्देह हुआ था। 'रामचरितमानस' बार-बार पाठको को उस सशय से मुक्ति दिलाना चाहता है। प्रधान सन्देह सती के मन मे ही हुआ

ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद।
सो कि मनुज होई अवतरइ जाहि न जानत वेद॥

ब्रह्म सब प्रकार की धारणाओ से ऊपर है, व्यापक है, विरज अर्थात् निर्गुण-निरजन है, अजन्मा है, जिसे श्रुति 'नेति-नेति' कहकर बखानती है, वह क्या मनुष्य के रूप मे अवतार धारण कर सकता है? पार्वती के हृदय मे यह सशय उसके पूर्वजन्म मे सती के रूप मे हुआ था और बाद मे भी बना रहा। पार्वती ने शिव से दूसरी बार भी पूछा था कि दशरथनन्दन ही राम है या कोई और राम है। वस्तुत यह प्रश्न कबीरदास को कही जानेवाली उक्ति 'दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना, राम नाम को मरम है आना' के अनुरूप ही है। पार्वती के मन मे भी यही सन्देह था—'जो नृप तनय तो ब्रह्म किमि।' शिवजी से पार्वती का उत्तर देने के पहले कहलवाया गया है·

तुम जो कहा राम कोउ आना। जेहि श्रुति गाव धरहिं मुनि ध्याना॥
कहहिं सुनहिं अस अधम नर, ग्रसे जे मोह पिसाच।
पाखडी हरिपद-विमुख, जानहिं झूठ न साँच॥

इससे भी यही अनुमान होता है कि उन दिनो निर्गुण मत माननेवाले यह प्रचार करते थे कि दशरथसुत राम वास्तव मे राम नही है; राम तो निर्गुण, अरूप और अजन्मा है। लोक मे इस बात का इतना अधिक प्रचार था कि तुलसीदास ऐसा अनुभव करने लगे थे कि लोकचित्त मे यह सशय बुरी तरह व्याप गया है कि वास्तविक ब्रह्म दशरथसुत राम नही हैं बल्कि कोई और है (कोउ आना)। गरुड़ के मन मे भी इस प्रकार की शका हुई थी। उन्होने नागफाँस से बँधे हुए राम का उद्धार करने के बाद इसी संशय को मन मे पैदा कर लिया था :

व्यापक ब्रह्म बिरज बागीसा। माया मोह पार परमीसा॥
सो अवतरा सुनेउ जग माहीं। देखेउँ सो प्रभाव कछु नाहीं॥
भव बन्धन ते छूटहीं नर जपि जाकर नाम।
सर्वनिसाचर बाँधेऊ, नागपास सोइ राम॥

इसी प्रकार के सन्देह और लोगों के मन में भी हुए थे और उनका निरसन करना 'रामचरितमानस' का मुख्य उद्देश्य है।

यह सन्देह मन में उत्पन्न क्यों होता है ? गोस्वामी तुलसीदास के अनुसार राम की माया ही इसका कारण है : सती के मन में भी संशय हुआ था और संशय इतना अधिक था कि शिवजी ने कहा था कि 'तुम जाकर स्वयं परीक्षा कर लो।'

जौ तुम्हरे मन अति संदेहू। तौ किन जाइ परीछा लेहू ॥

सती परीक्षा लेकर जब लौटी तब भी उनका चित्त शुद्ध नहीं हुआ था, वे झूठ बोल गयी। शिवजी समझ गये। उन्होंने राम की माया की शक्ति देखकर मन-ही-मन उसे प्रणाम किया।

बहुरि राम मायहि सिर नावा। प्रेरि उमहि जहि झूठ कहावा ॥

गरुड जब व्याकुल भाव से नारदजी के पास पहुँचे और अपना संशय बताया तो नारद को उन पर दया आ गयी। उन्होंने कहा :

जौ ज्ञानिन्ह कर मत अपहरई। बरिआई बिमोह बस करई।
जेहि बहु बार नचावा मोही। सोई व्यापी विहंगपति तोहीं ॥

नारद ने गरुड को ब्रह्मा के पास भेजा। उन्होंने भी यही कहा :

हरि माया कर अमित प्रभावा। विपुल बार जेहि मोहि नचावा ॥

फिर उन्होंने शिव के पास गरुड़ को भेजा और शिवजी ने उन्हें कागभुसुण्डी के पास भेजा।

तुलसीदास ने इस हरिमाया को बहुत प्रबल माना है। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, नारद, सती, गरुड़ एक-से-एक शक्तिसम्पन्न लोग इसके चक्कर में फँस जाते हैं। तुलसीदास के अनुसार कलिकाल में सन्त कहे जानेवाले बहुत-से लोग इसी माया के चक्कर में हैं :

जिनके अगुन न सगुन बिबेका।
× × ×
हरि माया बस जगत भ्रमाहीं।
तिन्हहि कहत कछु अघटित नाहीं ॥
जिन्ह कृत महा मोह मद पाना।
तिनकर कहा करिय नहीं काना ॥

तुलसीदासजी इस संशय से साधारण जनता को मुक्त करना चाहते हैं। यही महामोह पैदा करता है। नारदजी ने गरुड से कहा था :

महामोह उपजा उर तोरे।
मिटहि न बेगि कहे खग मोरे ॥

जब तक यह मोह भंग नहीं होता तब तक वास्तविक सुख नहीं प्राप्त हो सकता। 'रामचरितमानस' के उपसंहार में बताया गया है कि कथाश्रवण करने के बाद पार्वती और गरुड़ के संशय दूर हुए थे। पार्वती ने कहा था : 'नाथ कृपा मम गत संदेहा।' और ज्योंही सन्देह दूर हुआ, त्योंही सारे क्लेश (विपाद) समाप्त हो

गये :

मैं कृत कृत्य भइउं अब, तव प्रसाद विश्वेश।
उपजी राम भगति दृढ, मेटे सकल कलेश ॥

गरुड़ ने कहा था कि राम की माया से जो दुःख उत्पन्न हो गया था, वह रामचरित के सुनते ही दूर हो गया और मोहरूपी समुद्र को पार करने के लिए कागभुसुण्डी ने नौका के समान बनकर उन्हे बहुत सुख दिया।

मैं कृत कृत्य भयउं तव बानी।
सुनि रघुबीर भगति रस सानी ॥
रामचरन नूतन रति भई।
माया जनित बिपदि सब गई ॥
मोह जलधि बोहित तुम्ह भए।
मो कहँ नाथ परम सुख दए ॥

इस प्रकार राम की प्रबल माया चित्त में संशय उत्पन्न करती है, जिससे महामोह उत्पन्न होता है; रामकथा को सुनने से वह मोहजनित क्लेश (दुःख) दूर होता है और परम सुख प्राप्त होता है।

यह ध्यान देने की बात है कि गरुड़ को जब शका हुई थी, तो नारद ने उन्हें ब्रह्मा के पास भेजा था; क्योंकि उनके पास पर्याप्त समय नही था। ब्रह्मा ने उन्हे शिव के पास भेजा था; क्योंकि वे अपने को रामकथा का अधिकारी नही समझते थे। शिव रास्ते मे मिल गये, उन्होंने गरुड को कागभुसुण्डी के आश्रम मे भेजा जहाँ रामकथा हो रही थी। नारदजी की तरह शिव भी रास्ते मे थे, इसलिए जमकर कथा नही कह सकते थे। सशय दूर करने के लिए थोडी देर का उपदेश पर्याप्त नही होता। दीर्घकाल तक सुनने से ही सशय और उससे उत्पन्न विषाद नष्ट होता है और सुख मिलता है। तुलसीदास इस बात पर काफी बल देते है। क्षणिक उपदेश कारगर नही होते। निरन्तर भजन और सत्सग ही सशय को दूर कर सकते है। उन्होंने 'रामचरितमानस' मे कहा है कि सबसे बड़ा दु.ख दारिद्र्य है और सबसे बड़ा सुख सन्त-मिलन :

नहिं दरिद्र सम दुख जग माही।
सत मिलन सम सुख कछु नाही ॥

सत्संग से, निरन्तर हरिकथामृत सुनने से सशय का उन्मूलन होता है। 'रामचरितमानस' में अनेक प्रसगो मे इस हरिकथा को सशय का उच्छेदक बताया गया है। हरिकथा के बिना संशयो का उच्छेद नही होता। जो भवसागर को पार करना चाहता है, उसके लिए रामकथा ही दृढ़ नाव है :

भव सागर चह पार जो पावा।
राम कथा ताकर दृढ नावा ॥

जो लोग मतिमलीन हैं, विषयी है, कामी है, वे ही प्रभु के विषय मे मोहग्रस्त होते है। माया के वशवर्ती मतिमन्द अभागे लोग, जिनके हृदय मे परदा पड़ा हुआ

है, भगवान् के बारे में संशय करते है और अपनी अज्ञानता को राम पर आरोपित करते है :

मायावश मति मन्द अभागी।
हृदय जवनिका बहुविधि लागी॥
ते सठ हठ वश संशय करही।
निज अज्ञान राम पर धरही॥

एकमात्र हरिकथा ही ऐसी है जिसमे यह भ्रम या संशय दूर होता है। रामचरितमानस वही 'भवभंजन गंजन संदेहा' कथा है।

सुगम अगम मृदु मंजु कठोरे

सुगम अगम मृदु मंजु कठोरे।
अरथ अमित अति आखर थोरे॥

इन पंक्तियों मे क्या तुलसीदास ने प्रकारान्तर से इंगित किया है कि उत्तम भाषा कैसी होनी चाहिए ?

मुझे लगता है कि यह एक विशेष अवसर पर विशेष वक्ता और विशेष श्रोता के बीच हुई बातचीत के बारे मे कही गयी विशिष्ट उक्ति है। तुलसीदास उस विशेष अवसर पर कही गयी इस उक्ति को बहुत आदर देते हैं, पर यह सामान्य रूप से भाषा का आदर्श नहीं है। ऐसा मानने का कारण है। स्वयं ग्रन्थकार ने इसे 'गहि न जाइ असि अद्भुत बानी' कहा है। 'अद्भुत वाणी' कुछ विशेष होती ही है।

तुलसीदास मानते है कि कवि के पास शब्द और अर्थ ही साधन है। इन्हीं के बल पर वह कुछ कह सकता है। नट भी ताल और गति का अनुसरण करके ही नाचता है—'कबिहि अरथ आखर बलु साँचा, अनुहरि ताल गतिहि नट नाचा।' परन्तु शब्द और अर्थ का प्रयोग 'देश काल अवसर सरिस' होना चाहिए। तुलसीदास वचन-रचना-चातुरी के प्रशंसक है। यथाअवसर मृदु, मंजु और कठोर वाणी के सटीक व्यवहार को वे अच्छा समझते है। राम भी मृदु वाणी बोलते है। पर अवसर के अनुकूल वे कभी मृदु-गूढ़ वाणी बोलते हैं और कभी 'मृदु-मंजु' और 'मंगलमूला' वाणी भी बोलते है। श्रोता को उचित आदर देकर उसे वक्तव्य के प्रति उन्मुख करना मृदुता है। परशुराम से उन्होंने मृदु वाणी ही कही थी, परन्तु वह गूढ़ भी थी :

कबीर : स्फुट रचनाएँ

कबीरपन्थ का उपेक्षित साहित्य

कबीर उत्तर-मध्ययुग के अत्यन्त प्रभावशाली धर्मनेता थे। उनकी वेधक दृष्टि, उदात्त चिन्तन, प्रेरक व्यक्तित्व और मता छोड़नेवाली शैली ने उन्हे मध्ययुग का सबसे बडा मस्तमौला धर्मगुरु बना दिया है। सारे भारतवर्ष मे उन्हें सम्मानपूर्वक स्मरण किया जाता है। मस्ती, फक्कडाना स्वभाव और सबकुछ को झाड़-फटकारकर चल देनेवाले तेज ने कबीर को हिन्दी-साहित्य का अद्वितीय व्यक्ति बना दिया है। उनकी वाणियो मे सबकुछ को छाकर उनका सर्वजयी व्यक्तित्व विराजता रहता है। उसी ने कबीर की वाणियों में अनन्य साधारण जीवन-रस भर दिया है। कबीरदास के इस गुण ने सैकड़ो वर्ष से उन्हें साधारण जनता का नेता और साथी बना दिया है। वे केवल श्रद्धा और भक्ति के पात्र ही नही, प्रेम और विश्वास के आस्पद भी बन गये है। सच पूछा जाय तो जनता कबीरदास पर श्रद्धा करने की अपेक्षा प्रेम अधिक करती है, इसीलिए उनके सन्त-रूप के साथ ही उनका कवि-रूप बराबर चलता रहता है। वे केवल नेता और गुरु नही है, साथी और मित्र भी हैं।

नये सिरे से जिन लोगों ने उनकी वाणियो का अध्ययन आरम्भ किया है, वे प्रायः साहित्यिक रुचि के लोग है और उनके सामने सबसे बड़ी समस्या उनकी प्रामाणिक रचनाओं की खोज है। अत्यन्त प्रभावशाली धर्मनेता होने के कारण उनके नाम पर बाद मे भी रचनाएँ होती रही है और ऐसी रचनाओ की मात्रा बहुत अधिक है। स्वाभाविक ही है कि उनके सन्देश और व्यक्तित्व की सही धारणा के लिए उनकी प्रामाणिक रचनाओं की खोज की जाये। परन्तु ऐसा करने से बहुत-सी रचनाएँ, जिनका धर्म-साधना के इतिहास मे महत्त्वपूर्ण योगदान हो सकता है, उपेक्षित रह गयी हैं। यह सिद्ध हो जाने पर भी कि अमुक-अमुक रचनाएँ परवर्त्ती हैं और इसीलिए कबीर की प्रामाणिक वाणियो मे उनकी गिनती नहीं हो सकती, उनकी उपेक्षा हमारे सास्कृतिक और धर्म-साधना-विषयक इतिहास की अनेक महत्त्वपूर्ण कड़ियों से वंचित कर सकती है। साहित्यिक दृष्टि मे उनका उतना मूल्य नही हो सकता, पर मध्यकालीन धार्मिक आन्दोलन का सही चित्र

एक श्वेत जटा एक पीत पटा।
एक तिलक जनेऊ लम्ब जटा॥
एक नील पटा मत अट्ट पटा।
भ्रम जाल जटा भव हट्ट अटा॥

यह पद मैंने तरन-तारन से प्रकाशित 'प्राण-साँकली' नामक ग्रन्थ से उद्धृत किया है जो सिक्खों के एक सम्प्रदाय में गुरु नानक की वाणी के रूप में समादृत है। इस पद में नील-पटों को संसार के बाजार में भरमनेवाले, भ्रमजाल से जकड़े हुए, अटपटे मत को माननेवाले कहकर स्मरण किया गया है। इस प्रकार के एक नीलवस्त्रधारी सम्प्रदाय का पता प. राहुल सांस्कृत्यायन ने सिंहल के 'निकाय-संग्रह' से उद्धृत किया है और उस विवरण से पता चलता है कि ये नीलपट वज्रयानियों से या तो अभिन्न हैं, या मिलते-जुलते हैं। सिंहल का विवरण न मिलता तो इसके बारे में हम अन्धकार में ही रहते। श्री क्षितिमोहन सेन ने गोरखनाथ और माया के संवाद-रूप में प्रचलित एक पद पूर्वी बंगाल में सुना था, उससे मिलता-जुलता पद राजस्थान में दादू के नाम से प्रचलित देखकर उन्हें आश्चर्य हुआ था; पर वह पद 'गोरखबानी' में गोरखनाथ के नाम पर प्राप्त है और विहार में जोगीड़ा के रूप में गाया जाता है। उदाहरण और भी बढ़ाये जा सकते हैं।

मुसलमानों के आने के पहले इस देश में कई ब्राह्मण-विरोधी सम्प्रदाय थे। बौद्ध और जैन तो प्रसिद्ध ही हैं। कापालिकों, लाकुल पाशुपतों, वामाचारियों आदि का बड़ा जोर था। नाथों और निरंजनियों की अत्यधिक प्रबलता थी। बाद के साहित्य में इन मतों का बहुत थोड़ा उल्लेख मिलता है। दक्षिण से भक्ति की जो प्रचण्ड आँधी आयी, उसमें ये सब मत बह गये। पर क्या एकदम मिल गये? लोक-चित्त पर से क्या वे एकदम झड़ गये? हिन्दी, बँगला, मराठी, उड़िया आदि साहित्यों के आरम्भिक काल के अध्ययन से इनके बारे में बहुत कुछ जाना जा सकता है।

मध्यकालीन बँगला और हिन्दी-साहित्य को परस्पर स्वतन्त्र मानकर चलने-वाले विद्यार्थियों को कितने घाटे में रहना पड़ता है, यह बात एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगी। परन्तु यह उदाहरण केवल बँगला और हिन्दी-साहित्यों के पारस्परिक सम्बन्ध और अन्तरावलम्बन का ही साक्षी नहीं है, यह स्पष्ट रूप से बताता है कि मध्यकाल में बने हुए समूचे भारतीय साहित्य को एक, और, अविच्छेद्य मानकर चलना ही उचित है। अस्तु।

मुसलमानी आक्रमण तीर-फलक की भाँति उत्तर भारत में तेजी से घुस गया था। इस अप्रत्याशित घटना से दसवीं शताब्दी के बाद का धार्मिक-सांस्कृतिक वातावरण एकदम विक्षुब्ध हो गया। यद्यपि इन दिनों ब्राह्मण धर्म का प्राधान्य पूर्ण रूप से स्थापित हो चुका था, तथापि अनेक वेद और ब्राह्मणविरोधी साधनाएँ उन दिनों वर्तमान थीं। नाथों और निरंजनियों का मत उन दिनों काफी प्रबल था। इस तीर-फलक के चारों ओर ये साधनाएँ छितरा गयीं। कुछ के समय लिए ये

एकदम विच्छिन्न हो गयी और नाना स्थानों मे अपने इर्द-गिर्द के वातावरण के अनुकूल होकर प्रकट हुई। राजस्थान मे इन्होने वैष्णव रूप धारण कर लिया, पजाव मे सिख धर्म का आश्रय लिया, बगाल मे धर्मपूजा या निरंजन-ठाकुर-पूजा के रूप मे आत्मप्रकाश किया, उडीसा मे पच-सखाओ की साधना मे अपने को छिपा लिया और दक्षिणी बिहार (छोटा नागपुर) तथा मध्यप्रदेश मे कबीरपन्थियों के झण्डे के नीचे आत्म-रक्षा की। इस ऐतिहासिक विकास को संस्कृत-पोथियो के सहारे नही जाना जा सकता। इसके समझने का एकमात्र उत्तम मार्ग है, वर्तमान देशी भाषाओ के प्राचीनतर साहित्य का अध्ययन। इस बात को न जानने के कारण कभी-कभी बड़े-बड़े पण्डितो को भी चक्कर मे पड़ना पड़ा है। धर्मपूजा को शुरू-शुरू मे बौद्ध-धर्म का अवशेष समझा गया था। सबसे पहले महामहोपाध्याय पण्डित हरप्रसाद शास्त्री ने 'जर्नल आफ एसियाटिक सोसाइटी' मे एक लेख लिखकर इस बात की ओर विद्वानो का ध्यान आकृष्ट किया था। सन् 1917 ई. में उनकी महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'डिस्कवरी आफ लिविंग बुद्धिज्म' प्रकाशित हुई। तबसे इस विषय की खूब चर्चा होती रही है। धीरे-धीरे यह विश्वास किया जाने लगा है कि धर्म-पूजा-विधान वस्तुत बौध-धर्म का अवशेष नही कहा जा सकता, उससे प्रभावित भले ही हो। सन् 1911 ई. मे श्री नगेन्द्रनाथ वसु ने 'मयूरभंज आरक्योलाजिकल सर्वे' की रिपोर्ट मे यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि उड़ीसा के पच-सखाओ के साहित्य मे बौद्ध-धर्म प्रच्छन्न रूप से जीवित है। बिहार में बौद्ध-धर्म चौदहवी-पन्द्रहवी शताब्दी में जीवित था और उसका विलयन कबीरपन्थ में हो गया था, यह बात मैंने अन्यत्र दिखायी है। वस्तुत: केवल एक प्रान्त के साहित्यिक अध्ययन से इस इतिहास के सिर्फ एक ही अध्याय का पता चलेगा। सम्पूर्ण चित्र के लिए अन्यान्य देशी भाषाओं के साहित्य की भी जानकारी आवश्यक है। दसवी शताब्दी के आस-पास योगमत बहुत प्रबल हो गया था। उन दिनों के जैन, बौद्ध, शाक्त, शैव आदि विभिन्न सम्प्रदाय के साधको की भाषा में एक ही प्रकार के विचार घूम-फिरकर आ जाते है। वाह्याचार का विरोध करना, चित्त-शुद्धि पर ध्यान देना, शरीर को समस्त साधनाओं का आधार समझना और समरस-भाव प्राप्त करके स्वसवेदन आनन्द के उपभोग को ही चरम लक्ष्य बताना उस युग की समस्त वेदबाह्य साधनाओ की विशेषता है। कभी-कभी तो 'जैन, बौद्ध' आदि विशेषण पहिले से ही न मालूम हो तो रचना देखकर यह बताना कठिन हो जाता है कि रचयिता किस सम्प्रदाय का है। उदाहरणार्थ, जैन-साधक 'जोइन्दु' कहते हैं कि देवता न तो देवालय में हैं, न शिला में है, न चन्दन प्रभृति लेप्य पदार्थों मे है, वह अक्षय-निरंजन ज्ञानमय शिव तो सम चित्त मे (समरसीभूत चित्त मे) वर्तमान हैं :

देउ ण देवलें ण वि सिलए
ण वि लिप्पइ ण वि चित्ति।
अखउ णिरंजणु णाणमउ
सिउ संठिउ समचित्ति॥

तो उनकी यह भाषा वस्तुत. उस युग के अन्यान्य साधकों की भाषा से बहुत भिन्न नहीं है। यह शून्य, सहज, निरंजन आदि शब्द बाद में कबीर, नानक, दादू आदि सन्तों की भाषा में भी परम उपास्य के लिए प्रयुक्त होते रहते हैं। दादू ने 'ब्रह्म सुन्नि तहँ ब्रह्म है, निरंजन निराकार' कहकर अपने परम उपास्य को स्मरण किया है। कबीर ने 'एक निरंजन सों मन लागा' और 'उलटे पवन चक्र षट् वेधा सुन्नि सुरति लै लागी' कहकर शून्य को बहुमान दिया है और नानक ने 'सुन्नै सुन्न कहै सब कोय, सुन्न रूप बैठा प्रभु सोय' कहकर प्रभु को सुन्न रूप कहा है। स्पष्ट है कि केवल शून्य शब्द का या निरंजन या निरालम्ब शब्द का व्यवहार देखकर ही किसी मत को प्रच्छन्न बौद्ध-मत नहीं कहा जा सकता। इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'शून्य' शब्द बौद्ध-साधना में कभी बहुसम्मानित था, परन्तु परवर्ती साधकों की पुस्तकों से इस बात में सन्देह नहीं रह जाता कि ये शब्द अर्थ बदलकर साधना की अन्य धाराओं में भी अबाध गति से बहते हैं। यदि 'शून्य' शब्द को देखकर किसी साधना को प्रच्छन्न बौद्ध कह दिया जाय तो शून्य को ध्यान करते 'देव सुण्णउ पउ झताह बलि बलि जोइय जाहैं' कहकर अत्यन्त उल्लसित होनेवाले जोइन्द को भी प्रच्छन्न बौद्ध कहा जा सकता है।

ऐसा कहना ठीक नहीं है, लेकिन कुछ बातें सचमुच ही इस प्रकार की कही गयी हैं। उड़ीसा के पंचसखा-भक्तों को प्रच्छन्न बौद्ध कहा गया है।

अपनी 'गणेशविभूति टीका' नामक पुस्तक में भी बलरामदास ने शून्य रूप में स्थित ज्योतिःस्वरूप भगवान् का ध्यान इस प्रकार किया है :

अनाकार रूप शून्य शून्य-मध्ये निरंजनः।
निराकार मध्ये ज्योति. सज्ज्योतिभगवान् स्वयं॥

इसी प्रकार चैतन्यदेव ने उस पुरुष को अपने विष्णुगर्भ नामक ग्रन्थ में 'शून्य रे थाई से शून्ये करई विहार' कहकर शून्य में स्थित शून्य रूप ही कहा है।

महादेवदास नामक वैष्णव उड़िया कवि ने 'धर्मगीता' में बताया है कि किस प्रकार महाशून्य ने सृष्टि करने की इच्छा से निरंजन, निर्गुण, गुण और स्थूल रूप में अपने पुत्रों को पैदा किया था, पर ये सभी जब सृष्टिकार्य में असमर्थ हो गये तो अन्त में उस महाशून्य प्रभु ने अपने को धर्मरूप में प्रकट किया। इस धर्म की सहायता से महामाया ने सृष्टि उत्पन्न की।

यहाँ विस्तार-भय से मैं कबीरपन्थी निरंजन या धर्मराय की कहानी नहीं कह रहा हूँ, वह कहानी अब काफी परिचित हो चुकी है। परन्तु इतना स्मरण करा देने की आवश्यकता है कि कबीरपन्थी पुस्तकों में निरंजन की प्राप्ति के लिए 'शून्य' के ध्यान का विधान है। ऐसा जान पड़ता है कि उड़ीसा के उत्तरी भाग और छोटा नागपुर के इलाकों को घेरकर वीरभूमि से रीवाँ तक के भूमि-भाग में धर्म-देवता या निरंजन की पूजा प्रचलित थी। ऐसा कहना ठीक नहीं लगता कि वह बौद्ध-धर्म का प्रच्छन्न रूप था। यहाँ स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि बौद्ध-धर्म के किसी पारिभाषिक शब्द का परिवर्तित अर्थ में व्यवहार होने को हम बौद्ध-धर्म का अव-

दोष नहीं कह सकते। केवल अधिक-से-अधिक इतना ही कहा जा सकता है कि इन शब्दों का बौद्ध-साधना से सुदूर सम्बन्ध था। इस बात को प्रच्छन्न बौद्ध तो बहुत सोच-विचारकर ही कहना चाहिए। बिहार, मानभूमि और बाँकुड़ा आदि जिलों में एक प्रकार के धर्म-सम्प्रदाय का पता हाल ही में लगा है। यह धर्म-मत अब भी जी रहा है।

इधर यह भी दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि 'धर्म' शब्द वस्तुत: आस्ट्रो-एशियाटिक श्रेणी की जातियों की भाषा के एक शब्द का संस्कृतीकृत रूप है। यह कूर्म या कछुए का वाचक है। डॉ. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने बताया है कि दुल या दुली शब्द, जो अशोक के शिलालेखों में भी मिलता है और उत्तरकालीन संस्कृत भाषा में भी गृहीत हुआ है, और जो कछुए का वाचक है, आस्ट्रो-एशियाटिक श्रेणी का शब्द है। मन्थाल आदि जातियों की भाषा में यह नाना रूपों में प्रचलित है। इन भाषाओं में 'ओम्' स्वार्थक प्रत्यय हुआ करता है और दुरोम, दुलोम, दरोम का अर्थ भी कछुआ होता है। इसी शब्द का संस्कृत रूप धर्म है जो संस्कृत के इसी अर्थ के साथ गड़बड़ा दिया गया है। इस प्रकार धर्मपूजा में कछुए का मुख्य स्थान सम्भवत: सन्थाल, मुण्डा आदि जातियों के विश्वास का रूप है। कबीरपन्थ में अब भी कूर्मजी का स्थान बना हुआ है, यद्यपि उसके दूसरे नाम 'धर्म' की इज्जत बहुत घट गयी है। यहाँ यह कह रखना बहुत उचित है कि मुण्डा लोगों में रमाई पण्डित का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। रमाई पण्डित 'शून्यपुराण' के रचयिता माने जाते हैं।

निरंजन मत का तीसरा रूप कबीरपन्थी पुस्तकों में मिलता है। यहाँ पर यह बताने का प्रयत्न है कि निरंजन ही ब्रह्मा, विष्णु, शिव और उनकी शक्ति का जनक है, परन्तु है वह अत्यन्त धूर्त्त और मक्कार। उसी ने सृष्टि का जाल फैलाया है और भोले-भोले जीव उसकी माया में फँस जाते हैं। वेदमार्गी, वैष्णव, शैव, शाक्त आदि उसी चक्कर में पड़े हुए हैं। मैंने इस कथा का विस्तृत कबीरपन्थी रूप अन्यत्र दिया है। कबीरदास को बार-बार इस धराधाम पर भक्तों को इस धोखेबाज निरंजन से बचाने के लिए अवतीर्ण होना पड़ता है। ऐसा जान पड़ता है कि पूर्वी प्रदेशों में जिन जातियों में कबीरपन्थ को प्रचार करना पड़ा था, उनमें निरंजन मत का प्रचार था। कबीरपन्थी आचार्यों ने उनकी सारी परम्परा को इस प्रकार मोड़ दिया है कि निरंजन अपने महत्त्वपूर्ण जगन्नियन्तृ पद पर बैठा हुआ भी शैतान बन गया है। मैंने अन्यत्र दिखाया है कि इन साम्प्रदायिक पुस्तकों से ही इस मूल निरंजन मत का पता चलता है।

वस्तुत: निरंजन मत के ये तीनों ही रूप—उड़ीसावाला, बंगालवाला, और कबीर सम्प्रदायवाला—ओरावों और गौड़ों में प्रचलित सृष्टि-प्रक्रिया से बहुत मिलते-जुलते हैं। ओरावों में तो रमाई पण्डित भी सम्मानित हैं और मेरा तो अनुमान है कि 'बीजक' में जो 'रमैयाराम' कहकर 'धोखा ब्रह्म' को बार-बार स्मरण किया गया है, उसमें रमाई पण्डित की स्मृति का अवशेष अवश्य खोजा जा सकता है। ऐसा जान पड़ता है कि मुस्लिम आक्रमण के बाद निरंजन मत का जो रूप

छोटा नागपुर में रह गया, उसने वहाँ की आदिम जातियों के सम्पर्क में एक दूसरा रूप ग्रहण किया, बंगाल में तीसरा रूप ग्रहण किया और कबीर सम्प्रदाय में चौथा रूप ग्रहण किया। पूर्वी रूप के इन चार ही रूपान्तरों का मुझे पता है और अनुसन्धान करने पर और भी रूपों का पता चल सकता है। इस सम्बन्ध में पौराणिक कथाएँ सम्भवतः आदिम जातियों की सृष्टि-प्रक्रिया-विषयक कथाओं के साहचर्य से बनी हैं, क्योंकि पश्चिम में निरंजन मत के जो रूप प्राप्त हैं उनमें इस प्रकार की कथाएँ नहीं हैं। राजपूताने में निरंजन-मत वैष्णव-मत के रूप में जीवित है। सिख-मत में निरंजन का रूप पाया जाता है। स्वयं गुरु नानक ने अलख निरंजन को इस अद्भुत कला-विद्या का प्रवर्त्तक कहकर स्मरण किया है, जो शून्य से रंग बनाकर, इस अद्भुत पृथ्वी और आकाश को बनाकर इसमें मगन हो रहा है :

अगम निगम की कथा को, मोहि सुनावे आय।
ज्यौ कीआ प्रकाश सुन्न ते नाना रंग बनाय॥
अकल निरंजन भला करि, कीना धरनि गगन।
नानक रंग बनाइ के, रहिया होय मगन॥

किस प्रकार यह शून्य और निरंजन की साधना उत्तर भारत के निर्गुण सन्तों को आश्रय करके प्रकट हुई, यह कहानी बड़ी मनोरंजक है। मेरा अनुमान है कि महाराष्ट्र में भी इस मत ने वैष्णव रूप धारण किया है। सन्त ज्ञानेश्वर का सम्बन्ध सीधे नाथ-गुरुओं से स्थापित किया जाता है, परन्तु मैं इस विषय में विशेष नहीं जानता। पण्डित-मण्डली का ध्यान इस तथ्य की ओर आकृष्ट करना चाहता हूँ कि यदि देशी भाषाओं के साहित्य का अध्ययन उपेक्षित रहेगा, तो यह सम्भव नहीं है कि इस महान् धार्मिक उथल-पुथल का सामान्य आभास भी अन्य किसी साधन से प्राप्त हो सके। इस धार्मिक आन्दोलन ने समूचे उत्तर भारत के लोकचित्त को शताब्दियों तक प्रभावित किया है और आज भी बहुत दूर तक कर रहा है।

ये एक-दो उदाहरण हैं। अन्वेषकों को सोचने की उत्तेजना देनेवाली अनेक सामग्रियों का पता इस क्षेत्र में मिल सकता है। किस प्रकार बाप्पा रावल का समादृत 'पाशुपत-मत रावल' अर्थात् लाकुल-पाशुपात-मत 'रावल' और 'गल' दो सम्प्रदायों में विभक्त होकर बाद में 'रावलगल्ला' हो गया और धीरे-धीरे मुसलमान होने को बाध्य हुआ; किस प्रकार कृष्णाचार्य के कापालिक मतावलम्बी कहीं मुसलमान हो गये और कहीं हिन्दुओं की अलग जाति के रूप में ही रह रहे हैं; किस प्रकार विमला देवी के शक्ति-सम्प्रदाय को गोरखनाथी झण्डे के नीचे आत्मरक्षा करनी पड़ी और किस प्रकार राजा रसालू और पूरनभगत का सम्प्रदाय बारहपन्थी योगियों में अन्तर्मुक्त हुआ—ये और ऐसी ही अनेक बातें केवल धार्मिक साधना के साहित्य में महत्त्वपूर्ण सूचना ही नहीं देतीं, वे हमारी सम्पूर्ण जनता के भाग्य-विपर्यय की दुःखपूर्ण कहानी समझने में मदद भी पहुँचाती हैं। यह साहित्य उस बीज की कहानी बतायेगा, जो हजार वर्ष के बाद इस महादेश को दो परस्पर-विरोधी टुकड़ों में बाँटनेवाले विषवृक्ष के रूप में पनपा है। हमारी देशी-भाषाओं

का आदिकाल का साहित्य एक-दूसरे से बुरी तरह उलझा हुआ है और एक-दूसरे का पूरक है। समय आ गया है कि सम्पूर्ण रूप को स्पष्ट भाव से समझने का प्रयत्न किया जाय। कोई ऐसी व्यापक दृष्टिवाली विद्वत्सभा स्थापित होनी चाहिए जो इस काल की सम्पूर्ण साहित्यिक सामग्री—लिखित और अलिखित—का संकलन और अध्ययन करे।

भारतवर्ष का सुगुप्त मध्ययुग, जिसके पेट से यह हमारा आधुनिक युग उत्पन्न हुआ है, बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस देश की जनता को उसके विश्वासों को और धर्म-परिवर्तनों के कारणों को समझने की सामग्री इस काल के साहित्य में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होगी। इसे समझे बिना हम भारतवर्ष को ही ठीक-ठीक नहीं समझ सकेंगे।

इसीलिए कबीर के नाम पर चलनेवाली बहुत-सी रचनाओं का नये सिरे से अध्ययन करने की आवश्यकता है। मध्यकालीन धर्मसाधना के इतिहास की अनेक खोयी हुई कड़ियों के इसमें मिलने की सम्भावना है। साहित्यिक दृष्टि से कदाचित् इन रचनाओं में बहुत अधिक मूल्यवान बातें न मिलें, फिर भी इनका महत्त्व है।

तुलसीदास : स्फुट रचनाएँ

तुलसीदास का स्मरण

तुलसीदास का स्मरण करते लोगों को देखता हूँ तो यह प्रश्न उठता है कि क्यों लोग ऐसा करते हैं। *विद्यार्थियों का ऐसा करने का कारण समझ में आ जाता है।* तुलसीदास कोर्स में रख दिये गये हैं। परीक्षा की वैतरणी पार करने के लिए यह आवश्यक है। मैं इसे बुरा नहीं कहता। कोई-न-कोई मतलब जरूर रखना चाहिए। नहीं तो कोई क्यों पचड़े में पड़े? उपनिषद् के ऋषि ने बिना झिझके कह दिया था कि दुनिया में सब अपने मतलब के साथी है; पुत्र के लिए पुत्र प्रिय नहीं होता, *अपने लिए पुत्र प्रिय होता है; पत्नी के लिए पत्नी प्रिय नहीं होती, अपने लिए* पत्नी प्रिय होती है। सो हर आदमी यदि अपने फायदे की बात सोचकर काम करे, तो उसे दोष नहीं दिया जा सकता। मैं उन लोगों में नहीं हूँ जो ऐसे अवसरों पर कर्तव्य की याद दिलाकर लोगों को पुण्य-कार्य करने के लिए प्रेरित किया करते हैं। आदमी भले होते है, इसमें कोई सन्देह नहीं, पर जरा नीरस होते है। और *हजार अपवाद मुझे दे लीजिए, लेकिन नीरस कहाना मुझे पसन्द नहीं है।* खैर, सवाल यह है कि और दस भले आदमी जो ऐसा करते है, वे क्या पाते है! पाते जरूर हैं, नही तो करते क्यो? ऋषि के शब्दों को जरा बदलकर कहें तो कह सकते है कि तुलसीदास के लिए तुलसीदास प्रिय नहीं है, अपने लिए तुलसीदास प्रिय है। और प्रेम कुछ ऐसी रहस्यजनक वस्तु है कि उसका विश्लेषण नहीं चल सकता। प्रिय को *कौन-सी बात प्रिय लगी, क्यो प्रिय लगी, कितनी प्रिय लगी, कैसे प्रिय लगी,* —कौन विश्लेषण करेगा? प्रेम ऐसी अद्‌भुत चीज है कि यदि इसका विवेचन करो तो अन्तर्धान हो जाता है, न विवेचन करो तो समझ मे ही नहीं आता। सो हर भले आदमी से यह पूछना उचित भी नहीं दिखता कि क्यों तुम्हें तुलसीदास से प्रेम है। पर वह पण्डित ही क्या जो अनबोलते की जबान पर बैठकर न बोले? सो आलोचक पण्डित यों ही चुप रहनेवाला नहीं। आपसे पूछूँगा और यदि आप नहीं बोले तो आपकी जबान पर बैठकर बोलूँगा। क्या मुझमें इतनी हिम्मत भी नहीं कि अनबोलते प्रेमी की जबान पर सवारी करूँ?

सब सोच-विचार कर देखा है तो यही उचित जान पड़ा है कि सबकी बात कहने के पचड़े में न पडकर अपनी ही बात कहूँ। शायद कुछ कहने लायक कह जाऊँ। कम-से-कम उन सहृदयों के मन लायक तो कह ही जाऊँगा, जो समानधर्मा है, जो मेरे ही समान कर्त्तव्य-द्वन्द्व के शिकार हैं, जिनके मन में कर्म-विचिकित्सा के साथ आत्म-ग्लानि के भाव भी उदित होते रहते है। मुझे तुलसीदास का स्मरण करने में विशेष आनन्द आता है। यह जो व्यक्ति आज हमारे लिए इतना पूज्य है, कोटि-कोटि भारतवासियों के हृदय और मस्तिष्क को वल दे रहा है, वह कोई राजा-महाराजा नही था, लक्ष्मी का लाड़ला सपूत नही था, शास्त्रार्थ-सभा में पण्डितों को पराजित करनेवाला कीर्त्ति-जिजीपु पण्डित नही था, विद्यापीठो की कठोर रणभूमि के अदृष्य विकट संग्राम मे विजयी महारथी नही था—वल्कि बहुत ही साधारण गृहस्थ परिवार में उत्पन्न हुआ था। औसत से कही नीचे उसकी आर्थिक स्थिति थी। अपनी दीनता वताने के आवेश में कभी-कभी इस महापुरुष ने ऐसी वातें कही है जो हृदय को गला देती है—हाय, हाय, कैसा भाग्यहीन रहा होगा वह वालक, जिसके माँ-वाप ने जनमते ही स्वर्ग का रास्ता लिया—'मातापिता जग जाय तज्यौ'— और फिर 'विधिहू न लिखी कछु भाल भलाई।' जीवनभर इस महान पुरुष को अपनी वह दारुण दुरवस्था नही भूली—'वारे तें ललात बिललात द्वार-द्वार फिरौं, जानत हौ चारि फल चारि ही चणक को।' इतने बड़े पुरुष के भाग्य मे क्या यही लिखा था कि 'माँगि कै खैवो मसीति को सोइवो!' गरज, जनम के समय परिस्थितियाँ वड़ी विषम थी। जो लोग कठिनाइयो मे है, दरिद्रता की मार से त्रस्त है, उन्हें निराश होने की जरूरत नही। जब-जब मुझे तुलसीदास की बात याद आती है, तब-तब लगता है कि परिस्थितियाँ मनुष्य को कष्ट पहुँचा सकती हैं, धक्का दे सकती हैं, पर रगड़कर नष्ट नही कर सकती। मनुष्य परिस्थितियों से बड़ा है बशर्ते वह मनुष्य हो, काम-क्रोध का पुतला जड़-पिण्ड नही, लोभ-मोह का गुलाम पशु नही, किसी प्रकार जीवित रहकर मरने की तैयारी करते रहनेवाला भुनगा नही—'मनुष्य'!

परिस्थितियाँ बाल्यकाल मे तुलसीदास के प्रतिकूल थी—बहुत प्रतिकूल! और युवावस्था मे?—बहुत अच्छी नही। कहते है कि स्त्री के उपदेश से उन्होने घर-बार छोड़ दिया था। चोट लगी थी, यह सब जानते है। कितनी बडी चोट लगी थी, इसका पता किसी को नही। युवावस्था बहुत सुख की नही थी, यह तो स्पष्ट ही है। काशी में पण्डितों ने उन्हे बडा तंग किया था—गाली-गलौज, डाँट-फटकार। हमेशा से ही ऐसा होता आया है। बड़े तेज को बर्दाश्त नही कर सकने से लोग गाली-गलौज पर उतर आते है। कहना शुरू किया—यह जुलाहा है, यह अघोरपन्थी है, यह यह है, यह वह है। तुलसीदास हैरान! हे विधाता, लोग इतने दारुण क्यो हो जाते हैं! बोले, 'धूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूत कहौ, जुलहा कहो कोऊ; काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब'···इत्यादि। बड़ी मानसिक ग्लानि के समय तुलसीदास-जैसा महात्मा ऐसी बात कह सकता है। अपने प्रसिद्ध भजन 'कबहुँक हौं यहि

रहनि रहौंगो' में उन्होंने कहा है कि कभी ऐसा होता कि मुझे सन्त-सुभाव मिल जाता और 'परुष वचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।'—कितनी करुण प्रार्थना है! परुष वचनों का प्रहार उन पर हुआ था, चोट भी लगी थी, तिलमिलाकर रह गये थे। उत्तर तो वे क्या देते! इतनी मात्रा में जहर पीकर इतना अमृत देनेवाला आदमी चोट का जवाब चोट से कैसे दे सकता था? परन्तु जलन होती थी। वे अपने राम से यह प्रार्थना करते थे कि 'नाथ, शक्ति दो कि इस आग में न जलूँ।'

वृद्धावस्था में उनकी क्या अवस्था थी, कहना कठिन है। सम्मान थोड़ा मिलने लगा था। डॉ. माताप्रसादजी ने खोज निकाला है कि उन्हें महन्ती भी मिल गयी थी कुछ दिनों के लिए—'तुलसी गुसाईं भयो भोंड़े दिन भूलि गयो।' लेकिन निभी नहीं। निभ कैसे सकती है? जलते अगारे को आँचल में कैसे बाँधा जा सकता है? महन्ती छूट गयी। वृद्धावस्था में काशी में भयकर महामारी हुई। भयकर महामारी—सारा बनारस शव-सकुल हो गया। पीडा से व्याकुल नर-नारी, हाय-हाय 'उछरत उतरात हहरात मरि जात' और फिर तुलसीदास को भी बीमारी हुई—दारुण बीमारी। शायद प्लेग, शायद और कोई रोग जो अन्त तक ऐसा भीषण हुआ कि सारा रक्त ही विषाक्त हो उठा। उन्होंने उसे भी सहा, परुष वचन की चोट को निर्घात सह जानेवाले महात्मा को यह बीमारी कहाँ तक विचलित करती? बोले, राम-नाम को जो मैं भूल गया उसी का यह फल है—'ताते तनु पेखियत घोर बरतोर मिस फूटि-फूटि निकसत लोन राम-नाम को।' सो अन्तिम अवस्था भी बहुत सुख की नहीं मालूम पड़ती - औसत आदमी से कुछ खराब ही कही जा सकती है। ऐसा यह महापुरुष था, जिसकी कृतज्ञतापाश में बद्ध होकर आज कोटि-कोटि नर-नारी भक्ति-गद्गद हो उठते हैं। क्यों यह महापुरुष 'महा-पुरुष' बन गया? अपने महान् लक्ष्य के प्रति अखण्ड विश्वास के कारण। उन्हें लक्ष्य मिल गया था। इस ससार मे नित्य फेन-बुद्बुद की भाँति उठते-गिरते रहने-वाले मनुष्यों की कमजोरी उन्हें मालूम हो गयी थी। मालूम तो बहुत पोथी-पढ़ुवों को हो जाती है, पर उनका विश्वास नहीं होता। उनके चित्त में वह दृढ़ता नहीं होती कि जो कुछ अच्छा है वह इसलिए कि उससे राम का सम्बन्ध है—'नाते एक राम से मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।' बड़े आदर्श के सामने सब-कुछ तुच्छ है। ससार मे जिन बातों को बड़े-से-बड़ा लेबिल लगाकर विज्ञापित किया गया है, उनका मूल्य कुछ भी नहीं है यदि वे मनुष्य के बड़े-से-बड़े आदर्श के अनुकूल नहीं है। छोटी-से-छोटी वस्तु उस आदर्श से सम्बद्ध होकर महान् हो उठती है। परन्तु यह बात कहने की नहीं है, जीवन में उतारने की है। जो लोग आदर्श की बात केवल मुँह से किया करते है, जीवन में नहीं उतारते, वे बड़े नहीं है, न हो सकते है। तुलसीदास ने इस आदर्श को जीवन में उतारना चाहा था, इसलिए वे बड़े हुए। उनका जीवन उन सब लोगों के लिए आशा का सन्देशवाहक है, जो परिस्थितियों की चोट से घबराये है। यदि उनका अपने लक्ष्य पर भरोसा हो, दृढ़विश्वास हो, तो

चिन्ता की कोई बात नही। विपत्ति वह नही है जिसे हम साधारण लोग विपत्ति कहा करते हैं और 'हाय-हाय' किया करते है। आदर्श से च्युत होना, लक्ष्य से स्खलित होना ही विपत्ति है :

कह हनुमन्त विपति प्रभु सोई।
जब तब सुमिरन भजन न होई ।।

जब तक मनुष्य अपने लक्ष्य के प्रति स्थिर है, तब तक विपत्ति कैसी ?

अभी तक हम जिसे तुलसीदास का कष्ट कहते आये है, वह सब उनके लिए कष्ट नही था; क्योकि उनका लक्ष्य स्थिर था, उस पर अटूट आस्था थी, वे पहाड़ की भाँति स्थिर थे। हम साधारण जीवों की सबसे बडी विपत्ति यह है कि हमारे जीवन का लक्ष्य ही नही स्थिर हुआ। और जिसके जीवन का लक्ष्य ही नही स्थिर हुआ, वह मनुष्य कहाँ बना ? उसमे और भुनगो मे क्या अन्तर है जो नित्य उपजते-मरते रहते है ? और जो मनुष्य ही नही बना वह परिस्थितियों को कैसे जीतेगा, परिस्थितियाँ ही उसकी कमर तोड़ देंगी। तुलसीदास को स्मरण करने का अर्थ अपने महान् लक्ष्य स्थिर करना, उन पर आस्था रखना और उन्हें जीवन मे उतारना है। तुलसीदास का जीवन औसत आदमियों को नयी आशा, नयी उमंग और नया उत्साह देता है। वह पुकार-पुकारकर कहता है कि 'घबराओ नही, बड़े लक्ष्य की बात सोचो, सिद्धि अवश्य मिलेगी।' मुझे इस बात से बड़ा उल्लास अनुभव होता है और मेरा विश्वास है कि मेरे-जैसे और लोग भी होंगे जिन्हें इस बात से उल्लास अनुभव होता होगा। आश्चर्य नहीं कि जो लोग तुलसीदास का स्मरण करते है, उन्हे अनजान मे इसी उल्लास का अनुभव होता हो। उस उल्लास मे थोड़ा कृतज्ञता का भाव तो रहता ही है, रहना ही चाहिए।

['सभ्यता और संस्कृति' से]

रामकथा सुन्दर करतारी

गोसाईंजी स्वयं को कवि नही कहते थे। उनके साधक कहते हैं कि वे कवि हैं। उन्होंने यह कहीं नहीं कहा कि 'रामचरितमानस' उन्होने रचा। यह तो न जाने कब से शिव के मन में था :

रचि महेस निज मानस राखा।
पाइ सो समय उमा सन भाषा ।।

अवसर आया तो उन्होंने पार्वती से कहा। स्पष्ट है कि तुलसी निमित्तमात्र हैं

विप्र बंस की असि प्रभुताई।
अभय होइ जो तुम्हहि डराई।।

यह गूढ़ इसलिए थी कि श्रोताओं के मन पर अपने संस्कारों के अनुकूल विभिन्न अर्थ देने में समर्थ थी। परशुराम भृगुवंशी थे। औरों पर इसका क्या प्रभाव पड़ा यह हम नही जानते, पर परशुराम को भृगु और विष्णु का इतिहास स्मरण हो आया। उनकी मति के पटल उघड़ गये। वे राम को पहचान गये। उनकी स्तुति करते समय इस मृदु-गूढ वाणी को वे नही भूले। 'जयति वचन रचना अति नागर' कहकर उनकी वचन-रचना-चातुरी के उत्कर्ष का बखान किया।

और भी अनेक प्रसंग है जहाँ राम मृदु बोलते हैं, पर कभी वह वाणी मंजु होती है, कभी नहीं। 'मंजु' सब ओर से साम्य बनाये रखनेवाली शोभा को कहते हैं (सु-सम, जिसे अंग्रेजी में 'वैल-वैलेंस्ड' कहा जाता है)। श्रोता को उसका उचित सम्मान देना केवल मृदुता है, पर वक्ता की उचित स्थिति की याद दिलाकर उसे वक्तव्य के प्रति ग्रहणशील बनाने का भाव मंजुता है। इससे समत्व (बैलेंस) की रक्षा होती है—'समत्वं योग उच्यते।' जब केवल श्रोता का गौरव बताया जाता है तब वाणी केवल मृदु होती है। 'तुम सुकृती हम नीच निषादा' को केवल 'मृदु' वाणी कहा गया है। जब वक्ता की स्थिति भी स्पष्ट कर दी जाती है तब उसमें सु-समभाव आ जाता है, वाणी 'मंजु' हो जाती है। कभी-कभी वाणी अवसर के अनुरूप 'नय-परमारथ-स्वारथ-सानी' भी हो जाती है, पर मंजु नही होती। वशिष्ठजी ने भरत की प्रशंसा की, इससे राम प्रसन्न हुए। गुरु के बारे मे कुछ अच्छी बातें कही जो मृदु वाणी थी, पर साथ ही यह कहकर भरत-विषयक अपनी बात को रोक लिया कि छोटे भाई के मुँह पर उसकी बडाई करने मे संकोच हो रहा है। इतना अवश्य कहा कि भरत जो कहें उसी को करने में भलाई है। यहाँ वक्ता की स्थिति स्पष्ट करके वक्तव्य को मंजु बना दिया गया। पर साथ ही तुलसीदास इस वचन को मृदु और मंजु के साथ 'मंगलमूला' भी कहते हैं। क्यों कहा, यह स्पष्ट नही है। लोगों ने जो व्याख्या दी है वह बहुत सन्तोषप्रद नही है। कभी-कभी तो मृदु को मंजु और मंजु को मृदु कहकर व्याख्या की गयी है। आगे जो कहा जा रहा है उससे शायद यह बात स्पष्ट हो। पर एक बात ध्यान देने की है। असल मे राम 'अरगा' गये थे—संकोच और प्रसन्नता के परस्पर-विरुद्ध-गामी संवेगो के कारण कहते-कहते रुक गये थे। कोई ऐसी बात उनके मन मे जरूर थी जो उनकी प्रसन्नता का कारण थी। भरत समर्पित व्यक्तित्व के धनी थे। ऐसा समर्पित व्यक्तित्व, जिसमे अपना अहंकार कुछ है ही नही, जो कुछ है वह अखिलेश्वर का है। क्या ऐसे मनुष्य की गतिविधि मंगलमय होती है, यही तुलसीदास राम से कहलवाना चाहते थे।

ऊपर की बातो का आशय यह है कि तुलसीदास वचन-रचना के विविध प्रसंगों में वचन या वाणी के अनेक गुणो का बखान करते है। इस प्रसग मे मृदु, मंजु और कठोर विशेषणों के साथ तीन और विशेषण 'सुगम', 'अगम' और 'थोड़े अक्षरो में अमित अर्थ देनेवाला' भी दिये है। इतने विशेषण एक साथ उन्होंने शायद

और कहीं नहीं दिये। प्रत्येक विशेषण का तात्पर्य है। परन्तु सभी मिलकर भी तुलसीदास के भाषा-सम्बन्धी सामान्य आदर्श को नहीं प्रकट करते, केवल अवसरोचित वाग्वैदग्ध्य को ही स्पष्ट करते है। यह अवसर के अनुकूल, श्रोता-वक्ता के अनुरूप और तुलसीदास द्वारा सम्मत भक्तिसिद्धान्त के अनुसार ही है। और भी स्पष्ट करने के लिए पूरा प्रसंग विचारणीय है।

राम जनक से 'सत्य सरल मृदु बानी' बोले थे। उसमें कोई पेंच नहीं था, इसलिए सरल थी; मिथिलेश के प्रति महान् आदर था, इसलिए मृदु थी और उन्हीं की शपथ लेकर कही गयी थी कि आपकी आज्ञा सिर माथे, इसलिए सत्य थी :

विद्यमान आपुन मिथिलेसू।
मोर कहब सब भाँति भदेसू॥
राउर राय रजायसु होई।
राउरि सपथ सही सिर सोई॥

कभी-कभी मृदुता है, पर उसका उल्लेख न करके, अन्य गुणों की ओर ही ध्यान आकृष्ट किया गया है। भरत की बाद की वाणी को 'बिमल बिबेक धरम नय साली, भरत भारती मंजु मराली' कहकर उसकी मंजुता अवश्य बता दी गयी है। वहाँ भरत की वाणी केवल आवेग-चालित नहीं है, अपनी यथार्थ परिस्थिति की जानकारी के साथ कही गयी है; उसमें विवेक, धर्म और नय की उपेक्षा न होने से सुषमा (सु-समा)-युक्त है, इसलिए मंजु है। राम कभी 'प्रेम पयोधि अमिअ जनु सानी', कभी 'सनेह सुहाई' बानी बोलते है। उनकी तथा अन्य श्रेष्ठ पात्रों की सारी बातें 'देस काल अवसर सरिस' या 'अवसर अनुसारा' या 'समय अनुसारा' है। ये विशेष देश, विशेष काल, विशेष पात्र तथा विशेष अवसर के लिए हैं, सामान्य आदर्श वाणी नहीं है।

विचारणीय चौपाइयाँ इस प्रकार है :

सुगम अगम मृदु मंजु कठोरे।
अरथु अमित अति आखर थोरे॥
ज्यो मुख मुकुर मुकुरु निज पानी।
गहि न जाइ अस अद्‌भुत बानी॥

—अयोध्याकाण्ड, 294

भरतजी चित्रकूट में रामजी को अयोध्या लौटा लाने के लिए गये हैं। अयोध्या के सभी गण्यमान्य व्यक्ति उपस्थित है। जनकजी भी अपने परिजन-पुरजन के साथ आ गये हैं। भरतजी रामजी को लौटाना चाहते है। रामजी भारी धर्मसंकट में है। लौटना उन्हें धर्म-विरुद्ध लगता है, शील-सकोच से साफ कह नहीं पाते। माताएँ है, गुरु है, सास-ससुर है और फिर भरत का प्रेम है। उधर सब लोग कुछ निर्णय न हो पाने से दुःख पा रहे हैं। अलग से उन्होंने गुरु से अपनी बात कहनी चाही :

नाथ भरत पुरजन महतारी।
सोच बिकल बनवास दुखारी॥

सहित समाज राउ मिथिलेसू।
बहुत दिवस भये सहत कलेसू॥
उचित होइ सो कीजिय नाथा।
हित सबहीकर रउरे हाथा॥

इतना ही कह सके। आगे सकुचाकर रह गये। चतुर गुरु ने आशय समझ लिया--- रामजी लौटना नहीं चाहते! वे स्वयं चाहते थे कि किसी प्रकार राम लौट चलें, पर धर्म और स्नेह के द्वन्द्व से वे भी असमंजस में ही पड़े रहे। फिर वे जनक के पास गये और राम के वचन और शील-स्वभाव से उन्हें परिचित कराया। जनक महाज्ञानी थे। परन्तु यहाँ सब-कुछ देखकर उन्हें भी मोह हो ही गया। उनके वैराग्य ने ही वैराग्य ले लिया। विवेक कहता था कि राम का वनवास ही ठीक है। मन-ही-मन सोचने लगे कि यहाँ आना ठीक नहीं हुआ, क्योंकि ठीक सलाह देना कठिन प्रतीत हो रहा है। उचित तो यही है कि पिता की आज्ञा के अनुसार वन में ही रहें, पर राजा जनक श्वसुर होकर यह सलाह कैसे दें! सारी अयोध्या चाहती है कि राम लौट चलें तो जनक कैसे कहें कि राम का लौटना ठीक नहीं है। वशिष्ठजी ने कहा था कि जनक ही इस समय एकमात्र ऐसे व्यक्ति हैं जो 'असमजस' दूर कर सकते हैं और जनकजी स्वयं असमंजस में पड़े हैं। इसी मनोभाव को लेकर वे भरत के पास जाते हैं। वे भरत से कहते हैं कि तुम तो राम का स्वभाव समझते हो हो। वे सत्यव्रत हैं, सब पर उनका शील-स्नेह भी है, संकोचवश संकट सह रहे हैं, जो आज्ञा दो वह उनसे कहा जाय।

जनक भरत से ही कहलवाना चाहते हैं, पर बहुत मीठे ढंग से अपने मन की बात की ओर इशारा भी कर देते हैं।

भरत को यह इशारा अच्छा नहीं लगा होगा। परन्तु जनक उनके परम पूज्य हैं, उन्हें कोई उत्तर देना भी कठिन है। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि और स्वयं गुरु वशिष्ठ बैठे हैं। धीर भाव से उन्होंने जो कुछ कहा उसी की प्रशंसा ऊपर की पंक्तियों में की गयी है :

प्रभु प्रिय पूज्य पिता सम आपू।
कुल गुरु सम हित माय न बापू॥
कौसिकादि मुनि सचिव समाजू।
ज्ञान अंबुनिधि आपुन आजू॥
सिसु सेवक आयसु अनुगामी।
जानि मोहिं सिख देइअ स्वामी॥
एहि समाज थल बूझब राउर।
मौन मलिन मैं बोलब बाउर॥
छोटे बदन कहौं बड़ि बाता।
छमब तात लखि बाम बिधाता॥
आगम निगम प्रसिद्ध पुराना।

सेवा धरमु कठिन जग जाना॥
स्वामि धरम स्वारथहिं विरोधू।
बैरु अंधु प्रेमहिं न प्रबोधू॥
राखि राम रुख धरमु ब्रतु, पराधीन मोहिं जानि।
सबकें सम्मत सर्बहित, करिय प्रेमु पहिचानि॥

प्रथम दो पंक्तियों में मृदुता है, तीसरी पंक्ति में मंजुता है, चौथी और पाँचवीं पंक्तियों में कठोरता तो है, पर भाषा इतनी मीठी है कि सहज ही पकड़ में नहीं आती। पूरी बात सुगम है, थोड़े शब्दों में जो बात कही गयी है उसका अभिधेय आसानी से समझ में आ जाता है। आखर या वर्ण श्रोत्रेन्द्रिय-ग्राह्य हैं। केवल मनुष्य ने ही अपनी भाषा में वर्णों को विविक्त किया है। उनको नये शब्दों और अर्थों के लिए जोड़ने की क्षमता मनुष्य के संस्कारी चित्त में है। विविक्त वाक् (वाणी) के वर्णों को वाच्य-लक्ष्य और व्यंग्य आदि अर्थ-संघों की ओर और इन्हें रस की ओर विनयन करने की क्षमता (विनायक धर्म) संस्कारी मनुष्य में ही है। साधारण कवि यहीं रुक जाते हैं—वर्णों को अर्थ-संघ की ओर और अर्थसंघ को रस की ओर ले जाकर विश्रान्त हो जाते हैं। रामकथा यहीं तक नहीं रुकती, वह रस-विशेष की ओर जाना चाहती है। वह रस-विशेष, मनुष्य के चित्त को परतत्त्व के साथ मिलानेवाले अनुरूप लय या 'रिद्म', को खोजती है—'राम कथा जे सुनत अघाहीं, रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं।' शायद इसे ही तुलसीदास 'छन्द' कहते हैं। परन्तु विश्वव्यापी छन्दोधारा के साथ व्यक्तिनिष्ठ छन्द का सामरस्य ही अन्तिम लक्ष्य है। तुलसीदास इसी को 'मंगल' कहते हैं। यह विभिन्न स्तरों पर पाया जाता है। वाक्तत्त्व और विनायक धर्म के इस वैशिष्ट्य की ओर 'रामचरितमानस' के प्रथम श्लोक में ही इशारा कर दिया गया है। राम-कथा का लक्ष्य 'मंगल' है—'मंगल करनि कलिमल हरनि तुलसी कथा रघुनाथ की!' वह व्यक्तिगत छन्द के साथ समष्टि-व्यापी छन्द के सामरस्य का ही नाम है। प्रस्तुत प्रसंग में भरत की वाणी अर्थ की गहराई तक जाती है। उसका अभिधेयार्थ सुगम है। पर व्यंग्यार्थ अगम है, बल्कि वह 'गहि न जात' कहे जाने की अधिकारी है। स्वामिधर्म और स्वार्थ में विरोध बताया गया है और विरोध को अन्धा भी कहा गया है। साथ ही, यह भी कहा गया है कि यह स्वार्थ प्रेमजन्य है। प्रेम सब त्रुटियों को भर देता है और साथ ही अप्रबोध्य भी है। भरत की उक्ति से स्पष्ट है कि जिसे वे स्वार्थ कह रहे हैं, वह कोई निजी लाभ के उद्देश्य से किया गया क्षुद्र स्वार्थ नहीं है। वह शुद्ध प्रेमजन्य है। इस स्वार्थ और परमार्थ में कोई अन्तर नहीं है।

आगे वे कहते हैं कि (1) राम का रुख, धर्म और व्रत देखकर, (2) मुझे परवश समझकर, (3) सबका सम्मत, (4) सर्वहित, (5) प्रेम को पहचानकर आप लोग निर्णय करें।

भरत चाहते क्या हैं? बात सुनने में सुगम लगती है, कहीं कोई पेंच नहीं है। पर जैसा कि आगे की पंक्तियों में कहा गया है, वह अद्भुत वाणी पकड़ में आने

योग्य नहीं है। जैसे हाथ में रखे हुए दर्पण में मुख की छाया तो बहुत स्पष्ट दिखायी देती है, पर पकड़ना उसका कठिन है :

ज्यों मुख मुकुर, मुकुरु निज पानी।
गहि न जाय अस अद्‌भुत बानी॥

क्या यहाँ तुलसीदास प्रेममार्ग की श्रेष्ठता प्रतिपादित करना चाहते है ? राम धर्मव्रत है, जनकजी के अनुसार सत्यव्रत है। सत्य पर दृढ़ रहना चाहिए, ज्ञानी जनकजी के मन मे यही बात है। पर सत्य क्या है ? वचन द्वारा जो कह दिया गया उससे चिपक जाना या भूतमात्र का आत्यन्तिक कल्याण (सर्वहित) ? भक्त-शिरोमणि नारद का वचन महाभारत मे आया है

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत्।
यद्‌भूतहितमत्यन्तम् एतत् सत्यं मतं मम॥

भरत कहते है, सत्य और धर्म के व्रत को अवश्य देखिए, पर मैं प्रेम-परवश हूँ, इसका भी ध्यान रखिए और इससे भी आगे इस बात का ध्यान रखिए कि निर्णय 'सर्वहित' हो और फिर प्रेम को पहचानकर निर्णय कीजिए। तुलसीदास इस अद्‌भुत प्रेम को 'अगम सनेह भरत रघुवर को, तहँ न जात मन विधि हरिहर को' और 'मिलन प्रीति किमि जाय बखानी, कबि कुल अगम करम मन बानी' कहकर 'अगम' बता चुके है। उसे समझना भी अगम है और अभिव्यक्ति देना भी अगम है। यही 'प्रेम पहिचानि' अमितार्थ अगम्य उक्ति ज्ञानमार्ग की पकड़ में नही आ सकती। 'प्रेम पहिचानि' सचमुच अमितार्थ अगम्य उक्ति है।

इसे तुलसीदास की श्रेष्ठ वचन-रचना का निदर्शन तो माना जा सकता है, किन्तु आदर्श भाषा का लक्षण नही कहा जा सकता। इसे घसीटकर उस उक्ति के आसपास ले जाया जा सकता है कि भणिति या उक्ति वही भली है जिससे 'सुरसरि सम सबकर हित होई।' पर वाक्‌तत्त्व अधिक सुलभ है, विनायक धर्म दुर्लभ है। तुलसीदास मानते है कि इसकी प्राप्ति राम की कृपा से ही होती है। इसीलिए उत्तम वाणी, भगवदनुग्रह के बिना बोली ही नही जा सकती :

सारद दारु नारि सम स्वामी।
राम सूत्रधर अन्तरजामी॥
जा पर कृपा करहिं जन जानी।
कवि उर अजिर नचावहिं बानी॥

थोड़े मे अधिक कहना भाषा का गुण है। पर यह भी देशकाल, वक्तृबोधव्य और अवसर के अनुकूल होना चाहिए। अवसर या समय की माँग हो तो विस्तार-पूर्वक कहना गुण ही है, दोष नही। दशरथ, पुत्रशोक में मर गये। सारे परिजन-पुरजन शोक मे व्याकुल थे। ज्ञानी गुरु वशिष्ठ पहुँचे। 'समय-सम' (अवसर के अनुरूप) बोले। वहाँ 'अर्थ अमित अरु आखर थोरे' से काम नहीं चल सकता था। उन्हें बहुत-से इतिहास सुनाकर लोगों का शोक निवारण करना पड़ा। यही उस परिस्थिति में अवसर के अनुकूल था :

तब बसिष्ठ मुनि समय सम, कहि अनेक इतिहास।
सोक निवारेउ सबहि कर, निज विज्ञान प्रकास॥

दशरथ जब व्याकुल थे तब कौशल्या भी 'समय अनुहारी' वचन बोली थी :

उर धरि धीर राम महतारी।
बोली वचन समय अनुहारी॥

उस समय वे थोड़े में अधिक अर्थ देनेवाली बात नहीं कह सकी, और भरत को शोक-व्याकुल देखकर तो,

भाँति अनेक भरत समुझाए।
कहि बिवेक मय वचन सुनाए॥
भरतहुँ मातु सकल समुझाई।
कहि पुरान श्रुति कथा सुहाई॥

उस समय यही अवसरोचित था।

रामचन्द्र भी 'देसकाल लखि समौ समाजू' ही भरत से 'बानि सरवसु से' (वाणी का सर्वस्व) वचन बोले थे। कहते-कहते मानो अवसरोचित वचन पर और भी बल देने के लिए दुबारा कहा था :

मोहिं सब भाँति भरोस तुम्हारा।
तदपि कहउँ अवसर अनुसारा॥

पूरे 'रामचरितमानस' में वाणी के अवसरोचित प्रयोग पर इतनी बार कहा गया है कि भाषा का देश, काल, पात्र और एक शब्द में, 'अवसर' के अनुसार प्रयोग ही तुलसीदास का सम्मत लगता है। अवसर उपयुक्त हो तो अटपटे वचन भी ठीक है (सुनि केवट के बैन प्रेम लपेटे अटपटे)। उनके परम उपास्य 'बचन रचना अतिनागर' राम जैसा बोलते है, उसे ही भाषा का उत्तम आदर्श माना जाना चाहिए :

दीनबन्धु सुनि बन्धु के, बचन दीन छलहीन।
देस काल अवसर सरिस, बोले राम प्रवीन॥

—'सरस्वती', अगस्त 1974

अजस्र प्रेरणा का स्रोत : 'रामचरितमानस'

'रामचरितमानस' मध्यकाल का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। आज से लगभग चार सौ वर्ष पहले गोस्वामी तुलसीदासजी ने इसे लिखना आरम्भ किया था। इन चार सौ

वर्षों से यह ग्रन्थ देश और काल की सीमा अतिक्रम करके संसार में समादृत हुआ है। यह उन्हें अर्थों में कालजयी ग्रन्थ है। प्रत्येक ग्रन्थ, भाषा और अभिव्यक्ति में अपने काल से प्रभावित होता है। 'रामचरितमानस' भी है। परन्तु बहुत थोड़े-से ग्रन्थ इन सीमा को अतिक्रम करके सर्वकाल के सहृदयों को प्रभावित करने में समर्थ होते हैं। यह लोकोत्तर तेज संसार के गिने-चुने ग्रन्थों में ही उपलब्ध होता है। यही कारण है कि वह देश और काल की सीमा पार करके समस्त संसार के सहृदयों को प्रभावित करने में समर्थ हुआ है।

'रामचरितमानस' के लेखक कविवर तुलसीदास जिस काल, समाज और देश में पैदा हुए, उससे वे प्रभावित थे। उनका व्यक्तिगत जीवन किसी-न-किसी रूप में उनके स्वीकृत विचारों को रूप दे रहा था, इसलिए वे अपने देश-काल और समाज के संस्कारों और व्यक्तिगत रुचि, कुण्ठा और झिझक आदि से प्रभावित थे। 'रामचरितमानस' और उनके अन्य ग्रन्थों के आलोचकों ने इन बातों पर बहुत विचार किया है और भविष्य में भी करते रहेंगे, परन्तु इन सब सीमाओं के भीतर रहकर भी उनमें एक अलौकिक दीप्ति थी जो सीमा में नहीं बँध सकती। जिस प्रकार दीपक की लौ दिया, तेल, बाती और हवा के कम्पन से प्रभावित होते हुए भी इन सीमाओं से बाहर दूर तक अपनी दीप्ति बिखेर सकती है, कुछ उसी प्रकार व्यक्ति-कवि के भीतर जलनेवाली दिव्य लौ भी अपनी दीप्ति देश-काल और सीमा को अतिक्रम करके प्रकाशित करती रही है।

ऐसा लगता है कि तुलसीदास के सामने तत्कालीन समाज में प्रचलित एक बड़ा भारी सन्देह मुख्य रूप से उनके चित्त को आन्दोलित किये हुए था। उनका प्रयत्न मुख्य रूप से लोकचित्त के सन्देहों को उखाड़ देना था। वस्तुतः सन्देह के कारण ही विषाद उत्पन्न होता है। 'रामचरितमानस' के भरद्वाज, पार्वती, गरुड़ आदि मुख्य श्रोताओं के मन में संशय-जनित विषाद उत्पन्न हुआ था। सन्देह यह था कि जो ब्रह्म सब प्रकार की धारणाओं से ऊपर है, व्यापक है, निर्गुण है, अजन्मा है, जिसे श्रुति नेति-नेति कहकर बखानती है, वह क्या मनुष्य के रूप में अवतार धारण कर सकता है? इस सन्देह का उन्मूलन तुलसीदास का एक लक्ष्य था। जब तक यह सन्देह उन्मूलित नहीं होता तब तक विषाद का शमन भी नहीं होता। यह एक सामयिक प्रश्न था। तुलसीदास के पूर्ववर्ती महान् निर्गुणवादी सन्तों ने सगुण राम का प्रत्याख्यान किया था और लोकचित्त में ऐसा संशय उत्पन्न किया था। यह एक निश्चित देश-काल में उत्पन्न स्थिति थी। इस संशय का उच्छेद, ऊपर से देखने में एक सामयिक प्रश्न था।

तुलसीदास के चित्त में कुछ ऐसे संस्कार थे जो इस संशय को मनुष्य के लिए हानिकारक सिद्ध करते थे। यह एक प्रकार का द्वन्द्व था जो बाह्य समाज में बहु-प्रचारित सिद्धान्त और तुलसीदास के व्यक्ति-चित्त में प्रतिष्ठित रुचि और संस्कार के संघर्ष से उत्पन्न हुआ था। 'रामचरितमानस' के निर्माण में इस द्वन्द्व का महत्त्वपूर्ण स्थान था, परन्तु यह सामयिक तथ्य ही सबकुछ होता तो 'रामचरितमानस' निश्च-

मण्डन के रूप में लिखे हुए ग्रन्थों के समान अल्पकालीन प्रभाव ही छोड़ जाता। परन्तु ऐसा नही हुआ। इस द्वन्द्व ने तुलसीदास के सवेदनशील चित्त को केवल खण्डन-मण्डन की ओर प्रवृत्त नही किया, बल्कि उनकी रचनात्मक प्रतिभा को झकृत कर दिया जिससे शाश्वत मानवीय मूल्यो का अद्‌भुत रागात्मक सर्जन हुआ। शत-तार वीणा को छेड़नेवाली चीज़ यद्यपि बहुत मामूली-सी होती है, परन्तु उसके एक तार के झकृत होने से अन्य अनेक तार झनझना उठते है और उस मोहक सगीत का प्रादुर्भाव होता है, जो छेड़नेवाली वस्तु को एकदम अभिभूत करके अपूर्व रागात्मक सगीत की सृष्टि करती है। उस युग के मामूली-से प्रश्न ने तुलसीदास के चित्त को ऐसा झकझोर दिया कि उनकी सम्पूर्ण सत्ता ही उमड़ उठी। वह मनुष्यमात्र के रागात्मक चित्त के साथ एकमेक होकर उन चिन्मय मूल्यो की रचना कर सकी, जो अपूर्व कहे जा सकते है। भारतवर्ष की साधना का जो सर्वोत्तम है, जो कुछ महान् है, जो कुछ सरस है और जो कुछ भव्य है, वह इस बहाने अभिव्यक्ति पाने को व्याकुल हो उठा। इस उदात्त भव्य अभिव्यक्ति में ही 'रामचरितमानस' की महिमा है। देश और काल की सीमा मे बँधा हुआ तुलसीदास का व्यक्ति-रूप भी उसमे जहाँ-तहाँ प्रकट अवश्य हुआ और कई बार उस सीमित अभिव्यक्ति ने भिन्न-भिन्न श्रेणी के लोगो को क्षुब्ध और उत्तेजित भी किया है। परन्तु 'रामचरितमानस' की दिव्य ज्योति में यह छोटे-मोटे धब्बे कोई बाधा नही उत्पन्न कर सके। वे है, क्योकि उनका होना रोका नहीं जा सकता था, परन्तु 'रामचरितमानस' का निर्माण उनसे अलग दिव्य अलौकिक तेज से हुआ है। कभी-कभी लोग उन छोटी-छोटी बातो को लेकर ही झगड़ते है। वे भूल ही जाते है कि 'रामचरितमानस' का लक्ष्य इन बातो से कही अधिक ऊँचा है। वह मनुष्य को उस लक्ष्य तक ले जाता है, जिससे बड़ा लक्ष्य और कुछ हो ही नहीं सकता।

तुलसीदास केवल ज्ञान का ग्रन्थ नही लिख रहे थे। मनुष्य के नित्य जीवन में घटनेवाले ईर्ष्या-द्वेष, सुख-दुख और लोभ-मोह के विकारों के भीतर से उन्होने परम लक्ष्य की प्राप्ति की ओर अपने पाठक को ले जाना चाहा। इसलिए उनका यह ग्रन्थ शुष्क आचार-सहिता या थोथे उपदेशों की पोथी नही है, वह मनुष्य-जीवन की गहराई मे उतरा है और अत्यन्त सहज भाव से उसे रामोन्मुख करता रहा है—राम, जो मनुष्य के समस्त आशा-आकाक्षाओं का सर्वोत्तम केन्द्र है; वहाँ काम, क्रोध, द्वेष, मोह आदि टिक नही सकते। राम एक ऐसा सूर्य है, जिसके सामने मोहरूपी अन्धकार की कल्पना नही की जा सकती। परन्तु यह राम हमारे दैनन्दिन जीवन के अनुभवो के भीतर से उजागर हुआ है। वह मनुष्य रूप मे अवतरित हुआ है, और मनुष्य की सारी कमजोरियो और विकारो के भीतर उज्ज्वल आलोक के रूप मे निकलता चला गया है। वह ज्ञेय बनकर नही बल्कि अनुभवयोग्य होकर हमे आकर्षित करता है। वह केवल अनादि, अनन्त और व्यापक सच्चिदानन्द मात्र नही है बल्कि शील, सौजन्य और मर्यादा का अधिष्ठाता भी है। वह केवल ज्ञान और उपासना का विषय नही है बल्कि प्रेम और भक्ति का भी आश्रय है; वह

जोरियाँ भगवान् को समर्पित करके मनुष्य उनसे मुक्ति पा ले। जो कोई भी राम के सम्मुख हो जाता है, उसके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। परन्तु जो राम से विमुख है उनके सारे वैभव व्यर्थ हो जाते हैं। राम का साम्मुख्य प्राप्त करना 'रामचरितमानस' का लक्ष्य है। कोई भी व्यक्ति चाहे वह ऊँचे कुल में जन्मा हो या नीच कुल में, उत्तम योनि में पैदा हुआ हो या अधम योनि में, सात्विक शरीर का अधिकारी हो या तामस शरीर का, सभी राम के सम्मुख आकर कृतार्थ हो जाते हैं। जो सम्मुख नहीं आ पाते, उनका जन्म अकारथ सिद्ध होता है। 'रामचरितमानस' ने इस महान् लक्ष्य को लोकसुलभ कराने में आश्चर्यजनक ढंग से परिपूर्ण सफलता प्राप्त की है।

यह महान् ग्रन्थ पिछले कई सौ वर्षों से मनुष्य के चित्त में उदात्त मानवीय मूल्यों को प्रतिष्ठित करता रहा है। इसकी भाषा, अभिव्यक्ति और भाव-प्रेक्षण-क्षमता अपूर्व है। यह 'रामचरितमानस' एक सुनिश्चित योजना में लिखा हुआ काव्य है। इसके प्रत्येक शब्द को इस कवि ने अच्छी तरह से तौलकर प्रयोग किया है। यदि आरम्भ में कोई शब्द किसी निश्चित अर्थ में प्रयुक्त हुआ है तो अन्त तक उसका निर्वाह हुआ है। ऐसा लगता है कि कवि पूर्ण रूप से सचेत कलाकार है। परन्तु यह 'सचेत-भाव' आभास से नहीं बल्कि व्यक्तित्व के सम्पूर्ण विसर्जन से आया है। सत्य यह है कि 'रामचरितमानस' का कवि पूर्ण रूप से अपने व्यक्तित्व को अपने लक्ष्य में निमज्जित कर सका है। यह उस श्रेणी का काव्य है जिसकी प्रत्येक उक्ति किसी दिव्य प्रेरणा से निकली है। जैसा कि आरम्भ में कहा गया है, जहाँ तक व्यक्ति तुलसीदास का सम्बन्ध है, वे अपने युग और समाज से प्रभावित है, परन्तु उनका व्यक्तित्व उस महान् लक्ष्य में बिल्कुल निमज्जित हो गया है जिससे बड़े लक्ष्य की कल्पना नहीं की जा सकती। यही कारण है कि 'रामचरितमानस' उस दिव्य कोटि का ग्रन्थ बना है जो एक ही साथ काव्य और शास्त्र दोनों ही होते हैं। आज चार सौ वर्षों बाद इस महान् ग्रन्थ के प्रणेता कवि को हम अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं :

बड़े भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रन्थन्हि गावा॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥

['काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका', मानस चतुश्शती विशेषांक, 1973-74]

'विभाव पुरुष' की खोज

तुलसीदासजी का 'रामचरितमानस' आज से चार सौ वर्ष पूर्व लिखा गया। 'रामचरितमानस' की महिमा आप जानते ही हैं। 'रामचरितमानस' आज संसार के सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थों में गिना जाता है। लेकिन, भारत में उसका महत्त्व विशेष रूप से है। भारत में यह ग्रन्थ इस प्रकार से सम्मानित है जैसे क्रिश्चियन में बाइबिल। यह मध्ययुग का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है।

'रामचरितमानस' शिव-पार्वती संवाद के रूप में लिखा गया है। याज्ञवल्क्य ने यह कथा भरद्वाज को सुनायी और काकभुशुण्डि ने गरुड को। लेकिन मुख्य कथा कहनेवाले शिव ही हैं और मुख्य रूप से उमा-पार्वती संवाद ही है।

ऐसा लगता है कि तुलसी के समय में कोई व्यापक सन्देह समाज में विद्यमान था। सर्वप्रथम यह सन्देह सती के मन में हुआ था जिसका फल उन्हें शरीर त्याग कर भोगना पड़ा। पुनः पार्वती के रूप में अवतरित हुई फिर भी कहती है:

अजहूँ कछु संसय मन मोरे।
करहु कृपा बिनवउँ कर जोरे॥

याज्ञवल्क्य के मन में सन्देह व्याप्त है और वे इसकी चर्चा भरद्वाज से करते हैं। इसी प्रकार का संशय गरुड़ के मन में हुआ था जबकि उन्होंने नागपाश में बँधे हुए राम को देखा। तुलसीदासजी इस सन्देह का निराकरण करना आवश्यक समझते थे।

यह सन्देह यदि एक दोहे में कहा जाय तो इस प्रकार है—सती शिव से कहती हैं:

ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर, जाहि न जानत बेद॥

क्या ऐसा ब्रह्म साधारण मनुष्य हो सकता है? और फिर—

जौं नृप तनय त ब्रह्म किमि, नारि बिरह मति भोरि।
देखि चरित महिमा सुनत, भ्रमति बुद्धि अति मोरि॥

समष्टिचित्त में व्याप्त इस सन्देह को तुलसीदासजी 'रामचरितमानस' के द्वारा दूर करना चाहते हैं। मैं आप लोगों का ध्यान इसी 'सन्देह' तत्त्व की ओर आकर्षित करना चाहता हूँ।

पार्वतीजी यह तो कहती हैं कि 'मुझे रामकथा सुनकर अतिशय आनन्द मिला', लेकिन उन्होंने यह भी कहा—बड़े ही संयत ढंग से इस बार उन्होंने अपने को भी व्यक्त किया:

अजहूँ कछु संसय मन मोरे।
करहु कृपा बिनवउँ कर जोरे॥

इसी सन्देह को दूर करने के लिए गोस्वामीजी की कथा

जिनके मन में मोह है, जो विषयी हैं, वे रामकथा का मर्म क्या जानेंगे ?

अति खल जे विषयी बक कागा।
एहि सर निकट न जाहिं अभागा ॥

पार्वती का सन्देह बहुत भयानक है, इसी प्रकार का सन्देह गरुड़ को भी है। याज्ञवल्क्य से भरद्वाजजी कहते हैं कि 'मुनिवर, आपने बहुत ही गूढ़ प्रश्न कर दिया।' अतः स्पष्ट है कि इस प्रकार से देशव्यापी सन्देह व्याप्त था जिसको तुलसीदासजी ने विभिन्न स्थलों पर विभिन्न पात्रों से कहलाया है।

हमारा देश तीन भागों में विभक्त है—पर्वत, मदान और समुद्र। पर्वतकन्या पार्वती, भूकन्या सीता और समुद्रकन्या लक्ष्मी हैं। ये हमारे देश की देवियाँ हैं: ये हमारे देश की देवियों के चरित्र की नियामक हैं। पार्वती के मुँह से सन्देह का वर्णन कराने का तात्पर्य ही है कि यह सन्देह व्यापक था।

शिवजी पार्वती से कहते हैं कि 'हे भवानी, तुमने बहुत ही अच्छा प्रश्न किया—राम-कथा का प्रश्न उठाया। लेकिन एक बात मुझे अच्छी नहीं लगी।' यहाँ पर तुलसीदासजी कबीर की इस उक्ति का जवाब देते हैं:

दसरथ सुत तिहुँ लोक बखाना,
राम नाम के मरम है आना।

यही बात पार्वती के मुँह से कहला दी गयी है और इसका उत्तर देते हैं शिव—

एक बात नहिं मोहि सुहानी, जदपि मोह बस कहेउ भवानी ॥
तुम जो कहा 'राम कोउ आना'…'

तुलसीदासजी इस 'आना' शब्द से बिल्कुल उखड़ जाते हैं। बाबा बहुत गुस्सा जाते हैं:

कहहिं सुनहिं अस अधम नर, ग्रसे जे मोह पिचास।
पाखंडी हरिपद विमुख, जानहिं झूठ न साच ॥

अग्य अकोविद अंध अभागी। काई बिषय मुकुर मन लागी ॥
लपट कपटी कुटिल बिसेषी। सपनेहुँ संत सभा नहिं देखी ॥
कहहिं ते बेद असम्मत बानी। जिन्हके सूझ लाभु नहिं हानी ॥
मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना। रामु रूप देखहिं किमि दीना ॥
जिन्हके अगुन न सगुन बिबेका। जल्पहिं कल्पित बचन अनेका ॥
हरि माया बस जगत भ्रमाहीं। तिन्हहिं कहत कछु अघटित नाहीं ॥
बातुल भूत बिबस मतवारे। जे नहिं बोलहिं बचन बिचारे ॥
जिन्ह कृत महा मोह मदपाना। तिन्हकर कहा करिय नहिं काना ॥

पुरुष प्रसिद्ध प्रकास निधि, प्रकट परावर नाथ।
रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ, कहि सिवँ नायउ माथ ॥

वही दशरथ का बेटा, वही राम मेरा उपास्य है। आगे बढ़कर तुलसीदासजी और बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बातें कहते हैं:

(विभीषण कहता है)

तात राम नहिं नर भूपाला। भुवनेस्वर कालहु कर काला।।
ब्रह्म अनामय अज भगवंता। ब्यापक अजित अनादि अनंता।।
गो द्विज धेनु देव हितकारी। कृपा सिंधु मानुप तनु धारी।।
जन रंजन भंजन खलव्राता। वेद धर्म रक्षक सुनु भ्राता।।

(अंगद के मुँह से)

राम मनुज कस रे सठ बंगा। धन्वी काम नदी पुनि गंगा।।
पसु सुरधेनु कल्पतरु रूखा। अन्न दान अरु रस पीयूषा।।
वैनतेय खग अहि सहसानन। चिंतामनि पुनि उपल दसानन।।
सुनु मतिमंद लोक बैकुण्ठा। लाभ कि रघुपति भगति अकुंठा।।

इसी प्रकार की परस्पर-विरुद्ध बातें कही गयी है। कामधेनु जब धेनु है तो पशु ही होगी; गंगा आखिर नदी ही तो है; कामदेव - सुना तो है कि—पुष्प के धनुष-बाण चलाता है; कल्पतरु जब तरु है तो रूखा ही होगा। तुलसीदास के मन मे कोई व्यापक प्रश्न पड़ा हुआ है। वह यह कि शायद यह बात जोरो मे चल पड़ी थी कि जो दशरथ का बेटा है, वह ब्रह्म कैसे है—'जौं नृप तनय त ब्रह्म किमि ?' इसी बात को लेकर इतना व्यापक प्रचार तुलसीदासजी विभिन्न पात्रों के मुँह से कराते है। समष्टि मे व्याप्त सन्देह का निरूपण करते है। तुलसीदासजी कवि भी उन्हीं को ही मानते है जो समष्टिचित्त की अभिव्यक्ति करते हैं। तुलसीदासजी जब समष्टिचित्त के साथ, सामाजिक चित्त के साथ, शिव के साथ, एक हो जाते है तो अपने को कवि भी कहते है। वे अपनी बात नही कह सकते बल्कि—

संभु प्रसाद सुमति हिय हुलसी।
रामचरितमानस कवि तुलसी।।

तुलसीदासजी 'राम' का तीन रूपो मे वर्णन करते हैं—पहला ब्रह्म, जो अनन्त है, मन-वाणी आदि से परे है; दूसरा, जो व्यक्ति अपने चित्त मे उत्पन्न करता है। मनुष्य अपने भाव, स्वभाव से उत्पन्न करता है। मनुष्य अपने भाव को जानना चाहता है। बाहर से तो हम वीर है, भीतर से कायर भी हो सकते हैं; बाहर से तो पुरुष दीखते है, परन्तु भीतर हो सकता है कि नारी बैठी हो। जब हम अपने भाव को जान लेते है तो हमें अपना अभाव भी मालूम हो जाता है। अगर हमारे अन्दर मातृभाव है तो हमें पुत्र चाहिए, क्योंकि मातृभाव के साथ पुत्र का अभाव सम्बद्ध है। इस अभाव के रूप में भगवान् हमारे चित्त मे आ जाते हैं। भगवान् जब इस अभाव को भर देते है तो 'विभाव' की स्थिति मन मे आ जाती है—इसी रूप मे हम विराट् पुरुष की कल्पना करते है। मनुष्य का कलापक्ष भावपक्ष है। संसार के सभी भक्तों ने भाव-भगति की आराधना की है। भगवान् भाव भगति के भूखे हैं। तुलसीदासजी तीसरा रास्ता बताते है, वह उनकी 'विभाव-पुरुष' की कल्पना है। 'रामचरितमानस' की यह अपनी विशेषता है :

तू दयालु दीन हौ, तू दानि हौं भिखारी,
हौ प्रसिद्ध पातकी तू पाप पुंजहारी।
तोहे मोहे नाते अनेक मानिए जो भावै।
ज्यों त्यों तुलसी कृपालु चरणकमल पावै।।

—विनयपत्रिका

वह माता, पिता, भाई आदि रूपों में हो सकता है। हम जिस भाव में चाहें उसका भजन कर सकते हैं। यह तीसरा भाव हम जब तक मन में नहीं लायेंगे तब तक चित्त साफ नहीं होगा, मोह दूर नहीं होगा। सन्देह नहीं मिटेगा।

कबीर ने कहा कि 'दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना, राम नाम कै मरम है आना', लेकिन तुलसीदासजी कहते हैं कि वह राम जो इतिहास की धारा में बहता चला आ रहा है, समष्टिचित्त में व्याप्त जो राम है, उसे नहीं छोड़ना चाहिए। प्रश्न तो इस बात का है कि गंगा तो नदी ही है, कामधेनु धेनु है तो पशु ही हुई, कल्पवृक्ष वृक्ष है तो पेड़ ही है। लेकिन नहीं, इससे भी कोई बहुत बड़ी चीज इसके पीछे विद्यमान है। ये कल्पतत्त्व हैं। जैसे-जैसे मनुष्य का मानस विराट होता जायेगा, इन तत्त्वों की कल्पना विराट होती जायेगी। जैसे-जैसे हमारे चित्त का विस्तार होता जायेगा, वैसे-वैसे ये बढ़ते जायेंगे। ये साधारण तत्त्व नहीं हैं—ये कल्पतत्त्व हैं। 'राम' का वर्णन अनेक नाटककारों-कवियों-लेखकों ने किया है और करेंगे। आदि से अन्त तक जैसे-जैसे मानव-मस्तिष्क का विस्तार होता जायेगा, वैसे-वैसे 'कल्प-पुरुष' का विस्तार होता जायेगा। इसीलिए गोस्वामी तुलसीदास ने कहा :

राम मनुज कस रे सठ बंगा।
धन्वी काम नदी पुनि गंगा।।

ये सब मानसिक हैं। जैसे-जैसे मानसिक विस्तार होगा, वैसे-वैसे ये और बढ़ते जायेंगे। तुलसीदासजी कहते हैं (भरद्वाज मुनि याज्ञवल्क्य से कहते हैं) :

चाहहु सुनै राम गुण गूढ़ा।
कीन्हेहु प्रस्न मनहु अति मूढ़ा।।

रामायण के वर्णन के बाद कथा समाप्त हो जानी चाहिए थी, लेकिन पार्वती ने कहा कि अभी सन्देह दूर नहीं हुआ, इसलिए तुलसीदासजी ने कथा को आगे बढ़ाया। तुलसीदासजी कहते हैं :

रामचरित जे सुनत अघाहीं।
रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं।।

कोई रस-विशेष है जिसकी ओर तुलसीदासजी अपने पाठक का ध्यान ले जाते हैं। जब सन्देह दूर हो जाता है तो रामायण भी समाप्त हो जाती है। तुलसीदासजी कहते हैं कि सन्देह-तम का नाश एक दिन में नहीं होगा, बल्कि इसके लिए अनन्त काल तक श्रवण, मनन, भजन करना होगा, तब अज्ञान-रूपी तम का नाश होगा (विभीषण राम से कहता है) :

सहज पापमय तामस देहा।
यथा उलूकहि तम पर नेहा।।

राम के संसर्ग में आते ही सम्पूर्ण संशय का नाश हो जाता है :

रामकथा सुंदर करतारी।
संशय बिहग उडावनहारी।।

"राम की कथा ऐसी ताली है जिसके बजाते ही संशयरूपी पक्षी उड़ जाते है।"

[काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में मानस चतुश्शती समारोह'
जनवरी 1974 का उद्घाटन-भाषण]
—तुलसी : सन्दर्भ और समीक्षा (सं डॉ. त्रिभुवनसिंह, 1976) से साभार

अनुक्रमणिका

कबीर

०००

ग्रन्थावली
हजारीप्रसाद द्विवेदी
ग्रन्थावली
हजारीप्रसाद द्विवेदी
ग्रन्थावली
हजारीप्रसाद द्विवेदी
ग्रन्थावली
हजारीप्रसाद द्विवेदी
ग्रन्थावली
हजारीप्रसाद द्विवेदी
ग्रन्थावली
हजारीप्रसाद द्विवेदी
ग्रन्थावली
हजारीप्रसाद द्विवेदी
ग्रन्थावली
हजारीप्रसाद द्विवेदी
ग्रन्थावली
हजारीप्रसाद द्विवेदी
ग्रन्थावली
हजारीप्रसाद द्विवेदी
ग्रन्थावली
हजारीप्रसाद द्विवेदी
ग्रन्थावली
हजारीप्रसाद द्विवेदी
ग्रन्थावली
हजारीप्रसाद द्विवेदी
ग्रन्थावली

[illegible] अनमोल द्विवेदी और माता श्रीमती ज्योतिष्मती। 1927 ई. में श्रीमती भगवती देवी के साथ विवाह। प्रारंभिक शिक्षा संस्कृत महाविद्यालय, काशी [illegible] 1929 ई. में संस्कृत साहित्य में शास्त्री और 1930 में ज्योतिष विषय लेकर आचार्य की उपाधि पाई।

8 नवम्बर 1930 को हिंदी शिक्षक के रूप में शांतिनिकेतन में अध्यापन। 1950 तक [illegible] 1940-50 [illegible] हिंदी भवन [illegible] 1950 में काशी हिंदू विश्वविद्यालय में हिंदी प्रोफेसर और हिंदी विभागाध्यक्ष के पद पर नियुक्त। विश्वभारती विश्वविद्यालय की एक्जीक्यूटिव काउंसिल के सदस्य 1950-53। [illegible]

[illegible] (1952) तथा साहित्य अकादमी [illegible] (1954) के [illegible] 1957 में पद्मभूषण [illegible] 1960-67 [illegible] पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़ में [illegible]

[illegible] 1973 में 'आलोक पर्व' निबंध संग्रह के लिए साहित्य अकादमी पुरस्कार [illegible] उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान के उपाध्यक्ष रहे। 19 मई 1979 को देहावसान।